द्वै मासिक

अप्रैल १९६७

अनेकान्त

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

★

★

अनेकान्त के पाठकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि पिछले अंक के साथ सदस्य फीस समाप्त हो चुकी है। अब यह २०वें नये वर्ष का प्रथमांक है, अतएव इस चालू वर्ष का वार्षिक मूल्य ६) रुपया इस किरण के मिलते ही मनीआर्डर से भेजने की कृपा करें। अन्यथा अगला अंक वी. पी. से भेजने में ६० पैसे अधिक देने होंगे। आशा है प्रेमी पाठक इस निवेदन पर ध्यान देंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

वीरसेवामन्दिर को सहायता

वीर सेवामन्दिर को बाबू निर्मलकुमार जी सुपुत्र बाबू नन्दलाल जी सरावगी ने श्रवण बेलगोल के मस्तकाभिषेक से लौटते हुए वीर सेवामन्दिर में ठहरे थे। आपने २१) रुपया प्रदान किए, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

व्यवस्थापक

वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् अर्हम्
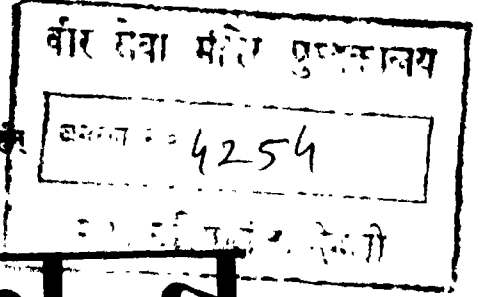
अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २० किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० सं० २०२३ | अप्रेल सन् १९६७

श्री शान्तिनाथ-स्तवनम्

भगवन् दुर्णयध्वान्तैराकीर्णे पथि मे सति ।
सज्ज्ञानदीपिका भूयात्संसारावधिवर्धनी ॥
जन्म-जीर्णाटवीमध्ये जनुषान्धस्य मे सतो ।
सन्मार्गे भगवन् भक्तिर्भवतान्मुक्तिदायिनी ॥
स्वान्तशान्तिं ममैकान्तामनेकान्तैकनायकः ।
शान्तिनाथो जिनः कुर्यात्संसृतिक्लेशशान्तये ॥

—वादीभसिंह

अर्थ—हे भगवन् ! दुर्नय रूप अन्धकार से व्याप्त मेरे मार्ग मे आपकी भक्ति मोक्ष की प्रकाशक सम्यग्ज्ञान रूप दीपिका होवे । अर्थात् मुझे उस परम ज्ञान की प्राप्ति हो जिससे मेरा अज्ञान दूर हो ॥

हे भगवन् ! जन्म जरा मरण रूप संसार वन मे जन्मान्ध की तरह भ्रमण करते हुए मुझे सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने वाली आपकी भक्ति मुक्ति देने वाली हो जाय ।

अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के नायक हे शान्तिनाथ जिन ! संसार-सम्बन्धी दुःखो को शान्त करने के लिए मेरे अन्तःकरण में दृढ़ शान्ति उत्पन्न करें । अर्थात् आपकी भक्ति से मेरे अन्तर्मानस में ऐसी सुदृढ़ शान्ति उत्पन्न हो, जिसका कभी विनाश न हो सके ।

ग्वालियर के तोमर राजवंश के समय जैनधर्म

परमानन्द जैन शास्त्री

'तोमर' शब्द एक प्रतिष्ठित प्राचीन क्षत्रिय जाति का सूचक है। इस वंश के राजा अनंगपाल प्रथम द्वारा दिल्ली को बसाये जाने का श्रेय प्राप्त है+ इतना ही नहीं किन्तु इस वश के अनेक राजाओं ने दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेशो पर शासन किया है। सभवत. ग्वालियर का तोमर राजवंश भी दिल्ली के तोमर वश का वशज हो, लगता है दिल्ली का राज्य चले जाने पर वह वश ग्वालियर की ओर चला गया हो। ग्वालियर के तोमर वश ने डेढ सौ वर्ष के लगभग शासन किया है। ग्वालियर के तोमर राजाओ के नाम इस प्रकार है :—

वीरसिंह, उद्धरणसिंह, वीरमदेव, गणपतिदेव, डूंगर सिह, कीर्तिसिह या करणसिंह, कल्याणमल, मानसिंह और विक्रमादित्य।

इनमे वीरसिंह[१] दिल्ली के बादशाह की सेवा मे रह कर ग्वालियर का किलेदार नियत हुआ था। परन्तु वहा के शय्यद किलेदार ने वीरसिंह को किला सोपने से इकार कर दिया। फिर भी वीरसिंह ने उससे मित्रता बढ़ाने का यत्न किया और उसको अपने यहा मेहमान कर नशीली चीजो से मिश्रित भोजन कराया और जब वह बेहोश हो गया तब उसे कैद कर लिया। यह सन् १३७५ (वि० स० १४३२) की घटना है। उस समय भारत पर तैमूरलग ने आक्रमण किया था, तब भारत मे मुस्लिम सत्ता डाबाडोल हो गई थी। इसी समय अवसर पाकर वीरसिंह ने ग्वालियर किले पर अधिकार कर लिया था। वीरसिंह एक वीर पराक्रमी शासक था और राजनीति में दक्ष था। वह बडा साहसी और विवेकी था, उसमे दोषों को पचाने और उनका निग्रह करने की क्षमता थी।

उद्धरणदेव वीरसिंह का पुत्र था[२] जो अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठा था। सभवत. सन् १४०० (वि० स० १४५७) के आस-पास ही राज्य सत्ता इसके हाथ मे आई थी। इसने थोडे ही समय राज्य किया है। इसके राज्य समय की कोई घटना मेरे अवलोकन मे नही आई।

वीरमदेव उद्धरणदेव का पुत्र था[३]। सन् १४०२ (वि० स० १४५९) या उसके कुछ समय बाद राज्य सत्ता वीरमदेव के हाथ मे आई थी[४]। यह राजनीति मे चतुर और पराक्रमी शासक था। इसने अपने राज्य की सुदृढ व्यवस्था की थी। शत्रु भी इसका भय मानते थे। इसके समय हिजरी सन् ८०५ सन् १४०५ (वि० स० १४६२) मे मल्लू इकबाल खा ने ग्वालियर पर चढाई की। परन्तु उसे निराश होकर ही लौटना पडा। फिर उसने दूसरी बार ग्वालियर पर घेरा डाला, किन्तु इस बार भी उसे आस-पास के इलाके लूट-पाट कर दिल्ली का रास्ता लेना पड़ा।

\+ देशोऽस्ति हरियानाख्या पृथिव्या स्वर्गसन्निभ ।
ढिल्लकाख्यापुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्म्मिता ।।१।।
—दिल्ली म्यूजियम लेख ।

१. जात: श्रीवीरसिंह. सकलरिपुकुलव्रातनिर्घातपातो,
वंशे श्रीतोमराणा निजविमलयशोख्यातदिक्चक्रवाल ।
दानैर्मानै विवेकैर्न भवति समता येन साकं नृपाणा,
केशामेषा कवीनां प्रभवति धिषणा वर्णने तद्गुणाना ।।
—यशोधरचरित प्रशस्ति

२. ईश्वर चूडारत्नं विनिहत करघातवृत्तसंहात: ।
चन्द्र इव दुर्धर्षसिंधोस्तस्मादुद्धरणभूपतिर्जनित. ।
—यशोधरचरित प्रशस्ति

३ तत्पुत्रो वीरमेन्द्र: सकलवसुमतीपालचूड़ामणिर्य:,
प्रख्यात: सर्वलोके सकलबुधकलानंदकारी विशेषात्।
तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गे प्रसिद्धि,
भुजाने प्राज्यराज्यं विगतरिपुभय सुप्रज: सेव्यमान: ।।
—यशोधरचरित प्रशस्ति

४. वि० स० १४६० की लिखित प्रशस्ति मे वीरमदेव के राज्य का उल्लेख है, जिसे आगे दिया गया है।

वीरमदेवके महामात्य द्वारा मन्दिर और ग्रंथनिर्माण

कुशराज वीरमदेव का विश्वासपात्र महामात्य था, जो जैसवाल जैन कुल मे उत्पन्न हुआ था। राजनीति मे दक्ष और पराक्रमी था। इसके पिता का नाम जैनपाल और माता का नाम 'लोणा' देवी था। कुशराज के ५ भाई और भी थे जिनमे चार बड़े और एक छोटा था। हंसराज, सौराज, रैराज, भवराज, ये बडे भाई थे और क्षेमराज छोटा भाई था१। इसने ग्वालियर मे चन्द्र-प्रभ जिनका एक विशाल मन्दिर बनवाया था और उसका प्रतिष्ठोत्सव बडे भारी समारोह के साथ सम्पन्न किया था। कुशराज की तीन पत्नियां थी—रल्हो, लक्षणश्री और कौशीरा। ये तीनो ही धर्मपत्नी सती साध्वी, गुणवती और पतिव्रता थी। नित्य जिनपूजन किया करती थी। प्रथम पत्नी रल्हो से कल्याणसिंह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो बडा ही रूपवान, दानी और जिन-गुरु की चरणाराधना में तत्पर रहता था।

वीरमदेव के राज्य मे जैनधर्म धारकों को अच्छा सुअवसर मिला था; क्योंकि जब राज्य में सुस्थिरता होती है तब जनता पूजा और उपासना में अपना समय ठीक रूप मे लगा सकती है। यद्यपि वह समय विषम स्थिति का था। शत्रुओ की दृष्टि उसे हड़पने की थी, किन्तु वीरमदेव ने राज्य को सुदृढ बनाने का यत्न किया था, और विवेक के साथ उसके सरक्षण पर दृष्टि रखता था। इस कारण शत्रुगण उससे भय खाते थे। अतएव जनता उस समय निर्भयता से धर्म साधन कर सकी थी।

कुशराज ने वीरमदेव के राज्य मे पद्मनाभ नाम के कायस्थ विद्वान से यशोधरचरित्र (दया सुन्दर विधान) नाम का काव्य बनाने का अनुरोध किया था जिसे पद्मनाभ ने भ० गुणकीर्ति के आदेशानुसार रचा था। इसके अति-रिक्त अन्य कोई ग्रथ उस काल का रचा हुआ मेरे अव-लोकन मे नही आया।

वीरमदेव के राज्य में जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियां—

वीरमदेव के राज्यकाल मे गोपाचल में लिखी गई ४ ग्रन्थलिपि प्रशस्तियां मेरे अवलोकन मे आई है जो संवत् १४६०, १४६८, १४६६ और सं० १४७६ की लिखी हुई है। अन्वेषण करने पर और भी अनेक प्रशस्तिया उपलब्ध हो सकती है।

स० १४६० मे गोपाचल मे साहु बरदेव के चैत्यालय मे भ० हेमकीर्ति के शिष्य मुनि धर्मचन्द्र ने माघवदि १० मगलवार के दिन सम्यक्त्वकौमुदी की प्रति आत्मपठनार्थ लिखी थी। यह ग्रन्थ जयपुर के तेरापंथी मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे सुरक्षित है१।

---

१. वंशेऽभूज्जैसवाले विमलगुणनिधिर्भूलणः साधुरत्न,
साधुश्री जैनपालो भवदुदितयास्तत्सुतो दानशील।
जैनेन्द्र राधनेसु प्रमुदित हृदय सेवक. सद्गुरूणा,
लोणाख्या सत्यशीलाऽजनि विमलमतिर्जैनपालस्य भार्या
जात षट्तनयास्तयो सुकृतिनो श्रीहसराजोभवत्,
तेषामाद्यतमस्ततस्तदनुजः सौराजनामाऽजनि।
रैराजोभवराजक समजनि प्रख्यातकीर्तिमहा–
साधुश्री कुशराजकस्तदनु च श्री क्षेमराजो लघुः ॥६
जाताः श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणेः,
श्रीमत्तोमर-वीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मन्त्री मन्त्रविचक्षण. क्षणमय क्षीणारिपक्ष. क्षणात्।
क्षोणीमीक्षणरक्षणक्षणमतिर्जैनेन्द्रपूजारत. ॥७
स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिकोतिविमलश्चैत्यालय. कारितो,
लोकाना हृदयगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभो.।
येनै तत्समकालमेव रुचिरं भव्य च काव्य तथा,
साधुश्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तेश्चिरस्थापक ॥८
तिस्रस्तस्यैव भार्या गुणचरितयुपस्तासु रल्होभिधाना,
पत्नी धन्या चरित्रा व्रतनियमयुता शील शौचेन युक्ता।
दात्री देवार्चनाढ्या गृहकृतिकुशला तत्सुतः कामरूपो,
दाता कल्याणसिंहो जिनगुरुचरणाराधने तत्परोऽभूत् ॥९
लक्षणश्रीः द्वितीयाभूत्सुशीला च पतिव्रता।
कौशीरा च तृतीयेयमभूद् गुणवती सती ॥१०

—यशोधर चरित प्रशस्ति

१ संवत् १४६० शाके १३२५ षष्ठाब्दयोर्मध्ये विरोधी नाम संवत्सरे प्रवर्तने गोपाचल दुर्गस्थाने राजा वीरम-देव राज्य प्रवर्तमाने साहु वरदेव चैत्यालये भट्टारक श्री हेमकीर्तिदेव तत्शिष्य मुनि धर्मचन्द्रेण आत्मपठ-नार्थं पुस्तकं लिखित, माघ वदि १० भौमदिने।

—तेरापंथी मन्दिर जयपुर

सं० १४६८ मे आषाढ़ वदि २ शुक्रवार के दिन ग्वालियर मे राजा वीरमदेव के राज्यकाल में काष्ठासघ माथुरान्वय पुष्करगण के आचार्य श्री भावसेन, सहस्रकीर्ति और भ० गुणकीर्ति की आम्नाय मे साहू मरदेव की पुत्री देवसिरि ने 'पचास्तिकाय' टीका की प्रति लिखवाई थी, जो इस समय कारंजा के शास्त्रभडार मे उपलब्ध है१।

सवत् १४६६ में उक्त राजा के राजकाल मे आचार्य अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की 'तत्त्वदीपिका' टीका लिखी गई थी, जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न वाक्यो से प्रकट है :—

विक्रमादित्यराज्येऽस्मिश्चतुर्दशपरेशते ।
नवषष्ठया युते किन्नु गोपाद्रौ देवपत्तने ।।३।।
अनेकभूभृत्पद पद्मलग्नस्तस्मिन्निवासी ननु पाररूपः ।
शृंगारहारो भुवि कामिनीनां भूभुक् प्रसिद्धः श्रीवीरमेन्द्रः ।।४

सवत् १४७९ मे असाढ़ सुदि ५ बुधवार के दिन गोपाचल मे वीरमदेव के राज्य समयर गढोत्पुर के नेमिनाथ चैत्यालय मे काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक भावसेन, सहस्रकीर्ति प्रतिष्ठाचार्य गुणकीर्ति देव, विमलकीर्तिदेव, रामकीर्तिदेव, खेमचन्द्रदेव, भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य यशकीर्ति, हरिभूषण, अर्जिका धर्मश्री, सयमश्री, शीलश्री, चारित्रश्री, धर्ममति विमलमति और सुमतिमति की आम्नाय मे अग्रवाल कुलोत्पन्न चतुर्मुख के निवासी साहु यजन पत्नी उदेसिरि पुत्र जौतु गुर्जर, जौतु पत्नी सरो पुत्रवाधू उसकी दो स्त्रिया थी जोल्हाही और सुहागश्री, पुत्र आढा। इनके मध्य मे जौतुकी स्त्री सरो ने अपने ज्ञानावर्णी कर्म के क्षयार्थ षट्कर्मोपदेश की यह प्रति लिख कर जैत श्री की शिष्या विमलमति को पूजा विधान महोत्सव के साथ समर्पित की थी, जिसे पडित रामचन्द्र ने लिखा था। यह प्रति आमेर भण्डार में उपलब्ध है।

यद्यपि वीरमदेव के राज्यकाल मे अनेक धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न हुए है। किन्तु उन सब का एकत्र संकलन न होने से उस पर इस समय कुछ नही लिखा जा सकता। वीरमदेव के बाद उनका पुत्र गणपतिदेव गद्दी पर बैठा। परन्तु उसने भी थोडे समय ही राज्य कर पाया है, इसी से उसके राज्यकाल के कोई उल्लेख अभी उपलब्ध नही हुए।

राजा डूंगरसिंह

सन् १४२४ (वि० स० १४८१) मे गणपतिदेव का पुत्र डूगरसिंह गद्दी पर बैठा, डूगरसिंह एक वीर सेनानी और पराक्रमी शासक था। वह तोमर वश का राजहस था, उसकी जैन धर्म पर पूर्ण आस्था थी। उसके जीवन में जैनधर्म के सिद्धान्त उसके सहयोगी बने हुए थे। यद्यपि ग्वालियर की सुदृढ़ स्थिति और वैभव को देखकर शत्रुगण डूंगरसिंह को चैन से रहने नहीं देना चाहते थे। मालवा का हुशगशाह और दिल्ली का मुबारक शाह दोनो ही सतत कष्ट देते रहते थे। परन्तु डूंगरसिंह राजनैतिक विवेक के साथ अपने कर्तव्य का पालन करता था। हुशंग शाह से पीछा छुड़ाने के लिए वह कभी मुबारक शाह का और कभी हुशंग शाह का सहयोग प्राप्त कर लेता था। इसके लिए उसे कर भी देना पड़ता था, इस तरह वह अपनी चतुराई से स्वतंत्रता को कायम रखने मे समर्थ हो सका था। उसमे दयालुता और धार्मिकता के साथ अदम्य उत्साह और साहस था जिससे वह विपदा मे भी धैर्य रखता था। धर्म मे उसे दृढ़ता थी। वह राजनीति मे दक्ष, शत्रुओ के मान मर्दन करने मे समर्थ और क्षत्रियोचित क्षात्र तेज से अलंकृत था। गुण समूह से विभूषित, अन्याय रूपी नागों के विनाश करने में प्रवीण, पचाग मत्र शास्त्र मे कुशल, तथा असिरूप अग्नि से मिथ्यात्वरूपी वंश का दाहक था, जिसका यश सब दिशाओ मे व्याप्त था। राजपट्ट से अलंकृत विपुल भाल और बल से सम्पन्न था। डूंगरसिंह की पटरानी का नाम चदादे था जो अतिशय

---

१. संवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्षे आषाढ वदि २ शुक्र दिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव विजय राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्कर गणे आचार्य श्री भावसेनदेवा तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेवास्तेषामाम्नाये सघइ महाराजवधू साधु मरदेव पुत्री देवसिरि तया इदं पंचास्तिकायसार ग्रंथ लिखापितम्।

—कारजा भडार

२. देखो, आमेर भडार ग्रथ प्रशस्ति स०।

रूपवती और पतिव्रता थी। इनके पुत्र नाम कीर्तिपाल[१] या कीर्तिसिंह था, जो अपने पिता के समान ही गुणज्ञ, बलवान और राजनीति में चतुर था[२]। डूंगरसिंह ने सन् १४३८ (वि० सं० १४९५) में नरवर के किले पर घेरा डाला था, जो उस समय मालवे के आधीन था। यद्यपि डूंगरसिंह को उस समय सफलता न मिली, परन्तु बाद में उस पर तोमर वंश का अधिकार हो गया था। राजा डूंगरसिंह तोमरवंश का शिरोमणि था, अनेक राजाओं से पूजित और सम्मानित था और शत्रुओं का मान मर्दन करने में दक्ष था[३]। शत्रु जन उसके प्रताप एवं पराक्रम से भयभीत रहते थे। युद्ध स्थल में उसके समान अन्य कोई वीर योद्धा नहीं था। जब उसकी तलवार शत्रुकपोलों पर पड़ती थी तब वे कमलनाल की तरह खंडित हो जाते थे। वह शत्रुगणों की कामनियों के मन को सल्ल देने वाला था, बहुत कहनेसे क्या उसका यश दशों दिशा में व्याप्त था[४]।

डूंगरसिंह द्वारा जैन मूर्ति निर्माण कार्य

जैनधर्म पर उसका केवल अनुराग ही न था किन्तु उस पर उसकी परम आस्था भी थी। उसने किले की बेडोल और असुन्दर लगने वाली चट्टानों को अपार सौन्दर्य में परिणत कराया। जैन मूर्तियों के निर्माण में उसने सहस्रों रुपया व्यय किये थे। जैन प्रतिमाओं के उत्कीर्ण होने का काल ३३ वर्ष पाया जाता है। यह कार्य डूंगरसिंह अपने जीवनकाल में पूरा नही करा सका, तब उसके प्रिय पुत्र कीर्तिसिंह ने पूरा कराया। ग्वालियर गढ़ के चारों ओर कलात्मक जैन मूर्तियों का निर्माण कराकर अपनी उदार भावना का परिचय दिया है। ग्वालियर गढ़ की यह भावमयी प्रतिमाएं मूर्तिकलाकी महत्वपूर्ण वस्तु है। किले की बेडौल और मूक चट्टानें शिल्पियों की साधना

---

१. कवि रइधू ने श्रीपाल चरित में—'तहु कित्तिपालणंदणु गरिट्ठु' वाक्य द्वारा कीर्तिपाल नाम का उल्लेख किया है, और कीर्तिसिंह नाम भी दिया है।

स्व० गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने टाड राजस्थान के २५० पृष्ठ की नंबर वाली टिप्पणी में कीर्तिसिंह के दूसरे भाई पृथ्वीराज का उल्लेख किया है, जो सन् १४५२ (वि० स० १५०९) में जोनपुर के सुलतान महमूद शाह शर्की और दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी के बीच होने वाले संग्राम में महमूद शाह के सेनापति फतहखां हार्वी के हाथ से मारा गया था। परन्तु रइधू कवि ने डूंगरसिंह के द्वितीय पुत्र का कोई उल्लेख नही किया।

२. तहिं तोमर कुल सिरिरायहंसु,
गुणगण-रयणायरु लद्धसंसु।
अण्णाय-णाय-णासण पवीणु,………।
अरिराय-उरत्थलि-दिण्णि-दाहु।
समरंगणि पत्तउ विजय-लाहु,
खग्गग्गि डहिय जे मिच्छ-वंसु।
जस ऊरिय ऊरिय जे दिसंतु,
णिवपट्टालंकिय विउलभालु।
अतुलिय बल खल-यलय-कालु,
सिरिणिव गणेस णंदणु पयंडु।
ण गोरक्खण विहिणउ वमंडु,
मग्गण रज्ज भर दिण्ण खंधु।
सम्माण-दाण तोसिय-सबंधु,
करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु।
× × ×
तहु पट्ट महाएवी पसिद्ध, चंदादेणामा पणयरिद्ध।
सयलंतेउरमज्झहं पहाणु णिय-पइ-मण-पोषण-सावहाणु।

३. श्री तोमरान्वयशिखामणित्व,
य प्राप भूपालनताचिताङ्घ्रिः।
श्रीराजमानो हतशत्रुमान,
श्रीडूगरेन्द्रोऽत्र नराधिपोऽस्ति॥
—समयसार लिपि प्र० सेनगण भंडार, कारंजा

४. …… …… भुयबल पमाणु,
समरंगणि अण्णु ण तहु समाणु।
णिरुवम अविरल गुण मणि णिकेउ,……………।
साहणसमुद्दु जयसिरिणिवासु,
जस ऊयरि पऊरियदहदिसासु।
करवाल णिहाएं अरि-कवाल,
तोडि वि घल्लिउ ण कमलणालु।
दुप्पिच्छ मिच्छ रणरंग मल्लु,
अरियणकामिणिमण दिण्णु सल्लु।
—सम्मत्तगुणनिधान प्रशस्ति

और कठोर छैनी से आहत होती हुई शान्ति और तपस्या की महान् भावना से मुखरित हो उठी हैं। शिल्पी ने कला की अभिव्यंजना करते हुए विशालता, वीतरागता और सौन्दर्य की अपूर्व पुट देकर मूर्तियों को उत्कीर्ण किया है। और निर्मापक की निर्मल भावनाओं को साकार रूप देकर अमर बनाने का प्रयत्न किया है। इनसे गढ़ के चारों ओर का वातावरण अपूर्व सौन्दर्य और शान्ति से मुखरित हो उठा है।

उरवाही द्वार की २२ जैन मूर्तियो मे आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है। वह ५७ फुट की है, उसके चरणो के पास ९ फुट की चौड़ाई है। इनमें नेमिनाथ की पद्मासन मूर्ति ३० फुट ऊंची है। इतनी विशाल मूर्ति अन्यत्र मिलना कठिन है। इन २२ प्रतिमाओं में से छह पर सं० १४९७ से १५१० के लेख अंकित हैं।

किले के उत्तर पश्चिम के मूर्ति समूह मे आदिनाथ की एक महत्वपूर्ण मूर्ति है जिस पर १५२७ का अभिलेख अंकित है। उत्तर पूर्व की मूर्तियों की कला साधारण है, और उन पर लेख भी नही हैं।

दक्षिण पूर्व की कलात्मक विशाल मूर्तिया ग्वालियर के फूल बाग दरवाजे से बाहर निकलते ही लगभग अर्ध मील तक उत्कीर्ण की हुई दिखाई देती है। इनमे अनेक मूर्तिया २० फुट से ३० फुट तक की ऊंचाई को लिए हुए है। उनमे आदिनाथ, नेमिनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, कुन्थनाथ और महावीर आदि की मूर्तिया है। जिनमे से कुछ पर सं० १५२५ से १५३० तक के अभिलेख उत्कीर्ण है।

डूंगरसिंह के राज्य में ग्रंथ निर्माण और मूर्तिप्रतिष्ठा

राजा डूंगरसिंह के समय ग्वालियर के जैन धर्मानुयायी श्रावकों ने भी अनेक मूर्तियों का निर्माण कराया और उनका प्रतिष्ठा महोत्सवादि कार्य भी सम्पन्न किया है। इतना ही नहीं किन्तु अनेक ग्रंथों की रचना भी हुई। और अनेक ग्रथों की प्रतिलिपियां भी की गई है। जिनमे से यहा कुछ का उल्लेख पाठकों की जानकारी के लिए किया जाता है।

संवत् १४८६ (सन् १४२९) मे भ० गुणकीर्ति के शिष्य भ० यश.कीर्ति ने सुकमाल चरित और कवि श्रीधर की संस्कृत भविष्यदत्त पचमी कथा की प्रतिया आत्म पठनार्थ लिखवाई थी१।

कवि रइधू ने ग्वालियर निवासी साहु कमलसिंह के लिए सम्मत्त गुणनिधान नामक ग्रन्थ की रचना सं० १४९२ मे भाद्रपाद मास की पूर्णिमा के दिन समाप्त की थी। इस ग्रथ की रचना कवि ने तीन महीने में की थी, जैसा कि उसके पद्यो से प्रकट है :—

चउदह सय वणणव उत्तरालि, वरिसइ गय विक्कमरायकालि,
वक्खेयत्तु जि जण-वय समक्खि, भद्दवमासम्मि ससेय पक्खि।
पुण्णमि दिण कुजवारे समोइं, सुहयारें सुहणामें जणोइं।
तिहु मास रयंति पुण्ण हूउ, सम्मत्त गुणाहिणिहाणु धूउ।

सवत् १४९२ मे पूर्व साहु खेमसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ११ हाथ ऊंची आदिनाथ की एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था। जिसके प्रतिष्ठोत्सव के लिए राजा डूगरसिंह से आज्ञा मागी थी। तब राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा था कि आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न

१. सवत् १४८६ वर्षे अश्वणि वदि १३ सोमदिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरसिंहदेव विजयराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये आचार्य श्री भावसेन देवास्तत्पट्टे श्रीसहस्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे श्री गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्येन श्री यश कीर्तिदेवेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं सुकमाल चरित लिखापितं। कायस्थ पाजनपुत्र थलू लेखनीय। —जयपुर भडार
सवत् १४८६ वर्षे आषाढ वदि ९ गुरु दिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरसीह राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य यश:कीर्ति देवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं भविष्यदत्त पचमी कथा लिखापित।
(नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली)

२ जो देवाहिदेव तित्थंकरु, आइणाहु तित्थोय सुहंकरु।
तहु पडिमा दुग्गइ-णिण्णासणि,
जा मिच्छत्त-गिरिंद-सरासणि।
जा पुणु भव्वह सुहगइ-सासणि,
जा महिरो-सोय-दुह-णासणि।
सा एयारह कर अविहंगी, काराविय णिरुवम अइतुगी॥
—सम्मत्त गुण नि० जैन ग्रंथ प्रश. स भाग २ पृ. ८६

कीजिए। मुझसे जो आप मांगेगे वही दूगा। और ताम्बूल आदि से उसका सम्मान भी किया था। इससे डूंगरसिंह की धार्मिक उदारता का परिचय मिलता है। इसका उल्लेख कवि रइधू ने सम्मत्त गुणनिधान की पीठिका मे किया है।

इसके बाद कवि रइधू ने नेमिनाथ चरित, पार्श्वनाथ चरित और बलभद्र चरित (रामायण) की रचना की है। क्योंकि सं० १४९६ में रचे जाने वाले सुकोशल चरित मे उक्त ग्रथो के रचे जाने का उल्लेख किया है।

सवत् १४९७ में परमात्मप्रकाश की सटीक प्रति लिखी गई, जो इस समय जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्रभडार मे सुरक्षित है।

सवत् १५०६ मे धनपाल की भविष्यदत्त पचमी कथा की प्रति लिपि की गई, जो कारजा के शास्त्र भडार मे मौजूद है।

सवत् १५१० में समयसार की प्रतिलिपि की गई, जो अब कारजा के सेनगण भडार मे उपलब्ध है।

सवत् १४९७ और सवत् १५१० मे प्रतिष्ठापित मूर्तियो के लेख उपलब्ध है[१]।

डूंगरसिंह के राज्य में ग्वालियर

इस तरह गोपाचल जैन संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था। वहा जैन सस्कृति के प्रचार और प्रसार मे भ० गुणकीर्ति, उनके शिष्य प्रशिष्यो का पूर्ण सहयोग रहा है। भ० गुणकीर्ति एक प्रभावशाली विद्वान भट्टारक और प्रतिष्ठाचार्य थे। उन्होने अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा कराई थी। ग्वालियर के तोमर राजवश पर भ० गुणकीर्ति का महत्वपूर्ण प्रभाव था। उनके शिष्यों का बडा परिकर ग्वालियर मे विद्यमान था। राजा डूगरसिंह के राज्यकाल मे ग्वालियर चरमोन्नति की सीमा को पहुँच चुका था। वहा की प्रजा अत्यन्त खुशाल थी और सन्तोष पूर्वक जीवन बिता रही थी। नैतिक धरातल उच्चकोटि का था, इसी से वहा चोरी, अन्याय, अत्याचार आदि नहीं होते थे। प्रजा मे कहीं भी दीनता दिखाई नहीं देती थी। सभी वर्ग अपने-अपने व्यवसाय में अनुरक्त रहते थे। और सभी को अपने-अपने धर्मसेवन की स्वतत्रता प्राप्त थी। हा राज्य की ओर से गो संरक्षण अनिवार्य था। वहां के बाजारो मे विविध वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता था। जनता का व्यवहार निष्कपट और सुखद था। वहा खल, दुष्ट और पिशुन जन देखने मे नही आते थे। लोगो का व्यवहार सरल और प्रेममय था। लोग आत्म निरीक्षण को अधिक पसन्द करते थे। यही कारण है कि राज्य मे कही भी अशान्ति दृष्टिगोचर नहीं होती थी। उस समय ग्वालियर में महाजन और धनाढ्य व्यक्ति निवास करते थे, जो देवशास्त्र और गुरु की विनय करते थे। श्रावक लोग आवश्यक षट्कर्मों का दृढता से पालन करते थे। और नारीजन शील व्रत का दृढता से पालन करती थीं। सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र का निरन्तर अभ्यास होता था, लोग भव-भोगों से विरक्त रहते थे, सामायिक और स्वाध्याय समय पर होते थे, पर्व के दिनो मे प्रोषध (उपवास) भी किया करते थे। इस तरह श्रावक जन विषय-कषायों को जीतने का उपक्रम करते थे। दूसरों के अवगुणों पर कभी दृष्टि नही डालते थे। जुआ आदि सप्तव्यसनो मे रहित होकर अणुव्रतादि द्वादश व्रतो का अनुष्ठान करते थे। सम्यग्दर्शन से विभूषित थे। लोक कल्याण मे प्रवृत्ति करते हुए आत्म-साधना मे निरत रहते थे। आहार के समय द्वारापेक्षण मे सावधान रहते थे। दानादि द्वारा जन कल्याण करना आत्म कर्तव्य मानते थे। जिनेन्द्र पूजा और महोत्सव रूप व्यवहार धर्म मे प्रवृत्ति करते हुए भी अपने लक्ष्य भूत आत्मा के चैतन्य गुण पर दृष्टि रखते थे। और निरन्तर जिन सूत्र रूप रसायन के पान से सन्तुष्ट रहते थे। इस प्रकार उस समय के श्रावको की दिनचर्या से स्पष्ट है कि ग्वालियर मे जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किस रूप मे हो रहा था।

राजा डूगरसिंह ने संवत् १४८१ से स, १५१० तक ३० वर्ष तक ग्वालियर पर शासन किया है। उसके राज्य काल मे प्रजा सुखी और समृद्ध रही है।

---

१. देखो, जनरल एशियाटिक सोसाइटी भाग ३१, पृ० ४२३।

गोपाचल दुर्गे तोमरवशे राजा श्री गणपति देवास्त पुत्रो महाराजाधिराज श्रीडूंगरसिंह राज्ये [प्रतिष्ठितं] चौरासी मथुरा की मूलनायक मूर्ति का लेख।

राजा कीर्तिसिंह

यह एक वीर पराक्रमी शासक था। इसने अपने पिता के राज्य को संरक्षित रखते हुए उसे और भी बढाने का यत्न किया था। यह दयालु, सहृदय और प्रजावत्सल था। यह भी अपने पिता के समान जैनधर्म पर विशेष अनुराग रखता था। और उसने अपने पिता द्वारा प्रारब्ध जैन मूर्तियों की खुदाई के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया था। कविवर रइधू ने इसके राज्यकाल मे 'सम्यक्त्व कौमुदी या श्रावकाचार की रचना की थी। उसमे कवि ने कीर्तिसिंह के यश का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"वह तोमर कुल रूपी कमलो को विकसित करने वाला सूर्य था और दुर्वार शत्रुओं के सग्राम से अतृप्त था। और अपने पिता के समान राज्यभार के धारण करने मे समर्थ था। सामन्तों ने जिसे भारी अर्थ समर्पित किया था, तथा जिसकी यशरूपी लता लोकव्याप्त हो रही थी और वह उस समय कलिकाल चक्रवर्ती था[1]।"

राजा कीर्तिसिंह ने अपने राज्य को खूब पल्लवित एव विस्तृत किया था और वह उस समय मालवे के समकक्ष हो गया था। और दिल्ली का बादशाह भी कीर्तिसिंह की कृपा का अभिलाषी बना रहना चाहता था, परन्तु सन् १४६५ (वि. स. १५२२) मे जोनपुर के महमूदशाह के पुत्र हुशैनशाह ने ग्वालियर को विजित करने के लिए बहुत बडी सेना भेजी थी, तब से कीर्तिसिंह ने दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी[2] का पक्ष छोड दिया था और जोनपुर वालों का सहायक बन गया था। सन् १४७८ में हुशैनशाह दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी से पराजित होकर अपनी पत्नी और सम्पत्ति वगैरह को छोड कर भागा और भागकर ग्वालियर में राजा कीर्तिसिंह की शरण मे गया था। तब कीर्तिसिंह ने धनादि से उसकी सहायता की थी और कालपी तक उसे सकुशल पहुँचाया भी था। कीर्तिसिंह के समय के दो लेख सन् १४६८ (वि. स. १५२५) और सन् १४७३ (वि. सं. १५३०) के मिले है। कीर्तिसिंह की मृत्यु सन् १४७९ (वि. सं. १५३६) में हुई थी। अतः इसका राज्यकाल स. १५१० से १५३६ तक माना जाता है।

इसके राज्यकाल मे होने वाला मूर्ति उत्खनन का कार्यकाल सं० १५२२ से स. १५३१ तक का मिलता है। संवत् १५२५ की प्रतिष्ठित की कई मूर्तियां है जिन पर अंकित लेख में कीर्तिसिंह के राज्य का उल्लेख है। उनमे मे पाठकों की जानकारी के लिए बाबा बावडी के दाहिनी ओर पार्श्वनाथकी खडगासन मूर्तिके चरणभाग मे उत्कीर्ण लेख नीचे दिया जाता है। इसकी साइड मे ९ मूर्तियां और भी है जिनमे कुछ पद्मासन और खड्गासन है। उनका मुख खंडित कर दिया गया है

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादोमोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

स्वस्ति संवत् १५२५ वर्षे चैत्र सुदी १५ गुरौ श्रीमूल संघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्र यतीश्वरा; तत्पट्टे भ० सिंहकीर्ति ऋषीश्वरास्तेषामुपदेशात् श्री गोपाचलु पर्वताग्रे श्री तोमरान्वये महाराजाधिराज श्री कीर्तिसिंह विजयराज्ये प्रतिष्ठापकः श्री श्रावक वंशोद्भव गोलाराडेति मजक. श्री शान्तिरस्तु तुष्टिरस्तु······सदास्तु मे।

संवत् १५२१ मे उक्त कीर्तिसिंह के राज्यकाल मे ग्वालियर के जैसवाल कुलभूषण उल्हा साहु के ज्येष्ठ पुत्र पद्मसिंह ने अपनी चचल लक्ष्मी का सदुपयोग करने के लिए २४ जिनालयों का निर्माण कराया और एक लाख ग्रन्थ

१. तोमर कुल कमल वियास-मित्तु,
दुव्वार-वैरि संगर अतित्तु।
डूंगर निव रज्जधरा समत्थ,
वंदियण समप्पिय भूरि अत्थु।
चउराय विज्ज पालण अतंदु,
णिम्मल जसवल्ली भवण-कदु।
कलि चक्कवट्टि पायड णिहालु,
सिरि कित्तिसिंघु महिवइ पहाणु॥
—सावयचरिउ प्रशस्ति

२. बहलोल लोदी देहली का बादशाह था। उसका राज्यकाल सन् १४५१ (वि० स० १५०८) से लेकर सन् १४८९ (वि० स० १५४६) तक ३८ वर्ष पाया जाता है।

लिखवा कर भेट किए थे१। यह ग्रन्थ बाराबंकी के शास्त्रभंडार मे मौजूद है।

सवत् १५२१ मे लिपि की गई ज्ञानार्णव की एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा मे उपलब्ध है।

भ० गुणभद्र ने अनेक कथाओ का निर्माण भी ग्वालियर निवासी श्रावको की प्रेरणा से किया था। इस तरह कीर्तिसिंह के राज्य मे अनेक सांस्कृतिक कार्य निर्माण किये गये हैं, कीर्तिसिंह ने स. १५१० से १५३६ तक राज्य किया।

कीर्तिसिंह के बाद राज्यसत्ता कल्याणमल (मल्लसिंह) के हाथ में आई थी, इनके राज्यकाल के सांस्कृतिक कोई उल्लेख नही मिले। सिर्फ १५५२ का एक मूर्तिलेख उपलब्ध है२।

बलहद्दचरिउ मे सिर्फ हरिवंशपुराण (नेमिजिन चरिउ) के रचे जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि बलहद्दचरिउ के बाद हरिवंश पुराण की रचना हुई है। हरिवंश पुराण मे त्रिषष्ठिशलाकाचरित (महापुराण) मेघेश्वर चरित, यशोधर चरित, वृत्तसार और जीवधर चरित्र इन छह ग्रन्थो का उल्लेख है। इससे ये छह ग्रन्थ भी स. १४९६ से पूर्व रचे गये है।

सम्मइजिनचरिउ प्रशस्ति मे मेघश्वर चरित, त्रिषष्ठि महापुराण, सिद्धचक्रविधि, बलहद्दचरिउ, सुदर्शन चरित और धन्यकुमार चरित नामक ग्रथो का समुल्लेख है। अत कहना चाहिए कि ये ग्रथ भी रइधू ने स. १४९६ से पूर्व किसी समय रचे है। सभवत. ये सभी ग्रथ स. १४९२ से १४९६ के मध्यवर्ती काल मे रचे गये है। इनसे कविवर रइधू की कविता करने की शक्ति का अदाज लगाया जा सकता है।

मुझे अभी हाल मे जयपुर के आमेर भंडार मे रइधू के 'आत्म संबोध काव्य' की २९ पत्रात्मक जीर्ण प्रति मिली है जो संवत् १४४८ की लिखी हुई है। "संवत् १४४८ वर्षे फाल्गुण वदि १ गुरौ दिने श्रावग लक्ष्मण कम्मक्षय विनाशार्थ लिखितं।" इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि यह रइधू कवि की आद्य रचना है। इससे रइधू कवि का समय सं. १४४८ से १५२५ तक का उपलब्ध होता है जिसमे रचनाकाल सभवतः १५१५ और उसके कुछ बाद तक रहा है। और प्रतिष्ठाकार्य स. १४९७ से १५२५ तक जान पडता है। इससे यह तथ्य निकलता है कि रइधू कवि दीर्घ जीवी थे। इससे वे शतवर्ष जीवी रहे जान पड़ते हैं।

मानसिंह

कल्याणमल का पुत्र मानसिंह अपने पिता के बाद ग्वालियर की गद्दी पर बैठा था। यह राजा प्रतापी संगीत प्रिय और कला प्रिय था। और जिस किसी प्रकार से अपने पूर्वजों द्वारा संरक्षित एवं संवर्द्धित राज्य को स्वतंत्र रखने मे समर्थ हो सका था१। इसके राज्य समय दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। तब मानसिंह ने कूटनीति से कभी धन देकर उस संकट से पीछा छुडाया। बहलोल लोदी की मृत्यु सन् १४८९ में हो गई। उसके बाद सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा। इसकी ग्वालियर पर दृष्टि थी ही, परन्तु उसने इस बलिष्ठ राजा की ओर पहले मैत्री का हाथ बढाया। और राजा को घोडा तथा पोशाक भेजी। मानसिंह ने भी एक हजार घुड़सवारों के साथ अपने भतीजे को भेंट लेकर सुल्तान से मिलने के लिए बयाना भेजा। इससे मानसिंह कुछ समय तक निष्कंटक राज्य कर सका। सन् १५०१ मे तोमरो के राजदूत निहाल से क्रुद्ध होकर सिकन्दर लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया, किन्तु मानसिंह ने धन देकर और अपने पुत्र विक्रमादित्य को भेजकर सुलह कर ली। सन् १५०५ मे सिकन्दर ने ग्वालियर पर आक्रमण किया, और

१. विज्जुल चंचलु लच्छीसहाउ,
आलोइविहुउ जिणधम्मभाउ।
जिण गंथु लिहावउ लक्खु एकु,
सावय लक्खा हारीति रिक्खु।
मुणि भोजण भुंजाविय सहासु,
चउवीस जिणालउ किउ सुभासु।
—*जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० पृ० १४४*

२. जैन लेखसंग्रह पूर्णचन्द नाहर भाग २

१. एक सोवनकी लंका जिसि, तौ वरु राउ सबल वरवीर।
भुयबल आयु जु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये।
ताके रौज सुखी सब लोग, राज समान करहिं दिनभोग।
जैनधर्म बहुविधि चलें, श्रावगदिन जु करैं पट् कर्म।
—नेमीश्वर गीत

इस बार भी मानसिंह ने धन देकर तथा पुत्र को भेजकर सुलह कर ली। सन् १५०५ में सिकन्दर ने ग्वालियर पर पुनः आक्रमण किया। अबकी बार ग्वालियर की सेना ने उसके दांत खट्टे कर दिये। उसकी रसद काट दी गई, और वह बड़ी दुरावस्था के साथ भागा। पश्चात् सन् १५१७ तक मानसिंह को चैन मिला। परन्तु इस बार सिकन्दर पूर्ण तैयारी के साथ ग्वालियर पर हमला करना चाहता था किन्तु सिकन्दर मर गया।

मानसिंह का कलाप्रेम—

मानसिंह ने मृगनयना गूजरी के लिए गूजरी महल बनवाया। और 'मान कुतूहल' नाम के संगीत ग्रन्थ की रचना की। ग्वालियर का मानमन्दिर (चित्रमहल) हिन्दू स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। इसका निर्माण विशुद्ध भारतीय शैली मे हुआ है। जिसने मुगल स्थापत्य कला को प्रभावित किया है। इस महल को अनुपम चित्रो से अलंकृत किया है। उनका रग आकर्षक चटकीला है। मानमन्दिर के आगनो और झरोखों मे अत्यन्त सुन्दर खुदाई का काम है। आगन के खभों, भीतो, तोडो और गोखों में सुन्दर पुष्पों, मयूरो तथा सिंह, मकर आदि उत्कीर्ण किये गये हैं। बाबर ने भी इस महल की कारीगरी की प्रशंसा की है।

मानसिह के राज्य समय मे क्या कुछ सास्कृतिक कार्य हुए है। इस सम्बन्ध में यद्यपि विशेष अनुसधान नहीं हो पाया है तो भी एक दो उल्लेख नीचे दिए जाते हैं—

सन् १५०१ (वि० स० १५५८) मे चैत्र सुदी १० सोमवार के दिन गोपाचल दुर्ग मे राजा मानसिह के राज्य मे काष्ठासघ नदिगच्छ विद्यागण के भट्टारक सोमकीर्ति और भ० विजयसेन के शिष्य ब्रह्मकाला ने अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की प्रति अपने पठनार्थ लिखाई थी१।

सन् १५१२ (वि. स. १५६९)२ में राजा मानसिह के राज्य मे गोपाचल में श्रावक सिरीमल के पुत्र चतरू ने नेमीश्वर गीत की रचना ४४ पद्यों में की है। यह ग्रन्थ आमेर भडार में सुरक्षित है। जिसमें जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अकित है।

तोमरवंश का अन्त—

सिकन्दर के बाद इब्राहीम लोदी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। राज्य सभालते ही उसकी महत्वकांक्षा ग्वालियर लेने की हुई। उसे अपने प्रपिता बहलोल लोदी और पिता सिकन्दर लोदी के असफल होने की बात याद थी ही। अतः उसने सम्पूर्ण शक्ति तय्यारी में लगाई। उसने ग्वालियर के किले पर घेरा डाल दिया, उसी समय मानसिह की मृत्यु हो गई। मानसिह के बाद तोमर लोदियों के आधीन हो गए। और मानसिह का बेटा विक्रमादित्य अपने पूर्वजो की स्वातत्र्य भावना को निभा न सका।

उपसंहार—

इस तरह ग्वालियर के तोमर वश में जैन धर्म का ठोस सांस्कृतिक कार्य हुआ है, उसका यहां कुछ निर्देश किया गया है। मेरा विचार है कि ग्वालियर राज्य में जितने जैन शिलालेख, मूर्तिलेख है, यदि उनका संकलन कर सका तो तत्कालीन विद्वान भट्टारको, राजाओं और श्रावकों का प्रामाणिक इतिवृत्त भी लिखा जा सकेगा।

ग्वालियर मे पुरातनकाल से जैन सस्कृति के पालक विद्वान मुनि, भट्टारक और श्रेष्टिजन अपनी शक्ति भर जैन धर्म को समुन्नत करने के प्रयत्न मे लगे रहे है। यही कारण है कि वहां जैनियों के पुरातत्त्व की विपुलता है।

---

१. अथ नृपति विक्रमादित्य सवत् १५५८ वर्षे चैत्र सुदी १० सोमवासरे अश्लेखा नक्षत्रे गोपाचलगढ़ दुर्गे महाराजाधिराज श्री मानसिह राज्ये प्रवर्तमाने श्री काष्ठा सघे नदिगच्छे विद्यागणे भ० श्री सोमकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री विजयसेन देवास्तत् शिष्य ब्रह्मकाला इद षट्कर्मोपदेशशास्त्रं लिखाप्यं आत्मपठनार्थं।
—प्रशस्ति स० आमेर पृ० १७३

२. सवतु पंद्रह सै दो गने, गुनहुत्तरि ताऊपर भने।
भादौ वदि पंचमीवार, सोम नषितु रेवती सार।
—नेमीश्वर गीत

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पौली मंदिर, शिरपुर

नेमचन्द धन्नूसा जैन

शिरपुर जिला अकोला मे श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ नाम के दो दिगम्बर जैन मंदिर हैं। जहा आज देवाधिदेव १००८ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है और जिसके दोनो मंजिल पर अनेक दिगम्बर जैन मूर्ति पादुका, गुरुगादी आदि विराजमान है। इसका विवेचन हम आगे करेगे। आज जिस मदिर की जानकारी हम वाचक को देना चाहते है वह है दूसरा मदिर। जो गाव के पश्चिम मे और हेमाडपंथी है। यह मदिर एलिचपुर के श्रीपाल ईल राजा ने बनवाया है। यह मदिर बगीचे मे है और यहा के ही पुराने कुवां के जल से श्रीपाल-ईल राजा का कुष्ट रोग गया था। आज भी श्रद्धापूर्वक इसी पानी का उपयोग करने से अनेको लोगो के कुष्ट, चर्मरोग, नष्ट हो रहे है और उदर व्याधि भी चली जाती है ऐसा अनुभव आता है। दीर्घ काल भगवान की प्रतिमा इसी कूप मे रही है तो उसके ससर्ग से उस जल मे कुछ विशिष्ट गुण पैदा हो गये होगे तो आश्चर्य नही।

बड़ी भक्ति और श्रद्धा के बाद राजा ईल को यह प्रतिमा मिली थी। अत वे इस प्रतिमा को एलिचपुर ले जाना चाहते थे। लेकिन वह यहां ही—जहा बस्ती मदिर बना है—स्थिर हो गई। इसलिए बीच मे ही इसकी स्थापना करने के बजाय जहां इसको प्राप्त किया वहा ही इसके लिए भव्य मदिर बना कर उसमे इस प्रतिमा को स्थापन करना इस हेतु से ईल राजा ने यह मंदिर निर्माण किया। लेकिन मूर्ति यहा से न हटने के कारण[1] इस मंदिर में प्रभु की मूर्ति की स्थापना न हो सकी। यद्यपि इस मंदिर में बाद में अन्य अनेक पार्श्व प्रभु आदि की दि० जैन प्रतिमाएं स्थापित है, तो भी इस ही श्री अतरिक्ष पार्श्व प्रभु की मूर्ति के लिए यह मंदिर बधाया गया था इसलिए इस मदिर को आज भी श्री अं० पार्श्व पौली मंदिर ऐसा ही कहते हैं।

या यों कहिए कि यह इस मदिर का 'विशेष नाम' है, शास्त्रो मे जिसे 'नाम निक्षेप' कहते है। क्योंकि इस मंदिर पर जो शिलालेख ई० स० १४०६ का उत्कीर्ण है उसमे 'अंतरिक्ष श्री पार्श्वनाथ' यह नाम है। और इसी लिए इस मंदिर को श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ पौली मदिर कहते है।

इस लेख के ऊपर के एक शिला पर 'श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य प्रतिष्ठित दिगंबर जैन मदिर' ऐसा लेख मिलता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि यह मदिर आज तक अप्रतिष्ठित है, ऐसा जो श्वेताम्बर कहते है वह असत्य है और श्री नेमिचद्राचार्य नाम के दि० मुनि के तत्त्वावधान मे इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई है।

मंदिर की रचना शैली और शिल्प—यद्यपि इस मदिर का काम देवगिरी के हेमाद्रिपत के करीबन एक शतक पहले प्रारम्भ हुआ था, तो भी बाद मे ही पूरा करने का प्रयत्न किया गया इसलिए इस मदिर को हेमाडपथी ही कहते है। अर्थात् यह मदिर मूल में पूरा पाषाण का ही है और पाषाण को मिट्टी या चूना से न जोड़ते हुए लोहे के कांब से जोड़ा गया है।

मदिर के सामने एक महाद्वार बनाया गया है इससे इस मन्दिर के इर्द-गिर्द एक परिकर बनाने की योजना थी ऐसा लगता है, लेकिन वह पूरी न हो सकी, और यह प्रवेशद्वार आज धूप तथा पानी के मार से जीर्ण हो गया है। इसकी मरम्मत अदाजा २०० साल पहले हो गई थी मगर अभी इसकी पश्चिम बाजू गिर गई है। इसके पूर्व

---

१. श्वे० लोग कहते हैं कि "राजा को इस मंदिर निर्माण करने के बाद गर्व हो गया था, इसलिए प्रतिमा ने इस मंदिर में प्रवेश नहीं किया" यह बात एकदम झूठ है।

के दरवाजे पर एक पद्मासनी दि० जैन मूर्ति उत्कीर्ण है।

मूल मंदिर की रचना दो भागों मे बट सकती है। गर्भागार और सभामडप। गर्भागार—बाहर से पचकोणाकृति होकर प्रत्येक बाजू में जो देवली रखी है उनमे एक-एक क्षेत्रपाल की स्थापना की गई है। सभामडप चौरस है, इसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिण मे ३ दरवाजे है। इन तीनों द्वार के सामने स्वतंत्र तीन छोटे सभामडप बनाये गये थे, लेकिन सामने के दर्शनीय भाग का सभामडप नष्ट हुआ है। उसके अवशेष अभी वहा पड़े हुए है। एक बडा भग्न धर्मचक्र भी उस प्रसिद्ध कुवा के पास रखा गया है।

मदिर पूर्वाभिमुख है। मदिर मे प्रवेश करने के पहले ऊपर उल्लेखित शिलालेखो पर नजर जाती है। तथा उसके ऊपर आज 'श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पौली मदिर' ऐसा बोर्ड भी लगा हुआ है। इस पर से श्वेताम्बर यात्री भी यह कहते है कि यह मदिर दिगम्बरों का ही है। तथा अनपढ़ आदमी भी इस मंदिर के शिल्प को देखकर कहते है कि यह मदिर दिगम्बर जैनो का ही है। क्योंकि इस मदिर के जो ३ द्वार है उन पर आजू बाजू २ यक्षेन्द्र तथा कम से कम एक फुट ऊँची ऐसी दो-दो खड्गासन प्रतिमाजी उत्कीर्ण है, और ऊपर एकेक पद्मासन मूर्ति है। इसी तरह गर्भागार के द्वार पर भी एक पद्मासन मूर्ति है।

तथा गर्भागार के पास सीधे हाथ के कोने मे स्तभ पर एक ६ इंच की खडी नग्न प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसलिए गर्भागार मे जाकर प्रभुजी के दर्शन करने के पहले मन सभामंडप के स्तम्भो पर के शिल्प देखने मे दग होता है। वह जैसा थोडा पीछे हटता है वैसे ही उसको पश्चिमोत्तर बाजूके स्तम्भ पर पूर्वाभिमुख खडी ६ इच ऊची हाथमे पीछी कमण्डलु लिए हुए प्रतिमा दिखाई देती है। इस पर से जान पडता है कि इस मदिर के निर्माण मे किसी दि० जैन मुनि का सहयोग जरूर रहा होगा।

उसी स्तम्भ पर प्रभुजी के जन्माभिषेक समय प्रभु के माता-पिता को जो कृत्रिम निद्रा आती है उसका दृश्य बहुत ही उठावदार है। बाजू मे उन माता पिता की सेवा करने वाले देवगण है। उसी ओर उसके सामने के स्तंभ पर नृत्य पथक तथा वाद्य पथक अनेक वाद्यों से अलंकृत है दरवाजे पर भी अनेक वाद्यपट्ट बताये गये हैं। इस सभामंडप की दीवाल में १२ तथा गर्भागार के पास के दो ऐसे कुल १४ स्तभ है। इस बीच एक और चार स्तंभ वाला सभामंडप है। इसके पश्चिम-दक्षिण के स्तंभ पर एक ६ इंची खड़ी नग्न प्रतिमा है। इस बीच के सभामडप में जमीन पर पाषाण की कमलाकार रचना की है।

जब गर्भागार मे प्रवेश करते है तो वह अन्दर से चौरस और एकदम प्लेन देख कर आश्चर्य होता है। अन्दर कोई शिल्प या नक्शीका काम नही है। सीधे हाथ के कोने मे एक अखड पाषाणका मानस्तभ है। उस पर सामने का उल्लेख करने वाला शिलालेख है। अन्दर वेदी पर तथा बाहर भी सगमरमर की अनेक दि० जैन मूर्तिया है तथा पाषाण की एक पच परमेष्ठी की प्रतिमा वहा है जो अति प्राचीन है।

इस मदिरकी मूर्तिया, यत्र, शिलालेख तथा घण्टा आदि उपकरण सबधी दो लेख अनेकान्तके पिछले अंको मे क्रमश प्रसिद्ध हुए ही है। अदाजा १०-१५ साल पहले इस मदिर के प्रसिद्ध कूप का गार निकालते समय एक दो फुट की पद्मासनी पाषाण की प्रतिमा मिली थी, उसका सिर धड़ से अलग था, लेकिन शिल्पकार ने पूरी वीतरागता उसमे भर दी थी। यह प्राचीन प्रतिमा इस मदिर मे स्थापन की होगी मगर परचक्र के आक्रमण मे इसका विध्वस किया गया होगा। इसलिए उसे जल समाधि दी गई है।

रचनाकाल और क्रम—इस मंदिर को देखने के बाद ऐसा लगता है कि इस मदिर का काम चार बार हुआ है और वह भी अन्त मे अधूरा ही रहा है। महाद्वार का अकेला रहना या परिकर नही होना यह तो उसकी अपूर्णता ही दिखती है। मगर मूल मदिर मे पाषाण का काम दो दफे हुआ है, बाद मे चूना और ईंट का काम भी दो दफे होकर ऊपर शिखर की सिर्फ चाल छोड़ी है, शिखर की अपूर्णता पूरे बाधकाम की अपूर्णता ही बताती है।

पाषाण का काम दो दफे हुआ था, यह कहने के दो हेतु है। (१) मंदिर पर जो दर्शनीय भाग के दरवाजे पर लेख खुदा है उसमे ई० स० १४०६ तथा जयसिंह राजा

का उल्लेख मिलता है। अगर यह मंदिर दसवीं सदी के ईल राजा ने ही बंधाया है तो उस पर १४वी या १५वी सदी और जयसिंह चालुक्य (अन्तिम ई० स० १३०४) का उल्लेख कैसा ? यह लेख पढ़ने वाले कुछ पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि—'इस लेख की खुदाई के कम से कम सौ साल पहले यह मंदिर बाधा गया होगा।

यह लेख बाद मे किसी ने तो भी खुदाया होगा ऐसा कहना उचित नही होगा। ईल राजा का अपूर्ण काम पूर्ण करने का प्रयत्न उस समय हुआ होगा और वैसा उल्लेख या 'जीर्णोद्धारक' ऐसा जयसिह का नाम होगा तो उचित ही होगा। तथा मदिर के अन्दर गर्भागार के पास सभामडप का काम देखने से ऐसा लगता है कि गर्भागार का काम पहले ही किया गया होगा बाद मे सभामंडप जुडाया गया होगा। इसका कारण भी स्पष्ट है कि भगवान की मूर्ति बाहर धूप मे थी। अत. जड से जमीन तक का और मदिर का सम्पूर्ण तलकाम तो एकदम चालू किया गया होगा मगर मूर्ति को जल्दी से जल्दी अन्दर विराजमान करने की दृष्टि से पहले गर्भागार का काम कर लिया है और बाद मे सभामडप जुड़ाया है। इस समय भगवान की मूर्ति को यहा लाने का प्रयत्न किया गया, लेकिन वह अपने ही स्थान पर स्थिर रहने से बस्ती मे उसी स्थान पर एक नया मदिर बाधा गया।

इस तरह गांव मे दूसरा मदिर बनने से इस मंदिर के तरफ स्वभावतः दुर्लक्ष हो गया और ई० स० १०२० के दरम्यान शाह अब्दुल रहमान गाजी के साथ ईल राजा का युद्ध हो गया। बाद में कुछ दिन के भीतर ही राजा का पच पिरो द्वारा खून हो गया। इससे इस क्षेत्र को मिला हुआ राजाश्रय बन्द हुआ। शायद चालुक्य राजा जयसिह (द्वितीय वा तृतीय) इन्होने इस मदिर को पूरा करने के लिए मदद दी होगी। इसीलिए उनका नाम उस मदिर के शिलालेखो में मिलता है।

यद्यपि उस समय भी यह मदिर शिखरबन्द न हो सका तो भी उसका काम बहुत कुछ हो गया था। या यो कहिए कि उस समय शिखर विरहित भी जिनमदिर बनते थे। जिन्तूर (जि० परभणी) के पास मे नेमगिरी करके एक अतिशय क्षेत्र है, वहां बड़े विशाल तीन जिनबिंब है तो भी उस मंदिर के ऊपर शिखर नहीं है।

ऐसा लगता है कि बस्तीके मदिर की पच परमेष्ठी की पाषाण की बड़ी प्रतिमा औरंगजेब के जिस सरदार ने खडित की उसी सरदार ने इस मंदिर का दर्शनीय भाग को नष्ट कर मदिरके विध्वंस की चेष्टा की होगी। बाद में श्री जिनसेन जी भट्टारक महाराज ने यहाँ अपना लम्बा जीवन (ई० स० ...... तक) बिताया और इस मंदिर की चूना और ईटो से दुरुस्ती की। इसको भी अधूरा जान कर भट्टारक श्री पद्मनन्दि के उपदेश से ई० स० १८२० के दरम्यान महाद्वार की मरम्मत की गयी, इस मदिर के ऊपर फिर ईट और चूना से छत की गयी और शिखर बनाना प्रारम्भ किया। मदिर मे जहा-जहा गोल गुम्मट की रचना की है वहा-वहां अगर शिखर बांधा जाता तो यह मदिर छह शिखर वाला होता, और अभी भी पांच शिखर वाला बन सकता है। तो भी उस समय भी वहा एक भी शिखर पूर्ण न हो सका। आज भी वही हालत कायम है।

समाधि :—इस मदिर के सामने ४ दिगबर जैनों की समाधिया है—(१) भट्टारकजी श्री जिनसेन उर्फ कुबडे स्वामी (२) भट्टारक श्री शांतिसेन महाराज (३) पं० जीतमलजी (४) प० गोविंद बापुजी।

इस मदिर बाबत साहित्यिक उल्लेख तथा लोकमत— इस बाबत सबसे प्राचीन उल्लेख 'गुरु विनती' में मिलता है। उसमे लिखा है—

"विवादि भूतवाद हि त्यक्त्वा श्री जिनालयम्।
नूतनं विरचय्यासौ दक्षिणापथगाऽभूत्॥"

श्री मलधारि पद्मप्रभदेव आचार्य जब श्रीपुर बुलाये गये, तब उन्होने इस मदिर सम्बन्धी वाद को जानकर मूर्ति जहा रुकी थी वहा ही नया मदिर बधाया। उस समय दूसरा मदिर निर्माण होने से पहला यह मदिर अधूरा रह गया हो तो आश्चर्य नही।

(२) भट्टारक श्री महीचद्र जी (स० १६७४) श्री अ० पा० विनती मे लिखते है—"राजा को प्रतिमा का साक्षात्कार होने से राजा ने प्रथम मदिर का काम शुरु किया। बाद मे मूर्ति को कर प्राप्त उसे एलिचपुर ले जाना चाहा। लेकिन वह वहा ही स्थिर होने से राजा के

मदिर तक भी न जा सकी। ज्योतिषी लोगों से राजाको यह हाल मालूम पडा कि यह मूर्ति राजा के मंदिर मे न प्रवेश करेगी तो राजा वैसा ही एलिचपुर गया१। (देखो श्लोक...)

इस पर से यह तो स्पष्ट है कि राजा के मदिर मे मूर्ति ने प्रवेश नही किया इसलिए राजा के एलिचपुर चले जाने पर श्रावकों ने ही बस्तीमें मदिर बधाया। आश्चर्य यह है कि इसमें या अन्य दिगम्बर साहित्य मे दो मदिर और गुरु का कोई उल्लेख नही है। श्वेताबरों के भी किसी साहित्य में१ इस मूर्ति के लिए दो मदिर या किसी गुरु का उल्लेख नही है। इसीलिए ईल राजा ने मूर्ति की स्थापना कहां की थी—इस बावत शका किसी को आती है। कोई कहते है कि राजा ने इसी पौली मदिर में उस मूर्ति की स्थापना की थी और वह मुगलो के आक्रमण के समय गाव में लाकर प्रतिष्ठित की होगी। इस प्रकार मानने से किसी गुरु को भी बुलाने की आवश्यकता नही पड़ती।

कोई कहते है राजा के मदिर मे मूर्ति ने प्रवेश नही किया इसलिए बस्ती मे दूसरा मदिर बधाया गया। और जैसे पूजा-प्रतिष्ठा महोत्सव प्रसग मे चतुर्विध सघ को आमंत्रित करने की पहले से प्रथा तो है ही, उसमे इस सातिशय मूर्ति की स्थापना किसी त्यागी के हाथ से करने की भावना होना स्वाभाविक है। सवाल यही है कि जिस हेतु से गुरु महाराज को बुलाया गया वह हेतु सफल नही हुआ और दूसरा मदिर बाधना ही पड़ा। साथ मे वे थे इसलिए उनके तत्त्वावधान मे प्रतिष्ठा हुई होगी, अन्यथा वह किसी के हाथ से तो हो ही जाती। इस प्रकार उस प्रसंग को खास महत्त्व न देकर किसी ने यदि वह घटना नही बताई तो उसका मतलब वह घटना ही नही घटी, ऐसा नहीं होता।

(३) मि० कौभिन साहेब "प्रोग्रेस रिपोर्ट १९०२ पृष्ठ ३ पर लिखते है—"श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मदिर दिगबर जैनों का है। उस पर सस्कृत मे एक शिलालेख ई० स० १४०६ का है। लेकिन वह मंदिर इससे सौ साल पहले का तो निश्चित है।"

(४) श्री रायब० हीरालाल जी—डिस्क्रिप्सन ऑफ लिस्ट ऑफ इंस्क्रिप्सन इन सी. पी. एंड बेरार १९१६ की किताब मे सफा १३४ मे लिखते है—"यह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मदिर दिगबर जैनो का है। उस पर के शिलालेख में 'अनरिक्ष पार्श्वनाथ का और मदिर बांधनेवाले 'जगसिह' (जयसिह) का उल्लेख आता है।"

इसी तरह इस मदिर को दिगंबर जैनो का प्रमाणित करने वाले नीचे के चार ग्रथ है।

(५) गवर्नमेंट आफ बाम्बे जनरल डिपार्टमेंट आर्चियालोजिकल प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि आर्चियालोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया फार दि इयर एंडिग ३० जून १९०२।

(६) अकोला डि० गजेटियर वोलूम न० १

(७) सेट्रल प्रोविन्सेस एंड वेरार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर अकोला डिस्ट्रिक्ट वोलूम ८ डिस्ट्रिक्टिव बाय-सी. ब्राऊन आय-सी. यस्. एड ए. ई. निलेन आय सी. यस्. जनरल एडीटर एड सुपरिंटेडेंट आफ गजेटियर्स। तथा

(८) इपीरियल गजेटियर्स आफ इंडिया वालूम २३।

(९) श्री गठी जज (वाशीम)—इस पौली मदिर के सेन के केश के जजमेंट में लिखते है—"यह ऊपर की चारो किताबे स्पष्ट करती है कि पौली मदिर अति प्राचीन है, तथा दिगबर जैनो का है। दी इपीरियल गजेटियर इसके भी आगे जाकर बताता है कि शिरपुर का अंतरिक्ष पार्श्वनाथ बस्ती मदिर भी दिगबर जैनो का है।"

(१०) श्री यादव माधव काले—'व-हाडचा इतिहास' पृष्ठ ७० पर लिखते हैं—"इलिचपुर को इलावर्त कहते है। यहां ईल नरेश राज्य करता था। वह जैनधर्मी होकर महान पराक्रमी था। इसका अमल एलोरा तक था। इसने शाह दूल्हा रहिमान गाजी का पराभव किया। (तथा पृ० ३०४ पर) जैनधर्मी इमारती—एक दफे बहाड पर जैन राजा का अमल था। उससे वहाड में जैनधर्मी मंदिर भी बहुत हैं। उनमे सातपुडा में मुक्तागिरी के धबधबा के पास का मंदिर तथा शिरपुर का जैन मंदिर प्रसिद्ध है।

(११) मि० फर्ग्यूसन साहेब—हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर इस किताब में लिखते है—"एलिच-

१. भावविजय जी की जो रचना बतायी जाती है वह कृत्रिम है। वह शायद ऊपर निर्दिष्ट गुरु विनती की नकल है। उसमें जो काल बताया है वह एकदम गलत है और कुछ घटना भी कपोलकल्पित है।

पुर के राडू (ईल) राजा ने यह अतरिक्ष पार्श्वनाथ का मंदिर बधाया। वह दिगबर जैनों का है।" ग्रादि।

(१२) श्री अं० पा० सस्थान के १६१० के केस में पैरा २० के में जब दि० जैनों की तरफ से कहा गया था—शिरपुर का प्राचीन हेमाडपंथी मदिर श्री देवाधिदेव अतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति को विराजमान करने के लिए दिगंबर जैन ईल राजा ने बंधाया था। और उस पर का शिल्प भी दिगंबर पंथ का ही पोसक है" ग्रादि। तब इस विधान को ठुकराते हुए श्वेताबर कहते थे—"कि इस कलम में किया गया विधान वादी को मंजूर नही। यह मूर्ति विराजमान करने के लिए दिगबर धनिक ने यह हेमाडपंथी मदिर बधाया नही। जिस श्वेताबरी राजा को यह मूर्ति मिली और जिसने वह शिरपुर तक लाई वही राजा ने मूर्ति के लिए एक मदिर बधाया। और उसमे यह मूर्ति ले जाने का प्रयत्न किया। लेकिन वह सिद्धि को गया नही। उस राजा ने बधा हुआ मदिर हाल मे पहले जैसा कायम नही। उस मदिर का बहुत सा भाग अनेक कारणों से नष्ट हुआ है। और उसमे कालांतर से और कालगती से बहुत फेरफार हुए है। इससे 'शिरपुर गाव के पश्चिम बाजू में हाल जो मंदिर है वह ही प्राचीन मंदिर है। अब जिस स्थिति मे है उस ही स्थिति मे जब बाधा गया तब था' ऐसा वादी (श्वे०) मान्य नहीं करता।

(देखो ता. २०-१२-१६११ का जवाब)

टीप :—श्वेतांबरों ने यह जवाब हेतुपुरस्सर दिया था। इस मंदिर का रूप अनिश्चित रख कर जिस मूर्ति के लिए यह मदिर बनाया उसका भी स्वरूप अनिश्चित-सा कर दिया। ऐसा नही करते तो इस मदिर के स्पष्ट स्वरूप से, जैसा यह मदिर दिगंबरी सिद्ध होना है वैसा ही जिस मूर्ति के लिए यह मंदिर बनाया गया वह मूर्ति भी दिगबर आम्नाय की स्पष्ट सिद्ध होती। यह मान्यता श्वेताम्बरो को अनिष्ट थी, इसलिए उन्होने ऊपर जैसा जवाब दिया और वह मूल मूर्ति श्वेतांबर सम्प्रदाय की है ऐसा कोर्ट को झूठा भास कर दिया। उससे उनको सिर्फ मूर्ति और मंदिर का केवल मैनेजमेट करने का अधिकार दिया गया। साथ मे दिगंबरो का भी समान रूप से पूजन और मैनेजमेंट का अधिकार कायम रखा गया। लेकिन 'हम मैनेजर है' याने संस्थान की पूरी स्टेट के अकेले ही सर्वाधिकारी हो गये ऐसे मनोराज्य मे वे पीछे कब, कैसा क्यों बके इसका विस्मरण होकर वे अब खुद ही उस मंदिर की तारीफ कर रहे हैं।

श्वेताबरो ने 'श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ' इस नाम से गुजराती, हिन्दी, मराठी और संस्कृत भाषा मे एक किताब प्रसिद्ध की है। उसमें वे लिखते है—"वहां (शिरपुर मे) एक कलापूर्ण और विशाल सुन्दर जिनमदिर है। और उसके पास ही एक बड का बडा वृक्ष है। शिरपुर के लोग१ कहते है, कि इस ही पेड के नीचे प्रतिमा अचल और अधर हुई थी। और इसी प्रतिमा के लिए ही राजा ने यह मदिर बधाया है। लेकिन राजा के अभिमान से भगवान ने इस मदिर मे प्रवेश नही किया। इसलिए अब वह मंदिर खाली है। यह बात अन्य दृष्टि से देखते हुए भी बराबर दीखती है। अनेक यूरोपियन अधिकारियों ने बहाड (विदर्भ) में प्रवास करके बहाड के शिल्प स्थापत्य पर लिखा है। उन्होंने बहाड के सुन्दरतम और प्राचीनतम शिल्प स्थापत्य मे शिरपुर गाव के बाहर होने वाले अपने जैन मदिर का भी वर्णन किया है। बहाड के महान इतिहासज्ञ यादव माधव काले इन्होंने वहाड चा इतिहास' नामकी पुस्तक मे इस मदिर का आर्ट पेपर पर सुन्दर फोटो छपा के सुन्दर सचमुच इसकी सुन्दरता और महत्ता प्रकाशित की है। साथ ही शिल्पशास्त्रों के ऐतिहासिक अभ्यास से भी यह स्पष्ट है कि शिरपुर का यह मदिर करीबन एक हजार साल पुराना है।"

इन दोनो उतारो से पाठक समझ गये होगे कि ऊपर का उल्लेख श्वेताबरो का स्ववचनबाधित ही है। यूरोपियन और भारतीय लेखको के विचार इसी लेख मे दिए

---

१. असल मे तो शिरपुर के वृद्ध लोग इस बात का उपहास करते हुए कहते है कि यह वृक्ष हमारे सामने लगाया गया है और इसके पहले न वहा कोई वृक्ष था और न वहा मूर्ति अड गयी थी।

२. इस मदिर मे पहले जमाने से अनेक दि० जैन मूर्ति प्रतिष्ठित हैं। मगर वहा एक भी श्वेतांबर मूर्ति न होने से उनकी दृष्टि से यह मंदिर रिक्त ही है।

हैं तथा यादव माधव काले का उतारा भी देखा है । काले जी के और भी विचार आगे के लेख में दिए जाएगे । ये सब इतिहासज्ञ और शिल्पज्ञ पौली मंदिर को दिगंबरों का ही सिद्ध करते हैं । तो भी 'मेरे मुर्गे की एक ही टांग' ऐसा कहने वाले विघ्नसंतोषी लोग आज भी कहते है कि—"(i) यह मदिर श्वेतावर का ही है । (ii) इस मंदिर मे एक भी दिगबरी मूर्ति नही है । (iii) इस मंदिर पर मैनेजमेंट श्वेतांबरों का ही है ।१"

एक श्वेतांबर साधु तो यहा तक लिखते हैं कि दिगबरो ने जबदस्ती से इस मंदिर मे हालही कुछ दिगंबरी मूर्तियां रखी हैं आदि । यह सब उल्लेख जनता के सामने रखने का कारण यह है कि यहां हमको कुछ धोखा दिख रहा है । आज तक कब्जा और मैनेजमेट इस मदिर पर दिगबरों का ही है । मगर उसमें बाधा डाली जायगी तथा शायद वहा प्रतिष्ठित दिगंबर मूर्तिया हटाकर श्वेताबर मूर्तियां स्थापित होगी । इस धोखाको टालनेके लिए दुरुस्ती कार्य प्रारम्भ कर दिया है, उसका बजेट १५ हजार रुपये के करीबन है । आशा करता हूँ दानी लोग इसको न भूलेगे ।

अब पाठको के अधिक विश्वास के लिए और भी कुछ आधुनिक उतारे पेश कर रहा हूँ । बीसवी सदी के अन्त मे भी इस मदिर के शिल्प बाबत लिखने वाले इस मन्दिर को 'दिगंबरी' ऐसा स्पष्ट लिखते हैं । देखिए—

(१३) महाराष्ट्र राज्य परिचय—(सरकारी प्रकाशन) पान १२८ पर 'प्रेक्षणीय स्थले' मे लिखा है—'शिरपूर यह दो जैन मदिर के लिए प्रसिद्ध है । उसमे एक दिगंबर जैन समाज का अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का अतिशय प्राचीन मंदिर है ।"

(१४) महाराष्ट्रातील जिल्हे—अकोला जिला इस किताब मे भी ऊपर जैसा उल्लेख मिलता है ।

टीप :—शिरपुर मे पांच साल पहले एक विशाल श्वेताबर मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई है । उसका नाम विघ्नहर पार्श्वनाथ है ।

(१५) 'मन्दिरमाला मुक्तागिरी' इस किताब का अजैन लेखक दि० जैन सिद्ध क्षेत्र मुक्तागिरी का इतिहास बता कर पृष्ठ ६ पर लिखता है—(अनुवाद) "सातपुडे के पायथे मे एलिचपुर इस राजधानी मे राज्य करने वाले ईल राजा ने (ई० स० १०५८) ईशान्य दिशा में पाच कोस पर मुक्तागिरी यह रमणीय स्थल निर्माण किया । निदान इस क्षेत्र का पहला जीर्णोद्धार ईल राजा ने किया और तब से जैनो का यात्रास्थल करके उसको प्रसिद्धि मिली । इस ईल राजा के अंमल मे विदर्भ मे अनेक जैन स्थल निर्माण हुए । जैनों के इतिहास का वह बहरकाल था । शिरपुर, मादक, पातूर आदि के जैन मन्दिर भी इसी काल मे निर्माण हुए है । इस कार्य मे ईल राजा का बडा सहयोग था ।"

(१६) 'एलिचपुर के राजा ईल तथा मुक्तागिरी' इस लेख मे आधुनिक महान इतिहासज्ञ श्री य. खु देशपांडे लिखते है कि ईल राजा दिगबर जैन धर्मानुयायी था । उसने शिरपुर का भी मन्दिर बनवाया था ।

आदि अनेक भारतीय इतिहासज्ञों के मत, इस मंदिर को स्पष्टयता दिगंबरी ही घोषित करने वाले, दिये जा सकते हैं । लेकिन विस्तार भय के कारण इस विषय को यहां ही छोड देता हूँ । अमृत पूरा चाखने पर ही मीठा लगता है, ऐसा नहीं तो उसका अश भी मिठाई के लिए पर्याप्त है ।

अन्त मे कहता हूँ कि जिस श्री देवाधिदेव अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति के लिए यह दिगंबरी शिल्पवाला मंदिर निर्माण हुआ वह मूर्ति भी दिगबरी ही है । इसका पूरा विवेचन पाठको को आगे के लेख में मिलेगा । पाठक देरी के लिए क्षमा करें । अस्तु ।

---

१. जब इस मदिर मे इलेक्ट्री फिटिंग दिगम्बरियों की तरफ से की गई, तब उसमे बाधा लाने हुए श्वेतांबरो ने ऐसा लेखी जवाब दाखल किया है । लेकिन संतोष की बात है कि इस कार्य की दिगंबरी नेताओमे लगन रहने से वह कार्य देरी से क्यों न हो, पूर्ण हुआ है ।

ज्ञानार्णव व योगशास्त्र : एक तुलनात्मक अध्ययन

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे प्रमुखता से ध्यान का वर्णन किया गया है। इसीसे इसे योगप्रदीपाधिकार भी कहा गया है। यह परम-श्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई मे प्रकाशित (१९२७) प्रति के अनुसार ४२ प्रकरणो मे विभक्त है। भाषा उसकी सस्कृत है जो सरल व आकर्षक है। ग्रन्थ का अधिकाश भाग अनुष्टुप् छन्द मे है, साथ ही उसमे यत्र तत्र शार्दूल-विक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी और मालिनी आदि अनेक अन्य रोचक छन्दो का भी उपयोग किया गया है। ग्रन्थ का प्रमुख वर्णनीय विषय ध्यान होनेसे यहा उससे सम्बद्ध ध्याता— ध्यान के अधिकारी, ध्येय और ध्यान-फल का भी वर्णन किया गया है।

ध्याता का वर्णन करते हुए ग्रन्थकर्ता ने उस ध्यान के अधिकारी उन धीर वीर महामुनियों को बतलाया है१ जो कामभोगो से विरक्त होकर अपने शरीर की ओर से भी निर्ममत्व हो चुके है, जिनका चित्त चपलता को छोड स्थिरता प्राप्त कर चुका है, तथा जिन्होने सयम की धुरा को धारण कर प्राणो का विनाश होने पर भी फिर कभी उसे नही छोडा है२। इसके विपरीत जो लोकानुरजन करने वाले पापकार्यों को करते हुए अपने को गौरवान्वित समझते है, जिनका मन आत्मध्यान मे नही रगा है, जो इन्द्रियविषयो मे अनुरक्त हो रहे है, जिनके अन्त -करण मे शल्य नही निकल सकी है, अध्यात्म का जिन्हे निश्चय नही हुआ है, तथा जिनकी अशुभ भावलेश्या नष्ट नहीं हुई है; ऐसे व्यक्तियो को उस ध्यान का अनधिकारी बतलाया गया है३। इसी प्रसग मे यह भी संकेत किया गया है कि जो मुनिधर्म को जीवन का उपाय बना लेते है उन्हें लज्जा आनी चाहिए। उनका यह दुष्कृत्य ऐसा घृणास्पद है जैसे कोई अपनी मा को वेश्या बनाकर जीवनयापन करने लग जाय। जो साधु होकर भी निर्लज्ज होते हुए इस प्रकार के घृणित कार्य किया करते है वे सन्मार्ग की विराधना करके नरक के मध्य मे प्रविष्ट होते है४।

प्रकृत मे प्रयोजन मोक्ष का है और उस मोक्षरूपी महल की सीढ़ियां है अनित्यादि बारह भावनाए। इसी-लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथमत: उन बारह भावनाओ का निरूपण किया गया है। कर्मरूप सांकलों के तोड़ने का उपाय एक ही है, वह है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति। अत: ध्यान की सिद्धि के लिए रत्न-त्रय की प्राप्ति को अनिवार्य समझ यहा सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्चारित्र का भी वर्णन किया गया है५। तत्पश्चात् कषाय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए उनके स्वभाव का चित्रण किया गया है।

---

१ इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिता: ।
ध्यानसिद्धे समाख्याता पात्र मुनिमहेश्वर ॥
पृ ८७ श्लोक १७

२. सत्सयमधुरा धीरैर्न हि प्राणात्ययेऽपि यै: ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यान-धनेश्वरा ॥
पृ. ८५ श्लोक ४

३. लोकानुरञ्जकै पापै: कर्मभिर्गौरवं श्रिता: ।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रता: ॥
अनुद्धूतमन शल्या अकृताध्यात्मनिश्चया: ।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥
पृ. ८० श्लोक ४६-४७

४ यतित्वं जीवनोपाय कुर्वन्त: किं न लज्जिता: ।
मातु पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद् गतघृणा ॥
निस्त्रपा: कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्ग विशन्ति नरकोदरे ॥
पृ. ८१ श्लोक ५६-५७

५. पृ. ६१-१६५.

कुछ लोगो ने शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व की कल्पना की है। ये तत्त्व परमात्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है; यह प्रगट करते हुए प्रकृत ग्रन्थ मे गद्य सन्दर्भ के द्वारा उक्त तीन तत्त्वो को उसी रूप मे प्ररूपणा की गई है (पृ० २२१-२६)।

अन्यत्र किन्ही ऋषियो के द्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; ये आठ अग१ तथा किन्ही के द्वारा यम-नियमके विना शेष छह ही ध्यान के स्थान माने गये है। उनके विषय मे आचार्य शुभचन्द्र कहते है कि उक्त योग के आठ अग चित्त की प्रसन्नता के द्वारा मुक्ति के कारण हो सकते है। सो जिस ने उस चित्त को वश में कर लिया है उसके वश मे सब कुछ हो चुका है। इस प्रकार उन्होने मन के नियन्त्रण पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मन की शुद्धि से राग-द्वेषादि का भी निरोध हो जाता है और जहा राग-द्वेषादि का निरोध हुआ कि योगी समताभाव पर आरूढ़ हो जाता है।

ध्यान के सामान्यतया दो भेद निर्दिष्ट किये गये है— दुर्ध्यान और प्रशस्त ध्यान। इनमे आर्त और रौद्र के भेद से दुर्ध्यान दो प्रकारका है तथा धर्म और शुक्ल के भेद से प्रशस्त ध्यान भी दो ही प्रकारका है। अपने-अपने भेद-प्रभेदोंके साथ इन चारों ध्यानों का यहा यथास्थान विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रसगवश यहा प्राणायाम (पृ० २८४-३०३), प्रत्याहार और धारणा का भी निरूपण किया गया है।

सवीर्य ध्यान का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अपने ही विलास से उत्पन्न राग-द्वेषादि से बद्ध होकर मैं इस दुर्गम संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ। आज मेरा वह रागभाव विनष्ट हुआ है तथा मोह-निद्रा भी दूर हुई है, इसीलिए अब मैं ध्यानरूप खड्ग के द्वारा कर्मरूप शत्रु को नष्ट कर देता हूँ। सम्यग्दर्शनादि गुणो का समुदाय शक्तिरूप से मुझमे है, और व्यक्तिरूप से परमेष्ठी के है, यही तो शक्ति और व्यक्तिरूप स्वभाव से दोनो मे भेद है। इत्यादि रूप से यहा आत्मा-परमात्मा का विचार किया गया है२ (पृ० ३०७-१६)।

जिसने निज के स्वरूप को नहीं समझा है वह परमात्मा को नही जान सकता। अतएव यदि उस परमात्मा को जानना है तो सर्वप्रथम आत्मस्वरूप का निश्चय करना चाहिए। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रखकर यहा आचार्य शुभचन्द्र ने समस्त प्राणियों मे विद्यमान उस आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदो का निर्देश करते हुए उस आत्मस्वरूप को विस्तार से समझाया है३ (पृ. ३१६-३५)।

अनादि काल से पडे हुए सस्कार के कारण अन्य की तो बात क्या, किन्तु जिस योगी ने उस आत्मतत्त्व को जान लिया है वह भी मोहादि के वशीभूत होकर उससे भ्रष्ट हो जाता है, इसीलिए यथावस्थित समस्त लोक का साक्षात्कार करने के लिए तथा आत्मविशुद्धि को प्राप्त करने के लिए निरन्तर वस्तुस्वरूप में स्थिर रहते हुए अलक्ष्यभूत तत्त्व से लक्ष्यभूत तत्त्व का, स्थूल तत्त्व से सूक्ष्म तत्त्व का और आलम्बन सहित तत्त्व से आलम्बन विहीन तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार उस निरालम्बन—निर्विकल्प समाधि—की प्राप्ति के उपायभूत

---

१. यम-नियमासन-प्राणायाम - प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र २-२९.

२ मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिन।
एतावानावयोर्भेदः शक्ति-व्यक्तिस्वभावतः॥
पृ. ३०९ श्लोक १०

३. बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा से सम्बद्ध यह पूरा प्रकरण आचार्य पूज्यपाद के समाधितंत्र से अतिशय प्रभावित है—समस्त प्रकरण समाधितत्र को सामने रखकर रचा गया है। इसका निर्णय सख्या-क्रमसे उक्त दोनों ग्रन्थों के निम्न श्लोकों का मिलान करने से होता है—

समाधितत्र—८-९, १०, १३, १८-२६, २७, २८ से ३७, ३९-५३, ६३-६६, ६७-६९, ७०, ७१, ७२ से ७५, ७७, ७९-८४.

ज्ञानार्णव (३२वा प्रकरण)—१३-१४, १५, २०, २५-३३, ३६, ४२-५१, ५२-६६, ७० (समाधितत्र के ६३-६६ श्लोकों का भाव ज्ञानार्णव के ७२वें श्लोक मे सगृहीत है), ७३-७५, ७७, ७९, ७८-८१, ८२, ८३-८८.

यहा धर्मध्यान के आज्ञाविचयादि चार भेदों का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है (पृ. ३३६–८०)।

तत्पश्चात् ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, इन चार भेदों का निर्देश करके पिण्डस्थ ध्यान मे पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (वायव्य), वारुणी और तत्त्वरूपवती, इन पांच धारणाओ का तथा पदस्थ ध्यान मे अनेक प्रकार के मत्रपदों का वर्णन किया गया है। तृतीय रूपस्थ ध्यान मे निरन्तर स्मरणीय अर्हत् प्रभु के अलौकिक माहात्म्य को प्रगट किया गया है तथा अन्तिम रूपातीत ध्यान का वर्णन करते हुए यह कहा गया है जो योगी वीतराग परमात्मा का स्मरण करता है वह स्वय वीतराग होकर कर्मबन्धन मे मुक्ति पा लेता है, और जो रागी सराग देवादि का आश्रय लेता है वह क्रूर कर्मो के दृढ बन्धन मे बद्ध होकर भयानक दुख को सहता है। इस रूपातीत ध्यान मे आकाश के समान निर्लेप, निराकार—वर्णादि से रहित, सिद्धि को प्राप्त—कृतकृत्य, शान्त, अच्युत—जन्म-मरणादि मे अतीत, अन्तिम शरीर से कुछ हीन, सघन आत्मप्रदेशों मे अवस्थित, लोकशिखर पर विराजमान, शिवीभूत—सर्व दुखों से निर्मुक्त होकर निराबाध व शाश्वतिक अनन्त सुख मे परिपूर्ण, रोग से सर्वथा रहित और पुरुषाकार को प्राप्त, ऐसे अमूर्त सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना बतलाया गया है। (पृ. ३८१-४२३)

इस प्रकार धर्मध्यान को पूर्ण कर व शुक्लध्यान को लक्ष्य बनाकर ग्रन्थकार कहते है कि जो मुनि विश्वदृश्वा की श्री को—सार्वज्ञ्य लक्ष्मी को—चाहता है उसे दुरन्त जन्म-मरण रूप ज्वर से कुटिल अपने मनका सम्यक् प्रकार निरोध करना चाहिए। पर अल्प वीर्यवाला मुनि यदि उसे वश में करने के लिए समर्थ नही होता है तो उसे राग-द्वेष को दूर कर उस मन को स्थिर करना चाहिए। अल्प शक्तिके धारक प्राणियो का मन चूंकि स्थिर करने पर भी विचलित हो उठता है, अतएव ऐसे हीन शक्ति वाले प्राणियों को शुक्ल ध्यान का अधिकार नही प्राप्त है. किन्तु जो वज्रर्षभ-वज्रनाराचसहनन का धारक—महा-शक्तिशाली—पुरुष है वही उस शुक्लध्यान मे अधिकृत है। ऐसा महानुभाव शरीरके छिन्न-भिन्न होने, नष्ट होने और जल जाने पर भी अपने को उससे सर्वथा दूर देखता है, वह वर्षा, आधी और शीतातपादि की बाधा से कभी विचलित नही होता; तथा वह न कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न सूंघता है, और न किसी प्रकार के स्पर्श का भी अनुभव करता है। इस प्रकार योगी धर्मध्यान के प्रभाव से देव व मनुष्यों के अनुपम सुख को भोगता हुआ इस शुक्ल ध्यान का सहारा लेकर अविनश्वर पद को प्राप्त करता है (पृ. ४२३-२९)।

अन्त मे सर्वसाधारण के लिए असभव उस शुक्ल ध्यान के पृथक्त्ववितर्क आदि चार भेदो का उल्लेख कर आर्हन्त्य अवस्था, केवलिसमुद्घात और योगनिरोध आदि का दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया गया है तथा सर्वान्त मे यह सूचना कर दी है कि ज्ञानार्णव—ज्ञान-समुद्र—के माहात्म्य का चित्त मे निर्धारण कर भव्य जीव दुस्तर भव-समुद्र से पार हो सकता है।

योगशास्त्र

जिस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय मे योगविषयक पूर्वोक्त ज्ञानार्णव ग्रन्थ अप्रतिम है उसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे आचार्य हेमचन्द्र का यह योगशास्त्र भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। बारह प्रकाशो मे विभक्त वह भी ज्ञानार्णवके समान सरल व सुबोध सस्कृत मे रचा गया है। इसका ६१ पद्यमय ११वां प्रकाश आर्यावृत्त मे और १२वे प्रकाश के प्रारम्भिक ५१ पद्य भी आर्या मे, ५२ व ५३ ये दो पद्य क्रम से पृथ्वी व मन्दाक्रान्ता वृत्तों मे तथा अन्तिम दो पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त मे रचे गये है। शेष सब ही ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द मे निर्मित हुआ है। ग्रन्थ के कर्ता हेमचन्द्र सूरि ने मंगल के पश्चात् प्रकृत योगशास्त्र के रचने की प्रतिज्ञा करते हुए यह सूचना की है कि मैं श्रुत-समुद्र, गुरुपरम्परा और स्वकीय अनुभव मे योग का निर्णय कर इस योगशास्त्र को रचता हूँ[१]। तत्पश्चात् योग के प्रभाव को प्रदर्शित करते हुए यह कहा गया है कि वह योग समस्त विपत्तियो का विघातक व अनेक ऋद्धियो का उत्पादक है। यह उस योग का ही प्रभाव है जो भरत क्षेत्र का अधिपति भरत विस्तृत साम्राज्य को भोगकर

१. श्रुताम्भोधेरधिगम्य संप्रदायाच्च सद्गुरो.।
स्वसंवेदनतश्चापि योगशास्त्र विरच्यते ॥
यो. शा. १-४.

कैवल्यविभूति को भी प्राप्त हुआ है। चारों पुरुषार्थों मे प्रधान पुरुषार्थ मोक्ष है और उस मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप रत्नत्रय। इसमे ग्रन्थकार ने प्रथमत: सम्यग्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धान—सम्यग्दर्शन—का स्वरूप मात्र निर्दिष्ट करते हुए चारित्र का विस्तार से वर्णन किया है। चारित्र के कथन मे प्रथमत. मुनिधर्म को लक्ष्य करके अहिंसादि पाच व्रतों और उनकी पृथक् पृथक् भावनाओं का वर्णन करते हुए पाच समितियों एव तीन गुप्तियो के स्वरूप का निर्देश किया गया है१।

मुनि जहा उपर्युक्त अहिंसादि व्रतों का सर्वात्मना परिपालन करते हैं वहा उस मुनिधर्म मे अनुरक्त गृहस्थ उक्त व्रतों का देशत: ही पालन करते है। इस गृहिधर्म की प्ररूपणा करते हुए ग्रन्थकार ने प्रथमत: १० श्लोकों मे (४७-५६) यह बतलाया है कि कैसा गृहस्थ उस गृहिधर्म के परिपालन के योग्य होता है२। तत्पश्चात् पाच अणुव्रतादिस्वरूप गृहस्थ के बारह व्रतो को सम्यक्त्वमूलक बतला कर यहा उस सम्यक्त्व व उसके विषयभूत देव, गुरु और धर्म का भी वर्णन करते हुए उन बारह व्रतों का विस्तार से कथन किया गया है। यह सब वर्णन प्रारम्भ के तीन प्रकाशो मे पूर्ण हुआ है।

चतुर्थ प्रकाश में कषायजय, इन्द्रियजय, मन:शुद्धि और राग-द्वेषजय की विधि का विवेचन करते हुए समताभाव को उद्दीप्त करने वाली बारह भावनाओ का वर्णन किया गया है। साथ ही वहा यह कहा गया है कि मोक्ष जिस कर्मक्षय से संभव है वह कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है, और वह आत्मज्ञान सिद्ध किया जाता है ध्यान से। साम्यभाव के विना ध्यान नही और ध्यान के विना वह स्थिर साम्यभाव भी सम्भव नही है। इसीलिए दोनों परस्पर एक दूसरे के कारण है। इस प्रकार ध्यान की भूमिका बाधते हुए आगे ध्यान का स्वरूप व उसके धर्म्य और शुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये है तथा धर्म्यध्यान को सस्कृत करने के लिए मैत्री आदि भावनाओ को ध्यान की रसायन बतला कर उनका भी संक्षेप में स्वरूप दिखलाया गया है।

ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को, जिसने आसन पर विजय प्राप्त कर ली है, आत्मस्थिति के हेतुभूत किसी तीर्थस्थान अथवा अन्य किसी भी पवित्र स्थान का आश्रय लेना चाहिए। इसके लिए प्रकृत में पर्यक, वीर, वज्र, कमल, भद्र, दण्ड, उत्कटिका (उत्कुटुक), गोदोहिका और कायोत्सर्ग; इन आसनविशेषो का निर्देश करके उनका पृथक् पृथक् लक्षण भी दिखलाया गया है।

पाचवे प्रकाश मे प्राणायाम की प्ररूपणा करते हुए प्राणापानादि वायुभेदो के साथ पार्थिव, वारुण, वायव्य और आग्नेय नामक वायुमण्डलो तथा उनके प्रवेश-निगमन को लक्ष्य मे रखकर उसमे सूचित फल की विस्तार से चर्चा की गई है।

छटे प्रकाश मे परपुरप्रवेश व प्राणायाम को निरर्थक कष्टप्रद बतलाकर उसे मुक्तिप्राप्ति मे बाधक बतलाया है। साथ ही धर्मध्यान के लिए मन को इन्द्रियविषयो की ओर से खीचकर उसे नाभि आदि विविध ध्यानस्थानो मे से जिस किसी भी स्थान मे स्थापित करने की प्रेरणा की गई है।

सातवे प्रकाश के प्रारम्भ मे कहा गया है कि ध्यान के इच्छुक जीव को ध्याता, ध्येय और उसके फल को जान लेना चाहिए, क्योंकि, सामग्री के विना कभी कार्य सिद्ध नही होते है। तदनुसार यहा ध्याता के विषय मे कहा गया है कि जो सयम की धुरा को धारण करके प्राणो का नाश होने पर भी कभी उसे नही छोड़ता है, शीत-उष्ण आदिकी बाधासे कभी व्यग्र नही होता है, क्रोधादि कषायों से जिसका हृदय कभी कलुषित नही होता है, जो काम-भोगो से विरक्त होकर शरीर मे भी नि:स्पृह रहता है, तथा जो सुमेरु के समान निश्चल रहता है, वही ध्याता प्रशसनीय है।

ध्येय (ध्यान का विषय) के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत; इन चार भेदो का निर्देश करके पिण्डस्थ मे सम्भव पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्रभू इन पाच धारणाओ का पृथक् पृथक् विवेचन किया गया है। साथ ही उस पिण्डस्थ ध्येय के आश्रय मे जो योगी

१. यो. शा. १, १८ ४६

२. सागारधर्मामृत के अन्तर्गत 'न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून्—' इत्यादि श्लोक (१, ११) इन श्लोको से पूर्णतया प्रभावित है।

को अपूर्व शक्ति प्राप्त रोती है उसका भी दिग्दर्शन कराया गया है।

आठवें प्रकाश मे पदस्थ, नौवें प्रकाश मे रूपस्थ और दसवे प्रकाश में रूपातीत ध्यान का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त दसवे प्रकाश मे उस धर्मध्यान के आज्ञा-विचयादि अन्य चार भेदो का स्वरूप दिखलाते हुए उक्त धर्मध्यान का फल भी सूचित किया गया है।

ग्यारहवें प्रकाश मे पृथक्त्ववितर्क आदि चार प्रकार के शुक्लध्यान का उल्लेख करके केवली जिनके माहात्म्य को प्रगट किया गया है।

अन्तिम बारहवे प्रकाश के प्रारम्भ मे 'श्रुत-समुद्र और गुरु के मुख से जो कुछ मैने जाना है उसका वर्णन कर चुका हूँ, अब यहा निर्मल अनुभवसिद्ध तत्त्व को प्रकाशित करता हूँ' ऐसा निर्देश करके विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन, इन चित्तभेदो के स्वरूप का कथन करते हुए बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप भी कहा गया है। अन्त मे चित्त की स्थिरता पर विशेष बल दिया गया है।

उक्त दोनों ग्रन्थों की समानता

उपर जो दोनों ग्रन्थों का सक्षिप्त परिचय कराया गया है उससे इतना तो भली भाति विदित हो जाता है विषयविवेचन की अपेक्षा दोनो ग्रन्थ समान है—एक मे जिन विषयों का समावेश है, दूसरे मे भी प्राय[1] वे ही विषय समाविष्ट हैं, भले ही वे क्रम की अपेक्षा आगे पीछे क्यो न हों। यह बात निम्न विषयसूची से और भी स्पष्ट हो जाती है—

विषय	ज्ञानार्णव	योगशास्त्र
१२ भावनायें	पृ. १६–६०	४, ५५-११०
रत्नत्रय	,, ६१–१६५	१, १५ से ३-५५
४ कषायें	,, १६६–२१२	४, ६–२३
इन्द्रियजय	,, २१२–१६	,, २४–३४
मनोनिरोध	,, २३२–२८	,, ३४–४४
राग-द्वेषजय	,, २३६–४५	,, ४५–५०
साम्यभाव	,, २४६–५२	,, ५०–५४
मैत्री आदि ४ भावनायें	,, २६२–७४	,, ११७–२२
ध्यानस्थान	,, २७४–७८	,, १२३
ध्यानासन	,, २७८–८०	,, १२४–३६
प्राणायाम-प्रत्याहार	,, २८४– ०३	५, १–२६१
बहिरात्मादि ३ जीवभेद	,, ३१७–३५	१२, ७–१२
आज्ञाविचयादि ४	,, ३३ –३०	१०, ७–२४
पिण्डस्थ पदस्थ आदि ४	,, ३८१–४२३	७, ८ से १०–६
शुक्ल ध्यान ४	,, ४३०–४७	११, १–५१

हा, यह अवश्य है कि किसी विशेष विषयकी प्ररूपणा यदि एक मे सक्षिप्त है तो दूसरे मे वह कुछ विस्तृत है। जैसे—बहिरात्मा आदि ३ जीवभेदो का वर्णन ज्ञानार्णव

१. 'प्रायः' कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ २४ विषयो की दोनो ग्रन्थो मे हीनाधिकता भी देखी जाती है। जैसे—

(१) ज्ञानार्णव मे ध्यान के प्रशस्त व अप्रशस्त इस प्रकार सामान्य से दो भेदो का निर्देश करके आर्त रौद्र स्वरूप अप्रशस्त ध्यान का भी निरूपण किया है (पृ २५६–७१) व उनका फल क्रम से तिर्यंच और नरक गति की प्राप्ति बतलाया है। इस अप्रशस्त ध्यान का उल्लेख योगशास्त्रमे उपलब्ध नही होता—वहा मात्र ध्यान के धर्म्य और शुक्ल ये दो भेद ही निर्दिष्ट किये गये है। यथा—

मुहूर्तान्तर्मनःस्थैर्यं ध्यान छद्मस्थयोगिनाम्।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा योगरोधस्त्वयोगिनाम्। ४-११५

(२) ज्ञानार्णव मे कुछ स्थान ध्यान के अयोग्य कहे गये है (पृ. २७४ श्लोक २०–३४), जो योगशास्त्र मे नही देखे जाते। इसी प्रकार ध्यानयोग्य आसन भी ज्ञानार्णव में निर्दिष्ट हैं (पृ. २७७ श्लोक १–८), परन्तु इसके लिए योगशास्त्र मे यह एक ही श्लोक पाया जाता है—

तीर्थं वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये।
कृतासनजयो योगी विविक्त स्थानमाश्रयेत्॥४-१२३

(३) योगशास्त्र मे चारित्र के प्रसग में महाश्रावक की दिनचर्या (३, १२१–१४७) की प्ररूपणा की गई है, जो ज्ञानार्णव मे उपलब्ध नही होती। वह दिनचर्या सागारधर्मामृत के छठे अध्याय मे उपलब्ध होती है, जो योगशास्त्रप्ररूपित इस दिनचर्या से पर्याप्त प्रभावित है।

मे कुछ विस्तार से किया गया है, जो योगशास्त्र में संक्षिप्त है। इसी प्रकार प्राणायाम की प्ररूपणा योगशास्त्र मे ज्ञानार्णव की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। (देखिए पूर्वोक्त विषयसूची)।

इस प्रकार विषयविवेचन व रचनाशैली को देखते हुए यदि यह कहा जाय कि एक ग्रन्थ को सामने रखकर दूसरे ग्रन्थ की रचना हुई है तो यह अतिशयोक्ति नही होगी। उदाहरण स्वरूप यहा दोनो ग्रन्थो के कुछ श्लोको का मिलान किया जाता है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि एक ग्रन्थ का प्रभाव दूसरे पर सुनिश्चित है। यथा—

प्रशंसनीय ध्याता का उल्लेख करते हुए ज्ञानार्णव मे (पृ० ८५) मे यह कहा गया है—

सत्संयम-धुरा धीरैर्न हि प्राणात्ययेऽपि यैः।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यान-धनेश्वराः ॥४॥

इससे मिलता-जुलता यह श्लोक योगशास्त्र मे उपलब्ध होता है—

अमुञ्चन् प्राणनाशेऽपि संयमैकधुरीणताम्।
परमप्यात्मवत् पश्यन् स्वस्वरूपापरिच्युतः ॥७-२

इसी प्रकरण मे ज्ञानार्णव (पृ ८६) मे दूसरा श्लोक यह उपलब्ध होता है—

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥१५॥

इसका मिलान योगशास्त्रके निम्न श्लोक से कीजिए—

सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्ददायकः।
समीर इव निःसङ्गः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥७-७

ज्ञानार्णव मे (पृ. २१८) 'मीना मृत्यु प्रयाताः' आदि २ श्लोकों (३५–३६) के द्वारा पाचों इन्द्रियो मे से एक एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर कष्ट भोगने वाले मछली आदि प्राणियों का उदाहरण देते हुए उन प्राणियो पर आश्चर्य प्रगट किया गया है, जो पांचो ही इन्द्रियो के विषयों में मग्न रहा करते है।

यही अभिप्राय योगशास्त्र में भी ६ (४, २८–३३) श्लोकों द्वारा व्यक्त किया गया है।

ज्ञानार्णव (पृ. ३०५) में श्लोक ४ का उत्तरार्ध है—

प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति।

यही भाव उसी प्रकार के शब्दो द्वारा योगशास्त्र मे इस प्रकार दर्शाया गया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
६–४ का पूर्वार्ध

इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः।

यह ज्ञानार्णव (पृ. ३०६) गत श्लोक ९ के पूर्वार्ध से समानता रखता है। यथा—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्तसम्भवः।

दोनों में अन्तर मात्र 'चित्तविप्लव.' और 'आर्तसम्भवः' का है।

ज्ञानार्णव (पृ ३०६) मे निम्न श्लोक के द्वारा ध्यान के कुछ (१०) स्थान दिखला कर उनमे से किसी एक स्थान पर विषयवाछा मे रहित मन को आश्रित करने की प्रेरणा की गई है—

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३

यही अभिप्राय योगशास्त्र मे निम्न दो श्लोको के द्वारा व्यक्त किया गया है—

नाभि हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु दृष्टयः।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्तयन् ॥
तेषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसवित्तेर्बहवः प्रत्ययाः किल ॥६, ७-८

इस प्रकार कितने ही स्थल ऐसे है जहा उक्त दोनो ग्रन्थो के अन्तर्गत अनेक श्लोकों मे शब्द, अर्थ अथवा उभय से भी समानता देखी जाती है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम का प्रकरण तो ऐसा है जहा पूरे प्रकरण मे ही प्रायः अनुक्रम से दोनों ग्रन्थों मे समानता पाई जाती है।

इस प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए ज्ञानार्णव (पृ. २८४) मे कहा गया है कि जिन मुनियों ने सिद्धान्त का निर्णय कर लिया है वे ध्यान की सिद्धि और अन्तरात्मा (अन्तःकरण) को स्थिर करने के लिए प्राणायाम की प्रशंसा करते हैं। यथा—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥१

लगभग यही भाव योगशास्त्र मे भी इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है—

प्राणायामस्ततः कैश्चित् आश्रितो ध्यानसिद्धये ।
शक्यो नेतरथा कर्तुं मनःपवननिर्जय ।।५-१

उक्त प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक इस प्रकार से तीन भेद दोनो ही ग्रन्थो मे निर्दिष्ट किये गये है । यथा—

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरक कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।। ज्ञा० २
प्राणायामो गतिच्छेदः श्वास-प्रश्वासयोर्मतः ।
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा ।। यो. ५-४

विशेषता यह है कि योगशास्त्र मे प्राणायाम के सामान्य स्वरूप का निर्देश करते हुए उक्त तीन भेदो का उल्लेख किया गया है, परन्तु ज्ञानार्णव मे उस प्राणायाम-सामान्य का लक्षण नही निर्दिष्ट किया गया है[1] । इसके अतिरिक्त योगशास्त्र मे अन्य ऋषियो मतानुसार उक्त तीन भेदो के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर; इन चार अन्य भेदों को सम्मिलित करके उसके सात भेद भी कहे गये है । यथा—

प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा ।
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परैः ।।५-५

आगे चलकर वहा इन सात भेदो का उसी क्रम से लक्षणनिर्देश करते हुए उनमे से प्रत्येक के फल का भी उल्लेख किया गया है (५, ६–१२) ।

तत्पश्चात् वहा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, इन पाच वायुभेदो का उल्लेख कर उनके जीतने की प्रेरणा करते हुए पृथक् पृथक् लक्षणनिर्देशपूर्वक उनके जीतने की विधि भी बतलाई गई है (१३–२०) । इसके अतिरिक्त उक्त पाच वायुओं में यैं, पैं, वैं और लौ इन बीजपदो के ध्यान करने की ओर आकृष्ट करते हुए उनके जीतनेके फल का भी निर्देश किया गया है (५, २१–२४) ।

आगे उक्त पाचो वायुओं के अभ्यास मे कुशल होकर उनको कहा किस क्रम से धारण करे, इसका निर्देश करते हुए उनके धारण के फल की भी सूचना की गई है (५, २६–३५) ।

यह हुई योगशास्त्र की विशेषता । अब आगे जो इन दोनो ग्रन्थो मे समानता दृष्टिगोचर होती है वह इस प्रकार है—

ज्ञानार्णव (पृ. २८५) मे कहा गया है कि नाभि से निकलकर हृदय-कमल के मध्य मे जाती हुई द्वादशान्त में विश्राम को प्राप्त हुई वायु को परमेश्वर जानना चाहिए। साथ ही यह भी कहा गया है कि उक्त वायु के संचार, गति और स्थिति को जानकर निरन्तर अपने काल, आयु एव शुभाशुभ फल की उत्पत्तिको जानना चाहिए । यथा—

नाभिस्कन्धाद् विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेय परमेश्वरम् ।।७।।
तस्य चार गति बुध्वा संस्था चैवात्मनः सदा ।
चिन्तयेत् कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ।।८।।

लगभग उन्ही शब्दो मे इसी अभिप्राय के[2] सूचक निम्न दो श्लोक योगशास्त्र में भी उपलब्ध होते है—

नाभेर्निष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम् ।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विद्यात् स्थान नभस्वतः ।।५-३७
तच्चार-गमन स्थानज्ञानादभ्यासयोगतः ।
जानीयात् कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ।।५-३८

आगे ज्ञानार्णव मे 'उक्त च श्लोकद्वयम्' कहकर निम्न दो श्लोक कहे गये है—

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधन स तु कुम्भकः ।।
यत् कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायो. स रेचक इति स्मृतः ।।

ये दोनों श्लोक कुछ पाठभेद के साथ विपरीत क्रम मे योगशास्त्र में इस प्रकार उपलब्ध होते है—

यत् कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ।।५-६

---

१. ज्ञानार्णव मे मात्र पूर्व सूरियो के अनुसार उक्त ३ ही भेदों का निर्देश करते हुए उन्हीं तीनों का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है (पृ. २८५, ३–६) ।

२. भेद इतना है कि जहा ज्ञानार्णव में उक्त वायु को परमेश्वर—सर्वश्रेष्ठ—कहा है वहा योगशास्त्र मे उक्त वायु का स्थान जानना चाहिए, ऐसा कहा गया है । यहा वाक्य कुछ साकाक्ष सा बना रहता है ।

समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः ।
नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥५-७

यहां यह विचारणीय है कि क्या ये दोनों श्लोक ज्ञानार्णव में योगशास्त्र से लेकर उद्धृत किये गये हैं। इस विषय में अभी अन्तिम निर्णय करना तो शक्य नहीं है। कारण कि बहुधा ऐसा हुआ करता है कि प्रकृत विषय के विद्वान कुछ समानता देखकर ग्रन्थान्तरों के अवतरणों को हस्तलिखित प्रतियों के मार्जिन आदि पर लिख देते है, जो आगे चलकर उस प्रति के आधार से अन्यान्य प्रतियों के लेखकों द्वारा उसी का अंश समझ कर मूल प्रति मे सम्मिलित कर दिये जाते है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि 'उक्तं च श्लोकद्वयम्' यह पाठ मूल मे न रहा हो और पीछे किसी प्रकार से जुड़ गया हो[1]।

इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थो मे उन दोनो श्लोकों का क्रमव्यत्यय भी विचारणीय है। यदि आ. शुभचन्द्र बुद्धि पुरस्सर उन दोनो श्लोको को योगशास्त्र से लेकर उद्धृत करते है तो उनके विपरीत क्रम से उद्धृत करने का कोई कारण नही दिखता। यह अवश्य है कि ज्ञानार्णव मे पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीन वायुओं का जो क्रम रहा है (देखिए श्लोक ३) तदनुसार वहा वे दोनो श्लोक यथाक्रम मे ही है। साथ ही योगशास्त्र मे भी उनके जिस क्रम को अपनाया गया है तदनुसार वे वहा भी यथाक्रम से ही है। वास्तव मे तो पुरातन योगविषयक ग्रन्थो मे उक्त वायुओ के क्रम के विषय मे मतभेद रहा ही है। यथा—

स प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्य-तरवृत्ति-स्तम्भवृत्तिरिति त्रिधा, रेचक-पूरक-कुम्भकभेदात्। × × × याज्ञवल्क्येन पूरक-कुम्भक-रेचक इति क्रम उक्त.।

(योगसूत्र—नागोजीभट्टवृत्ति २-५०)

दोनों ग्रन्थगत उन श्लोको मे जो पाठभेद दृष्टिगोचर होता है उस पर विचार करने से ज्ञानार्णव का पाठभेद कुछ सगत नही दिखता। वहा के पाठभेद के अनुसार पूरक का लक्षण यह होता है—'समाकृष्य यदा प्राणधारण स तु पूरकः'। तदनुसार 'खेच कर जब प्राण धारण करना वह तो पूरक है' यह सम्बद्ध अर्थ नही है। 'यदा' का 'तदा' से जैसा सम्बन्ध अपेक्षित है वैसा 'स.' से नही बनता, और योगशास्त्रगत 'समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरक' पाठभेद के अनुसार सम्बद्ध अर्थ यह होता है—अपान वायु से खेच कर जो (यत्-अपानात्) पूर्ण किया जाता है वह पूरक प्राणायाम होता है।

अन्यत्र पूरक के लक्षण इस प्रकार उपलब्ध होते है—'दक्षिणेन बाह्यपूरणं पूरक' (यो. सू. ना. भट्टवृत्ति २-५०)। अर्थात् दक्षिण नासिकापुट से बाह्य वायु को पूर्ण करना, इसका नाम पूरक है।

*वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य कमलनाल के द्वारा मुख मे जल को खीचता है उसी प्रकार वायु को जो ग्रहण किया जाता है, यह पूरक का लक्षण है।

दूसरे श्लोक मे जो 'पुरातनै' के स्थान मे ज्ञानार्णव मे 'पुरातनै' पाठभेद हुआ है वह त और न की बनावट मे अधिक भेद न होने के कारण लिपिदोष से हुआ है। और यह पाठ चूकि हिन्दी टीकाकार श्री प. जयचन्द्रजी के सामने रहा है, अतएव उन्होने "नासिकाब्रह्म के जानने वाले पुरातन पुरुषों ने कहा है" ऐसा अर्थ करके पाठ की संगति बैठाने का प्रयत्न किया है, परन्तु उक्त अर्थ वस्तुत सगत प्रतीत नही होता। वहां 'जानना' अर्थ का बोधक कोई शब्द भी नहीं है। प्रत्युत इसके योगशास्त्रगत पाठभेद के अनुसार 'अतिशय प्रयत्न पूर्वक जो वायु को नासिका, ब्रह्मपुर और मुख के द्वारा बाहिर फेका जाता है उसे रेचक कहा जाता है' यह अर्थ सगत प्रतीत होता है।

---

1. देखिए जैनसिद्धान्त-भास्कर भाग ११ किरण १ पृ ६-१२ में श्री पं० फूलचन्द जी शास्त्री का "ज्ञानार्णव और उसके कर्ता के काल के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें" शीर्षक लेख तथा 'जैन साहित्य व इतिहास' मे स्व. श्रद्धेय प्रेमी जी का "शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव" शीर्षक लेख।

*यो सू. २-४९ की जयकिसनदास जेठा भाई विरचित गुजराती टीका मे उद्धृत।

गुजराती अनुवाद—जेम कमलना नालवडे माणस पाणीनू आकर्षण करे छे तेज प्रमाणे नासिका व मुख द्वारा वायु ने आकर्षण करीने अभ्यन्तर देशमा स्थापी देवो ये पूरकनूं लक्षण छे।

रेचक का लक्षण योगसूत्र (२-५०) की नागोजी भट्टवृत्ति में इस प्रकार प्राप्त होता है—

तत्र वामनासापुटेन अन्तर्वायोस्त्यागो रेचकः ।

अर्थात् बायें नासिकारन्ध्र से भीतरी वायु का त्याग करना—निकालना—इसका नाम रेचक है ।

उसकी पूर्वोक्त गुजराती टीका (पृ. २७५) में उसके लक्षणस्वरूप उद्धृत यह श्लोक उपलब्ध होता है—

उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।
शून्यभावेन युञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम् ।।

अभिप्राय यह कि भीतरी वायु को [नासिका द्वारा] बाहिर निकाल कर निरात्मक करके शून्य आकाश में जोडना—छोड देना—इसका नाम रेचक है ।

एक बात और भी है, वह यह है कि उक्त दोनों श्लोक चाहे आ. शुभचन्द्र द्वारा स्वयं संगृहीत किये गये हों या विषय की समानता देखकर अन्य किसी के द्वारा मूल में सम्मिलित कर दिये गये हों; पर वे आ. शुभचन्द्र द्वारा पूर्व में निर्दिष्ट (४–६) उक्त पूरक आदि के लक्षणों के पोषक हैं और किसी अन्य ग्रन्थ के ही हैं, अन्यथा पुनरुक्ति अनिवार्य है । इसीलिए उनका अवस्थानक्रम श्लोक ६ के बाद सम्भव है ।

इस प्रकार प्रसंगप्राप्त उन दोनों श्लोकों की स्थिति पर विचार करके अब हम प्रकृत विषय पर आ जाते हैं—

उक्त दोनों श्लोकों के अनन्तर ज्ञानार्णव में श्लोक १० में कहा गया है कि योगी निरालस होकर वायु के साथ मन को निरन्तर धीरे-धीरे हृदय-कमल की कर्णिका में प्रविष्ट कराते हुए उसे वहीं पर नियन्त्रित करे । फिर आगे २ श्लोकों द्वारा उस मन के स्थिर कर देने से क्या-क्या लाभ होता है, यह सूचित किया गया है । वे तीनों श्लोक इस प्रकार हैं—

शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ।।१०
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते ।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ।।११
एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्या क्षयं क्षणात् ।
विमदी स्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ।।१२

इसी भाव को वैसे ही शब्दों में अन्तर्हित करने वाले ये २ श्लोक योगशास्त्र के भी देखिए—

ततः शनैः समाकृष्य पवनेन समं मनः ।
योगी हृदय पद्मान्तर्विनिवेश्य नियन्त्रयेत् ।।३९
ततोऽविद्या विलीयन्ते विषयेच्छा विनश्यति ।
विकल्पा विनिवर्तन्ते ज्ञानमन्तर्विजृम्भते ।।४०

आगे जाकर दोनों ही ग्रन्थों में यह कहा गया है कि उक्त प्रकार से चित्त के स्थिर हो जाने पर वायु का विश्राम कहां पर है, नाडियां क्या है, वायुओं का संक्रमण नाडियों में किस प्रकार होता है, मण्डलगति क्या है, और यह प्रवृत्ति क्या है; यह सब जाना जाता है—

कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम् ।
का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुध्यते ।। ज्ञा. १३
क्व मण्डले गतिर्वायोः संक्रमः क्व क्व विश्रमः ।
का च नाडीति जानीयात् तत्र चित्ते स्थिरीकृते ।।
यो. ५, ४१

तत्पश्चात् ज्ञानार्णव (श्लोक १६ व १८) और योगशास्त्र में (५–४२) भी नासिकारन्ध्र को अधिष्ठित करके जो पार्थिव (भौम), वारुण, वायव्य और अग्नि-मण्डल, ये चार पुर (मण्डल) अवस्थित हैं उनके नामों का निर्देश किया गया है ।

ज्ञानार्णव के उपर्युक्त दोनों श्लोकों के मध्य में स्थित १७वें श्लोक में यह कहा गया है कि उक्त पार्थिव आदि चार वायुमण्डल यद्यपि दुर्लक्ष्य हैं तो भी कुशाग्र-बुद्धि मनुष्य के लिए वे अभ्यास के वश स्वकीय संवेदन (स्वानुभव) के विषय बन जाते हैं ।

यह सूचना योगशास्त्र में आगे—उन चारों के लक्षण-निर्देश के पश्चात्—४७वें श्लोक द्वारा की गई है ।

उन चारों मण्डलों के लक्षण का निर्देश ज्ञानार्णव में क्रम से श्लोक १९-२२ के द्वारा और योगशास्त्र में श्लोक ४३–४६ के द्वारा किया गया है ।

तदनन्तर ज्ञानार्णव में श्लोक २४-२७ और योगशास्त्र में श्लोक ४७–५१ द्वारा उक्त मण्डलों में सम्भव चार वायुओं के स्पर्श, वर्ण, प्रमाण और नाम (१ पुरन्दर, २. वरुण, ३. पवन और ज्वलन—दहन) का उल्लेख समान रूप से किया गया है ।

पश्चात् दोनों ग्रन्थों मे यह सूचना की गई है कि स्तम्भादि कार्य मे पुरन्दर (महेन्द्र—इन्द्र), प्रशस्त सब कार्यों मे वरुण, चल-मलिन कार्यों मे वायु और वश्यादि कार्य में वह्नि को उद्देश्य करना चाहिए—आज्ञा देना चाहिए। यथा—

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु ।
चल-मलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ॥ ज्ञा. २८
इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु वरुणं शस्तकर्मसु ।
वायुं मलिन-लोलेषु वश्यादौ वह्निमादिशेत् ॥ यो ५२

इस प्रकार तुलनात्मक रूप से इतने क्रमिक विषय-विवेचन को देख कर पाठक यह निर्धारित कर सकेगे कि उक्त दोनो में आश्रय-आश्रयी भाव अवश्य रहा है। पर किसने किसको आधार बनाया है, इस सम्बन्ध मे अभी कुछ न लिख कर यथावसर अन्य लेख के द्वारा उस पर कुछ प्रकाश डालने के लिए प्रयत्नशील रहूँगा।

अब मैं आगे अधिक विस्तार मे न जाकर इन दोनो ग्रन्थों की श्लोकसंख्या का निर्देश मात्र कर देता हूँ जो विषय, अर्थ और बहुताश मे शब्दो की अपेक्षा भी परस्पर मे समानता रखते है। यथाक्रम से मिलान कीजिये—

ज्ञानार्णव—२९-३२, ३३-३४, ३५, ३७, ३८, ३९, ४०, ४३-४५, ४७, ४८-४९, ५०, ५१, ५२, ५३-५९, ६१, ६२-६३, ६४, ६५, ६६, ६७-६८, ६९, ७०, ७७, ७९-८०, ८१-८६, ८८-८९, ९१, ९२, ९३-९८, ९९, १००; पृ. ३०५ श्लोक ५ उ., १०।

योगशास्त्र—५३-५६, ५७-५८, ५९ का पू. व ६० का पू., ६० का उ. व ५९ का उ, ६५, ६६, ६७, ६२ से ६४, २१३, २१५-१६, २१७, २१८, २१९, २२० से २२६, २३०, २३१-३२, २२७, २३३, ३४, २३६-३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४-४७, २४८-५९, २५०, २५१, ५२४-५९, २६१, ६-१, ६-४ पू, ६-५।

विशेष—

१. ज्ञानार्णव के ३१-३२ श्लोको (पृ. २६०) मे जो क्रमव्यत्यय उपलब्ध होता है वह लिपिकार के प्रमाद से हुआ दिखता है—किसी लिपिकार के द्वारा प्रमादवश ३१ को छोडकर ३२वा लिख देने पर व तत्पश्चात् गलती के ध्यान में आ जाने पर उसके आगे ३१वां लिख दिया और संख्या आगे की डाल दी गई है। स्वीकृत क्रम के अनुसार पवन के पश्चात् दहन का उल्लेख किया जाना चाहिए था।

२ ज्ञानार्णव का ९१ और योगशास्त्र का २५०वा श्लोक उभयत्र शब्दशः समान है।

३ तुलना मे ६४ के बाद योगशास्त्र के २१५-१६ आदि श्लोक आते है। इसका कारण यह है कि वहा इस बीच में श्लोक ६५-८५ मे वामा नाडी (चन्द्रनाडी) और दक्षिणा नाडी (सूर्यनाडी) शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मे सूर्य-चन्द्र के उदयादि मे कैसा शुभाशुभ फल देने वाली है, इत्यादि विचार किया गया है। आगे श्लोक ८६-२०४ मे काल का निर्णय—नाडी, जन्मनक्षत्र, नाडियो मे वायु-सचार, इतर शकुन-अपशकुन व स्वप्न आदि के अवलोकन के आश्रय से अन्य शुभाशुभ के साथ ही मृत्युकाल का भी निश्चय किया गया है। इसके आगे २१२ श्लोक तक विद्याबल से उस काल का विचार किया गया है। इस सब की सूचना वहा निम्न श्लोको द्वारा की गई है—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि किंचित् कालस्य निर्णयम् ।
सूर्यमार्गं समाश्रित्य स च पौष्णे च गम्यते ॥८६
इति यन्त्रप्रयोगेण जानीयात् कालनिर्णयम् ।
यदि वा विद्यया विद्याद् वक्ष्यमाणप्रकारया ॥२०४
एवमाध्यात्मिकं कालं विनिश्चेतुं प्रसंगतः ।
बाह्यस्यापि हि कालस्य निर्णयः परिभाषितः ॥२१२

उपर्युक्त यह सब वर्णन ज्ञानार्णव मे दृष्टिगोचर नही होता है।

४ ज्ञानार्णव श्लोक ९३-९८ और योगशास्त्र श्लोक २५४-५९ मे परपुरप्रवेश—उत्तरोत्तर अभ्यास को बढ़ाते हुए योगी का क्रम से अर्कतूल, जाति (मालती) आदि पुष्प, कपूर आदि गन्धद्रव्य, सूक्ष्म पत्रि-(पक्षि-) काय, भ्रमर-पतंग आदि के शरीर, मनुष्य-घोडा-हस्तिशरीर और अन्त मे पत्थर आदि मे आत्मप्रवेश एवं निःसरण की क्रिया—वर्णित है।

यहा योगशास्त्र मे आगे के श्लोक मे यह सूचना दी गई है कि इस प्रकार वाम नासिका से मृतशरीर मे प्रवेश

करना चाहिये। पाप की शका से जीवित शरीर मे प्रवेश यहां नही कहा जा रहा है। यथा—

एवं परासु-देहेषु प्रविशेद् वामनासया।
जीवद्देहप्रवेशस्तु नोच्यते पापशंकया ॥५, २६०

पूर्व साहित्य का परिशीलन

दोनो ग्रन्थो मे प्ररूपित विषयो को देखते हुए यह यह निश्चित ज्ञात होता है कि आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र दोनो ही तलस्पर्शी विद्वान् थे। उनके सामने जो भी योगविषयक प्राचीन साहित्य उपस्थित था उसका उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था। इसका संकेत इन दोनो ग्रन्थो के विषयविवेचन मे स्वय उपलब्ध होता है। यथा—

१. **त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभि.।**
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥
ज्ञाना पृ. २८५-३

२. **अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्र वदन्ति तत्त्वविदः।**
पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रवेस्तदाहुराचार्याः ॥
ज्ञाना. पृ. २६७-७०

३. **नाडीशुद्धि कुर्वते वहनपूरं दिनकरस्य मार्गेण।**
निष्काममिशंदि वोः पुरमितरेण केऽप्याहुः ॥
ज्ञाना. पृ. ३००-८७

४. **षोडशप्रमितः कश्चित् निर्णीतो वायुसंक्रम।**
अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथाक्रमम्।
ज्ञाना पृ. ३०१-६०

योगशास्त्र—

१. **प्राणायामस्ततः कश्चित् आश्रितो ध्यानसिद्धये। ५-१**

२. **प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा।**
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परैः ॥ ५-५

३. **चन्द्रे स्त्री पुरुषः सूर्ये मध्यभागे नपुंसकम्।**
प्रश्नकाले तु विज्ञेयमिति कश्चिन्निगद्यते ॥ -३५

४. **अग्रे वामविभागे हि शशिक्षेत्रं प्रचक्षते।**
पृष्ठे दक्षिणभागं तु रविक्षेत्र मनीषिणः ।.२४१

रूपक पद

कवि घासीराम

मोहनी राग में गाया गया कवि घासीराम का यह रूपक पद आत्मा और शरीर की पृथकता पर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। कवि कहता है कि जीव को इस कायारूपी नगरी मे किस प्रकार से रहना चाहिए। उसका एक सुन्दर दृश्य अंकित किया है। शरीर रूपी कुआ एक है पाचो इन्द्रिया पनिहारी है, वे अपना-अपना नीर भरती है। उसके पुर जाने से कुआ का पानी सूख गया, तब वे पाचो पनिहारी बिलखती है। हम उड गया केवल मिट्टी पडी रहती है, उस कचन महल और रूपामय छज्जे को छोड कर नगरी का राजा चला गया। इससे हमे विवेक की ओर दृष्टि देना चाहिए और पर पदार्थो मे ममता हटा कर चैतन्य स्वरूप आत्मा की ओर दृष्टि देना चाहिए।

राग सोहनी

इस नगरी में किस विधि रहना नित उठ तलब लगावे री भैना।
एक कुआ पांचों पणिहारी, नीर भरै सब न्यारी न्यारी ॥१
पुर गया कूआ सूख गया पानी, बिलख रहीं पांचों पणिहारी ॥२
बालू की रेत ओस की टाटी, उड गया हंस पड़ी रही माटी ॥३
कंचन महल रूप्यमय छाजा, छोड़ चला नगरी का राजा ॥४
'घासीराम' सहज का मेला, उड़ गया हाकिम लुट गया डेरा ॥५

चारुकीर्ति

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

भगवान गोम्मटेश्वर की महामूर्ति से पवित्रीकृत तीर्थ श्रवणबेलगुल मे जैन भट्टारकों का एक मठ है। यहा के बहुत से आचार्यो के उल्लेख माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित जैनाशिलालेखसग्रह के पहले और तीसरे भाग मे प्राप्त होते है। इन मे कई आचार्य चारुकीर्ति इस एक ही नाम से जाने जाते थे। पिछले वर्ष जैनशिलालेखसग्रह का चौथा भाग प्रकाशित हुआ है। इस मे भी चारुकीर्ति नामक कई आचार्यो के उल्लेख है। इन सब उल्लेखो का समन्वित अध्ययन प्रस्तुत करना ही इस लेख का उद्देश है। इस मे जो ग्रन्थ-पृष्ठों के उल्लेख है वे सब उपर्युक्त जैनशिलालेख सग्रह के है।

हमारे अध्ययन के अनुसार चारुकीर्ति नामक सब से पुरातन आचार्य यापनीय सघ के वृक्षमूल गण के मुनिचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे। इन्हे सोविसेट्टि नामक सज्जन ने एक उद्यान अर्पण किया था ऐसा वर्णन दोणि ग्राम के एक शिलालेख मे है। यह लेख सन १०९६ का है (भाग ४ पृ० १२२)।

चारुकीर्ति नामक दूसरे आचार्य का उल्लेख श्रवणबेलगुल के शक १०५०=सन ११२८ के एक लम्बे शिलालेख मे है। लेख का लेखक बोकिमय्य उनका शिष्य था। किन्तु इसमे उनकी परम्परा अथवा गुरु आदि के बारे मे कोई विवरण नही मिलता। (भाग १ पृ० ९७)।

तीसरा उल्लेख सौराष्ट्र के वेरावल नगर के एक खण्डित लेख मे है। नन्दिसघ के कई आचार्यों के नाम इसमे है जिनमे एक चारुकीर्ति भी है। किन्तु लेख आधा टूटा होने से उनके गुरु-शिष्यादि के बारे मे कोई विवरण इसमे नही मिलता। इस लेख का समय बारहवी शताब्दी का अन्तिम चरण है (भाग ४ पृ० २२१)। मैसूर प्रदेश से बाहर चारुकीर्ति नामक आचार्य का यह एकमात्र उल्लेख है।

चौथे उल्लेख का अनुमानित समय भी सन १२०० है। बन्दलिके ग्राम के इस लेख मे अभयचन्द्र के शिष्य चारुकीर्ति द्वारा एक मन्दिर का जीर्णोद्धार किये जाने का वर्णन है (भाग ३ पृ० ६५)।

पाचवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक समाधिलेख मे है जिसका समय शक १२३५=सन १३१३ है। इसमे वर्णित देशीगण की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूषण—माघनन्दि—शुभचन्द्र—चारुकीर्ति—माघनन्दि—अभयचन्द्र—बालचन्द्र—रामचन्द्र। रामचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र का उक्त वर्ष में स्वर्गवास हुआ था। अत: इसमे वर्णित चारुकीर्ति का समय भी सन १२०० के आसपास प्रतीत होता है (भाग १ पृ० ३०—३३)।

छठवा उल्लेख हलेबीड के एक समाधिलेख मे है। इसमे देशीगण की इगलेश्वरबलि की गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलाई है—गण्डविमुक्त—शुभनन्दि—चारुकीर्ति—माघनन्दि—अभयचन्द्र—बालचन्द्र—अभयचन्द्र। अन्तिम आचार्य अभयचन्द्र का स्वर्गवास शक १२०१=सन १२७९ मे हुआ था। अत इसमे वर्णित चारुकीर्ति का समय भी सन १२०० के आसपास प्रतीत होता है (भाग ३ पृ० ३७१—७३)।

सातवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक शिलालेख मे है जिसका अनुमानित समय शक १२४७=१३२५ है। इसमे देशीगण के अभिनव चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य मगायि द्वारा त्रिभुवनचूडामणिवसति बनवाने का वर्णन है (भाग १ पृ० २६०)।

आठवा उल्लेख कणवे ग्राम के शक १२८४=सन १३६२ के एक लेख मे है। इसके प्रारम्भ मे देशीगण के चारुकीर्ति पण्डित की प्रशसा है और बाद मे महाराज बुक्कराय के समय में एक मन्दिर की भूमि के बारे मे

कुछ विवादों का अधिकारियो द्वारा निर्णय दिये जाने का वर्णन है (भाग ३ पृ० ३९३) ।

नौवा उल्लेख गेरसोप्पे के शक १३२३=सन १४०१ के एक समाधिलेख में है। इसमे नगिरपुर के सामन्त मंगरस के स्वर्गवास का वर्णन है। लेख टूटा होने से इसमे जो चारुकीर्ति पण्डित का नाम है उसका पूर्वापर सम्बन्ध अस्पष्ट है (भाग ४ पृ० २९७ ।

दसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के दो लेखो मे है जिनका समय शक १३२०=सन १३९८ तथा शक १३५५=सन १४३३ है। इसमे वर्णित चारुकीर्ति देशीगण की इगलेश्वर-वलि के श्रुतकीर्ति के शिष्य थे ।

लेखो मे चारुकीर्ति के शिष्य पण्डितयति, पण्डितयति के शिष्य सिद्धान्तयोगी और सिद्धान्तयोगी के शिष्य श्रुत-मुनि की प्रशसा है। श्रुतमुनि का स्वर्गवास शक १३५५ मे हुआ था। अत इस लेख मे वर्णित चारुकीर्ति का समय सन १३५० के आसपास प्रतीत होता है। इन चारुकीर्ति के वर्णन मे सारत्रय, युक्तिशास्त्र और शब्दविद्या मे उनकी प्रवीणता की प्रशसा है तथा बल्लालराज को नीरोग करने का श्रेय भी उन्हे दिया गया है (भाग १ पृ० २१३ तथा २०३) ।

ग्यारहवां उल्लेख मूडबिदुरे के एक ताम्रपत्र का है जिसका समय शक १४२६=सन १५०४ है। इसमे कदम्ब कुल के शासक लक्ष्मप्परस अपरनाम भैरस द्वारा जैनो के ७२ सस्थानो के प्रधानाचार्य चारुकीर्ति के एक शिष्य को अपने राज्य के एक भाग के धार्मिक अधिकार प्रदान किये जाने का वर्णन है (भाग ४ पृ० ३१३) ।

बारहवा उल्लेख अजनगिरि के शक १४६६=सन १५४४ के एक लेख मे है। इसके अनुसार देशीगण-इंगुलेश्वरबलि के बेलगुलपुर के चारुकीर्ति पण्डित के प्रशिष्य के शिष्य अभिनव चारुकीर्ति पण्डित थे। इनके शिष्य शान्तिकीर्ति थे जिन्होने सुवर्णावती नदी से प्राप्त दो जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा के लिए एक मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए चन्दा एकत्र किया था (भाग ३ पृ० ५३०–३३) ।

तेरहवां उल्लेख मूडबिदुरे के शक १४८५=सन १५६३ के ताम्रपत्र मे है। इसके अनुसार मूडबिदुरे के चण्डोग्र-पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए शंकरसेट्टि ने कुछ दान दिया था जो अभिनव चारुकीर्ति पण्डित के आज्ञावर्ती सेट्टि-कारो को सौपा गया था। (भाग ४ पृ० ३२६–७) ।

चौदहवां उल्लेख चिक्कहनसोगे के सन् १५८५ के शिलालेख मे है। इसके अनुसार चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य पण्डितय्य द्वारा तीन जिनमूर्तियो की स्थापना की गई थी (भाग ४ पृ० ३३१) ।

पन्द्रहवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के शक १५५६=सन १६३४ के शिलालेख मे है। इसके अनुसार बेलगुल के मन्दिरो की सम्पत्ति गिरवी रखी गई थी। राजा चामराज वोडेयर के कहने पर तथा चारुकीर्ति पण्डित के समक्ष चेन्नण आदि सेठो ने इस सम्पत्ति को ऋणमुक्त कर दिया था। (भाग १ पृ १९८) ।

सोलहवा उल्लेख मूडबिदुरे के शक १५६२=सन १६४१ के ताम्रपत्र मे है। इसके अनुसार अभिनव चारु-कीर्ति तथा उनके शिष्यवर्ग को चिक्कराय ओडेयर द्वारा सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था (भाग ४ पृ० ३४१) ।

सत्रहवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक समाधिलेख में है। इसके अनुसार शक १५६५=सन १६४३ मे चारुकीर्ति पण्डित का स्वर्गवास हुआ था (भाग १ पृ० २९३) ।

अठारहवां उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक मूर्तिलेख में है। इसके अनुसार कारजा के भट्टारक धर्मचन्द्र तथा चारुकीर्ति पण्डित के उपदेश से शक १५७०=सन १६४८ मे यह मूर्ति स्थापित की गई थी (भाग १ पृ० २२९) ।

उन्नीसवा उल्लेख श्रीरगपट्टम के सन १६६६ के एक शिलालेख मे है। इसके अनुसार चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य पायण्ण ने अष्टाह्निका महोत्सव के लिए कुछ दान दिया था (भाग ४ पृ० ३४३) ।

बीसवा उल्लेख मदने ग्राम के शक १५९५=सन १६७३ के एक शिलालेख मे है। इसके अनुसार बेलगुल के चारुकीर्ति पण्डित को मैसूर के देवराज ओडेयर ने मदने ग्राम दान दिया था (भाग ३ पृ० ५६९) ।

इक्कीसवा उल्लेख मूडबिदुरे के शक १६७९=सन १७५७ के एक ताम्रपत्र मे है। इसके अनुसार इम्मडि

[शेष पृ० ३२ पर]

भट्टारक विनयचन्द के समय पर विचार

परमानन्द जैन शास्त्री

भट्टारक विनयचन्द्र का जो समय मैंने 'प्रशस्ति संग्रह द्वितीय भाग की प्रस्तावनामे दिया था[1]। उस पर आपत्ति करते हुए अगरचन्द जी नाहटा ने जैन सन्देशकेशोधाक १८ मे पृष्ठ २७३ पर 'चूनडी' के रचयिता भ० विनय चन्द्र का समय' शीर्षक लेख मे बिना किसी प्रमाण के विनयचन्द्र का समय १४०० के आस-पास का बतलाया है। और लिखा है कि भाषा के आधार पर उसका समय इससे पूर्व का नही हो सकता। परन्तु आपने भाषा के उस आधार का, जो आपके समय की समर्थक हो, उसका कोई विश्लेषण या प्रमाण उपस्थित नही किया, और न कोई ऐसा ऐतिहासिक आधार ही उपस्थित किया जो उनके अभिमत को पुष्ट करता हो। ऐसी स्थिति मे उस कल्पना को १४०० के आस पास का समर्थक कैसे कहा जा सकता है? बिना किसी प्रमाण के दिगम्बर विद्वानों और उनकी रचनाओं को अर्वाचीन बतलाना, तथा ज्ञान भंडारों की बिना किसी जाच के यह लिख देना कि दि० विद्वानो द्वारा इस विषय का साहित्य नही रचा गया। बाद मे वह साहित्य दि० भडारो मे मिल गया, तब उनकी वह कल्पना निरर्थक हो गई। इससे लेख लिखते समय विचार कर ही लिखना चाहिए। दूसरे अमुक ग्रन्थकार ने अमुक सम्प्रदाय के ग्रन्थो का उल्लेख तक नही किया। यह उस शोधक विद्वान की कमी नही, उसने तो अपना प्रबन्ध लिखने के लिए प्रयत्न किया ही होगा। फिर भी यदि किसी सम्प्रदाय के किसी ग्रन्थका परिचय या ग्रथ लेखक को प्राप्त नही हुआ हो तो वह ऐसी स्थिति मे उसका उल्लेख कैसे कर सकता है? गल्ती तो तब कहलाती जब उसके सामने वह ग्रथ होता और वह उसका उल्लेख भी न करता। अतः भविष्य मे इन बातो के सम्बन्ध मे नाहटा जी को थोडा-सा सयम से काम लेना चाहिए, जल्दी से उस विषय का निर्णय नहीं देना चाहिए।

भट्टारक विनयचन्द्र माथुर संघ के भट्टारक उदयचन्द्र के शिष्य और बालचन्द मुनि के दीक्षा शिष्य थे। विनय चन्द्र ने 'चूनडीरास' में 'माथुर संघहँ उदय मुणीसर' और 'निर्झर पचमी कहारास' मे उदयचन्द गुरु' रूप से उदय-चन्द का स्मरण किया है। और बालचन्द का चूनड़ी में 'बालइन्दु गुरु गणहरु, तथा 'निर्झर पचमी कहा रास' में 'वंदिवि बाल मुणे' रूप में उल्लेख किया है। इस कारण वे उन दोनों के शिष्य थे। किन्तु उदयचन्द ने जब 'सुगंध-दशमी कथा बनाई, उस समय वे गृहस्थ थे; क्योंकि उन्होने उक्त कथा के अन्त में अपनी पत्नी 'देमति' का उल्लेख किया है। बाद मे वे मुनि हो गए जान पड़ते है। विनयचन्द ने जब 'नरक उतारी—कथा' लिखी, तब उसकी प्रशस्ति मे उदयचन्द को मुनि नही लिखा किन्तु 'गुण गणहर गरुवउ' रूप मे स्मरण किया है। और बालचन्द को मुनिरूप मे स्मृत किया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

> **'उदय चन्दु गुण गणहरु गरुवउ,**
> **सो मइं भावें मणि अणुसरियउ।**
> **बालइंदु मुणि णविवि णिरंतरु,**
> **णरग उतारी कहमि कहंतरु ॥'**

इस कथा को कवि ने यमुना नदी के तट पर बसे हुए महावन नगर के जिन मन्दिर मे रचा है[1]। इससे स्पष्ट जान पडता है कि उदयचन्द बाद मे मुनि बने है।

विनयचन्द ने 'निर्झर पचमी कहा रास' त्रिभुवन गिरि (तहनगढ) की तलहटी में रचा है। और चूनड़ी रास की रचना का स्थल त्रिभुवनगिरि नगर के अजय नरेन्द्र

---

1. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह दूसरा भाग पृ. ११७

१ अमिय सरीसउ जवणा जलु, णयरु महावणु सग्गु।
तहिं जिण भवणि वसंत इणि विरइउ रासु समग्गु ॥
—नरग उतारी कथा

(अजयपाल) कृत राज विहार को बतलाया गया है१। उस समय तहनगढ़ जन धन से समृद्ध था। उसकी इस समृद्धि की पुष्टि चूनड़ी रास की निम्न पंक्ति से होती है जिसमे उसे—'सग्गखण्ड णं धरियल आयउ'—स्वर्ग खण्ड के समान सुभग बतलाया गया है। उसे विजयपाल के पुत्र तहनपाल ने बसाया था। बयाना (श्रीपथ) तहनगढ़ (त्रिभुवनगिरि) और करौली के शासक यदुवंशी क्षत्रिय थे, जो श्रीकृष्ण के वंशज कहलाते थे। उनकी परम्परा निम्न प्रकार मिलती है - जैतपाल, विजयपाल, तहनपाल धर्मपाल, अजयपाल, हरिपाल, सहनपाल और कुमारपाल आदि। इस परम्परा मे कुमारपाल का नाम सहनपाल के बाद आता है, जिसका उल्लेख सन् ११९२ के लेख में मिलता है। किन्तु वृत्त विलास वाली परम्परा मे प्रयुक्त नामो में कुछ क्रम भंग भी पाया जाता है। जैसे धर्मपाल के बाद और अजयपाल से पूर्व कुवरपाल का नाम दिया हुआ है।

किन्तु नाहटा जी ने लिखा है कि—"जगदीशसिंह गहलोत लिखित राजस्थान के इतिहास मे करौली राज्य का इतिहास दिया है, उसमे अजयराज कुमारपाल के बाद सोहनपाल, नागार्जुन, पृथ्वीपाल के नाम आते है। तदनन्तर तिलोकपाल विमलदेव, सांसदेव, आसलदेव के नाम आते है। फिर गोकुलदेव के उत्तराधिकारी महाराजा अर्जुनपाल का विशेष विवरण है जिसने करौली स० १४०५ में बसा कर राजधानी बसाई। अर्जुनपाल का समय स० १३८४ से १४१८ का दिया है।"

(जैन सन्देश शोधाक पृ० २७४)

नाहटा जी ने ऊपर जिस इतिहास का उल्लेख किया किया है, वह यहा नही है। पर उन्होने अर्जुनपाल को अजयपाल समझ कर विनयचन्द का समय स० १४०० के आस-पास का बतलाया है। जो किसी तरह भी संगत नही बैठता। अर्जुनपाल ने स० १४०५ मे जब करौली बसाई तब उससे पूर्व स० १३८४ मे वे कहा के राजा थे। यह स्पष्ट करना चाहिए था। अर्जुनपाल क्या त्रिभुवन गढ़ भी रहा, यदि नही तो फिर उसके साथ एकत्व कैसा ?

अर्जुनपाल अजयपाल नही हो सकते। क्योंकि दोनो के समय मे काफी अन्तराल है। अजयपाल की प्रशस्ति सन् ११५० की है और अर्जुनपाल का समय १३८४ से १४१८ तक बतलाया गया है। ऐसी हालत मे दोनों की एकत्व कल्पना निरर्थक जान पडती है। मेरे पास करौली के शासकों की जो सूची है। उसमें भी बहुत राजाओ के बाद अर्जुनपाल का नाम दिया है। और कुवरपाल के बाद अजयपाल का सप्रमाण उल्लेख आगे किया गया है अजय नरेन्द ही अजयपाल है। और उनका समय भी दिया गया है। उससे स्पष्ट हो जाता है, कि अर्जुनपाल अजयपाल नही हो सकते।

वृत्तविलास की वशावली प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान हीराचन्द जी ओझाके निबन्ध सग्रह मे प्रकाशित हुई है। उसी पर से कुछ पद्य नीचे दिये जाते है। और वे इस प्रकार हैं—

भये कृष्ण के वश में विजय पाल महिपाल।
तिनके सुत परगट भये, तिहुणपाल छितिपाल ॥६
अश्वमेध जिहि जग्ग किय, दीने अगनित दान।
हेमकोटि दस सहस गो, गज सहस्र परिमान ॥७
बीस सह (सह) य सालसं, सासन दीने गाम।
धर्मपाल तिनके भये, भूप धरम के धाम ॥८
कुंवरपाल तिनके भये, भूपति बखत विलास।
अजंपाल प्रगटं बहुरि, कर्यो जगत प्रतिपाल ॥९
हरिपाल तिनके भये, भूप मुकुट जिमि हीर।
तिनके साहनपाल नृप, साहस समुद गंभीर ॥१०
अनगपाल नृप प्रगट हुव, तिनके पृथ्वीपाल।
तिनके सुत प्रगटे बहुरि, राजपाल महिपाल ॥११

यह क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से विरुद्ध-सा जान पडता है; क्योंकि अजयपाल की महावन से प्राप्त प्रशस्ति में समय सन् ११५० (वि० स० १२०७) दिया हुआ है२। और अजयपाल के उत्तराधिकारी हरिपाल के राज्य की उत्कीर्ण प्रशस्ति उसी महावन से सन् ११८० (वि० स० १२३७)

---

१. तिहुयण गिरि पुरु जगि विक्खायउ,
सग्ग खंडु ण धरियलि आयउ।
तहिं णिवसंते मुणिवरे अजयणरिंदहो राज विहारहिं।
वेगे विरइय, चूनडिय सोहहु मुणिवर जे सुयधारहिं ॥
—चूनड़ीरास प्रशस्ति

२. देखो, एपिग्राफिका इडिका जिल्द १ पृ० २८९।

की मिली है१। तथा भरतपुर के 'अघपुर' नामक स्थान से प्राप्त मूर्तिखण्ड पर सन् ११९२ के उत्कीर्ण लेख में सहनपाल नरेश का उल्लेख है। एव मुसलमानी तवारीखो में हिजरी सन् ५७२ सन् ११९२ मे कुमारपाल का उल्लेख है। इन ऐतिहासिक तथ्यों से ऊपर वाली परम्परा का क्रम ठीक जान पड़ता है। फिर भी इस सम्बन्ध मे और अन्वेषण करने की आवश्यकता है। जिससे अन्य प्रमाणो की रोशनी में उस पर विशेष प्रकाश पड़ सके। हो सकता है कि करौली में शासको की प्रामाणिक सूची और समयादि मिल सके।

कहा जाता है कि कुमारपाल सन् ११९२ (वि. स० १२४९) के आस-पास गद्दी पर बैठा था। मुसलमानी तवारीख 'जुलमासीर' में हसन निजामी ने लिखा है कि—'हिजरी सन् ५७२ (वि० स० १२५२) मे मुहम्मद गोरी ने तहनगढ पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया था। उस समय वहा का राजा कुमारपाल था। उस समय वहा के हिन्दू जैन सभ्य परिवार नगर छोडकर यत्र-तत्र भाग गये। वहा मूर्तिपूजा का बडा जोर था अतएव वहां बडा अन्याय अत्याचार किया गया, मन्दिर और मूर्तिया नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई। वि० स १२७५ मे रचे गये जिनदत्त चरित की प्रशस्ति में कवि लक्ष्मण ने तहनगढ़ के विनाश की घटना का उल्लेख किया है। चूंकि कवि स्वयं वहा का निवासी था और स्वय अपने परिवार सहित वहां से भागा था१। कवि लक्ष्मण ने वहाँ के राजा का यदि उल्लेख कर दिया होता तो समस्या सहज ही समाप्त हो जाती, पर ऐसा नहीं हुआ।

जब अजयपाल का राज्य वहा सन् ११५० (वि० स० १२०७) मे तहनगढ में था, और कितने समय रहा, यह अभी अज्ञात है। पर सन् ११७० स पूर्व तक उसकी सीमा का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि सन् ११७० मे हरिपाल का राज्य था। चूकि चूनड़ी रास विनयचन्द्र ने अजयनरेन्द्र (अजयपाल) के राज विहार मे बैठ कर बनाया। इससे स्पष्ट है कि उक्त चूनड़ी रास विक्रम की १३वी शताब्दी के प्रारम्भिक समय में रचा गया है। मुसलमानी साम्राज्य होने पर तो वहा राज विहार मे बैठ कर रचना करना संभव भी नही जचता। उस समय तो उस नगर की बहुत बुरी दशा थी। ऐसी दशा मे बिना किसी प्रमाण के उसे स० १४०० के आस-पास की रचना कैसे कहा जा सकता है। आशा है नाहटा जी इस पर विचार करेंगे और आगे झट-पट लिखने की अपेक्षा सोच-विचार कर लिखने का प्रयत्न करेंगे। ★

१. एपिग्राफिका इंडिका खण्ड २ पृ० २७६ तथा
A canningham V.L. XX.

[पृ० २६ का शेषांश]

अरसप्पोडेय ने चारुकीर्ति पण्डित को वेण्णेगाव की कुछ भूमि अर्पित्त की थी (भाग ४ पृ० ३४७)।

बाईसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के शक १७३१=सन १८१० के एक समाधिलेख मे है। इसके अनुसार देसिगण के चारुकीर्ति के शिष्य अजितकीर्ति के शिष्य शान्तिकीर्ति के शिष्य अजितिकीर्ति का उक्त वर्ष में स्वर्गवास हुआ था (भाग १ पृ० १५४)।

तेईसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल मे प्राप्त एक सनद का है। इसके अनुसार दीवान पूर्णया ने बेलगुल के सन्यासी चारुकीर्ति को एक ग्राम की आय दिये जाने की संमति प्रदान की थी। यह सनद सन १८१० की है (भाग १ पृ० ३५६)।

चौबीसवा उल्लेख भी श्रवणबेलगुल की एक सनद का है। इसके अनुसार सन १८३० में कृष्णराज वडेयर ने चारुकीर्तिमठ की रक्षा के लिए चार ग्राम अर्पित किये थे (भाग १ पृ० २९१)

पच्चीसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के दो मूर्तिलेखो का है। इसके अनुसार शक १७७८=सन १८५६ मे चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य सन्मतिसागर वर्णी के लिए ये मूर्तिया स्थापित की गई थीं (भाग १ पृ० ३६४-६५)। ★

धनपाल विरचित "भविसयत्त कहा" और उसकी रचना-तिथि

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

अपभ्रश-साहित्य मे "भविसयत्तकहा" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। भारतवर्ष मे प्रकाशित होने वाला अपभ्रश का यह प्रथम काव्य ग्रन्थ है। सन १९२३ में यह कथाकाव्य गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ था। उस समय तक अपभ्रंश-साहित्य के सम्बन्ध मे बहुत ही कम जानकारी मिल पाई थी। इधर अपभ्रंश की प्रमुख रचनाओं के प्रकाशन से हिन्दी-जगत् मे पर्याप्त चर्चा होने लगी है। किन्तु अपभ्रंश-साहित्य का वास्तविक मूल्याकन अभी तक कई दृष्टियों से नहीं हो सका है। इसका मुख्य कारण यही है कि सम्प्रति अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य भण्डारो मे है। जब तक प्रामाणिक रूप मे हिन्दी अनुवाद सहित इस साहित्य के प्रकाशन की समुचित व्यवस्था नही होती तब तक साहित्य-संसार मे इसे यथोचित स्थान नही मिल सकेगा। केवल भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी एक ऐसी सस्था है जो अपभ्रंश के प्रकाशन का कार्य हाथ मे लिए है, अन्य प्रकाशनों से कोई आसार लक्षित नही होते। क्योंकि हम स्वय इसे महत्वपूर्ण नही समझते। वास्तव मे यह भावना हीन प्रवृत्ति का द्योतन करने वाली है। कुछ प्रकाशक अपने निहित स्वार्थों के कारण तथा व्यापारिक उद्देश्य से इस ओर ध्यान ही नही देना चाहते। अतएव समाज मे ऐसे सस्थानो की आवश्यकता है जो इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण कार्य-भार वहन करने मे समर्थ हो।

अभी हाल मे ही भारतीय ज्ञानपीठ से डा० देवेन्द्रकुमार जैन का शोधप्रबन्ध "अपभ्रंश भाषा और साहित्य" प्रकाशित हुआ है। डा० जैन ने इस कृति मे चरितकाव्य और कथाकाव्य मे कोई अन्तर नहीं माना है। उनके ही शब्दों में[१]—

"अभी तक जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमे गद्य और दृश्य काव्यों का अभाव है। समूचा साहित्य पाठ्य काव्य के अन्तर्गत है। उसके मुख्य तीन भेद हो सकते हैं—प्रबन्ध, खण्ड और मुक्तक काव्य। जो प्रबन्ध-काव्य ग्रन्थ उपलब्ध है, वे मुख्य रूप से कथा-काव्य हैं। उनमें कथा और काव्य का अद्‌भुत मिश्रण है। इस काव्यधारा के भी दो भेद है—पुराणकाव्य और चरितकाव्य। चरितकाव्य के दो रूप है—एक शुद्ध या धार्मिक चरितकाव्य और दूसरा रोमाण्टिक।............ प्रबन्धकाव्य को कथाकाव्य कहना अधिक संगत है, क्योंकि उसमें कथा की ही मुख्यता है। कथा चाहे पौराणिक हो या काल्पनिक।" सामान्य रूप से डा० जैन अपभ्रंश के प्रबन्धकों को कथाकाव्य कहते हैं। और इसलिए उन्होंने "णायकुमारचरिउ" की भाति "भविसयत्तकहा" को कथा-काव्य माना है, जो उनकी दृष्टि मे वास्तव मे रोमाण्टिक चरितकाव्य है। वस्तुत डा० जैन की यह मान्यता अपभ्रंश की कुछ प्रकाशित रचनाओं के आधार पर है। अपभ्रंश मे अभी तक कई ऐसी हस्तलिखित रचनाएं लेखक की जानकारी मे है जो उक्त सीमा के अन्तर्गत नहीं आतीं। अपभ्रंश का कथा-साहित्य विषय और परिणाम की दृष्टि से प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हुआ है। इसे न तो चरितकाव्य कह सकते है और न पौराणिक। सामान्य रूप से यह हस्त-लिखित साहित्य दो रूपो मे मिलता है—

सन्धिबद्धबृहत कथाओ के रूप मे, जो निश्चय ही प्रबन्धकाव्य है और दूसरे सन्धिबद्ध लघुकथाओ के रूप में। यह समस्त साहित्य पद्यबद्ध है। सन्धिबद्ध होने के कारण इसमे कथा और काव्यतत्त्व का समान रूप से संयोग है। इनमें कुछ ऐसी भी रचनाए है जो कविकल्पनाप्रधान या लोकजीवनप्रसूत हैं; जैसे कि जिनदत्तकथा (लाखू कृत जिणयत्तकहा)। इसी प्रकार के अन्य कथाकाव्यों का

---

१. डा० देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश भाषा और साहित्य, १९६५, पृ० ८५।

विचार उक्त शोधप्रबन्ध मे नही किया गया। यह सम्भव भी नही था। क्योंकि डा० जैन १९५६ ई० मे अपना शोधप्रबन्ध लिख चुके थे। इस प्रबन्ध के लिखे जाने के उपरान्त जो महत्वपूर्ण रचनाए प्रकाश मे आई है उनमे से एक साधारण सिद्धसेन कृत—"विलासवईकहा" है, जिसका उल्लेख डा० कोछड, डा० तोमर और डा० जैन की किसी भी कृति मे नही है। इसी प्रकार अन्य रचनाए भी है। अतएव जब तक सम्पूर्ण प्रकाशित-अप्रकाशित एव हस्तलिखित अपभ्रंश-साहित्य का अनुशीलन न किया जायेगा तब तक डा० जैन जैसे विद्वान् भले ही अपभ्रंश-कथाकाव्य की स्वतन्त्रविधा का अस्तित्व स्वीकार न करे पर प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य मे कथाकाव्यमूलक कई प्रकार की रचनाए मिलती है, जिनसे यह पता चलता है कि कथाकाव्य की इस विधा का विकास अपभ्रंश मे प्राकृत-काव्य-धारा से हुआ।

भारतीय साहित्य मे कथाकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। काल के मूल मे जीवन की लिपिबद्ध कथाए ही है जो श्रुति रूप मे वर्षों तक प्रचलित रही है और देश-देशान्तरो मे अपने अपने मूल रूप में स्थानान्तरित होती रही है। अपभ्रंश मे ऐसी ही कथाएं महाकाव्यों की कडी मे परिबद्ध कथाकाव्य के रूप में लक्षित होती है जिनमे मानवीय सवेदना कतिपय घटनाओ के विग्रह मे सजीव एव चारित्रिक बन्धनो मे अनुस्यूत रहती है। कथा ही कथाकाव्य मे मुख्य होती है जो किसी उद्देश्य से कही जाती है और वह उद्देश्य नायक के कार्य-व्यापारो से सम्बद्ध रहता है। यह कथाए प्राय वक्ता-श्रोता शैली मे कही जाती है। इनमे कही-कही सुनने वाला कथा एवं घटना के सम्बन्ध मे जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करता चलता है और लेखक उसकी उत्सुकता की वृद्धि करता हुआ आगे की घटनाओ का सजीव वर्णन करता चलता है। चरितकाव्यों मे नायक के जीवन का समूचा इतिवृत्त अलौकिक रूप मे वर्णित रहता है। उनमे अभिप्राय विशेष भी नायक के आदर्श तथा असाधारण गुणों तथा अतिलौकिक चमत्कारो से समन्वित होते है। जिन कथाकाव्यो मे वस्तु सोद्देश्य नियोजित नही है वे लोककथाएं है जो साहित्यिक रूढ़ियों के साथ कालान्तर मे काव्य के साचे में प्रबन्ध के रूप मे ढाल दी गई है। इसीलिये इन कथाओ मे कई प्रकार के परिवर्तन तथा जोड़-मोड़ मिलते है। कुछ कथाए लोककथा या जन श्रुति के रूप में प्रचलित होने पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध होकर काव्य-बध का अग ही नही, प्राण बन गई है। हीरोइक पोइट्री मे कथा अल्प तथा सूक्ष्म रहती है। परन्तु कथाकाव्य मे मुख्य वस्तु, कथा संयोजना तथा घटनाओं का महत्वपूर्ण वर्णन रहता है। भविष्यदत्तकथा ऐसी ही कथा है जो पहले श्रुति के रूप मे जन-मानस मे प्रचलित रही और फिर परम्परागत प्रबन्ध काव्य की शैली मे लिखी गई। इसीलिए हीरोइक पोइट्री से भी कई बातो मे अन्तर दिखाई पड़ता है, क्योकि जब हीरोइक पोइट्री रोमाश मे परिणत होने लगती है तब उसमे गेय चेतना, कोमल भावनाओ और आकर्षक दृश्यों से मृदु तथा साहसिक कार्यों के मध्य विराम देने वाली आनन्दमयी अनुभूतियों से सवेदनीय हो जाती है। अतएव अपभ्रंश तथा भारतीय साहित्य मे कथाकाव्य तथा चरितकाव्य की विधा अपने ढग की अलग ही प्रबन्ध-रचना है।

भारतीय साहित्य मे कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश मे इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ जिनमे कथा और काव्य मिल कर लोक जीवन के परिपार्श्व मे यथार्थ रीति से गतिशील तथा मनुष्य जीवन मे घटनाओ का रोमाचक एव वास्तविक प्रभाव दर्शाते हुये लक्षित होते है। यद्यपि कही कही पौराणिक प्रवृत्ति के अनुगमन से घटनाओ मे अस्वाभाविकता-सी जान पड़ती है परन्तु प्रबध-संघटना और रचना-शिल्प मे शिथिलता नही दिखाई पडती। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो की विशेष प्रवृत्ति है—प्रेम की मधुर व्यजना। अधिकतर नायक पवित्र प्रेम से प्रेरित एव सचालित दिखाई पडते है। कही-कही प्रेम की उदात्त व्यजना धार्मिक वातावरण मे हुई है और कही-कहीं शुद्ध मानवीय। इस रूप मे हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यवस्तु एव शिल्प-रचना की दृष्टि से ही नही शैली और प्रेम की मधुर व्यजना में भी अपभ्रंश के इन कथा-काव्यो से प्रभावित जान पड़ते है।

कथा पहले आख्यात थी, जो शुरू इतिवृत्त थी परन्तु

ज्यों-ज्यों काव्य-तत्वों से उसका ताल-मेल बैठता गया, त्यों-त्यों वह कहानी और उपन्यास का रूप ग्रहण करती गई। भविष्यदत्तकथा को पद्य मे लिखा हुआ एक प्रकार का उपन्यास ही समझना चाहिये। यद्यपि रचना-तत्वो मे असमानता है पर हम उसे कथा ही कहते आये है और इसलिए भी कि वस्तु रूप मे वह लोक कथा ही है। सस्कृत में लिखी गई कथाए गद्य मे हैं। बाणभट्ट की 'कादंबरी' तो उपन्यास ही जान पड़ती है। परन्तु वह कथा ही है। प्राकृत और अपभ्रंश में छोटी तथा बड़ी लगभग सभी प्रकार की कथाये छन्दोबद्ध है। 'कुवलयमाला कथा' अवश्य गद्य मे लिखी मिलती है। इसी प्रकार अन्य रचनाए भी गिनाई जा सकती हैं, परन्तु प्राकृत और अपभ्रंश मे पद्यबद्ध कथाएं लिखने की सामान्य प्रवृत्ति रही है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से लेकर आज तक न जाने कितनी तरह की कथाए और कहानिया लिखी गई जो नीति-रीति, मानवीय स्थितयों की विविधता और यथार्थता मे समन्वित लिखी जाती रही है। भाषा की भाति साहित्यिक विधाओ का भी यह परिवर्तन आज इतिहास की वस्तु बन कर रह गया है। उन परिवर्तनो का पूर्ण विवरण देना आज असभव-सा जान पडता है।

अपभ्रंश साहित्य का ही नही, यदि हम दसवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक के भारतीय साहित्य का अनुशीलन करे तो ज्ञात होता है कि मध्ययुगीन भारतीय काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति उदात्त प्रेम की मधुर व्यजना रही है। यद्यपि इस युग के काव्यों मे वर्णित प्रेम अतिलौकिक भाव-भूमिका में भी चित्रित हुआ है, परन्तु काव्य का समान्य धरातल लौकिक प्रेम मे ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिये अतिलौकिक प्रेम और आदर्शो को समझने के लिये हमें किन्ही प्रतीकों और रूपको के रहस्यो को खोलना पड़ता है। परन्तु अपभ्रंश के कथा-काव्यों में प्रायः यह व्यंजना नहीं मिलती है। यद्यपि प्रेम-बीज से लेकर उसके विकास तक की सम्पूर्ण परिस्थितियो एव अवस्थाओं का इनमें पूर्ण विकास लक्षित होता है परन्तु व्यक्तिवादी वैचित्र्य एवं चमत्कार नही मिलता। वस्तुतः ये कथाकाव्य मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की देन हैं जो लोकजीवन की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव हम इस युग को पुनर्जागरण काल (Renaissance) कह सकते है, जिनमे जनवादी प्रवृत्तियां जन्म ले रही थी और पौराणिकता से हट कर साहित्य लोक-चेतोन्मुखी हो रहा था। अतएव लोक-जीवन के विविध तत्व कथा-काव्य मे सहज ही लक्षित होते है। इस युग मे कथाकाव्य का नायक आदर्श पुरुष ही नही, राजा, राजकुमार, बनिया, राजपूत या अन्य कोई साधारण से साधारण पुरुष हो सकता था जो अपने पुरुषार्थ से साधारण व्यक्तित्व तथा गुणों को प्रकट कर मानव बन सकता था। सभी कथा-काव्यो मे यह व्याप्ति पूर्णतया लक्षित होती है। इससे देश के साहित्यिक विकास की एक नवीन उत्थानिका का पता लगता है जो मध्ययुगीन साहित्य की विशिष्टता है।

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो मे निम्नलिखित बातो में बहुत कुछ समानता मिलती है :—

१. कथा-वस्तु एव घटनाओं में कही-कही अद्भुत समानता दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक कुवर या राजकुमार की समुद्र-यात्रा और सिंहलद्वीप मे सुन्दरी का वरण करना, एक ऐसी सामान्य घटना है जो लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों मे मिलती है। इसी प्रकार चित्र-दर्शन-रूप-दर्शन, प्रथम मिलन व दर्शन मे ही प्रेम हो जाना आदि बाते समान रूप से मिलती है।

२. सामन्तयुगीन वैभव, भोग-विलास तथा युद्ध के चित्रण भी इन काव्यों मे वर्णित है। किसी-किसी कथा-काव्य मे सुन्दरी के लिये भी युद्ध किया जाता है, जैसे कि भविष्यदत्तकथा मे भविष्यदत्त सुमित्रा की रक्षा के लिये युद्ध करता है और अपनी शूर-वीरता प्रदर्शित करता है।

३. कथानक-रूढियो के साथ ही प्रबन्ध-रचना एवं सघटना में भी साम्य लक्षित होता है। ईश-वन्दना, नम्रता-प्रदर्शन, कवि या काव्य-रचनाओ का उल्लेख, काव्य पढ़ने का अधिकारी, काव्य विषयक सकेत तथा मान्यता आदि बातों का उल्लेख परम्परागत रूढ़िया हैं जिनका प्रचलन सम्भवत. प्राकृत युग से हुआ है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यो मे धनपाल कृत "भविसयत्तकहा" का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अपभ्रंश-काव्य साहित्य में कथाकाव्यों में "भविसयत्तकहा" और प्रेमाख्यानक

काव्यों मे साधारण सिद्धसेन विरचित 'विलासवईकहा' प्रतिनिधि रचनाए है। ये दोनो ही काव्य प्राकृत काव्य-परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उस शृंखला के समान है जो एक ओर आभिजात्य साहित्यिक सूत्र से सम्बद्ध है और दूसरी ओर नव-युगोन्मेषी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों की विकसनशील भाव-धारा से आन्दोलित है। जिसमे एक ओर सामन्तीय समाज का वर्णन है और दूसरी ओर जन मानव का यथार्थ चित्रण है। यद्यपि दोनों प्रबन्धकाव्य धार्मिक परिवेश मे रचे गये है पर काव्य-कला की दृष्टि से तथा शृंगार की पूर्ण अभिव्यजना होने से विशुद्ध कथाकृतिया है। कथाओं मे निबद्ध घटनाए सहज तथा लोक-जीवन की है। यद्यपि कही-कही उन्हें अति लौकिक तत्वो से भी समन्वित किया गया है पर वे यथार्थ से दूर नही है। उनमे कथाभि-प्राय तथा रूढ़ियों का प्रचुर सन्निवेश लक्षित होता है। यथार्थ में मध्ययुगीन भारतीय साहित्य मे इस प्रकार की काव्य-रचनाए विशेष महत्वपूर्ण है जो एक ओर प्राचीन परम्परा का निर्वाह करती है और दूसरी ओर नवीन विधाओं में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के साहित्य के लिए प्रेरणादायक तथा नव्य भूमिकाए सस्थापित करने वाली सिद्ध हुई है। अतएव पुरानी हिन्दी, जूनी गुजराती, प्राचीन बगला तथा राजस्थानी आदि भाषाओं मे लिखा हुआ प्रारम्भिक साहित्य बहुत कुछ प्राकृत एव अपभ्रंश-साहित्य से प्रभावित है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के जिन साहित्यिक अग तथा रूपो पर अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है उनमे से मुख्य है—प्रबन्ध-सघटन, पद-शैली, छन्दोयोजना, वर्णन की तारतम्यता, कथानक रूढ़ियों का प्रयोग, भाषागत शब्द-प्रयोग तथा भाषा की सवेदनशीलता के हेतु अनुरणन-श्रुति-सगीत-नाद आदि विविध तत्वो का समावेश। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास पर भी इस साहित्य के अध्ययन से पर्याप्त जानकारी मिलती है। केवल भाषा के रूप मे ही नहीं धर्म, समाज तथा संस्कृति के रूप में इस साहित्य के आलोक में मध्ययुगीन भारतवर्ष के सहजस्फूर्त तथा रूप मे मण्डित रेखा-चित्र परिलक्षित होते है।

यद्यपि संस्कृत-साहित्य के समानान्तर ही प्राकृत तथा अपभ्रंश-साहित्य की रचना हुई है और प्रभाव रूप मे सस्कृत-साहित्य की कई विशेषताएं अपभ्रंश-कवियो की रचनाओ मे मिलती है पर अपभ्रंश-भाषा के व्याकरण की रचना की भाति इस देशी भाषा के साहित्य के लिए शास्त्रीय साहित्य आदर्श नही बन सका है। इस साहित्य का समग्र रूप लोक-जीवन से हिल्लोलित है। यथार्थ मे वातावरण लोक-जीवन का होने पर भी आलोच्यमान साहित्य-शास्त्रीय तथा लोकशैली के मध्यवर्ती रूप में लिखा गया है। अतएव स्थानीय रूप-रगों से चित्रित होने पर भी प्रबन्ध काव्यो की साहित्यिक शैलियो तथा सामन्तवादी जीवन-रेखाओ से भी चर्चित है। और यही कारण है कि शुद्ध रूप मे इसे लोक-साहित्य भी नही कहा जा सकता है। यह इन दोनो ही साहित्य के बीच की कड़ी है जो परवर्ती युगो मे देशी साहित्य के नाम से अभिहित हुआ है।

कहा जाता है कि हिन्दी के सूफी काव्यों की रचना 'मसनवी' शैली मे हुई है। मसनवी का अर्थ 'दो' है। इसमें प्रत्येक शेर के दो मिसरे होते है। इसका प्रत्येक शेर छन्द और भाव की दृष्टि से पूर्ण होता है। मुक्तक की भाति इनमे भाव या चित्रपूर्ण होता है तथा वाक्य-रचना भी कसी हुई रहती है। मिसरा समतुकान्त होता है, जिनका आगे की पक्तियो से तुक की दृष्टि से कोई सम्बन्ध नही होता। काव्य सर्गो मे या परिच्छेदो मे विभक्त न होकर विषयानुरूप शीर्षको मे तथा घटनाओ मे आबद्ध रहता है। इस शैली मे लिखा गया किसी प्रकार का भी प्रबन्ध काव्य क्यों न हो वह मसनवी माना जायगा[१]। फिरदौसी का 'शाहनामा' और 'यूसुफ-जुलेखा' मसनवी काव्य माने जाते है। किन्तु अपभ्रंश कथाकाव्य और चरितकाव्य की रचना संधिबद्ध होती है तथा सन्धि या परिच्छेद 'कडवकबद्ध' होते है। कडवक पद्धड़िया, अडिल्ला, या उसी आकार के किसी छन्दों का समूह होता है जिसमे किसी एक दृश्य या भाव का वर्णन रहता है। अपभ्रंश मे कडवकों तथा उनमे विहित छन्दों की संख्या नियत नही है। साधारणत. एक कडवक में आठ यमक या सोलह पक्तियों का प्रयोग किया जाता रहा है। परन्तु

१. देखिए, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ. ४१६

कई काव्यों मे अठारह, बीस, बाईस, चौबीस, तीस, बत्तीस और छत्तीस तक पक्तिया तथा छन्द एक कडवक मे लक्षित होते है। कडवक द्विपदी या दुवई अथवा दोहा के आकार के किसी छन्द से जुडे रहते है। कही कही कडवक के आदि मे और कही-कही अन्त-आदि दोनो मे दोहा के आकार का कोई न कोई छन्द सयुक्त रहता है। अधिकतर यह अन्त मे जुडा देखा जाता है। प्रबन्ध-रचना की यह शैली अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो के समान रूप से मिलती है। वस्तु, घटना, कथानक-रूढि तथा चरित्र-चित्रण मे ही नही प्रबन्ध रचना भी सूफी काव्य अपभ्रंश काव्यो की परम्परा से प्रभावित जान पडते है। स्पष्ट रूप से हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की रचना चौपाई-दोहा शैली मे हुई है जो अपभ्रंश काव्यो की देन है। यह अवश्य है कि अपभ्रंश काव्यो की रचना सन्धि, परिच्छेद, विक्रम या भास आदि मे की गई है और सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यो की रचना शीर्षकबद्ध है। परन्तु प्राकृत का 'गउडवह', कुवलयमालाकहा और अपभ्रंश मे हरिभद्रसूरि रचित 'णेमिणाहचरिउ' सर्गहीन रचनाए है। सभव है कि इस प्रकार की रचनाए और भी लिखी गई हो पर काल-प्रवाह में न बच पाई हो। इस सबध मे श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा निष्कर्ष रूप मे अभिव्यक्त विचार ही उचित जान पडता है—"जिस समय हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानो की रचना आरम्भ हुई उस समय तक उनके रचयिताओं के लिये ऐसी अनेक बाते प्रस्तुत की जा चुकी थी जिनका वे किसी न किसी रूप मे बडी सरलता से उपयोग कर सकते थे। क्या कथा-वस्तु, क्या काव्य-रूप, क्या रचनाशैली, और कथा-रूढ़ियो जैसी सामग्री, इनमे से कदाचित् किसी के लिये भी उन्हे न तो कोई सर्वथा नवीन मार्ग निर्मित करने की आवश्यकता थी और न अधिक प्रयास करने की[1]"। और यह सर्वमान्य सत्य है कि सूफी प्रेमाख्यानों मे प्रयुक्त अधिकतर कथाये भारतीय है, भारतीय लोक-जीवन की है। उदाहरण के लिये—अपभ्रंश की 'विलासवतीकथा' और दुखहरनदासकृत 'पुहुपावती' मे अद्‌भुत साम्य है। इस प्रकार पद्‌मावती तथा मृगावती की कथाये भी जैन कथाओ से बहुत कुछ मिलती जुलती है[2]। परम्परागत प्रचलित भारतीय लोककथाओ को ग्रहण कर सूफी कवियों ने प्रेम अभिव्यजना तथा अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कही उनमे परिवर्तन भी किया और अन्तर्कथाओ को छोड कर जन मानस मे अपने आदर्शो की प्रतिष्ठा करने का भी प्रयत्न किया। वस्तुत: वे इस रीति को छोडकर भारतीय जनता के बीच लोकप्रिय नही बन सकते थे। इसलिये कथा, चरित्र, शैली, भाषा और अभिव्यक्ति के अन्य उपादानो को भी उन्होने ग्रहण कर आदर्शो का प्रचार किया। अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यो से ये केवल एक बात मे ही भिन्न लक्षित होते है और वह है—चलते हुये कथानक मे अलौकिक प्रेम की व्यजना। परन्तु यह विशेषता जायसी के पद्‌मावत मे ही मिलती है। अपभ्रंश की अभी तक कोई रचना नही मिल सकी है।

अपभ्रंश मे प्राकृत की भाति धार्मिक वातावरण मे ही लोक-जीवन की उन्मुक्त दशाओ मे भी स्वतन्त्र भाव-भूमि पर लोक गाथाओ को प्रेम एव रसमयी वाणी प्रदान की गई है उनमे लोक-चेतना का सहज प्रवाह लक्षित होता है। तथा सामन्तकालीन आभिजात्य वर्ग के सामाजिक रूप का स्पष्ट दर्शन होता है। अपभ्रंश मे कथा काव्यो मे प्रयुक्त अधिकतर कथाए प्रेमगाथाए है जो किन्ही विभिन्न उद्देश्यो मे कई उप-कथाओ के साथ जुडी हुई है और उद्देश्य प्रधान होने के कारण कई स्थलो पर धार्मिक वातावरण मे अभिव्यक्त की गई है। चरितकाव्यों की कथाओ मे मोह तथा परिवर्तन कम है, क्योकि उनमे आरम्भ मे ही नायक को असाधारण एव अतिलौकिक रूप चित्रित किया जाता है। देव लोग उनका स्नान-अभिषेक करते है, तरह-तरह के साधन जुटाते है और उनके अतिशय रूप तथा स्वरूप से पहले से ही प्रभावित एव आकर्षित रहते है। किन्तु कथाकाव्य मे दुख-सुख के झूलो में झूलते हुए, सघर्ष-विपयो से टकराते हुए, आशा-निराशा मे डूबते-उतरते हुए नायक अपने जीवन का स्वय निर्माण करते है और साधारण से साधारण पुरुष की

१. "लोकगाथा और सूफी प्राख्यान" शीर्षक लेख, "हिन्दुस्तानी", भाग २३ अक २, पृ० ३८।

२. देखिये, कुतुबन कृत मृगावती—डा० शिव गोपाल मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

भांति दुःख तथा वेदनाओ को झेलते है।

यद्यपि चरितकाव्यो मे भी नायक के साहस तथा शूर-वीरता के कार्य-व्यापारो का वर्णन रहता है पर वह अति-लौकिक शक्तियों से प्रेरित तथा समन्वित होता है। इसलिए उसमें सहज ही दैवी भाव लक्षित होता है। पुराणों की भांति चरितकाव्यों मे प्रायः एक से अधिक कथाए एक साथ वर्णित देखी जाती है। कथा में से कथा फूट कर जन्म-जन्मान्तरों की घटनाओं तथा इतिवृत्तों से इस प्रकार सयुक्त हो जाती है मानो कथा की ही मुख्य अंग हों। चरितकाव्यों की अपेक्षा कथाकाव्यों मे इस प्रकार की चिप्पियां कम लगी मिलती है और कम से कम पूर्वार्द्ध कथाओं तथा घटनाओ मे ऐसा व्यवस्थित क्रम मिलता है कि क्रियान्वित का निर्वाह नही देखा जाता है। चरितो के माध्यम से अपभ्रंश कवियो ने किसी-किसी चरितकाव्य मे धार्मिक उद्देश्य भी प्रकट किया है। महाकवि पुष्पदन्त ने 'जसहरचरिउ' की रचना "अहिंसा परम धर्म है" इस मान्यता को प्रभावशाली ढग से प्रकट करने के लिये की है, और इस उद्देश्य के साथ ही ग्रन्थ की भी समाप्ति हो जाती है। हिन्दी के प्रेमाख्यानो मे भी यही प्रवृत्ति मिलती है।

अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों मे जिस सामन्त-कालीन वातावरण का चित्रण मिलता है वही आगे चलकर कुतुबन कृत 'मृगावती' तथा अन्य सूफी एव प्रेमाख्यानक काव्यों मे दिखाई पडता है राजकुमार का बहुपत्नीत्व, समुद्र-यात्रा, आदर्श प्रेम, रोमान्च तथा धन-यौवन आदि वैभव एवं समृद्धि से उल्लसित जीवन इसी तथ्य की ओर संकेत करते है।

इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य मे विकसनशील पौराणिक तथा लोकाख्यानो से एक नवीन काव्यधारा का प्रचलन हुआ, जो आगे चलकर सूफी प्रेमाख्यानक तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानकों मे पल्लवित तथा पुष्पित हुई। वस्तुतः अपभ्रंश-कथाकाव्य की यह धारा चिरप्रचलित प्राकृत लोकाख्यानो की परम्परा मे विकसित हुई है, जो मूलतः नायको के चरित तथा धार्मिक प्रभाव को प्रकाशित एवं प्रसारित करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि अपभ्रंश के प्रत्येक कथा तथा चरितकाव्य में किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है। भारतीय मान्य सिद्धान्तों की भांति इनका मूल स्वर आदर्श का है, यथार्थ का नही। यद्यपि व्यक्तिवादी आदर्शो तथा मान्यता की अवहेलना नही की गई है और कही-कही उनका प्रभाव भी दर्शाया गया है किन्तु सन्त धार्मिक वातावरण तथा आदर्श सिद्धान्तो के पालन और पूर्णता के साथ हुआ है। स्पष्ट ही अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों का प्रारम्भ और अन्त शान्त रस में पर्यवसित हुआ है। इसलिये इन काव्यो के अध्ययन से कभी-कभी यह प्रतीत होने लगता है कि जीवन के मूल्यों की अपेक्षा की गई है परन्तु दूसरे ही क्षण शान्त और वैराग्य की झलक बहिर्मुखी लोक से अन्तर्लोक की ओर आकर्षित किये बिना नही रहती है। यही इसकी सामान्य विशेषता है।

भविसयत्तकहा की रचना-तिथि

यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि दसवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक जो अपभ्रंश-साहित्य लिखा गया उसमे कही भी- धनपाल का उल्लेख किसी भी कवि ने नही किया। इसका एक कारण यह कहा जा सकता है कि कवि की प्रसिद्धी लोक मे अधिक समय तक नहीं रही। इसलिए अपभ्रंश के परवर्ती कवियो ने जिन पूर्व कवियो का उल्लेख किया है उनमे किसी भी धनपाल का नाम नही मिलता। अपभ्रंश मे धनपाल नामक दो कवियों का विवरण प्राप्त होता है। इनमे से "भविसयत्तकहा" के लेखक धनपाल चौदहवी शताब्दी के लगभग हुए थे। और दूसरे धनपाल "बाहुबलि चरित" के रचयिता है, जो पन्द्रहवी शताब्दी के कवि थे। ये गुजरात के पुरवाड वश के तिलक स्वरूप थे। इन दोनो हीं कवियों का विशेष विवरण प्राप्त नही होता। "भवि-सयत्तकहा" मे अवश्य स्वयं कवि ने उल्लेख किया है कि उसे सरस्वती से वर मिला था। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कवि असाधारण व्यक्तित्व से सम्पन्न था काव्य-रचना से इस संबध मे विशेष पुष्टि नहीं होती। परन्तु यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश कथाकाव्यों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। रचना-परिभाग की दृष्टि से कथाकाव्य की विधा में अभी तक

इतनी बृहत् रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। यद्यपि बहिरङ्ग रूप मे कोई ऐसा ठोस प्रमाण नहीं मिलता, जिसके आधार पर काव्य की रचना-तिथि का निर्णय किया जा सके, किन्तु अन्तरङ्ग प्रमाण के आधार पर यह कथाकाव्य महाकवि धनपाल के शब्दों में "पौष शुक्ल द्वादशी, सोमवार, सवत् १३९३ (१३३६ ई०) मे लिखा गया था१।" उन दिनों दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर मुहम्मदशाह आरूढ था। कवि ने स्वय उसका उल्लेख किया है। इतिहास मे मुहम्मद नाम के कई बादशाह हुए। इसलिए मुहम्मदशाह से यहां पर—इतिहास प्रसिद्ध मुहम्मद बिन तुगलक अभिप्रेत है। मुहम्मद तुगलक के अन्य नामों में मुहम्मदशाह भी मिलता है२। मुहम्मदशाह का राज्य काल सन् १३२५—१३५१ माना जाता है। कवि-लिखित-प्रशस्ति के अनुसार १३३५ ई० के लगभग दिल्ली में बगावत विद्रोह हुआ था। सन् १३३५ ई० मे सुल्तान मुहम्मदशाह जब मदुरा के लिए कूच करता है। तब वारंगल मे ही लौट आता है। जब सुल्तान दिल्ली वापिस लौट कर आता है तब देखता है कि चारों ओर अकाल पड रहा है। सहस्रों मनुष्य और पशु मर गये। इसलिए वह अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर—गगा के पास शमशाबाद मे ले गया३। प्रशस्ति में भी कवि ने इस अकाल का सकेत किया है। प्रतीत होता है कि उस समय दिल्ली में भयंकर अकाल पड़ा था, जिसमें हिमपाल जैसे साहूकार भी—दरिद्र हो गये थे और बहुत से लोग अपने प्राण-धन की रक्षा करते हुए बहुत दूर-दूर प्रदेशों मे जा कर बस गये थे। प्रशस्ति मे कहा गया है कि—लोग अपने-अपने स्थानों को छोड कर—'महादुग्गदूरम्मि देसेहिं पत्ता' अर्थात् अत्यन्त दुर्गम दूर देशों में पहुँच गये थे। उस समय मुहम्मद शाह का शासन दिल्ली राज्य पर था। कहा गया है कि उसका राज्य दक्षिण भारत तक बहुत दूर-दूर तक फैला था४। इतिहास के उल्लेखों से पता लगता है कि वह एक सफल शासक था। उसने दक्षिण भारत तक के कई बलवों को दबाया था। जिस समय प्रचण्ड मुहम्मदशाह दिल्ली में राज्य कर रहा था, उसी समय दिल्ली से साठ कोस दूर पश्चिम मे अत्यन्त रम्य 'आसीपवण्णु' नगर मे रत्नपाल नाम का अग्रवाल कुल मे उत्पन्न जैन श्रावक रहता था। उसका पुत्र मदनसिंह अत्यन्त परोपकारी था। उसके चार पुत्र उत्पन्न हुए ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'दुल्लह' था। उसके तीन सुपुत्र उत्पन्न हुए। पहले का नाम हिमपाल, दूसरे का देवपाल और तीसरे का लुद्दपाल था। हिमपाल दिल्ली मे रहता था। वह अत्यन्त धन-सपन्न था। उसके पुत्र का नाम वाधू था। अकाल पडने पर वाधू जफराबाद चला गया। जफराबाद जौनपुर के पास, जौनपुर मे चौदह मील दूर है। वहीं पर कवि धनपाल ने वाधू के हेतु इस काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया५। इससे यह भी स्पष्ट है कि कवि धनपाल जफराबाद मे रहते थे। इस प्रकार ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित है कि कवि धनपाल मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में तथा राज्य मे रहते थे और उन्होंने राजनैतिक स्थिति के सम्बध मे जो कुछ लिखा है वह अक्षरश सत्य है।

---

१. सुमवच्छरे अक्किरा विक्कमेणं,
अहीएहिं तेणवदि तेरहसएण।
वरिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे,
तिहीं बारसी सोमि रोहिणिहि रिक्खे॥

२. दिल्ली सल्तनत, प्रकाशित भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम सस्करण, पृ० ६१।

३. वही, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० ७७।

४. मुहम्मद साहो वि राओ पयडो,
लिओ तेण सायर पमाणेहि दडें।
उसक्किट्ठ णिट्ठलिवि मलिओवि माणो,
किओ रज्जु इकच्छत्ति इहे उवयतमाणो।
—अन्त्य प्रशस्ति, भविसयत्तकहा।

५. पयट्टे वि दूसम्मि काले रउद्दे,
पहुत्तो सुवद्धम दफरायवादे।
इहत्ते परत्ते सुहागारहेउ,
तिणे लिहिये सुअपंचमी णियहं हेउ॥
—अन्तिम प्रशस्ति

जैन आगमों के कुछ विचारणीय शब्द

मुनि श्री नथमल

पम्ह या पम्म—

जैन आगमो मे छह लेश्याए प्ररूपित है। उनमे पाचवी लेश्या पद्म है। पद्म का प्राकृत रूप 'पम्म' या 'पउम' हो सकता है किन्तु श्वेताम्बर साहित्य-आगम कर व आगमेतर ग्रन्थों मे 'पम्ह' रूप मिलता है। पम्ह का सस्कृत रूप पक्ष्म होता है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार क्ष्म को 'म्ह' होता है[१]।

पक्ष्म—पम्ह, पद्म—पम्म या पउम

पम्ह का संस्कृत रूप पद्म नही होता—यह प्रश्न इतने लम्बे समय मे क्यो नही उठा ? पम्ह का प्रयोग किसी एक स्थल में एक बार नही है, किन्तु अनेक बार है। इस स्थिति मे यह मान लेना कि लिपि-दोष के कारण यह रूप परिवर्तित हो गया, सहज नही है। उच्चारणभेद के कारण हुआ हो, यह फिर भी संभव हो सकता है। पम्म और पम्ह के उच्चारण मे बहुत कम भेद है। किन्तु यह उच्चारण भेद सर्वत्र स्थान पा गया, यह भी कठिन कल्पना है। स्थानाग सूत्र मे पम्ह पम्ह कूड, पम्ह गावती पम्ह लेस्सा, पम्हा और पम्हावई—इतने प्रयोग मिलते है। इनमें वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने पम्ह[२] का सस्कृत रूप पक्ष्म और पम्हकूड का सस्कृत रूप पद्मकूट किया है[३]। किन्तु वर्तमान प्राकृत व्याकरणो से इसका समर्थन नही होता। उनके अनुसार पम्हकूड का सस्कृत रूप पक्ष्मकूट भी हो सकता है।

लेश्याओ के नाम वर्ण के आधार पर है—

लेश्या	वर्ण	लेश्या	वर्ण
कृष्ण	काला	तेजस	अग्निकण, लाल
नील	हरा	पद्म	पद्मगर्भ वर्ण, पीला
कापोत	कबूतरिया रग, धूम्र वर्ण	शुक्ल	सफेद

१. हेमचन्द्र।

२. स्थानागवृत्ति, पत्र २८०।

३. स्थानाग वृत्ति, पत्र ६२।

पद्म का अर्थ लाल है। छठे तीर्थकर का नाम पद्मप्रभ है। उनका वर्ण रक्त बतलाया गया है[४]। माणक धातु का नाम पद्मराग है। वह लाल होता। इसीलिए उसे लोहितक और अरुणोपल कहा गया[५]।

पद्म लेश्या का हरिताल, हलदी आदि के समान पीत बताया गया है। इस पर यह संदेह है कि पीत लेश्या के पुद्गलो को पद्म क्यों कहा गया ? इसका समाधान हम निम्न शब्दों में पा जाते हैं। पद्म पीला नही होता किन्तु उसका गर्भ भाग पीला होता है। उसी के आधार पर इस लेश्या का नाम पद्म रखा गया है। अभयदेव सूरि ने इसे पद्म गर्भवर्ण वाली बताया है[६]।

यदि पम्ह का पक्ष्म रूप किया जाय तो भी पीत वर्ण के साथ इसका सम्बन्ध हो सकता हैं। पक्ष्म का एक अर्थ केसर (किंजल्क-पुष्परेणु) है। पुष्परेणु के समान पीत वर्ण वाली लेश्या को पक्ष्म-लेश्या कहा जा सकता है।

इस चिन्तन के तीन फलित है—

१ पम्म का रूप परिवर्तन होकर पम्ह शब्द प्रचलित हुआ है।

२. पद्म का पम्म रूप आर्ष व्याकरण-सिद्ध हो तो भले हो किन्तु वर्तमान प्राकृत-व्याकरण से यह सिद्ध नही है।

३. पम्ह का सस्कृत रूप पक्ष्म किया जाय तो भी अर्थ मे सगति हो सकती है।

इन तीनो फलितो पर विशेष विमर्श के मै अनुसन्धित्सु वर्ग को सादर आमन्त्रित करता हूं।

भोग या भोज—

रूप-विपर्यय के उदाहरण मिलते है। उनमे एक है

४. अभिधान चिन्तामणि १।४६ रक्तौ च पद्मप्रभ वासुपूज्यौ। ५. वही ४।१३०।

६. स्थानाग वृत्ति २२१ पद्मगर्भवर्णा लेश्या पीत वर्णेत्यर्थ, पद्मलेश्या……।

भोग। वश के प्रकरण मे 'उग्गा भोगा राइण्णा'—ऐसा पाठ मिलता है। भोग शब्द का मूल 'भोज' है। भोजवश महाभारत कालीन प्रसिद्ध वंश है। उत्तराध्ययन१ तथा दशवैकालिक२ मे 'भोग' का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययन के वृत्तिकार श्री शातिसूरि ने 'भोग' का सस्कृत रूप 'भोज' किया है३। औपपातिक (सूत्र १४) मे 'भोग पव्वइया' पाठ है। अभयदेवसूरि ने उसका अर्थ भोग (आदिदेव का गुरु स्थानीय वश) किया है४। यह मूल से दूर है। इस प्रकार एक ही शब्द अनेक आचार्यों द्वारा अनेक अर्थों मे व्याख्यात हुआ है।

ज्ञात या नाग—

'भगवान महावीर ज्ञातपुत्र थे या नागपुत्र ?'— शीर्षक मेरे लेख की ओर सकेत करते हुए प० बेचरदास जी जीवराजजी दोसी ने लिखा है—"कुछ समय पूर्व अनेकान्त नामक जैन पत्र में, एक जैन मुनि ने नायपुत्त का सस्कृत रूपान्तर नागपुत्र करके श्रमण भगवान महावीर को नागवशी प्रमाणित करने का यत्न किया है। यह प्रयत्न जैन और बौद्ध साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से सर्वथा असगत है। जब कि बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थो के मूल मे 'दीघ तपस्सी निग्गठो नातपुत्तो' के रूप मे अनेकश भगवान महावीर के लिए 'नातपुत्त' शब्द का प्रयोग हुआ है और वह साक्षी रूप मे आज भी निर्विवाद रूप मे पाली त्रिपिटक मे उपलब्ध है, तब प्राकृत जैनागमो मे प्रयुक्त नातपुत्त का सस्कृत रूप नागपुत्त समझना और भगवान महावीर को इतिहास प्रसिद्ध ज्ञातवश से सबधित न मानकर उनका नागवश से सम्बन्ध जोडना स्पष्ट ही निराधार कल्पना नही तो और क्या है ? आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने भी नायपुत्र का ज्ञातपुत्र ही सस्कृत रूप बताया है। और अनेकत्र उनका ज्ञात-नदन के रूप से उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में अर्थ की निराधार एव भ्रान्त कल्पनाओं के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखों एव मान्यताओं को सहसा कैसे झुठला सकते है।

चाहे फासुय शब्द को लीजिए, चाहे नायपुत्त शब्द को या किसी और शब्द को। प्राचीन प्राकृत विशेष नामो के सस्कृत रूपान्तर की कल्पना करते समय बहुत बड़ी सावधानी की अपेक्षा है। अन्यथा स्वकल्पना प्रेरित मात्र शब्द-साम्य की दृष्टि संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति से, केवल एक और अधिक नई भ्रान्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी परिणाम नही होगा६।"

प० बेचरदास जी नायपुत्त का नागपुत्त रूप करने पर यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने भी नायपुत्त का ज्ञातपुत्र ही संस्कृत रूप बनाया है और अनेकत्र उनका ज्ञात नदन के रूप मे उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति मे अर्थ की निराधार एव भ्रान्त कल्पनाओ के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखों एव मान्यताओं को सहसा कैसे झुठला सकते है ?" किन्तु दूसरी ओर फासुय शब्द का अनेक बहुश्रुत आचार्यों द्वारा 'प्रासुक' रूप किया गया है, उसके स्थान पर पडितजी 'स्पर्शुक' रूप को उपयुक्त बताते है७।

मडाई—मृतादी का अर्थ क्या अभयदेवसूरी ने प्रासुक-भोजी नहीं किया है? किन्तु पडितजी इसका अर्थ याचित-भोजी करना चाहते है और वह उपयुक्त भी लगता है८।

इसी प्रकार नायपुत्त का अर्थ यद्यपि अनेक बहुश्रुत आचार्यो ने ज्ञातपुत्र किया है किन्तु वश-इतिहासके अध्ययन मे यह ज्ञात होता है कि वह सगत नही है। इसका प्रतिपादन मैं अपने पूर्ववर्ती दो निबन्धो में कर चुका हूँ। आचार्य अभयदेवसूरी भी नाय के सस्कृत रूप के बारे में असदिग्ध नहीं थे। उन्होंने औपपातिक (सूत्र १४) मे आये हुए 'णाय' शब्द के दो रूप किए है—ज्ञात या नाग३। अत. णाय का नाग रूप निराधार नही है।

१. उत्तराध्ययन २३।४३।
२ दशवैकालिक २।८
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५।
४. औपपातिक वृत्ति, पृष्ठ ५०।
५. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५।

६ रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, आगम और व्याख्या सहित, पृ. १०१
७ रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ आगम और व्याख्या सहित, पृष्ठ १०१। २. वही।
८. औपपातिक १४ वृत्ति, पृष्ठ ५० : ज्ञाता इक्ष्वाकुवंश-विशेषभूता नागावा—नागवंशप्रसूता.।

श्री गुरुवर्य गोपालदासजी वरैया

पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य

इस शताब्दी मे श्रीमान् गुरु गोपालदास जी बडे अनुभवी गणनीय विशिष्ट विद्वान् हो चुके है। मैं संवत् (विक्रम) १९६४ मे बनारस अध्ययनार्थ गया था उससे २० वर्ष प्रथम काशी मे ब्राह्मणों मे प० बालशास्त्री जी बड़े भारी विद्वान् विद्यमान थे। वे व्याकरण, न्यायसाहित्य परिष्कार, काव्य आदि विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे। षड्दर्शनों के पारदृश्वा थे। मैं जब बनारस पहूँचा था तब स्वर्गीय पं० बालशास्त्री जी के शिष्य श्री शिवकुमार जी शास्त्री, दामोदर जी शास्त्री, सीताराम जी शास्त्री, राममिश्र जी शास्त्री, तात्या जी शास्त्री, गगाधर जी शास्त्री, देवीप्रसाद जी शुक्ल प्रभृति विद्वान् बनारस मे ख्याति प्राप्त थे। ये सब राज्यमान्य महामहोपाध्याय थे। एक से एक प्रखर पण्डित थे। इनका परस्पर शास्त्रार्थ बड़ा रुचिकर होता था।

उसी प्रकार ५०-५५ वर्ष प्रथम पण्डित प्रवर गोपालदास जी हुए थे। उनके शिष्य पण्डित बन्शीधर जी (बेरनीवासी), प० खूबचन्द्र जी उमरावसिह जी, प० मक्खनलाल जी, पं० वशीधर जी, (महरौनी), प० देवकी नन्दन जी और मै ऐसे आठ, दस विद्वान् इस जैन धरा मण्डल को अलकृत कर चुके थे। पण्डितजी की बुद्धि बड़ी पैनी थी। वे यद्यपि चोटी बाँध कर, आखे पानी से भिगो कर, घडी में अलार्म लगा कर, व्याकरण न्याय की पुस्तकों को गुरु सन्मुख खोलकर एकाग्र बैठकर चार, छ वर्ष तक न्याय, व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र नही पढे थे फिर भी प्रतिभा नितान्त तीक्ष्ण थी। क्षयोपशम तीव्र होने से वे व्याकरण, न्याय, साहित्य विषयो मे भी अन्त —प्रवेश कर लेते थे। अगाध गम्भीर पण्डित वरेण्य बल्देवदास जी से आगरे मे पण्डित जी ने कुछ अध्ययन किया तथा अजमेर मे प० मोहनलालजी पहाड़े साहब के साथ गुरु जी का चर्चा पूर्ण सम्पर्क रहा। आगरेमे स्तोक संस्कृत का अध्ययन किया था। लगन के पक्के धनी थे।

गुरुजी जैन सिद्धान्त के तो अगाध तलस्पर्शी अधिकारी पण्डित थे। एक बार त्रिलोकसार पढाते हुए उनसे ऊर्ध्वलोक का पिनष्टि गणित नही लगा। किन्तु दो दिन घोर परिश्रम कर पण्डित जी ने पिनष्टि के रेखागणित को परिपूर्ण हस्तगत कर लिया और तीसरे दिन हम सभी छात्रो को हस्तामलकवत् स्पष्ट समझा दिया। जिस गणित के लिए महाविद्वान आचार्य देशीय पण्डित टोडरमलजी सा० ने भी त्रिलोकसार भाषा टीका मे लिख दिया है कि यह प्रकरण मेरी समझ मे नीका नही आया है। गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पंचाध्यायी के तो पण्डित जी अन्तः प्रवेशी विद्वान् थे ही, जैन न्याय के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। प्रमाण, प्रामाण्य, प्रमाण फल, स्वत प्रामाण्य परत. प्रामाण्य का सच्चा विवेचन करते थे।

निःस्वार्थ सेवी

पण्डित जी समाज से भेट, दक्षिणा नही लेते थे। यद्यपि उनकी आर्थिक स्थिति प्रशस्त नही थी फिर भी जैन बन्धुओं से स्वभावतः उनने एक पैसा नहीं लिया। एक बार बम्बई समाज से मार्ग व्यय जो दिया गया था उसमे दस आने अधिक आ गये थे। वे मनीआर्डर करके बम्बई वापिस भेज दिए गए। पण्डित जी यदि चाहते तो ५०-४० हजार रुपये उनको जैन धनिकों से अनायास मिल सकते थे, किन्तु पण्डित जी ने एक पैसा नही लिया। एक बार एक पण्डित जी को बाहर के दो भाई लिवाने आये। कुछ गृह कलह के कारण पण्डित जी घर मे कपड़े नही ले पाए। जैसा मलिन कुर्ता पहने थे, उसी वेष मे चल दिए, मुझे भी साथ ले गये थे। इटावा पहुँच कर पण्डित जी ने नवीन दो कुर्ता बनवाए और दूकानदार को मूल्य २ ☰) फौरन अपनी जेब से निकाल कर दे दिए। तत्रस्थ जैन बन्धु मेषवत् यो ही देखते रहे, कुछ कहते नही बना निः

स्वार्थ ज्ञानदानी का अक्षुण्ण प्रभाव था। पण्डित जी को जैन धर्म प्रभावना, शास्त्रार्थ करना, स्याद्वाद प्रचार का गाढ अनुराग था। नितान्त घोर परिश्रम करके, परीषहे सह कर उन्हे जैनधर्म की पताका ऊची फहराना अभीष्ट था। इटावा के पण्डित पुत्तलाल जी, चन्द्रसैन जी वैद्य दिग्विजयसिह जी, रूपचन्द्र जी वैद्य आदि उत्साही जैन बन्धुओ ने तत्त्वप्रकाशिनी सभा स्थापित कर रखी थी। उसके द्वारा जोवनेर, अटेर, अजमेर आदि अनेक स्थानो पर शास्त्रार्थ किए गए तथा जैनसिद्धान्त की उत्कट प्रभावना की गई।

आद्य परिचय

जोवनेर (जयपुर स्टेट) के ठाकुर साहब विचार विमर्श के अनुरागी थे। आर्यसमाजी विचार के थे। वैशाख सम्बत् १९६८ मे ठिकानेदार रईस ने तत्त्वप्रकाशिनी सभा (इटावा) को निमन्त्रित किया। मुझे भी ठोस प्रतिभाशाली विद्वान् श्री अर्जुनलाल जी सेठी ने तार देकर आमन्त्रित किया। तदनुसार मैं चावली से जोवनेर पहुँचा। प० गोपालदास जी, सेठी जी, दिग्विजयसिह जी, चन्द्रसैन जी मन्त्री वहा प्रथमत शास्त्रार्थ मे डटे हुए थे। बडा सुशोभन प्रवन्ध था, वातावरण सन्तोषक था। विद्वानो के व्याख्यान हुए। गुरूजीकी सुकीर्ति विद्वत्ता व्याख्यान शैली पाण्डित्यपूर्ण थी। मुझे भी व्याख्यान देने का अवसर दिया गया। मुझसे गुरू जी भारी प्रसन्न हुए। मेरे गले मे बाँहे डालकर गुरुजी ने सामोद आग्रह किया कि अब मै तुमको नहीं छोडूगा, साथ ही मोरेना ले चलूगा।

उनके गाढ स्नेहपूर्ण आन्दोलन को मै नही टाल सका और १५ दिन मे पूज्य भाई जी की आज्ञा लेकर मोरेना पहुँच जाना मैंने स्वीकार कर लिया।

जेठ सुदी ९ वि० सं० १९६८ को मै मोरेना पहुँचा। उस समय गुरुजी गोम्मटसार की देशावधि मार्गणा को पढा रहे थे। पं० खूबचन्द्र जी, प० वंशीधर जी, प० मक्खनलाल जी, पं० उमरावसिह जी, प० देवकीनन्दन जी ये प्रधान विद्यार्थी थे। दूसरे दिन गुरुजी ने मुझे न्यायाध्यापक नियुक्त कर दिया। मैंने मोरेना मे उपर्युक्त छात्रो को प्रमेयरत्नमाला, आप्तपरीक्षा, प्रमेयकमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री, श्लोकवार्त्तिक पर्यन्त न्याय ग्रन्थ पढ़ाए। अन्य भी पचासों छात्र न्याय, सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ते रहे। प० जी जिनवाणी के नितान्त श्रद्धालु थे। कभी कभी श्री १०८ विद्यानन्द आचार्य की कठिन पक्तियो को सुनने के लिए अथवा मेरा अध्यापन परीक्षण करने के लिए पाठनावसर पर बैठ जाते थे।

पण्डित जी की तीक्ष्ण प्रतिभा न्यायशास्त्रो मे अन्त. प्रवेश कर जाती थी, क्षयोपशम तीव्र जो था। जिनवाणी की प्रभावना की उत्कट भावना जो थी। गोम्मटसार आदि के तो वे अन्तर्यामी महारथी विद्वान् थे ही।

तीन चार वर्ष तक मोरेना मे किराए के मकान मे गुरु जी सिद्धान्त ग्रन्थो मे गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पञ्चाध्यायी को पढाते थे। और मैं प० वंशीधर जी, पं० मक्खनलाल जी आदि को अष्टसहस्री, मार्त्तण्ड, श्लोक वार्तिक पढ़ाता था। और गुरुजी से सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन भी वशीधर जी आदि के साथ करता था। बडा आनन्द आता था। दिन रात अध्ययन, अध्यापन, शास्त्रचर्चा मे ही व्यतीत होते थे। पण्डित जी की तीव्र भावना थी कि विद्यालय उन्नति करे और विद्यालय का निज का भवन होय।

पावन तीव्र भावना अवश्य फलवती होती है। पचायत विचारानुसार स्थानीय दिगम्बर पार्श्वनाथ जैनमन्दिर के विशाल अहाते में ही विद्यालय भवन का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इस कार्य मे पण्डितजी को भारी परिश्रम करना पडा। उनके अर्थोपार्जन का कार्य भी शिथिल पड गया। प० जी बड़े साहसी, पराक्रमी थे। प्रारम्भ करके हट जाना उनकी प्रकृति मे नही था। दो तीन वर्ष मे ही सिद्धान्तविद्यालय भवन पूर्ण बन गया और नवीन भवन मे पठनपाठन चालू हो गया।

उस समय मोरेना विद्यालय की कीर्त्ति प्रशस्त थी प्रत्येक विद्यालय के छात्र मोरेना अध्ययन की छाप लगवाते थे। यों सं० १९७० मे मोरेना विद्यालय मे २५ छात्र ४ अध्यापक (प० मक्खनलाल जी, प० वशीधरजी महरौनी। प० जगन्नाथ जी शास्त्री और मैं) नियुक्त थे। फिर विद्यालय का कार्य बढ़ता ही गया। गुरूजी ने सर्वदा से मुझे प्रधानाध्यापक पद पर प्रतिष्ठित किया। कुछ दिन

मै मन्त्री भी रहा। किन्तु प्रबन्ध करने मे राग-द्वेष की अनेक झंझटे होती है। सूरजभान जी वकील देवबन्द की प्रेरणा से एक जैन छात्र मुझे निकालना भी पड़ा जिसका कि मुझे अद्यापि अनुताप है। अतः पठन-पाठन ही मेरी प्रकृति के अनुकूल पड़ा। विद्यालय के अंगभूत छात्राश्रम, सुपरिन्टेन्डेन्ट, रसोइया. भोजनशाला की सुव्यवस्था भी कर दी गई, यो मोरेना विद्यालय का तदानीन्तन अत्यधिक का नाम काम बढ़ गया था। १०० छात्र थे ७ अध्यापक थे।

बम्बई परीक्षालय की वार्षिक परीक्षाएं होती थीं। फल ६० प्रतिशत निकलता था। विद्यालय मे पढ़कर प० वंशीधर जी, पं० मक्खनलाल जी ने अष्टसहस्री मे अच्छे नम्बर प्राप्त किए थे। पुनः अग्रिम वर्ष श्लोकवार्तिक मे भी परीक्षा देकर उत्तीर्णता प्राप्त कर ली। अत्यन्त प्रसन्न होकर गुरुजी ने प० मक्खनलाल जी और वशीधर जी को न्यायालकार पदवी से विभूषित किया था उस दिन विद्यालय मे विशेष अधिवेशन किया गया था। और पण्डितजी ने मुझे अभिनन्दित किया तथा वेतन मे १०) मासिक वृद्धि की। हित बढ़ाया। तथा स्वपुरुषार्थ से जिनवाणी की प्रभावना देखकर अनेक पुत्र जन्मो से भी अधिक आत्मीय हर्ष का अनुभव किया, अपने लगाए हुए वृक्ष के मधुर फलो का आस्वादन कर पण्डित जी ने हर्ष से गद्गद् होकर ये शब्द कहे कि—"आज मुझे परम हर्ष है कि विद्यालय मे उच्चकोटि के न्याय और सिद्धात के अध्येता, अध्यापक विद्यमान है।

बुद्धि वैभव

गुरुजी जैनधर्म प्रभावनार्थ बाहर भी जाते थे तो मुझे भी साथ रखते थे। कई स्थानो पर गर्विष्ठ विद्वान् आ जाते थे जो कि कठिन सस्कृत भाषा मे भाषण करते हुए पूर्व पक्ष उपस्थित कर देते थे। वे दक्षिण महाराष्ट्र सभा के सभापति होकर बेलगाव गये थे। उनके साथ परम प्रभावक मान्य पं० धन्नालाल जी भी थे। प० जी मुझे भी साथ ले गये थे। वहा उनका सभापति भाषण नितान्त गम्भीर हुआ था। दक्षिण के जैन भाइयो की गुरुजी पर तीव्र श्रद्धा थी। हजारो दाक्षिणात्य जैनबन्धु धनिक उनके भक्त हो गये थे। चरणस्पर्श करते थे।

कलकत्ता में बाबू धन्नूलाल जी अटर्नीके निमन्त्रण पर सं. १९७२ में गए थे। तब भी पण्डितजी मुझे साथ ले गए थे। कलकत्ते के सैंकडो उद्भट विद्वान् सभा मे आमन्त्रित थे। पण्डितजी ने बडी विद्वत्ता के साथ जिनागमोक्त द्रव्य, गुण, पर्यायों तथा अनेकान्त का प्रतिपादन किया। प० सतीशचन्द्र जी डी. लिट्, प्रमथनाथ न्यायचक्रवर्ती आदि २०० वैष्णव ब्राह्मण चूड़ामणि विद्वानो ने प० जी को 'न्यायवाचस्पति' पदवी से अलकृत किया।

इसी प्रकार अजमेरमे हजारों जैनाजैन जनता के सन्मुख स्वामी श्रद्धानन्दजी के साथ पण्डितजी का शास्त्रार्थ हुआ। पडितजी की अकाट्य युक्तियो के सन्मुख स्वामी जी की युक्तियां निर्बल रही। उस समय "सरस्वती" पत्र के सम्पादक महावीर प्रसाद जी द्विवेदी आदि प्रौढ विद्वानो ने स्वकीय प्रसिद्ध पत्रिकाओ मे यही टिप्पणी लिखी थी कि जैनो की ओर से विशेष प्रबल युक्तिया दी गई थी। अजमेरमें मेरा भी प० यज्ञदत्तजी न्यायशास्त्री से सस्कृत भाषा मे दो दिन शास्त्रार्थ हुआ था। जैनधर्म की प्रकाण्ड प्रभावना हुई।

पण्डितजीकी समय पर सूझ बड़ी तीक्ष्ण थी। प्रतिष्ठा, मेला, दशलक्षण, शास्त्रसभाओ मे भी तत्त्वो का प्रतिपादन अन्तःप्रविष्ट होकर करते थे। जोवनेर, अटेर, भिण्ड, सोनागिर, दिल्ली आदि मे गम्भीर सुशिक्षित वकील, वैरिष्टर, दार्शनिक आदि विद्वत्समाज मे प० जी का धाराप्रवाही व्याख्यान गम्भीर विद्वत्तापूर्ण होता था। वे जिनागम को दिपावने वाले सूर्य थे।

बम्बई मे माधोबाग मे पडित जी का सार्वजनिक भाषण हुआ। ८ हजार विचारशील जनता उपस्थित थी। ईश्वरदास, अनेकात द्रव्यनिरूपण विषयो पर प० जी २ घण्टे तक बोलते रहे। गुणी सज्जनो ने पण्डितजी को "स्याद्वादवारिधि" पदवी प्रदान कर कृतज्ञता प्रगट की।

पण्डित जी स्वल्प सन्तोषी थे। आशा रहित थे। प्रतिभाशाली महापण्डित थे। प० जी के जीवनकाल मे सिद्धान्त विद्यालय मोरेना का भारी अभ्युदय हुआ। आज कल जो आरातीय विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे है सब प० जी की शिष्य प्रशिष्य परम्परा मे ही अन्तर्निहित है। प० जी ने जैन समाज का बड़ा भारी उपकार किया है। जैन

समाज उनके उपकारों से अनृण नही हो सकता है। उनकी स्नेहपूर्ण कृतियों को हम स्मरण कर उनके चरणो मे श्रद्धाजलि समर्पित करते है।

एक बात प्रकरणान्तर की कहानी है। मुझे पं० दुर्गादास जी, जीवननाथ झा, हरिवश ओझा, सहदेव झा, अम्बादासजी शास्त्री, रामावतार पाण्डेय, आदि वैष्णव विद्वानो से सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा शब्देन्दुशेखर, व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद, काव्यप्रकाश, रसगगाधर, सामान्य निरुक्ति, सिद्धान्तलक्षण, साधारण, सन्प्रति पक्ष आदि वैष्णव ग्रन्थो को पढ़कर जो आनन्द प्राप्त हुआ था। गुरुजी से धर्मशास्त्र के ग्रन्थ पढकर वह सब प्रकाण्ड सुख के सम्यग्ज्ञान रूप से परिणत हुआ। यह सब गुरु जी के प्रसाद से प्राप्त हुआ "तेभ्यो गुरुभ्यो नम." गुरुजी को जैन ग्रन्थो के ही अध्ययन अध्यापन का पक्ष था।

पूज्य प० वर्णी जी महाराज गणेशप्रसाद जी (गणेशकीर्ति मुनिराज) प० महेन्द्रकुमार जी, प० दरबारीलाल जी कोठिया आदि विद्वानो ने भी अवच्छेदकावच्छिन्न फक्किकाओं, परिष्कार आदि पढ़ाने मे भारी श्रम किया है। मैंने भी १५ वर्ष घोर अध्यवसाय कर वैष्णव न्याय, व्याकरण, साहित्य के अध्ययन मे अजमेर, जयपुर, मथुरा, काशी मे समय यापन किया है किन्तु इनमे अमृताब्धि विलोडन कर भी प्रवाल ही प्राप्त हुआ।

हा गोम्मटसार, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक ग्रन्थो मे पर्याप्त अमृतसर्वस्व मुझे प्राप्त हुआ। अत. संस्कृताध्ययन करने वाले छात्रों से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे अलसार ग्रन्थों मे अधिक श्रम नही कर जैन वाङ्मय जैनन्याय काव्य ग्रन्थो मे परिश्रम करे। जिनसे ठाम विद्वत्ता के साथ स्वपर कल्याण करते हुए घोर परिश्रम को सफल कर सके। "तद्धि जानन्ति तद्विद:"

शासक

पण्डितजी महोदय गोपाल सिद्धान्त विद्यालय के तो सर्वागीण शासनकर्त्ता थे ही। स्थानीय म्युनिसिपैल्टी के भी कमिश्नर थे तथा स्थानीय पचायती बोर्ड के भी मजिस्ट्रेट रह चुके थे। वे सत्य और न्याय अनुसार निर्णय देते थे। एक दो बार पेशकार ने कुछ लञ्चा ले ली थी। प० जी उस पर अत्यधिक कुपित हुए पुन: उसको पृथक् कर दिया। प० जी का राज्य में विशेष आदर प्रभाव था। ग्वालियर के महाराज साहब ने पण्डित जी को दरबारी पोशाक देकर सत्कृत किया था। राज्य के तदानीन्तर पमारसाब तो गुरुजी के मित्र थे तथा शिक्षा मन्त्री एच. एम बुल (अग्रेज) पण्डितजी को मान्य करते थे। यो राज्य, राष्ट्र प्रजाजनो मे पण्डितजी का पुष्कल आदर सम्मान था।

स्थानीय रईस ला० रामजीवनजी (सभापति), लाला मिट्ठनलालजी (व्यापारी), ला वशीधरजी चौधरी, सेठ गिरवरजी, छीतरमलजी जैन, सभी प्रतिष्ठित नागरिक सज्जन पं. जी को उच्चासन देते थे। 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते"

प. जी ने सम्मेदशिखरजी, जैनबद्री, सोनागिरिजी, मुक्तागिरिजी आदि अनेक तीर्थों की भावभक्ति पूर्ण वन्दनाए की थी। धर्म अर्थ, काम का परस्पराविरोध से सेवन करते थे। न्यायपूर्वक आजीविका करते थे। अल्प आरम्भ परिग्रह उनको रुचिकर था। संवेदी निर्वेदी थे।

पण्डितजी के एक कौशल्या लड़की थी। भाई माणिकचन्द्र एक लडका था। दो पौत्र थे। पण्डितानी, पुत्रवधू, पौत्र, नातिनी २ यो छोटा सा ही परिवार था। मोरेना मे आढ़त की दुकान की। साधारण वस्त्र भूषावेष था।

पण्डित जी का पठन-पाठन चर्चावार्ता, शङ्का समाधान व्याख्यान, लेख लिखना, यही रात्रि दिवसीयचर्या थी। सात्विक वृत्ति के जैन पत्रो के सम्पादक भी रह चुके थे। उस समय पंडितजी के लेखो का भारी प्रभाव था। निर्भीक होकर आगमोक्त तत्त्वो का प्रतिपादन करते थे। वे किसी धनिक के प्रभाव या चाटुकारिता के प्रसङ्ग मे नही पडे।

न्याय पक्ष अनुसार वे धनिको को भी भर्त्सित कर देते थे। अन्तरङ्ग मे दयालुता, धार्मिक स्नेह, समुद्र तरगित रहता था। पण्डितजी जैन समाज के आधार स्तम्भ थे। ऐसे नि स्वार्थ उपकारी, धुरन्धर विद्वान् भी काल कवलित हो गए। "यमस्य करुणा नास्ति कर्त्तव्यो धर्म सचय:।"

(जैन सन्देश से साभार)

कविवर पं० श्रीपाल-व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी-एच. डी.

१५वी शताब्दी मे भट्टारक सकलकीर्ति के आकर्षक एवं सेवाभावी व्यक्तित्वसे बागड (राजस्थान) एव गुजरात प्रदेश के साधु एव श्रावक दोनो ही वर्गों मे साहित्यके प्रति अद्भुत प्रेम उत्पन्न हो गया था । सकलकीर्ति स्वय ने तो एक विशाल साहित्य की रचना की ही थी किन्तु अपने शिष्य प्रशिष्यो मे भी साहित्य सेवा के भावो को कूट-कूट कर भर दिया था। यही कारण है कि उनके पीछे होने वाले प्राय· सभी भट्टारको एव उनके शिष्योंने खूब साहित्य रचना की। इनमे ब्रह्म जिनदास, भ० ज्ञानभूषण, भ. शुभचन्द्र, भ. रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। साधुवर्ग से प्रभावित श्रावकोंने भी साहित्य सेवा के इस अनुष्ठान मे पूरा योग दिया और कितनी ही महत्त्वपूर्ण रचनाए लिखकर समाज को एक नया मार्ग दर्शन दिया। प्रस्तुत लेख मे ऐसे ही एक श्रावक कवि का परिचय दिया जा रहा है—

कविवर श्रीपाल १८वी शताब्दी के विद्वान् थे। गुजरात व सूरत नगर इनका जन्म स्थान था जो सभवत हेमतर के नाम से भी विख्यात था। इसी नगर में रहते थे कवि के पूर्वज पितामह बणायग एव पिता जीवराज जो सिंहपुरा जातिके श्रावक थे। श्रीपाल अपने पिता के लाडले पुत्र थे इसलिए लालन-पालन की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया था। प्रारम्भ से ही अध्ययन की ओर विशेष रुचि होने के कारण ये साधुओ की सगति मे अधिक रहने लगे। पहले उन्होंने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, गुजराती एव राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया एव उनके प्रवचनो का लाभ उठाया।

श्रीपाल का किस आयु मे विवाह हुआ यह तो उनकी रचनाओ एव प्रशस्तियो से ज्ञात नही हो सका है। किन्तु एक प्रशस्ति के अनुसार उनकी स्त्रीका नाम महत्तलदे था। इसी प्रशस्ति मे उनके ६ पुत्रो एव तीन पुत्रियो के नाम भी गिनाये गये है पुत्रों के नाम थे प० अरवई, अमरसी, अबाईदास, अनन्तदास, वल्लभदास एवं विमलदास। पुत्रियां थी अमरबाई, भगनीबाई एव वेलबाई। इस प्रकार प० श्रीपाल बहु कुटुम्ब वाले विद्वान थे।

कवि ने अपने पदों एव गीतों मे भ. अभयचन्द्र, भ. शुभचन्द्र एव भ. रत्नचन्द्र के गुण गाये हैं इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने जीवन में उक्त तीनों भट्टारकोका समय देखा था। इन भट्टारकों के सम्बन्ध मे गीत लिखकर कवि ने एक अच्छी परम्परा को जन्म दिया। इनके पदों एव गीतो मे ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है और कितनी ही नवीन जानकारी उपलब्ध होती है। कार्य की कृतियो को हम निम्न भागो मे विभक्त कर सकते है—

१ ऐतिहासिक गीत, २. तीर्थवन्दना गीत, ३. स्तुति परक पद, ४ एव श्रावकाचार प्रबन्ध।

ऐतिहासिक गीत—

कविवर श्रीपाल ने कितने ही ऐतिहासिक पद लिखे है। ये पद तत्कालीन भट्टारको, श्रावकों एवं संघ पतियो की प्रशसा मे लिखे गये है। इन गीतों के अध्ययन से भट्टारकोंके व्यक्तित्व एव लोकप्रियता पर अच्छा प्रभाव पडता है। जैन कवियो ने इस प्रकार के किसी साधु एव श्रावक के व्यक्तित्व पर बहुत कम साहित्य लिखा है केवल भ. रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र के आम्नाय में होने वाले साधुओ एव श्रावक विद्वानों ने विशेष रूप से लिखे है। लेखक को ऐसे १०० से भी अधिक गीत एवं पद प्राप्त हो चुके है। श्रीपाल द्वारा भ. अभयचन्द्र के प्रति लिखे हुए दो पदों को पढ़िये—

राग धन्नासी

चन्द्रवदनी मृगलोचनी नारि।
अभयचन्द्र गछ नायक वंदो सकल संघ जयवारि ॥१॥
मदन महामद मोडेरा मुनिवर, गोयमसम गुणधारी।
क्षमावंतवि गंभीर विचक्षण, गुरुयो गुण भंडारी ॥२॥
निखिल कलानिधि बिमल विद्यानिधि विकटवादी हठ हारो।

रम्य रूप रंजित नर नायक, सज्जन जन सुखकारी ।।३।।
सरसती गछ शृंगार शिरोमणि, मूलसंघ मनोहारी ।
कुमुदचन्द्र पद कमल दिवाकर, श्रीपाल तुम बलिहारी ।।४

[२]

आज आनंद मन अति घणो रा, कांई वरतयो जय जयकार।
अभयचन्द्र मुनि आवया रा, कांई सूरत नयर मझार रे ।।१
घरे घरे उछव अति घणाए, कांई माननी मगल गायरे ।
अग पूजा ने उवराणा रा, कांई कुंकुम पगदे बडाय रे ।।२
श्लोक वखाणो गोर सोभता रे, वाणी मीठी अपार सार रे ।
धर्मकथा ये माणीने मतिबोधे रा,
कोई कुमतिनो करे परिहार रे ।।३
सवत सतर छलोतरे, कांई हरजी मेमजी नो दूंगी भास रे ।
रामजी ने श्रीपाल हरषी पाए,
कांई बेलजी कुंअरजी मोहनकामदे ।।४
गोतम समगोर सोभतारा, कांई बूधे जपो अभयकुमार रे ।
सकल कला गुण मडणोरा, कांई देवजो कहे उदयो उदार रे ।।

उक्त दोनो पदों मे भ अभयचन्द्र के विषय मे कितने तथ्यो का पता लगता है कि वे भ. कुमुदचन्द्र के शिष्य थे तथा आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे । सवत् १७०६ में वे जब एक बार सूरत नगर पधारे थे तो समाज ने उनका हार्दिक स्वागत किया था । सूरत नगर मे उस समय हरि जी, मेमजी, वेलजी, कुवर मोहनदास समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । स्वय कवि भी इस स्वागत समारोह मे सम्मिलित हुआ था ।

भ. शुभचन्द्र अपने समयके अच्छे विद्वान् थे : भ. सकलकीर्ति की परम्परा मे होने वाले भ. विजयकीर्ति के शिष्य भ. शुभचन्द्र से ये भिन्न है। प्रस्तुत शुभचन्द्र भ. अभयचन्द्र के शिष्य थे । कवि इनकी विद्वता एव सिद्धान्त ज्ञान पर विशेष रूप से मुग्ध था । इनकी प्रशसा मे भी कवि ने ५ गीत लिखे है । एक गीत मे संवत् १७२१ मे इनका भट्टारक पद पर अभिषेक होने का वर्णन भी दिया है—

संवत् सतर एक्कीस रे, जेठ वदी पडवे चग ।
जय जयकार करे नरनारी, ढाले कलश उत्तंग रे ।।१६।।
धर्मभूषण सूरी मंत्रज आप्पा, थाप्या की शुभचन्द्र ।
अभयचन्द्र ने पारि विराजि, सेवे सज्जन वृन्द रे ।।२०।।

शुभचन्द्र के सम्बन्ध मे ही एक और पद देखिये—

आवो सखी सहु संगे सुन्दरी मिली ।
वांदिये श्री शुभचन्द्र मननी रली ।।१।।
पच महाव्रत पंच सुमति धारी ।
त्रण्य गुपति गुरु अरेवि चारी ।।२।।
सहस अष्टादस शील गुण सागर ।
पुण्य प्रतापे ए प्रगटयो प्रभाकर ।।३।।
मूलसंघ मडण मुनिवर महन्त ।
सरसति गछ माहि गोर सोहंत ।।४।।
अभयचंद ने पारि आनंदकारी ।
जतिवर जगमांहि जपो जे कारी ।।५।।
परमत वादीगज केसरी कहोर ।
सकल सिद्धान्त ग्रंथ उदधि-महीए ।।६।।
मनमथ रूपे बुद्धे अभयकुमार ।
शील सुदसण नित समे श्रीपाल ।।७।।

शुभचन्द्र के पश्चात् भ. रामचन्द्र भट्टारक गादी पर बैठे । कवि ने इनका समारोह देखा था । वे इनसे भी अत्यधिक प्रभावित थे । एक गीत मे कवि ने उनके उत्तम चरित्र की निम्न प्रकार प्रशसा की है—

आवो रे सखी चद्रवदन गुणमाल ।
सूरिवर रत्नचन्द्र को वधाओ मोतीपडे भरे थाल ।।१
शील आभूषण अंग सोहे सयम त्रिदश प्रकार ।
अष्टाविंशति मूलमुकोत्तम धर्म सदा दश धार ।।२।।
परिसा सहे निज अंगे रगे, करे परिग्रह त्याग ।
श्रीपाल कहे यह पंचम काले, प्रगट करे शिव भाग ।।३

भट्टारकों के अतिरिक्त सघपति वाघ जी एव सघपति हरिजी गीत भी लिखे है एव भट्टारकों के गीतों मे प्रमुख श्रावकों के नामो का उल्लेख किया है ।

(२) तीर्थ वन्दना गीत—

कवि ने एक बार सपरिवार मागीतुंगी की यात्रा की थी जिसका सक्षिप्त वर्णन एक गीत मे किया है । इस सघ का नेतृत्व भ. रत्नचन्द्रने किया था सघ सूरतनगरसे रवाना हुआ था तथा बारडोली, बोडोड आदि होता हुआ मांगी तुगी पहुँचा था । वहा उसने कितने प्रकार के उत्सव भी किये थे ।

मागी तुंगी पूजी चालिए रे, दीन चौथे गुणवान ।
गीत गाये वर कामिणी रे, जय जय बोले वाण ।

जय जय बोले वाण बदे सहु लोक, अपनो फरो थाप्यो फोक।
अणी परे उछव करे सहु कोय, पीपल नार आध्य सुख होय।।

(३) स्तुति परक पद—

श्रीपाल कवि ने कुछ पद भी लिखे है जो स्तुति परक है तथा वर्णनात्मक हैं। पद बड़े हैं और विभिन्न राग-रागनियों मे लिखे गये है इनमे नेमिनाथ गीत, आदीस्वरनु गीत, बलभद्र की वीनती, विरहमान विनती आदि के नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। ये गीत एव भाव, भाषा एव शैली की दृष्टि से विशेष उच्चस्तर के नही है।

श्रावकाचार प्रबन्ध—

यह कवि की सबसे बड़ी एवं मौलिक कृति है। इस कृति मे इसका दूसरा नाम उपासकाध्ययन भी दिया हुआ है। ग्रन्थ की एक प्रति भट्टारकीय शास्त्र भण्डार डूंगरपुर में सग्रहीत है। इसमे ६ अध्याय है। प्रथम अध्याय मे सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व का वर्णन है। दूसरे अध्याय मे सात तत्त्व, नव पदार्थ एव गुणस्थान चर्चा है। तीसरे मे सम्यग्दर्शन के आठ अगों का, सप्तव्यसनो तथा शिक्षाव्रत एवं गुणव्रतों का वर्णन किया गया है। चौथे अध्याय मे प्रतिमाओ का वर्णन चलता है जो अन्तिम अध्याय (छठा) तक चलता है। बीच बीच मे कथाए भी दी हुई हैं।

प्रबन्ध मे चौपाई, दूहा, रागदेशारव, दूहाराग भैरव, दूहाराग, आसाउरी, चाल बारामासनी, ढाल मुक्तावली, राग मारू, केदारो, गौडी, मल्हार आदि रागो का प्रयोग किया गया है। इसकी रचना हूंबड वश मे उत्पन्न होने वाले सघपति राम के आग्रह वश की गई थी। इसका रचनाकाल नही दिया गया है लेकिन एक प्रशस्ति मे भट्टारक शुभचन्द्र का उल्लेख किया गया है इसमे यह स्पष्ट है कि यह संवत् १७२१ के पश्चात् लिखी गई थी। कृति के प्रारम्भ मे लिखी हुई एक प्रशस्ति पढिए—

सरस्वती गच्छ सिरोमणी, कांइ बलात्कार गणधार रे।
अभयचन्द्र सूरी सरह हवा, कांइ विद्या गुण दातार रे।
तस पद पंकज वासि कसं, कांइ श्री सुभचन्द्र मुनीन्द्र रे।
गच्छ नायक गणे आगलो, कांइ सेवित सज्जन वृन्द रे।
एह गुरना पद अनुसरी, कह्यो पंच मिथ्यात विचार रे।
सांभले समकति उपजे, होय निर्मल भवपार रे।
हूबंड वंश बडी साखा रा, जीवा कुल भृंगार रे।
संघपति राम तिने उपदेसे, कहे सु श्रावकाचार रे।
सहेट वंस सिरोमणि, सोहे जीवराज सुत सार रे।
श्रीपाल विबुध वंदए वाणी, सांभलता जयकार रे।।

समय—

कवि ने अपने समय के बारे मे बहुत कम उल्लेख किया है। केवल ५ गीतों एव प्रशस्तियों मे विभिन्न घटनाओं के समय का संकेत किया है। इनमें सर्व प्रथम सं० १७०६ की घटना है जब भ. अभयचन्द्र सूरत नगर में पधारे थे और समाज ने उनका पूरे उत्साह से स्वागत किया था। संवत् १७२१ मे भ. शुभचन्द्र का एव सवत् १७३४ में भ. रत्नचन्द्र के महाभिषेक का भी संक्षिप्त आखों देखा हाल दिया है। सवत् १७४८ की जो एक प्रशस्ति उपलब्ध हुई है उसमे भ. रत्नचन्द्र के साथ साथ अपने परिवार के भी पूरे नाम दिये है और अपने पुत्र एव पुत्रियों की सख्या एव उसके नाम भी दिये है इस प्रशस्ति से पता चलता है कि संवत् १७४८ में कवि अपने पूरे परिवार के साथ थे। उक्त कुछ लेखों से अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रीपाल ने १७वी शताब्दी के अन्तिम भाग मे जन्म लिया था और स. १७५० के करीब वे जीवित रहे थे। इस प्रकार कवि १७–१८वी सदी के एक अच्छे विद्वान् थे।

अब तक कवि की निम्न रचनाए उपलब्ध हो चुकी है। ये सभी हिन्दी मे है और उनकी प्रतिया डूगरपुर एव रिषभदेव के शास्त्र भण्डारों मे सग्रहीत है। इन कृतियो के नाम निम्न प्रकार है—

१. श्रावकाचार प्रबन्ध, २ शातिनाथना भवांतरनुगीत, ३. पद, ४. बलिभद्र स्वामिना गीत, ५. अभयचन्द्र भट्टारक स्वागत, ६. रत्नचन्द्र स्तवन, ७. गीत (श्री शुभचन्द्र कुल वश दिवाकर), ८ रत्नचन्दना गीत, ९. सघपति वाघजी गीत, १०. संघपति हीर जी गीत, ११. श्रीपाल प्रशस्ति, १२-१४. मुनि शुभचन्द्र गीत, १५. शुभचन्द्र हमची, १६-१९. पद, २०. गुरुगीत (अभयचन्द्र स्तवन), २१. गुर्वावलि, २२. बलभद्रनी वीनती, २३. नेमिनाथ की वीनती, २४. विरहमान वीनती, २५. आदिनाथकी धमाल, २६. भरतेश्वरनु नवविधाननु गीत, २७. नेमिनाथ गीत, २८. आदीश्वरनु गीत, २९. गीत।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और गो. वरैया जन्म शताब्दी समारोह

देहली में दि० ११ से १६ मई तक पचकल्याणक प्रतिष्ठा श्री लाला राजकृष्ण जी जैन की ओर से सम्पन्न हो रही है। इसी समय के लगभग दि १७-१८ मे यहा श्री प० गोपालदास जी वरैया जन्मशताब्दी समारोह बड़े पैमाने पर होने जा रहा है। उसमे दिल्ली के प्रतिष्ठित महानुभावो के अतिरिक्त भारत सरकार के अनेक मत्री गण और उच्चकोटि के विद्वानो के सम्मिलित होने की आशा है। उसी समय 'वरैया स्मृति ग्रन्थ' भी भेट किया जावेगा। ऐसे पुनीत अवसर पर विद्वानो को उसमे सम्मिलित होना अत्यन्त आवश्यक है।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झाझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडया), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०) ,, मारवाडी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्डया झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द १५·००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८·००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २·००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १· ०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १·५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ·७५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३·००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ... ... ४·००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४·००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १·२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (६) महावीर पूजा २५

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत २५

(१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १·००

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२·००

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन-सघ प्रकाशन ५·००

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... .. २०·००

(२१ Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अग्रेजी मे अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६·००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

६ वार्षिक   जून १९५७

अनेकान्त

पार्श्वनाथ और पद्मावती दि० जैन मन्दिर नागदा (एकलिंग जी)
उदयपुर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

सूचना

इस अंक के दूसरे प्रेस में छपने के कारण शुरू के दो फार्मों के नम्बर १ से १६ तक छप गये हैं। उनके स्थान पर ४९ से ६४ तक के नम्बर बना लेना चाहिए।

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन प्रेमी ग्राहकों का वार्षिक मूल्य प्राप्त नहीं हुआ है। उन्हें चाहिए कि वे २०वें वर्ष का वार्षिक शुल्क छह रुपया मनीआर्डर से भिजवा दें। अन्यथा अगला अंक वी० पी० से भेजा जावेगा, जिसमें ८५ पैसा वी० पी० खर्च का देना होगा। आशा ही नहीं किन्तु विश्वास है कि प्रेमी पाठक वार्षिक मूल्य भेज कर अनुगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक **'अनेकान्त'**

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

जिनवाणी के भक्तों से

वीरसेवामन्दिर का पुस्तकालय अनुसन्धान से सम्बन्ध रखता है। अनेक शोधक विद्वान अपनी थीसिस के लिए उपयुक्त मैटर यहां से संगृहीत करके ले जाते हैं। सचालक गण चाहते हैं कि वीरसेवामन्दिर की लायब्रेरी को और भी उपयोगी बनाया जाय तथा मुद्रित और अमुद्रित शास्त्रों का अच्छा संग्रह किया जाय। अतः जिनवाणी के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे वीरसेवामन्दिर लायब्रेरी को उच्चकोटि के महत्वपूर्ण प्रकाशित एवं हस्त-लिखित ग्रन्थ भेंट भेज कर तथा भिजवा कर अनुगृहीत करें। यह संस्था पुरातत्व और अनुसन्धानके लिए प्रसिद्ध है।

व्यवस्थापक

वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया।

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २० किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण सम्वत २४९३, वि० स० २०२३ | जून सन् १९६७

ऋषभ जिन स्तोत्रम्

(मुनि श्री पद्मनन्दि)

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदो 'व्व' सहसि तं तह वि ।
सीहासणायलत्थो जिणिंद कय कुवलयाणंदो ॥२३॥

अर्थ - हे जिनेन्द्र ! सिहासन रूप उदयाचल पर स्थित आप चूंकि चन्द्रमा के समान कुवलय (पृथिवी-मण्डल, चन्द्र पक्ष में कुमुद) को आनन्दित करते है, अतएव उस चन्द्रमा के समान सुशोभित होते है, तो भी आपमें उस चन्द्रमा की अपेक्षा विशेषता है—कारण कि जिस प्रकार आप अज्ञानादि दोषो से रहित होने के कारण निर्दोष हैं। उस प्रकार चन्द्रमा निर्दोष नही है—वह सदोष है । क्योंकि वह दोषा (रात्रि) से सम्बन्ध रखता है । तथा आप जड़ता (अज्ञानता) से रहित होने के कारण अजड है, परन्तु चन्द्रमा अजड नही है । किन्तु जड़ है—हिम से ग्रस्त है ।

अच्छंतु ताव इयरा फुरिय विवेया णमंतसिर सिहरा ।
होइ असोओ रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥२४॥

अर्थ—हे नाथ ! जिनके विवेक प्रगट हुआ है तथा जिनका शिररूप शिखर आपको नमस्कार करने में नम्रीभूत है ऐसे दूसरे भव्य जीव तो दूर ही रहे, किन्तु आपके समीप में स्थित वृक्ष भी अशोक हो जाता है ।

विशेषार्थ– यहाँ स्तुतिकार ऋषभ जिन की स्तुति करते हुए उनके समीप मे स्थित अष्ट प्रातिहार्यो में से प्रथम अशोक वृक्ष का उल्लेख करते हैं । यद्यपि वह वृक्ष नाम से ही 'अशोक' प्रसिद्ध है, फिर भी वे अपने शब्द चातुर्य से यह व्यक्त करते हैं कि जब जिनेन्द्र भगवान की केवल समीपता को पाकर वह स्थावर वृक्ष भी अशोक (शोक रहित) हो जाता है तब भला जो विवेकी जीव उनके समीप में स्थित होकर इन्हे भक्ति पूर्वक नमस्कार आदि करते हैं वे शोक रहित कैसे न होगे ? अवश्य ही वे शोक रहित होकर अनुपम सुख को प्राप्त करेंगे ॥२४॥

छत्तत्तयमालंबियणिम्मलमुत्ताहलच्छला तुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयं पि व णाह विंदूहि ॥२५॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके तीन छत्र लटकते हुए निर्मल मोतियों के छल से मानो बिन्दुओं के द्वारा भव्यजनों के नेत्रों में अमृत की वर्षा करते हैं—भगवान ऋषभ जिनेन्द्र के शिर के ऊपर जो तीन छत्र अवस्थित थे उनके सब ओर जो सुन्दर मोती लटक रहे थे, वे लोगों के नेत्रों में ऐसे दिखते थे जैसे कि मानो वे तीन छत्र उन मोतियों के मिष से अमृत बिन्दुओं की वर्षा ही कर रहे हैं।

कमलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहत्थ चलियाइं।
तुह देव सरयससहरकिरणकयाइं व चमराइं ॥२६॥

अर्थ—हे देव ! लोगों के नेत्रोरूप नील कमलों को हर्षित करने वाले जो चमर इन्द्र के हाथों से आपके ऊपर ढोरे जा रहे थे वे शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों से किये गए (निर्मित) के समान प्रतीत होते थे।

विहलीकयपंचसरे पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण।
अमरकयपुप्फविट्ठिच्छला बहू मुवइ कुसुमसरे ॥२७॥

अर्थ—हे जिन ! आपके विषय में अपने पंच बाणों को व्यर्थ देख कर वह कामदेव देवों के द्वारा की जाने वाली पुष्प वृष्टि के छल से मानो आपके ऊपर बहुत से पुष्पमय बाणों को छोड़ रहा है—काम देव का एक नाम पंचशर भी है, जिसका अर्थ पंच बाणों वाला होता है। ये बाण उसके लोहमय न होकर पुष्पमय माने जाते है। वह इन्हीं बाणों के द्वारा कितने ही अविवेकी प्राणियों को जीत कर उन्हें विषयासक्त किया करता है। प्रस्तुत गाथा में भगवान ऋषभ जिनेन्द्र के ऊपर जो देवों के द्वारा पुष्पों की वर्षा की जा रही थी उस पर यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह पुष्प वर्षा नहीं है, किन्तु भगवान को वश में करने के लिये जब उस कामदेव ने उनके ऊपर अपने पाँचों बाणों को चला दिया और फिर भी वे उसके वश में नहीं हो सके तब उसने मानो उनके उपर एक साथ बहुत से बाणों को छोड़ना प्रारम्भ कर दिया था ॥२८॥

एस जिणो परमप्पा णाणी अण्णाण सुणह मा वयणं।
तुह दुंदही रसंतो कहइ व तिजयस्य मिलियस्स ॥२८॥

अर्थ—हे भगवन् ! शब्द करती हुई तुम्हारी भेरी तीनों लोकों के सम्मिलित प्राणियों को मानो यह कह रही थी कि हे भव्य जीवो ! यह जिनदेव ही ज्ञानी परमात्मा हैं, दूसरा कोई परमात्मा नहीं है; अतएव एक जिनेन्द्रदेव को छोड़ कर तुम लोग दूसरों के उपदेश को मत सुनो ॥२८॥

रविणो संतावयर ससिणो उण जड्डयायरं देव।
संतावजडत्तहरं तुज्झ च्चिय पहु पहावलयं ॥२६॥

अर्थ—हे देव ! सूर्य का प्रभामण्डल तो सताप को करने वाला है और चन्द्र का प्रभामण्डल जडता (शैत्य) को उत्पन्न करने वाला है। किन्तु हे प्रभो ! सताप और जडता (अज्ञानता) इन दोनों को दूर करने वाला प्रभामण्डल एक आपका ही है ॥२६॥

मंदिरमहिज्जमाणंबरासिणिग्घोससंणिहा तुज्झ।
वाणी सुहा ण अण्णा संसारविसस्स णासयरी ॥३०॥

अर्थ—मेरु पर्वत के द्वारा मथे जाने वाले समुद्रकी ध्वनि के समान गम्भीर आप की उत्तम वाणी अमृत स्वरूप हो कर संसार रूप विष को नष्ट करने वाली है, इसको छोड़ कर और किसी की वाणी उस ससार विष को नष्ट नहीं कर सकती।

अलोप पार्श्वनाथ-प्रासाद

(मुनि कान्तिसागर)

व्यक्तिस्वातंत्र्यमूलक श्रमण-संस्कृति की गरिमा को सर्वांगरूपेण अभिव्यक्त करने वाले नागहृद-नागदा स्थित अरक्षित-उपेक्षित प्रासादो में अलोप पार्श्वनाथ का शिखरमण्डित मन्दिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजमार्ग से ही दृष्टि आकृष्ट कर लेता है। लगभग एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन शिखर, भले ही कालिमावृत्त हो गया है पर इसकी विशालता उसके व्यतीत वैभव को व्यक्त कर रही है। नागदा और कैलाशपुरी के गण्यमान लेखयुक्त मन्दिरो मे इसकी परिगणना की जाती है। यद्यपि यह समय-समय पर जीर्णोद्धत होता रहा है तथापि इसकी मौलिकता अपना विशिष्ट महत्व रखती है इस स्वतन्त्र प्रासाद की अपेक्षा गुहा-प्रसाद कहना अधिक उपयुक्त जान पडता हैं। कारण कि इसके गर्भगृह की संयोजना किसी गुहा से कम नही। पुरातन काल में गुहा-मन्दिरो की ही परम्परा थी, वही मुनि वास करते थे। भारतीय संस्कृति का विकास गुहा-संस्कृति से सम्बद्ध है। मेदपाट शिल्पियों ने इस कला में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया था।

यों तो मन्दिर मात्र आध्यात्मिक साधना और उत्प्रेरणा का पावन केन्द्र होता है। पर जहा साधक आत्म-निरीक्षण के द्वारा प्रगति का प्रशस्त-पथ पाता है। पर जहां नैसर्गिक सुषमा है वहां वह सांस्कृतिक साधनो में और भी अतुल बल प्रदान करता है। कलाकार भी प्रकृति से समुज्जवल उपादान ग्रहण कर सौदर्य की रचना करता है और अपनी सौदर्याभिव्यंजक साधना में जगत् को भी सम्मिलित कर लेता है, लोकोत्तर-साधना और अन्तर्मुखीचित्तवृत्तियो के विकास म निष्ठापूर्वक जो गति-मान होता है उसे बाह्य-भौतिक वातावरण अधिक प्रभावित नही करता, परन्तु जो सामान्य कोटि के लोग हैं उन्हे आत्म-साधना में बाह्योपादानो का सहारा लेना पडता है। अत: प्रकृति के प्रांगण मे स्थापित देव भवनो का बडा महत्व है। यहा के कण-कण मे शताब्दियों के ह्रास-विकास अविस्मरणीय का इतिवृत्त परिदर्शित होता है। किसी समय आत्मलक्षी, परकल्याणवांछु और संयम-शील मनीषियों का यहा सतत निवास रहता था, प्रासाद के घण्टानादो से नागदा की उपत्यकाए लोकोत्तर स्वर लहरियो से गूंज गूंज उठती थी एवम् भारत के विभिन्न कोणो से आगत श्रद्धालु जन भावभीनी अर्पणांजलि समर्पित कर कृतकृत्य होते थे किन्तु आज स्थिति यह है कि चमगादडे चक्रमण करती हैं और यदाकदा हिंस्रपशु भी निर्भयता से विचरण करते है। आश्चर्य तो इस बात का है कि अहिंसा और संस्कृति के परमोन्नायक पार्श्व-नाथ के स्थान पर कभी विश्वकल्याण का चिन्तन होता था, पर आज तो निर्मित इतिहास को रौंदने वाला भी कदाचित् ही भूले-भटकते पहुँच पाते है, नही कहा जा सकता उनमें से कितने पाषाणो पर बिखरी हुई स्वर्णिम इतिहास की सुपाठ्य रेखाओं को हृदयनेत्रो से पढ-देख पाते है।

पद्म रावल या पार्श्वनाथ

अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण और पुरातन अवशेषों के प्रति निश्चित् दृष्टिकोण के अभाव में भारत स्थापत्यावशेषों के साथ समुचित न्याय नही हो पाया है। ग्रामीण जनता द्वारा उनके साथ अनेक प्रकारके लौकिक आख्यान जोड दिये जाते है। और क्रमश. उन पर जन-श्रुतियों का इतना प्रवार चढ जाता है कि सत्य भी धूमिल हो जाता है। इसी से संस्कृति और सभ्यता के मुख को उज्जवल करने वाले प्रेरक कलात्मक प्रतीकों का वास्तविक इतिहास तिमिरावृत्त रहा है। पाषाणो की वाचा रहित वाणी को आत्मसात् करना सभी के लिए सम्भव नही है। यहा की सदाम रेखाओं में शताब्दि-

यों का जो गौरव सुरक्षित रहा है उसे समझने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिए और संवेदनशील हृदय।

अलोप पार्श्वनाथ का प्रासाद भी किंवदन्तियों के अम्बर से अनावृत नहीं है। जनता का विश्वास है कि आलोच्य मन्दिर पद्म रावल का है, जैसे खुमान देवरा, और समीपवर्ती पद्मावती का मन्दिर, जिसे पद्म रावल की अर्द्धांगिनी का मन्दिर माना जाता है। ये दोनों स्मारक नागदा में हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचारणीय है, किसी भी नरेश का स्मारक बनाने का जहां तक प्रश्न है, यह बात समझ में आती है, कि पर उनके नाम पर स्वतन्त्र प्रासाद बने हो और वह भी नागदा में। यह तो सर्वथा ही असम्भव है। पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस जनश्रुति पर विश्वास नहीं किया जा सकता, कारण कि मन्दिर के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने की अपेक्षा यहां की शैल्पिक शैली स्वयं बोलती है। स्थापत्य ही उसका इतिहास है। यद्यपि यह सत्य है कि मेदपाट के सिंहासन पर पद्मसिंह रावल हुआ है जो मथनसिंह का उत्तराधिकारी[1] था, इसी ने योगराज को नागदे की कोतवाली सुप्रत की थी, सचमुच यदि उनका मन्दिर होता तो चीरवा-प्रशस्ति में उल्लेख अवश्य ही मिलता। उनकी रानी पद्मावती रही होगी, सच बात तो यह है कि प्रासाद पार्श्वनाथ का है और पद्मावती उनकी अधिष्ठात् है। प्रासाद की शिल्पकला और तथा उत्कीर्ण लेख भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करते हैं, दूसरी बात यह है कि यहां की मूर्तियाँ स्वयं अपने आपमें अकाट्य प्रमाण है। सं० ११६२ का लेख भी इसे जैन मन्दिर ही प्रमाणित करता है, पद्म रावल का अस्तित्व समय तेरहवी शती है। तात्पर्य प्रसाद पर्याप्त पूर्ववर्ती है।

प्रासाद-स्थान

नागदा से देवकुलपाटक-देलवाडा जाने वाले पुरातन राजमार्ग से कुछ ऊपर उपत्यकारी वर्णित प्रासाद अवस्थित है। विशाल गिरिशृंग से सटा है। यहां भी किसी समय सोपान थे। तोरण सहित सिंहद्वार भी था, किन्तु शताब्दियों के मूसलाधार जल प्रवाह के कारण इन सबका अस्तित्व विलीन हो गया। अवशिष्ट चिह्नों से से इसका सहज ही अनुमान होता है। गिरिशृंग की मुख्य जलधारा का पतन केन्द्र सोपान ही थे, पहाड़ी की तलहटी में निर्मित दोनों प्रासादो को भी पर्याप्त क्षति पहुँची है। यहां तक कि पद्मावती प्रासाद तो बहुत ही ढक गया है। गर्भ गृह का स्थानकिंचित् ही दृष्टि-शेष रहा है। यदि इसी प्रकार इस शिल्प वैभव के प्रति कुछ वर्षों तक उपेक्षा रही तो मन्दिर का उल्लेख केवल इतिहास के पृष्ठों में ही रह जायगा।

प्रासाद का नव्य नामकरण

जैन स्तुतिपरक साहित्य में "नागहृदेश्वर" पार्श्वनाथ का उल्लेख आता है और उसको लेकर दोनो सम्प्रदायों में कभी वाद भी चला था जिसका विस्तृत विवेचन यथा स्थान होगा, यहाँ तो केवल इतना ही संकेत अलम् होगा कि पुरातन जैन साहित्य और शिलोत्कीर्ण लेखों में पार्श्वनाथ के इस मन्दिर का उल्लेख पाया जाता है और समय-समय पर जो भी यात्री आये उनमें के कुछेकने अपने आगमन काल और उद्देश्य मन्दिर की भित्ति पर अंकित कर दिये हैं।

मन्दिर की वर्तमान अवस्था पर विचार प्रकट करने के पूर्व प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसका नाम "अलोप पार्श्वनाथ" कैसे पडा? भगवान् शंकर और तीर्थंकरो में पार्श्वनाथ के अनेक नाम हैं, उनमें यह नव्य है। केवल यात्रियो के सकेतो में यह नाम पाया जाता है अनुमान है कि गर्भगृह में अन्धकार होने के कारण दिन को भी प्रतिमा अदृश्यवत् प्रतीत होती है इस लिए नामकरण भी वैसा ही कर दिया गया है, इस नामकरण का इतिहास १६ वी शती से प्राचीन नही है, शिलोत्कीर्ण प्रशस्तियो में तो पार्श्वनाथ का ही सूचन है।

प्रासाद की वर्तमान स्थिति

कभी-कभी प्रेरक भी स्वय प्रेरणा का पात्र बन

---

1. श्रीपद्मसिंहभूपालो योगराजस्तलारता।
नागहृदेपुरे प्राय पौरप्रीतिप्रदायक.॥
—चीरवा प्रशस्ति

जाता है, यह प्रासाद इस का अपवाद नही, शिखर कालिमावृत्त है। क्षुप उत्पन्न हो गये हैं, सभा मण्डप के पाषाण खिसकने लगे है। भीतरी अंश भी जल धारा से प्रभावित है। गर्भगृह चमगादड़ो से परिपूर्ण है। कक्षासन की प्रतिमाए और मण्डावरीय मूर्त्तिएँ सरकाई जा चुकी हैं, सुन्दर पत्थर गिरने की स्थिति में हैं। तात्पर्य प्रत्येक दृष्टि से प्रासाद को क्षति पहुँचाने के सभी प्रयत्न साकार हुए हैं। बावजूद भी उसका अपना अस्तित्व है।

प्रवेशद्वार

प्रवीण स्थपतियो ने प्रासाद-प्रवेश द्वार को सवारने का पूरा प्रयत्न किया है। सौदर्यमण्डित ऐसे द्वारो से न केवल व्यक्ति का सात्विक भावनाओं को ही बल मिलता है, अपितु, आराध्य के प्रति भी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करने को मन विकल हो उठता है। प्रवेशद्वारो पर खनित आकृतिया आध्यात्मिक भाव सृष्टि के साथ जनजीवन का भी उद्दीपन करती हैं। भारतीय कला की यही सर्वांगीण विशेषता है।

गुप्तकाल में वास्तु और मूर्त्तिकला उन्नति के चरम उत्कर्ष पर थी। उस युग के प्रवेशद्वार सौंदर्याभिव्यंजन के साथ अन्तर्मुखी जीवन-विकास की ओर दिशा निर्देश करते है। तिगवा और देवगढ के द्वार इसके साक्षी है। उनकी कलाभिव्यक्ति अद्भुत् है। यहा उल्लेखनीय है कि गुप्त या गुप्तपूर्वकाल से मध्यकाल तक के इस प्रकार के गुहा या मन्दिरो के द्वारो का क्रमिक विकास इतिहास शिल्प-स्थापत्यशास्त्र के प्रकाश में लिखा जाना चाहिए, ताकि विविध कलात्मक अलंकरणो की विकसित परम्परा का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। मन्दिर और मूर्त्तिकला के विकासमान इतिवृत्त के समान इसका भी रोचक इतिहास कम उपादेय नही। स्वल्प अध्ययन से विदित हुआ कि प्राचीनतम शैल्पिक रचनाओ के सम्पूर्ण सिद्धान्तो का परिपालन सर्वत्र प्रासादो में दृष्टिगोचर नही होता। यह क्रम मध्यकाल और तदनन्तर भी प्रचलित रहा है। इसका एक मात्र कारण यही ज्ञात होता है कि मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए स्थपतियो ने स्वतन्त्र कलोपकरणों का उन्मुक्त भाव से उपयोग कर प्रान्तीय या क्षेत्रगत शैलियो को सुरक्षित रखा है। राजस्थान के मध्यकालिक देवायतन के प्रवेश-द्वार गुप्तयुगीन कलोपकरणों से सर्वथा अप्रभावित नहीं है। नागदा स्थित सास-बहू का मदिर और कैलाशपुरीस्थ लकुलीशप्रासाद और अशत: कुम्भश्याम गुप्तकला से प्रभावित होने के बावजूद भी उनमें अपना क्षेत्रगत निजत्व है।

वास्तुशास्त्र विज्ञों ने अपनी परिभाषा के अनुसार चार भागो में विभक्त किया है। उदुम्बर-ऊबरा-दहली दो पार्श्वस्तम्भ, उत्तरंग-सिरदल इन चतुरगो को स्व-क्षमतानुसार सर्वत्र सजाने-संवारने का सद्प्रयत्न किया है। द्वारशाखा के निचले अश में अर्द्धचद्राकार आकृति, दोनो गगारे, शंखावटी एवम् लतासह पद्मपत्रो का अकन किया जाता था। कवि कालीदास ने उत्तर मे इन शब्दो में उल्लेख किया है :—

द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा

दहली के तीन अंश कर, तद्मध्यवर्ती भाग मे लता-युक्त कमल पंखुड़ियो का अर्द्ध गोलाकार तक्षण करने का विधान रहा है, शिल्पी परिभाषा में इसे मन्दारक कहते है।

पार्श्वस्तम्भो के तीन भागो को छोड कर एक भाग के उदय में दोनों ओर द्वारपाल बनाने का विधान[1] है। शेष स्तम्भ शाखा बनानी चाहिए। इन शाखाओं को कलाकार अपनी कलाओं द्वारा सजाते-सवारते थे। इनका क्रम प्रासाद अगानुसार रहता था।

उत्तरंग अथवा सिरदल भी द्वारका महत्वपूर्ण अंग है, इसके मध्य में गर्भगृह स्थापित प्रतिमा का बिम्ब रहता[2] है, जैन मन्दिरों में इसका सर्वत्र परिपालन दृष्टि-

1— द्वारदैर्घ्यं चतुर्थाशं द्वारपालौ विधीयते।
स्तम्भ शाखादिकं शेषं त्रिशाखा च विभाजयेत् ॥६२
—प्रासादमण्डन, अध्याय ३

2— यस्य देवस्य या मूर्त्ति सैव कार्योत्तरंगके।
शाखायां च परिवारो गणेशश्चोत्तरंगके ॥६८॥
—प्रासादमण्डन, अध्याय ३

गत होता है, हर जैनेतर प्रासादों में कहीं.कहीं केवल गणेशप्रतिमा ही स्थापित कर सन्तोष कर लिया जाता है, उत्तरंग के उभयपार्श्व में गवाक्ष आदि भी दृष्टिगोचर होते है, ऐसे अनेक द्वार इस क्षेत्र की विशिष्ट उपलब्धि है।

प्रासाद-द्वारपालों के समीप ही दोनों ओर क्रमशः मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की प्रतिमा स्थापित की जाती है। वाकाटकवश के मन्दिरों में तो प्राय. सर्वत्र इसका परिपालन किया गया है, कारण कि वाकाटक न केवल गंगाप्रेमी ही थे, अपितु, उनके शकों को परास्त कर गंगाप्रदेश पर आधिपत्य स्थापित किया था, हिन्दूकर्मकाण्डमूलक रचनाओ मे द्वारपूजन के प्रसग में दक्षिणशाखा में गंगा और वाम शाखा में यमुना को स्थापित करने का समर्थन है। बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के कैलाशपुरी और नागदा के समस्त मन्दिरों में इसका अस्तित्व है।

नागहृद-नागदा के पार्श्वनाथ मदिर का प्रवेशद्वार ६ फुट ऊंचा और ४ फुट १ इंच चौडा है, उदम्बर, शाखा-वटी मकरवक्त्र, द्वारपाल, नृत्यरता नारी आदि का पारम्परिक अंकन के साथ आम्रलुम्बसहित देवी प्रतिमा है जिसकी बायी गोद में एक बालक है, यह अम्बिका की प्रतिमा है। दाहिनी ओर इसी स्थान में गोमेद यक्ष है। इसके बायें हाथ में वज्र तथा एक हाथ मे बिजौरा एवम् शेष खण्डित है।

पार्श्वनाथ की अधिष्ठातृ तो पद्मावती देवी है और अधिष्ठाता धरणेंद्र। अम्बिका तो नेमिनाथ की अधिष्ठातृ है, मदिर पार्श्वनाथ का है, यह विषमता कैसी ? सहसा प्रश्न उठता है। यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूर्तिविधान शास्त्रों का यह नियम सर्वत्र परिपालित नहीं है कि जिस तीर्थंकर का मन्दिर हो उसी के अधिष्ठाता अधिष्ठातृ के बिम्ब द्वार के पास स्थापित करने चाहिए। प्राचीन अनेक ऋषभदेव की प्रतिमाएं मिली हैं जिनमे चक्रेश्वरी के स्थान पर अम्बा ही मिलती है, अम्बिका की विशिष्ट मान्यताओ के कारण ही ऐसा किया गया प्रतीत होता है। मूर्तिविधानशास्त्र के प्रकाश में प्रतिमाओं के अध्ययन में कभी-कभी अनुभव के अभाव में ऐसी विषमताओं का सामना करना पडता है।

रूपशाखाओं का अकन बहुत ही सामान्य है, लला बिम्बो में पार्श्वनाथ का रूप है। शृंगार चौकी सामान्य है। लगभग यह अश ११ फुट लम्बा चौडा है, सकाल प्रस्तर संयोजना से विदित होता है कि वह जीर्णोद्धृत है शैल्पिक वैषम्य भी है। मध्य में जैन तीर्थंकरो की मूर्तियां सश्रद्धालु विद्यमान हैं नृत्य के अनेक प्रसगो का आलेखन आकर्षक है। कक्षासन लगभग सभी गिर चुके थे जिन्हें श्री एकलिगजी पुरातत्व सग्रहालय के लिए सुरक्षित करवा लिया है, इनमें त्रिमूर्तियो का सुन्दर अंकन है। प्राग्-मण्डप मे एक भव्यक कमलाकृति है जिसके अधो भाग में यह लेख खुदा है:—

१ सिद्धी श्री सवत् १७२५ वर्षे
२ श्री मूलसंगे (घे) श्री पारस्व
३ नाथ चैत्यालये पण्डित थान
४ सिंह कमल कोथा

सभामण्डप

मण्डपों की परम्परा के बीज वैदिक यज्ञयाग के मण्डपो से सम्बद्ध है। कालान्तर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा रहे। पौराणिक साहित्य और नाटको में इसकी सामग्री सुरक्षित है, गुप्त युग में यह विकास की सीमा पर थी। मध्यकालिक शिल्पियों ने अनुकूल परिवर्तन कर साज-सज्जा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है। शैल्पिक नियमों का परिपालन करते हुए मण्डपो मे उन-उन सम्प्रदायों के पौराणिक प्रसगो का तक्षण होने लगा था। वाद्ययन्त्रसहित नृत्यांगनाएं, विद्याधर गजतालु रूपकण्ठ आदि स्थानों के सौदर्य की प्रतिष्ठा कर धार्मिक भावों को उद्दीपित किया है।

पार्श्वनाथ मन्दिर मे सभा मण्डपों की लम्बाई अन्तराल सहित गर्भगृहद्वार से शृंगार चौकी के अश को छोड कर २७ फुट है और चौडाई पूर्व मे पश्चिम २३ फुट २ इच। १६ स्तम्भ सामान्य है। आठ पर तो अश्वारूढा महिलाएं है। सभी के कर में चवर है। गतिमान अश्वो

का तक्षण अत्यन्त भव्य है। नृत्यमण्डप में नर्तकियो का अंकन अनिवार्य माना गया है सूचित प्रासाद इसका अपवाद नही। "गीत वाद्य तथा नृत्य संगीतत्रयमुच्यते" के भाव ये सुन्दरिया साकार किए है। वितानकी शालभंजिकाए अब नहीं रही।

भित्ति पर पर्यटक संकेत

सभामण्डप त्रिद्रिक् खुला है। दीवारो पर पलस्तर कर मेवाड शैली के चित्र अकित किए है, शेष स्थानो मे पर्यटको के सकेत है इतिहास की दृष्टि से इनकी उपयोगिता है अत: इन्हे उद्धृत करना आवश्यक है :—

१ संवत् १६५० वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ भौमे गांधर्व ठा० बिहारीदास सा० जी दोसी मानसिग लक्ष्मीचंद सराडा ए सहूसार्थी भट्टारक श्री क्षेमचन्द्र साथीं श्री नागदा पारस्वसनाथ जात्रा सफल कीधी · ·· ···।

२ महाराजाधिराज महाराणा श्री अमरसिह जी, सवत् १७५० चैत बदी १ ए पंचौली गधर्व सुन्दर जी रामचन्द्र गंधर्व पारसनाथ जी जात्रा कीधी।

३ ··· सुतार गाजी जी एत बेटा टीला राज श्री उदेपुर जात पूरव्या देहरे काम करी जात्रा गया, सुतार नांन जी को श्री राणां राज सिघ जी॥ कुवर जेंसिघ जी ··· सोवन की पालखी प्रतें लि पेथा॥

४ सम्वत् सिघ श्री अलोपपारस्वसनाथ जी रा देवरा कमाई भेटवा पर ले जी करावी आने नवलषागोत्रे बाई जी श्री मेणकबाई जी करावीग्रा सम्वत् १७१३ वर्ष आषाढ़ वद ७ सुतरगा जी जसतर ··· ··· कीधुं।

५ संवत् १७६४ वर्षे माहमासे कृष्णपक्षे तिथौ - गुरुवासरे पारसनाथजीको जात्रा सफल की थी, श्री विजयगच्छे महर्षि ···सौभाग्यसागर सूरी जी रिषि रूपजी रिषि हेमा·· ···आदीया रिषि बलदेव ··· रिषि षेप्रानन्द जी।

६ सम्वत् १७६६ वर्षे फागण सुदि ५ बुधवासरे श्रीचैत्रगच्छे ठांणे आठसुं रिषि छीतरजी शाम जी भाणीजी गिरधर जी सुन्दर जी लाभानन्द जी षडगोजी षेमोजी अतरा ठांणं आतरा अलोप पारसनाथ जी री सफल, मौना भेद भणे जैने चीतोडारा पाप. वांचे जिणे वदना धर्मलाभ।

७ सम्वत् १७६६ वर्षे मागसर वदि ६ दन्ये गुरु लालचन्द देवचन्द गुलाब चन्द मयाचन्द फूलजी पुस्त बलोप पारसनाथ जी जात्रा सामल कीधी ···।

८ संवत १७७३ प्रवर्त्तमाने चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी बुधवासरे भट्टारक श्री १०८ विश्वभूषणस्तत्पट्टे भट्टारक श्री १०५ सुरेन्द्र भूषण त० शिष्येण ब्र० कपूरचन्द्रण।

९ सम्वत् १७९८ वर्षे पौष वदि १ दिने भ० श्री जिनहर्षसूरी जी लषित महामहोपाध्याय श्री हीरसागर गणि षेमचन्द जी जात्रा कीधी।

इन सकेतो के अतिरिक्त बिना काल के भी अनेक लेख है।

स्तम्भ लेख

गर्भगृह सन्मुख एक स्तम्भ पर त्रिमूर्ति पद्मासन और खड्गासन मे उत्कीर्णित है, प्रतिमाएँ अनावृत है। कोणो मे दो लेख खुदे हैं, पठितांश इस प्रकार है :--

: १ :

१ ॥ ५० ॥ स्वस्ति श्रीमूलसंघेजनि नंदि
२ संघे तस्मिन् बलात्कारगणेति रम्ये
३ तत्रैदभापूर्वपदांश बेदि श्री माघनंदि
४ नरदेववद्य श्री अनन्तकीर्तिवेया ··· ··· द्विरी प
५ दे काका ··· ··· पितृ सा० भोमा पुत्र
६ लंबु टाली ··· ·· पुत्र मोहण पासा
७ ताल्हण भ दाला जाला ··· ···

८ लोकदे ··· ··· पु० भीभिणि बेटो
९ उसीनां शुभं भवतु गुरु ···
१० सघई भीमा अगिवाण ···
११ हु।। पुनु सं १४३९ व
१२ र्षे ज्येष्ट वदि ११ वार शुक्रे

: २ :

१ ।। ५० ।। स्वस्ति श्री देवकीर्त्तिदेव:
२ निषेद्दिका ण
३ ··· पणमति
४ सा० राडू भार्या ·· का
५ राज ··· मति ·· ··· भ्राता
६ ··· ···
७ ··· श्री ग्रहवसब
८ स० १४३९ वर्षे
९ ··· ···

इन दो लेखो के अतिरिक्त इसी स्तम्भ के पूर्वाभिमुख अंश में दम्पति युगल है, ऊपर नीचे दो लेख भी खुदे हैं, दूसरा स्तम्भ सयुक्त होने से उन्हे सम्भव नही पर लेखो का सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय मे है

गर्भगृहद्वार और गर्भगृह

गर्भगृह देवभवन का महत्वपूर्ण भाग होता है। इसी मे आराध्य का आवास रहता है, मदिर का गर्भगृहद्वार ६ फुट ऊंचा और ३ फुट चौडा है, सापेक्षत: इसका मदारक, कीर्त्तिमुख और शंखावटी सुन्दर है, द्वार इस क्षेत्र की परम्परा के अनुसार नही है ।सज्जा का अभाव है। दोनो ओर अध: भाग में अन्योपकरणो के साथ धरणेद्र और पद्मावती का अंकन है। साथ ही यहा भी अम्बिका अनुप्रेक्षणीय रही है, अग्रिम भाग में दो ताक मूर्तिशून्य है, यहा भी एक विस्तृत लेख के दर्शन हुए परन्तु उन पर चूने की ऐसी गहरी पुताई हो गई है कि पर्याप्त सफाई के बाद भी पाठ अपठनीय ही रहा।

गर्भगृह की लम्बाई-चौडाई क्रमश ८ फुट ९ इंच और ११ फुट ७ इच है। त ३-३ फुट ऊची और चौडी सुन्दर कलापूर्ण वेदिका उपत्यका के मूल मे निर्मित है ३ आले भी बने हुए हैं, पार्श्ववर्ती स्तम्भों पर खड्गासनस्थ जिन प्रतिमाओं का अकन है। इस प्रासाद को नव्योपलब्धि में इस शिलालेख को मानता हूँ जिसमें भगवान पार्श्वनाथ के जीवन सम्बन्धी मुख्य घटनायें उत्कीर्णित हैं, कमठोपसर्ग का सफल अंकन तो उस समय की पूर्ण स्थिति का तादृश रूप खडा कर देता है, प्रसन्नता है कि इस पर स० ११९० अंकित है, पुरातत्व और कला-समन्वित इस अंश का विशिष्ट महत्व है। यह शिला मूलभाग के ऊपर के भाग में खडी है, लेख ९ पंक्ति का है, पर भीतरी अंधकार के कारण उसे पढना असम्भव ही है, निरतर वर्षाकालिक जलसे वह बहुत प्रभावित हुआ है। इसमें तक्षित प्रतिमाओ पर किरीट-मुकुट इस बात का परिचायक है कि नागदा वैष्णव सस्कृति का केन्द्र रहा है और कृष्ण के मस्तक की शोभा किरीट ही अभिवृद्ध करता रहा है, इसका प्रभाव जैन मूर्तियो पर भी पडना स्वाभाविक है।

सं० ११९२ वर्षे चैत्र वदि ४ रवौ देवश्रीपार्श्वनाथ श्रीसकलसघशाचार्यचन्द्रभार्या ··· · ·· ।।

कृष्णवर्णीय शिला पर यह लेख भी अंकित है :—

स० १३५६ वर्षे श्रावण वदि १३ णारेसा तेजल सुत।

संघपति पासदेव सघसमस्त ······ साहइत श्री-पासनाथ।

दोनो लेखो से कोई विशेष ऐतिह्य प्रकट नही होता।

गर्भगृह में सुरक्षा की दृष्टि से ऊपर की ओर पक्का पलस्तर है। दो विशाल आलो में जिनबिम्ब रहने की सम्भावना की जा सकती है। ऊपर की ओर सुरंग समान एक ऐसा स्थान बना है जिसके आगे शिला जड़ दी जाय तो गुप्त भण्डार का रूप ले सकता है, यह ८ फुट लम्बा है पुराने मन्दिरो मे ऐसे गुप्त भण्डार विपत्ति मे बचने के लिए बनवाये जाते थे।

यहा प्रश्न हो सकता है कि महापुरुष या जिन-प्रतिमाओं का दीवार से सलग्न स्थापित न किया जाना

चाहिए[1] यह स्थान इसका अपवाद है। गुहा-चैत्य के कारण ही ऐसा हुआ जान पडता हैं।

प्रस्तुत गुहा-चैत्य में स्थापित प्रतिमा दक्षिणाभिमुखी है शिल्पशास्त्र का नियम :—

प्रतिमा दक्षिणाभिमुखी है। जब कि शास्त्रीय नियम यह है कि गणेश, भैरव, चण्डी, नकुलीश, नवगृह और मातृकाओ की प्रतिमाएं ही दक्षिणाभिमुखी होनी चाहिए[2], जैन प्रतिमा भी इनका अपवाद[3] नही है। अनेक जैन मन्दिर इस प्रकार के पाये गये हैं।

मन्दिर का बाह्य भाग

इसकी सयोजना देवकुलपाठक-देलवाडा के पुरातन राजमार्ग पर दाणचौतरे के समीप की समतल भूमि पर की गई है। एक ही भित्ति दोनो को अलग करती है। दुर्ग सदृश स्थान मे दो वृत्ताकार बुर्जो मे से एक का चिह्न आज भी विद्यमान है। असम्भव नही यहाँ मान-स्तभ की स्थापना रही हो। मन्दिर का बाह्य भाग बहुत कुछ अंशो में मूर्त्ति विहीन बना दिया है। सौंदर्याभिव्यंजक ग्रासपट्टी के उपरान्त सर्वत्र देवीमूर्त्तिया स्थापित है। पत्थर की क्षरणशीलता के कारण पण्डी उतर जाने से बहुत सी प्रतिमाओं के आयुध नष्ट हो गये है। प्रत्येक प्रतिमा का स्वतन्त्र परिचय देने की अपेक्षा विहगावलोकन ही पर्याप्त होगा :—

प्रतिमाओ का संकेत प्रवेशद्वार से दाहिनी ओर से प्रारम्भ किया जाता है :-

१	चतुर्भुज,	आयुधक्रम	कमल, कमल, माला, बीजपूरक,
२	,,	,,	कमल, गदा, वरद, बिजौरा
३	,,	,,	सर्प, वरद, बीजपूरक ? इसका उदर चामुण्डावत्।
४	,,	,,	कमल, कमल, वरद, बिजौरा,
५	,,	,,	पुस्तक, कमल, वरद, बिजौरा,
६	,,	,,	गदा, गदा, वरद, बीजपूरक,
७	,,	,,	कमल, पुस्तक, वरद, बीजपूरक,
८	,,	,,	कम, वर, कमल, बिजौरा,
९	,,	,,	कमल, वर, कमल, बिजौरा,

१० सभी कुछ तथैव

प्रवेशद्वार के बायी ओर से प्रतिमाओ का संकेत :—

१ ऊपर के दो करो में वृत्ताकार वस्तु, वरद, बिजौरा,
२ कमल, वरद, कमल, बीजपूरक,
३ सर्प, वरद, सर्प बिजौरा, इसकी उदरस्थ नसे स्पष्ट दिखती हैं।
४ चक्र, वर, चक्र, बिजौरा,
५ कमल, वर, कमल. बिजौरा,
६ तथैव
७ ,,
८,९,१० मिट्टी जम जाने से अस्पष्ट

इन मूर्त्तियों की पंक्ति के ऊपर भी किंचित् विशाल प्रतिमाएँ है, इनमें से भी स्वल्प ही शेष रह सकी हैं :—

१ स्थान रिक्त
२ दाहिने ऊपर के हाथ में तू बी की वीणा, बाये में ताड-पत्राकार पुस्तक, दाये मे दाहिने नीचे के हाथ में माला और बायें मे कमण्डलु, सरस्वती की यह सुन्दर प्रतिमा स्थान च्युत तो कर दी गई है,
३-४ विलुप्त
५ दक्षिणाभिमुख कोमा पर स्थापित प्रतिमा के दोनों ऊपर के हाथो में अर्द्धवृत्ताकार संकल थामें हैं, शेष में माला और कमडलु है, मकर
६ रिक्त
७ चक्र, खण्डित, चक्र, कमण्डलु,
८ कम,वर, कमल. बिजौरा,
९ रिक्त
१० सर्प, वर, सर्प अस्पष्ट, चरण के समीप मृग,

प्रवेशद्वार के बाये भाग की प्रतिमाएं इस प्रकार हैं:—

---

1. भित्तिसंलग्गबिम्ब उत्तमपुरिस सव्वहा असुह
 —ठक्कुर फेरु वत्थुसार पयरण, पृष्ठ १२६।
2. विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा।
 मातरो धनदश्चैव दक्षिणादिङमुखा: (?) ॥३६॥
3. प्रसादमण्डन, अध्याय २।

१ से ५ स्थान रिक्त
६ पाश, अंकुश, माला, खण्डित,
७ कम, वर, कमल, कमण्डलु,
८ रिक्त
६ त्रिशूल, खण्डित, माला, खण्डित,
१० रिक्त

इन प्रतिमाम्रो के ऊपर कक्षासन के बाहरी अंशो में मूर्त्तियाँ थी, अब नही हैं।

शिखर

भारतीय प्रासाद निर्माणकला में शिखर का विशिष्ट स्थान है। छज्जे के ऊपर इसका प्रारम्भ होता है। शृंग शिखर की विविध अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रत्युत कहना यह चाहिए कि शृंगो के आधार पर ही शिखर का ठाठ बनता है। प्रासादो के विविध नामकरण इन्ही पर आधृत है। कैलाशपुरी और नागदा में मध्यकालिक शिखर अध्ययन की नव्य दिशा प्रस्तुत करते है। शिखर शिवलिंग का रूप माना गया है। शिल्पशास्त्रीय विकासात्मक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में शिखरों के कमबद्ध और तुलनात्मक अध्ययन नही किया गया है। विवेच्य मन्दिर का शिखर कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर और आकर्षक तो नही है तथापि परम्परा की अपेक्षा से नव्यस सूत्र तो देता ही है। त्रिदक् त्रिमूर्त्तियो का सपरिकर खनन है। तीन उरुशृंगो में लघु तीन-तीन शृंग निर्मित है। ऊपर कोणो में छः छः है। प्रत्येक मे पुष्पाकृतिया तक्षित है। दक्षिण में द्वार है।

प्रासाद पीठ पर लकुलीश मन्दिर का अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। तमालपत्रिका ग्रासपंक्ति आदि उसीके अनुरूप है। छाद्य के अधो भाग में तीनो ओर प्रतिमाएं विद्यमान है, इनमे कतिपय तो तीर्थकरो की ओर शेष त्यागमय जीवन की ओर सकेत करती है। नि सन्देह ये प्रतिमाए सुरक्षित और अखण्ड है। इनमे की ऋषि प्रतिमाएं यहा आश्चर्य उत्पन्न करती है।

पद्मावती-प्रासाद

जैन सस्कृति त्याग प्रधान रही है। ऐहिकता को उसमें अवकाश नही। आत्म-दर्शन ही उसका काम्य है। समाजमूलक अध्यात्मवाद उसकी मौलिक विशेषता है। इन सब बातो के बावजूद भी कालान्तर में सर्वथा वैदिक धर्म और परम्परा से अपने असंपृक्त न रख सकी। तान्त्रिक विधानो ने इसमें प्रवेश कर ही लिया। देव-देवियो के विशद् परिवार की कल्पना इसी की परिणति है। आचारदिनकर, निर्वाणकलिका आदि कृतियाँ इन पक्तियो के समर्थन में उपस्थित की जा सकती है। तीर्थकरो के अधिष्ठाता और अधिष्ठातृयो की केवल कल्पना ही नही की, अपितु उनके परिकर में भी इन्हे समुचित स्थान मिला बाद में एतद्विषयक शास्त्रों की स्वतन्त्र-रचना भी आवश्यक मानी गई। सोलह विद्यादेवियाँ, यक्षिणियाँ तान्त्रिक प्रभाव का ही परिणाम है। यद्यपि इन्हें वहाँ समकिती मान कर अपनाया गया है। तात्पर्य कि जैन संस्कृति में अपने ढंग से तन्त्रवाद प्रविष्ट हो गया और समर्थ जैनाचार्यो ने भी इसका विरोध नही किया, परिणामत:शक्तिपूजा ने अपनी जड ऐसी जमाई कि आज भी उसका अस्तित्व सर्वत्र है। देवियो के स्वतन्त्र बिम्ब और प्रासाद भी बनने लगे, पद्मावती प्रासाद भी उसी परम्परा की एक सबल कडी है।

जैन शान्तिपूजा की स्मृति रूप पद्मावती का स्वतन्त्र प्रासाद साधना का केन्द्र था। अवराहपुराण, नारदीय-पुराण और रुद्रयामल में पदमावती का उल्लेख आता है, पर सूचित पद्मावती इससे भिन्न है।

श्रमण-परम्परा प्रचलित अर्चनपद्धति और प्रतिमा-विधानानुसार इनकी सुन्दर प्रतिमाए प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। दोनो सम्प्रदायो मे वह समान भावेन पूज्या है। वाहन और आयुधो में किंचित् परिवर्तन अवश्य है, यह विषमता तो वदिक शक्तिरूपो में भी परिलक्षित होती है।

सूचित मन्दिर के उत्तर में उसी क्षेत्रफल में अधिष्ठातृका प्रासाद निर्मित है। दशा आज बहुत ही दयनीय है। उपत्यका मे पतित मृत्तिका का सबसे अधिक प्रभाव इसी मन्दिर पर पडा है, यहा तक कि इसका गर्भगृह ऐसा दब गया है कि मानो समतल भूमि ही हो, यह मण्डप सेदर

और सूक्ष्मकोरणी का परिचायक है। शिखर के कोणों में प्रतिमाए है जो पद्मावती का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

मानस्तम्भ

मन्दिर के अग्रभाग में विशाल स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा रही है। इसे मानस्तम्भ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। स्मरणीय है कि भारतीय ललितकला के इतिहास मे स्तम्भ अनुपेक्षणीय नही रहे। यज्ञमण्डपो मे व्यवहृत स्तम्भो का ही विकास शिल्पकृतियो मे हुआ है। यो तो मुख्यत शब्द से वितानाधार का ही बोध होता है, पर शिल्पशास्त्रज्ञो ने इसके अनेक प्रकार बनाकर उनकी वैज्ञानिकता पर विशद् प्रकाश डाला है। उनकी उपयोगिता सर्वव्यापक रही है। मौर्यकाल मे वास्तुकला से सम्बद्ध उपलब्ध स्तम्भो से प्रमाणित है कि उनका निर्माण धार्मिक परिवेश में हुआ था। गुप्तकाल मे इस कला ने और भी विकास किया, मानसार और बृहत्संहिता जैसे सुप्रतिष्ठित ग्रन्थो मे इनके भेद-प्रभेदो की चर्चा है। कीर्तिस्तम्भ, गरुडस्तम्भ, विजयस्तम्भ। स्मारक स्तम्भ और मानस्तम्भ आदि के रूप मे स्तम्भो ने अपनी विकास यात्रा की है।

धर्मस्तम्भो मे गरुडध्वज विशेष महत्त्व रखता है। विष्णु प्रासादो के सम्मुख यह खडा किया जाता था और इसके सर्वोच्च भाग मे गरुड की प्रतिमा बैठाई जाती थी, ऐसे स्तम्भो का चलन गुप्त मुद्राओं से हुआ था, अब विष्णु मन्दिरो के सभा मण्डपो में गरुड की स्थापना की जाती है या सम्मुख स्वतन्त्र मण्डप बनाया जाता है। कैलाशपुरी मे ऐसा स्वतन्त्र मण्डप कुम्भकर्ण ने बनवाया था।

जैन तीर्थंकरो की समवयात्रा के सर्वाग्र भाग मे "इन्द्रध्वज" की व्यवस्था रहती थी। सम्भव है इसी का अनुकरण दिगम्बर जैनो ने किया हो। इसमे संशोधन इतना ही किया है कि मानस्तम्भ के ऊपरी अग्र मे चतुर्मुख-सर्वतोभद्र-जिनप्रतिमाएं स्थापित रहती थी, नागदा के महातीर्थ पार्श्वनाथ मन्दिर के आगे भी विशाल मानस्तम्भ का अस्तित्व था जैसा कि इसके शिखर अवशेषो से सिद्ध है। इसका सर्वोच्च भाग तो आज भी एकलिंग जी के पुरातत्व सग्रहालय की शोभावृद्धि कर रहा है।

प्राचीन उल्लेख

नागह्रदेश्वर पार्श्वनाथ महा तीर्थ का प्राचीनत्व तत्रोत्कीर्णित लेखो से स्पष्ट है। परन्तु इसके साहित्यिक उल्लेख १३ वी शती के पूर्व के नही मिलते। क्या इस काल मे उपेक्षित रहा ? क्या कहा जा सकता है ? जैन साहित्य मे आचार्य मदनकीर्ति[1] ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख अपनी चतुस्त्रिंशिका मे इस प्रकार किया है :—

स्रष्टेति द्विजनामकैर्हरिरिति प्रोद्गीयते वैष्णवै
बौद्धैर्बुद्धइतिप्रमोद विवशैः शूलीतिमाहेश्वरैः
कुष्टानिष्ट-विनाशयोजनदृशां यो लक्ष्यमूर्त्तिविभुः
स श्रीनागह्रदेश्वरो जिनपति विग्वाससां शासनम्

१५वी शती के उदयकीर्ति ने भी अपनी निर्वाण-भक्ति मे इस प्रकार उल्लेख किया है :—

नागद्दह परसु सयभुदेउ हउं वदउं जसु गुण णत्थि छेव

परन्तु दिगम्बर जैन विद्वानो ने नागद्रह का मध्यप्रदेश का नागदा मान लिया था, जब इस प्रासाद-प्राप्ति की सूचना मैंने पं० परमानन्द जी को दी तो वे प्रसन्न हुए और उपर्युक्त उद्धरण लिख भेजे।

इसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य मे भी नागदा के पार्श्वनाथ तीर्थ का संकेत है, पर वह भी प्राचीन नही है, इस पर अन्यत्र विचार किया गया है।

सं० १२२६ के विध्यवल्ली बिजोलिया के शिलोत्कीर्ण

---

1 आचार्य मदनकीर्ति विद्वद्रेण्य ग्रन्थकार और विशालकीर्ति के शिष्य थे। सं० १४०५ मे राजशेखरसूरि द्वारा प्रणीत प्रबन्धकोश मे उनका विस्तृत परिचय दिया हुआ है। इनका अनुमित समय वि० सं० १२६३ है। विशेष के लिए द्रष्टव्य :—
—पं० दरबारीलाल जी जैन, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ट ६०३,

लेख में नागह्रदीय पार्श्वजिनेश्वर का उल्लेख[1] है।

अद्यतनोल्लेख

डा० भाण्डार करने नागदा के अवशेषो का वर्णन आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया १९०५-६ के वार्षिक वृत्तान्त में किया है। इसके आधार पर ब्रह्मचारी शीतल-प्रसाद जी ने उल्लेख किया है कि:—

"एकलिंग जी की पहाड़ी के नीचे एक मन्दिर जैनियो का पद्मावती के नाम से है। भीतर छोटे मन्दिर हैं। दाहिनी तरफ चौमुखी मूर्ति है शेष खाली है। लेख सं० १३५३ और १३९१ के हैं यहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति होनी चाहिए। यह दिगम्बर जैनों का है। मण्डप में एक मूर्ति श्वेताम्बर रखी है जो किन्हीं अन्यत्र स्थान से लाई गई है। इस पर राजा कुंभकर्ण का खरतरगच्छ का लेख है। एक वेदी पर पाषाण है जिसके मध्य में एक ध्यानाकार जिन मूर्ति हैं। ऊपर अगल-बगल शेष तीर्थंकरो की मूर्तियाँ[2] हैं।"

उद्धरण का पद्मावती मन्दिर पास ही बना है। यहां तीन मन्दिरो का प्रश्न ही नही उठता, उपर्युक्त वर्णन पार्श्वनाथ मन्दिर पर चरितार्थ होता है, कारण कि इसके गर्भ-गृह में दोनो ओर के विशाल आलो में सभवत: उन दिनो प्रतिमाएं रही हो। जिस चौमुखी प्रतिमा का सकेत है वह तो मानस्तभ का ही उच्च भाग है। कुम्भकर्ण की लेखवाली प्रतिमा आज उदयपुर के राजकीय पुरातत्व संग्रहालय में विद्यमान[1] है। आजतक दिगम्बर विद्वान इस मन्दिर के अस्तित्व स्थान के सम्बन्ध में संदिग्ध ही थे।

मुनि श्री हिमांशुविजय जी ने भी इस प्रासाद को देखा था, परन्तु वह साम्प्रदायिक अभिनिवेश वश इसके साथ न्याय न कर सके, आपने इसे श्वेताम्बर प्रासाद स्थापित करने का विफल प्रयास किया[2], इनके गुरु इतिहास प्रेमी मुनि विद्या[3] विजय जी ने मेवाड़ की यात्रा में इसका तो क्या अदबद् जी के अतिरिक्त किसी भी जैन मंदिर का उल्लेख ही नही किया, एक कलाप्रेमी और शोधक की दृष्टि से केवल यह मदिर ओझल रहा, यह बात नहीं है आपने तो अदबद्जी के समीपवर्ती मोकल से भी पूर्व के दो कलापूर्ण मंदिरो का भी सकेत नही किया है। यह बडे खेद की बात है कि शोधक भी साम्प्रदायिक क्षुद्रता का परित्याग नही कर पाते।

निर्माण काल

यद्यपि तीर्थ स्थापनकाल पर विस्तार से "आचार्य समुद्रसूरि और पार्श्वनाथ तीर्थ" शीर्षक में विचार किया गया है, यहाँ सक्षेप में प्रासंगिक रूप से ही सकेत करना अलम् होगा। यहा पर उत्कीर्णित लेखों से ऐसा कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नही जो इस समस्या को समाधान का रूप दे सके। यद्यपि १६ वी सती के प्रभावशाली आचार्य मुनि सुन्दरसूरि ने अपनी गुर्वावली में उल्लेख किया है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने नागह्रद मे मदिर बनवाया था, परन्तु इस कथन की पुष्टि में आज तक कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नही हो सका है, सच बात तो

1. तदा नागह्रदेयक्षगिरिस्तत्र पपात स: ।।७३।।
यदावतारमाकर्षीदत्र पार्श्वजिनेश्वर: ।।

× × × ×

तत्राहमपि यास्यामि यत्र पार्श्वविभुर्मम ।
वीरविनोद पृष्ठ ३८७

2. प्राचीन जैन स्मारक, पृष्ठ १४५, (मध्यभारत और राजपूताना)

1. लेख इस प्रकार अकित है —
१ श्रीनागह्रदपुरे राणा श्री कुम्भकर्ण राज्ये
२ श्री आदिनाथ बिबस्य परिकर: कारित:
३ प्रतिष्ठित: श्री खरतरगच्छे श्रीमतिवर्द्धनसूरि
४ भि: । उत्कीर्णवान् सूत्रधार धरणाकेन । श्री ।।
धरणा सूत्रधार के लिए दृष्टव्य" कुम्भश्याम प्रासाद।"

2. आत्मानन्द जन्म शताब्दी ग्रंथ, गुजराती विभाग, पृष्ठ १३१

यह है कि मौर्य काल में नागह्रद का अस्तित्व ही नही था, इस पुण्यधरा ने नागह्रद नाम कब से सार्थक किया ? नही कहा जा सकता। सं० ७०२ और सं० ७१८ की क्रमश. शील और अपराजित की प्रशस्तियों में नागह्रद का सकेत नही है। इसका सर्व प्रथम उल्लेख स० १०८२ के लेख में प्राप्त हुआ है जो सग्रहालय के क्रमांक ३५ के शिलापट्ट पर अकित है, और नागदा से ही लाया गया[1] था, पौराणिक आख्यान तो इसे सोमवंशीय जनमेजय तक ले जाते हैं, पर इसमें तथ्य प्रतीत नही होता, मेवाड मे जनश्रुति है कि नागादित्य ने अपने नाम से नागदा बसाया था, रणछोड भट्ट प्रणीत "अमरकाव्य" में भी यही संकेत है। एतद्विषयक प्रमाण अन्वेषणीय है। असभव नही यहां किसी समय नागवशियों का शासन रहा हो या नागपूजा का विशेष प्रचलन, और उसी की स्मृति स्वरूप नागह्रद नाम पड़ गया हो।

ऐतिहासिक घटना प्रसगों से सिद्ध है कि बापा रावल के पूर्व नागह्रद का अस्तित्व था। गुहिलकाल में वर्षों तक पाटनगुर के रूप मे गौरव अर्जित करता रहा। आठवी शती में जैन सस्कृतिका यहा व्यापक प्रचार था, सभव है उसी समय गिरिकन्दा में गुहा-चैत्य परिस्थापित किया जाकर कालान्तर में विशालप्रासाद के रूप मे परिणत हो गया हो। प्राप्त उल्लेखो का सकेत ऊपर किया ही जा चुका है कि १३ वी शती से पूर्व कोई सूचना जैन साहित्य नही देता, परवर्ती सकेत तो पर्याप्त है। नागह्रद की स्थापना के समय यदि वह गुहिलकाल में हुई हो तो जैनो का प्रभुत्व था, क्योंकि चित्तौड मे हरिभद्रसूरि का साधना केद्र स० १०२८ की लकुलीश प्रशस्ति से जैन सम्पर्क स्वत· सिद्ध है।

प्रासाद निर्माणकाल के सम्बन्ध में भी प्रमाणाभाव में निश्चित नही कहा जा सकता। स० ११९२ के लेख से इतना ही सिद्ध होता है कि इत: पूर्व या समकाल में मंदिर का अस्तित्व था, प्राचीन लेख में सम्प्रदाय सूचक कोई सकेत नही है तथापि प्रासादस्थ प्रतिमाएँ और शिखर के बिम्ब दिगम्बर मान्यता का ही समर्थन करते हैं, यहाँ के साक्ष्य इसे श्वेताम्बर मदिर प्रमाणित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यह स्पष्ट सकेत इस लिए करना पड रहा है कि मुनि श्री मानने हिमांशुविजय जी एवम् जैन तीर्थ सर्व[1] सग्रह के सपादक ने इसे स्पष्टत श्वेताम्बर प्रासाद मनवाने का असफल प्रयास किया है। यहां अदबद् जी के पास एक और पार्श्वनाथ का प्रासाद है जिसके स्तम्भ पर सं० १८२१ का एक लेख है।

वास्तुकला के प्रकाश में गुहा-चैत्य ११-१२ वी शती की रचना है, कारण कि इसकी शैली और मकरवक्त्र-पक्ति, तमालपत्रिका, छाद्य और खल्वाकृतियाँ, शिखर-श्रृंग आदि अन्य प्रयुक्त अलकरण लकुलीश प्रासाद का अनुसरण करते है। कालान्तर मे भक्तो द्वारा आन्तरिक भाग समय-समय पर असाम्प्रदायिक धार्मिक साधना का केन्द्र बना रहा। पर पुन सस्कार की महति आवश्यकता है।

3. मेरी मेवाड यात्रा पृष्ठ ६१,

1. यह लेख विद्वद्रत्न परमेश्वर जी सोलंकी ने वरदा, वर्ष ६, अक १ मे प्रकाशित है, यह लेख किसी सूर्यवशी वैष्णव राजा का है, ९ पक्ति मे नागह्रद का इस प्रकार उल्लेख है:—स्थाननागह्रदाभिख्यमस्ति

2. एर्कालगान्तिके सोयं चक्रे नागह्रदापुर।

1. भाग २, पृष्ठ ३३६-८,

बटोही सम्बोधन

मिथ्यामति रैन माहि ग्यानभान उद नाहि आतम अनादि पथी भूलो मोख घर है।
नरभौ सराय पाय भटकत वस्यो आय काम क्रोध आदि तहाँ तसकर को डर है।
सोवेगो अचेत सोई खोवेगो धरमधन तहाँ गुरु पाहरू पुकारै दया कर है।
गाफिल न हूजे भ्रात ऐसी है अंधेरी रानि जागरे बटोही यहा चोरन को डर है ॥१॥
नरभौ सराय सार चारों गति चार द्वार आतमा पथिक तहाँ सोवत अघोरी है।
तीनोंपन जाँय आव निकस वितीत भए अजौ परमाद मद निद्रा माहि धोरी है।
तो भी उपगारी गुरु पाहरू पुकार करें हाँ हा रे निद्रालु नर कैसी नीद जोरी है।
उठे क्यों न मोही दूर देश के बटोही अब जागि पंथ लागि भाई रही रैन थोरी है ॥२॥

देवगढ़ का शान्तिनाथ जिनालय

प्रो० भागचन्द्र जैन, भागेन्दु, एम० ए० शास्त्री

सामान्य परिचय

देवगढ़ उत्तरप्रदेश में झासी जिले की ललितपुर तहसील में बेतवा नदी के किनारे, २४° २२ अक्षाश और ७८°१५ देशातर पर स्थित है। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम में ३३ किलो मीटर की एक पक्की सड़क से जुड़ा है। उसी रेलवे के जाखलौन स्टेशन से इसकी दूरी १३ किलो मीटर है।

प्राचीन देवगढ विन्ध्याचल के पश्चिमी छोर की एक शाखा पर गिरि दुर्ग के मध्य स्थित था। जबकि आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका में बसा है। वर्तमान मे यहाँ ५४ घरो में ३९९ मनुष्य निवास करते हैं। एक विशाल जैन धर्मशाला और शासकीय विश्राम-गृह भी यहा है। ग्राम के उत्तर में प्रसिद्ध 'दशावतार-मन्दिर' तथा शासकीय संग्रहालय और पूर्व में पहाडी पर उसके दक्षिणी पश्चिमी कोने पर जैन स्मारक हैं। इस पहाडी की अधित्यका को घेरे हुए एक विशाल प्राचीर है, जिसके पश्चिम में कुंज द्वार और पूर्व में हाथी दरवाजा देखे जा सकते है। इसके मध्य एक प्राचीर और है, जिसे 'दूसरा कोट' कहते हैं, इसी के मध्य वर्तमान जैन स्मारक हैं। 'दूसरे कोट' के मध्य में भी एक छोटा-सा प्राचीर था, जिसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। इस प्राचीर के भी मध्य एक प्राचीर सदृश दीवाल सन १९३० मे स्वर्गीय सेठ पद्मचन्द जी बैनाडा आगरा निवासी की ओर से बनाई गई, जिसमे दोनो ओर खण्डित मूर्तिया जडी हुई है। विशाल प्राचीर के दक्षिण पश्चिम में वराह मन्दिर और दक्षिण में बेतवा नदी के किनारे नाहर घाटी और राजघाटी है।

नाम

देवगढ, यह इस स्थान का प्राचीन नाम नहीं है। इसका प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि'[1] था। इस नाम का स्पष्ट उल्लेख विक्रम सं० ९१९ के गुर्जर प्रतिहार राजा भोज के शिलालेख में है। अत १०वी शताब्दी ईस्वी तक यह स्थान 'लुअच्छगिरि' नाम से प्रसिद्ध था। बारहवी शती से इस स्थान का नाम कीर्ति गिरि[2] प्रचलित हुआ। अत: यह कहा जा सकता है कि इस स्थान का नाम 'देवगढ' १२वीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं के प्रारम्भ में किसी समय रखा गया।

'देव' शब्द 'देवता' का वाची है[3] और 'गढ' का अर्थ 'दुर्ग' होता है[4]। मेरी अपनी राय में यहाँ दुर्ग के

---

1. देखिये—मन्दिर सख्या १२ के महामण्डप के सामने अवस्थित अर्धमडप के दक्षिण पूर्व के स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख।
2. देखिये—देवगढ दुर्ग के दक्षिण पश्चिम में राजघाटी के किनारे चन्देलवशी राजा कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख।
3. (अ) अमरसिंह : अमरकोष, वाराणसी, १९५७ : काण्ड १, वर्ग १, पद्य ७-९
   (ब) धनंजय : नाममाला, अमरकीर्ति विरचित भाष्योपेता, प० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, काशी, १९५० . श्लोक ५६, पृष्ठ ३०
   (स) सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा सम्पादित, : इलाहाबाद, १९५७ पृष्ठ ५३०
   (ड) नालन्दा विशाल शब्द सागर, नवलजी सम्पादित, : देहली, विक्रमाब्द २००७ · पृष्ठ ६१३
4. (अ) अमरसिंह अमरकोष, २-८-१७
   (ब) धनजय, नाममाला, श्लोक १८, पृष्ठ ६
   (स) सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ ५२३
   (ड) नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ ३०५

मन्दर 'देव' मूर्तियो की प्रचुरता होने के कारण कदाचित् इस स्थान का नाम देवगढ पडा।

देवगढ़ में सम्प्रति उपलब्ध पुरातत्व सामग्री इस तथ्य की पोषक है कि मौर्य युग से लेकर ईसा की १४वी १५वी शती तक मुख्य रूप से और १८वी शती तक गौण रूप से राजनैतिक, धार्मिक, कलात्मक, ऐतिहासिक और सॉस्कृतिक गतिविधियो का केन्द्र रहा। यद्यपि वहा के बहुसख्यक स्मारक धराशायी हो गये हैं, और प्रकृति की गोद में समाविष्ट है, पुनरपि भारतीय पुरातत्वज्ञो एव अन्य समाज-सेवियो के प्रयत्न से जो जीर्णोद्धार होकर सामने आई है, वह भी बहुत है। इस दिशा में सन् १८७४ में सर्वप्रथम अलक्जेन्डर कनिघम का ध्यान गया। इस सन्दर्भ में रायबहादुर दयाराम साहनी, विश्वम्भरदास गार्गीय और नाथूराम सिघई की सेवाये भी उल्लेखनीय महत्व रखती है। देवगढ पुरातात्विक अध्ययन और जीर्णोद्धार के क्षेत्र में ललितपुर के श्री परमानन्द बरया ने जो गहरी दिलचस्पी ली है, उन्होने शासन और समाज के सहयोग से देवगढ की जो सेवा की है और कर रहे हैं, वह तब तक नही भुलाई जा सकती, जब तक देवगढ का अस्तित्व है। क्षेत्रीय प्रबन्ध समिति के वर्तमान मत्री श्री शिखरचन्द्र सिघई भी क्षेत्र के बहुमुखी विकास के लिये सतत् प्रयत्नशील हैं, साहू शान्तिप्रसाद जी ने भी जीर्णोद्धार में स्तुत्य सहयोग किया है।

देवगढ में सम्प्रति ४० मन्दिर (पुरातत्व विभाग द्वारा अकित ३१ जीर्णोद्धार आदि द्वारा अन्वेषित ६ नष्ट मन्दिर=४०) और १८ मानस्तम्भ या स्तम्भ विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त सहस्त्राधिक खण्डित अखण्डित मूर्तियों को चिन कर एक प्राचीर सदृश दिवाल है, जो वहाँ के प्रमुख मंदिर सख्या १२ को घेरे हुए है। अनेक टीलो आदि पर मूर्तियों और भवनो के अवशेष स्पष्ट देखे जा सकते हैं। दुर्ग के पूर्व की ओर हाथी-दरवाजे मे भी कुछ जैन मूर्तियां जडी हुई है। नीमरे कोट के बाहर भी जैन सामग्री यदा कदा प्राप्त होती रहती है। पर्वत के नीचे जैन धर्मशाला मे एक चैत्यालय है और यही साहु शान्तिप्रसाद जी की ओर से श्री विशनचन्द ओवरसियर की देखरेख मे एक विशाल और महत्वपूर्ण सग्रहालय का निर्माण हो रहा है।

यद्यपि देवगढ की जैन कला और पुरातत्व का विशेष अध्ययन मैं कर रहा हूँ, किन्तु मेरे इस निबन्ध में वहा के एक विशेष उल्लेखनीय मन्दिर का ही परिचय दिया जा रहा है।

मन्दिर सख्या १२

देवगढ दुर्ग के पूर्वी कोण पर जैन मन्दिर समूह के मध्य मे अवस्थित इस विशाल, भव्य और गगनचुम्बी पश्चिमाभिमुख मन्दिर के आकार प्रकार मे अनेक सम्भावनाये छिपी है। वर्तमान में यह पचायतन शैली का सन्धार-प्रासाद है। हम सर्वप्रथम अर्धमण्डप में प्रवेश करते है। उसमे से ६ सीढियो द्वारा एक चौडे चबूतरे पर आते है। तब छह-छह स्तम्भो की छह पक्तियो पर आधारित एक भव्य महामण्डप में प्रवेश करते हैं, जिसके बायें म० स० १३ और म० स० १४ की दक्षिणी दीवालें स्थित है। इन दीवालो और महामण्डप के बीच लगभग ३ फुट का जो अन्तर था उसमें महामण्डप के फर्श से १ फुट ६ इच ऊची और ४२ फुट लम्बी वेदी बना दी गई है और उस पर २० शिलापट स्थापित किये गए हैं जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तिया उत्कीर्ण है। महामण्डप से अन्तराल में पहुँचा जाता है और जिसके दायें बायें एक एक मढिया विद्यमान है। बाये ओर की मढिया में विशति-भुजी चक्रेश्वरी[5]

---

5. यह प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ की शासन देवी है —

   द्रष्टव्य—(अ) यतिवृषभ तिलोय पण्णत्ती, भाग १, ४९३७, डा० ए०एन० उपाध्ये और डा० हीरालाल जैन सम्पादित, शोलापुर, १९४३। पृ० २६७

   (ब) प० आशाधर, प्रतिष्ठासारोद्धार, अध्याय ३ पद्य १५६, बम्बई वि० स० १९७४। पत्र ७०

   (स) नेमिचन्द्र देव, प्रतिष्ठातिलक, परि० ७ पद्य १। बम्बई, १९१८। पृ० ३४०-३४१।

   (स) शुक्ल, डा० द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रतिमाविज्ञान, द्वा पटल पृष्ठ २७८

और दाये ओर की मढिया में किसी अन्य जैन यक्षी की प्रतिमाये थी, जिन्हे अब वहाँ से धर्मशाला में स्थानान्तरित कर दिया गया है।

अन्तराल को पार करके हम ४ फुट ३ इंच चौडे प्रदक्षिणा-पथ में प्रवेश करते है, इसमें चारो ओर विशालाकार पद्मासन ६ और ४८ कायोत्सर्गासन ५४ तीर्थंकर प्रतिमाये अंकित है। इनमें से १५ अभिलिखित है। अन्तराल से चार सीढियो द्वारा उतर कर इस मंदिर में भव्य गर्भगृह में पहुँचा जाता है। इसमें एक विशालाकार कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति है, जो यहाँ की मौलिक प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त प्रवेश द्वार से सटी हुई दाये बायें दो, और तीर्थंकर की विशालाकार मूर्ति के दोनो ओर एक एक अम्बिका[6] मूर्तियाँ विद्यमान है।

स्थापत्य कला के विकास की दृष्टि से यह सम्पूर्ण मन्दिर तीन या चार बार में निर्मित हुआ प्रतीत होता है। इसका महामण्डप अपनी सादगी से स्पष्ट ही घोषित करता है कि उसका निर्माण गुप्तकाल से पूर्व, कदाचित् मौर्यकाल मे हुआ था। इसके मध्यवर्ती चार स्तम्भो के बीच एक वेदी थी[7], जिसमे जडा हुआ एक 'ज्ञान शिला' नामक शिलालेख प्राप्त हुआ है।

इस अभिलेख की लिपि यद्यपि अनेक भारतीय लिपियो का मिश्रण है तथापि इसमें अशोक कालीन ब्राम्ही लिपि के लक्षण अधिक और स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इस महामन्डप के मौर्यकालीन होने का तीसरा कारण यह है कि इतने विशालाकार महामन्डपो[9] का निर्माण उस काल में ही होता था[10] बाद में महामंडपो का

प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार इस देवी के १६ हाथ किन्तु प्रतिष्ठा तिलक पृ० ३४०-३४१ के अनुसार २० हाथ होते है। विभिन्न स्थानो मे कलाकारो ने इस देवी के हाथो की संख्या और उनमें धारण की गई वस्तुओ में विविधता का निरूपण किया है। देवगढ के इस मन्दिर में इस देवी की २८ भुजाये है और सभी में चक्र धारण किये है।

6. दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही इसे २१वे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ की शासन देवी के रूप में स्वीकार करते है।
   द्रष्टव्य (अ) प्रतिष्ठा सारोद्धार, ३। १७६, पत्र ७३।
   (ब) प्रतिष्ठा तिलक, ७। २२, पृष्ठ ३४७।
   (स) बप्प भट्ट सूरि, चतुर्विंशतिका, पृष्ठ १५०
   (ड) भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रतिमाविज्ञान, पृष्ठ २७४,

7. (अ) कनिंघम, ए : आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, जिल्द १०, (कलकत्ता, १८८०) पृष्ठ १००-१०१,
   (ब) फुहरर, ए : मानुमेन्टल एन्टिक्विटीज एण्ड इन्स्क्रिप्शन्स, इन दी नार्थ वेस्टर्नप्राविंसेज एण्ड अवध। अलाहाबाद, १८९१।
   (स) साहनी, दयाराम, एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि सुप्रिन्टेन्डेन्ट हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेन्टस, नार्दर्न सर्विस, (लाहौर, १९१८) पृ० ९
   (ड) श्री परमानन्द जी वरया, जो देवगढ के जीर्णोद्धार में प्रारम्भ से ही दत्तचित्त है, ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। यह वेदी अभी कुछ समय पूर्व हटा दी गई है। यह वेदी मूलतः उस समय की होगी जब यह 'महामण्डप' मूल मन्दिर के रूप में निर्मित हुआ होगा।

8. साहनी, दयाराम, ए० प्रो० रि०, पृष्ठ १०।

9. (अ) देवगढ का यह महामण्डप ४२ फुट ९ इंच का आयताकार है।
   (ब) मौर्ययुग से स्तम्भो पर मन्दिर निर्मित होने लगे थे, पर उडीसा के स्थापत्य में स्तम्भो का कोई महत्व नही रहा।

10. 'केवल स्तम्भो पर आधारित मन्दिर, इससे (खजुराहो से) बहुत पहले देवगढ मे निर्मित होने लगे थे।
   देखिये—अनेकान्त, दिल्ली, १९६६। वर्ष १९, किरण ३ मे प्रकाशित प० गोपीलाल 'अमर' एम० ए० के 'खजुराहो का घण्टई मन्दिर' शीर्षक निबंध की पादटिप्पणी संख्या १८, पृ० २३।

आकार क्रमशः छोटा होता गया और खजुराहो तक आता आता लगभग १०'×१०' का रह गया अथवा लुप्त हो गया।

महामंडप के पश्चात् गर्भगृह अर्थात् मुख्य मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। इसकी रेखाकृति, अधिष्ठान, प्रवेशद्वार, उस पर का अलकरण, शिखर को गुम्बदनुमा आकृति, उसके साथ अगशिखरों और उरूशृंगी का अभाव आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो इसे गुप्तकाल या उसके किंचित् अनन्तर का सिद्ध करते हैं। यहीं के 'दशावतार मन्दिर' की अनुकृति पर यह या इसकी अनुकृति पर वह निर्मित हुआ हो, यह अधिक सम्भव है।

प्रदक्षिणापथ, निर्विवाद रूप से गर्भगृह के पश्चात् निर्मित हुआ है क्योंकि : १. गुप्त कालीन मन्दिरों मे प्रदक्षिणा पथ प्रायः नही देखा जाता, २. इस मन्दिर की 'कार्निश' को काट कर बाद में समाहित किये गये प्रदक्षिणापथ के 'उष्णीष' अपनी असमानता को इस समय भी नही छिपा सकते, ३. इसकी भित्तियो के बहिर्भाग में चिनी हुई जातियां और यक्षिणी प्रतिमाओ के अकन सहित स्तम्भो की कला खजुराहो की कला (६वी शती ई०) के समकालीन प्रतीत होती है। ४. यक्षिणी प्रतिमाओं के नीचे उत्कीर्ण उनके नामो के वर्णों की लिपि १०वी शती या ११वी शती की सम्भावित है। ५. प्रदक्षिणा-पथ का प्रवेश द्वार मुख्य मन्दिर के साथ ही उसके अर्धमण्डप के द्वार के रूप में निर्मित हुआ था, क्योंकि इसके और गर्भगृह के द्वार की कला और अतःकरण आदि में पूर्ण समानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जबकि प्रदक्षिणा-पथ के बाहर अंकित यक्षिणियो की मूर्तियों और प्रदक्षिणा-पथ के प्रवेश-द्वार में अंकित मूर्तियों तथा अन्य अन्तःकरण में किसी भी दृष्टि से समानता नहीं है।

प्रदक्षिणा पथ के साथ या उसके कुछ समय आस-पास ही अन्तराल और अर्धमण्डप का निर्माण हुआ होना चाहिये।

अर्ध मण्डप :—

इस मन्दिर का अर्ध मण्डप चार स्तम्भो पर आधारित है। सामने के दो स्तम्भ एक समान है, जबकि पश्चाद्वर्ती दो स्तम्भ पूरी तरह से असमान है। मेरा विश्वास है कि मूल स्तम्भों के खण्डित हो जाने से इन्हें किसी अन्य स्मारक के अवशेषों में से लाकर समाविष्ट किया गया होगा। क्योंकि यदि उनमें अलंकरण आदि का सूक्ष्म अंकन न भी किया जा सकता, तो भी मोटाई आदि में समानता तो लाई ही जा सकती थी। उन दोनों की चोकिया भी साधारण पत्थरो से बना दी गई हैं, यद्यपि उनके शीर्ष मौलिक है।

सामने के स्तम्भो पर चौकियो के ऊपरी भाग के चारो ओर क्षेत्रपालो का अंकन है, और उनके ऊपर शिखराकृतियो से युक्त देवकुलिकाओ में तीन तीन और कायोत्सर्गासन तीर्थंकरो और एक ओर एक एक यक्षिणी प्रतिमाओ का अंकन हुआ है। उनके ऊपर दोनो स्तम्भो पर प्रत्येक ओर एक एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर दिखाये गए हैं, और उनके दोनों ओर दो सुन्दरियाँ उन्हे रिझाने का निष्फल प्रयत्न कर रही है। उनके भी दोनो ओर एक एक पुरुषाकृतियाँ और एक एक नारी आकृतियाँ दर्शित हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक उन पर मकरमुखो का अलकरण और उसके ऊपर विभिन्न देवी देवताओ का अकन है। इसके भी ऊपर नृत्य मण्डली का अत्यन्त मनोरम अंकन हुआ है, जिसके ऊपर नयनाभिराम जालीदार कटाव है। इसके पश्चात् समग्र मण्डप का भार सम्हालने में दत्तचित कीर्तिमुख दिखाए गए हैं। तोरण पर भी मुख यक्ष के अनन्तर विविध वाद्ययन्त्रो से सज्जित एक लम्बी सगीत मण्डली का अकन काफी दिलचस्प बन पड़ा है।

इस मण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर एक ऐतिहासिक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसके द्वारा देवगढ़ का प्राचीन नाम एवं राजा भोजदेव की राज्यसीमा व समय निर्धारित करने मे बहुत बडी सहायता मिलती है। यह अभिलेख १० पक्तियो में १ फुट ढाई इच ऊंचे और १ फुट ५ इच चौडे स्थान में उत्कीर्ण है। इसके एक अक्षर की लम्बाई लगभग १ इच है।

अन्तराल का प्रवेशद्वार :—

अन्तराल का प्रवेश द्वार विशेष रूप से अलकृत है।

इसके दोनों पक्षों पर गंगा और यमुना का अंकन अत्यन्त भव्यता से उसकी सहायक देवियो के साथ हुआ है। यह द्वार तथा गर्भगृह का प्रवेशद्वार एक ही समय की कृति माने जाने चाहिए। दोनों का अलंकरण और विषयवस्तु शैली आदि की दृष्टि से एक जैसा है।

प्रदक्षिणा पथ

प्रदक्षिणा-पथ की दीवाल के बाहर जालीदार लम्बे किन्तु मकरे गवाक्षों की सुन्दर संयोजना हुई है। प्रति दो स्तम्भों के मध्य एक शिखराकृति से युक्त देवकुलिका दर्शायी गई है, जिसके ऊपरी भाग में एक पद्मासन तीर्थंकर और उनके नीचे अपनी सहायक देवियों के साथ तीर्थंकर की यक्षिणी का अंकन हुआ है। प्रत्येक शासन-देवी का नाम उसके पादपीठ में उत्कीर्ण है। इस प्रकार प्रदक्षिणा-पथ में चारो ओर चौबीस तीर्थंकरों और उनकी शासन देवियो का जो अंकन यहां हुआ है, वह भारतीय पुरातत्व में कदाचित् एकमात्र है।[12] इससे जैन प्रतिमा-शास्त्र की समृद्धि और परिपूर्णता का सप्रमाण बोध होता है।

गर्भगृह का प्रवेशद्वार

गर्भगृह का प्रवेशद्वार तत्कालीन स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है। यह अत्यन्त भव्य और सूक्ष्मता से अलंकृत है। चौखट के नीचे के भाग के मध्य में कीर्तिमुख और मकरमुख की उभरी हुई सज्जा के दोनो ओर एक एक नृत्य मण्डली के पश्चात् स्नेह क्रीडा में मग्न सिह और हाथी की भव्य आकृतिया दर्शित हैं, तथा बायीं ओर बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का यक्ष पार्श्व[13] और लक्ष्मी का अंकन है। तत्पश्चात् प्रत्येक द्वार पक्ष दो दो पंक्तियों में ऊपर की ओर बढ़ता है। बाहरी पंक्तियां चौखट के ऊपरी भाग के साथ ऊपरी भाग तक बढती जाती हैं। उनमें सर्वप्रथम एक एक देवी का और तत्पश्चात् विभिन्न आकृतियो के शार्दूलो का अंकन है, जिनमें गजमुख शार्दूल की छटा दर्शनीय है। बाये ओर की भीतरी पंक्ति में अपनी तीन सहायक देवियो के साथ मकरवाहिनी गंगा दर्शित है, जिसके ऊपर नाग अंकित है। इसके ऊपर एक पुस्तकधारी साधु उत्कीर्ण है। इसके ऊपर पांच पाच देवकुलिकाओं की तीन पंक्तियां है। इनमें से मध्यवर्ती किंचित् आगे को निकली हुई है और वह चौडाई में पार्श्ववर्ती पंक्तियो से दुगनी है। मध्य की प्रथम देवकुलिका में एक साधु अपनी पीछी और कमण्डलु लिये खडे हैं और एक दाढ़ीधारी युवक विनम्रता-पूर्वक उनके चरण स्पर्श कर रहा है तथा उसके निकट एक महिला अंजलि बांधे हुए अपनी नम्रता अभिव्यक्त कर रही है। इसके ऊपर की तीन देवकुलिकाओं में तीन दम्पतियो को प्रेमासक्त मुद्रा में उत्कीर्ण दिखाया गया है। निकटवर्ती दोनों पंक्तियो की देवकुलिकाओं में विभिन्न मुद्राओ में विभिन्न वाद्ययन्त्रों के साथ खडे हुए दश स्त्री-पुरुषों का नयनाभिराम अंकन है।

दायीं ओर सर्वप्रथम अपनी सहायक देवियों के साथ कूर्मवाहिनी यमुना देवी का नितान्त नयनाभिराम अंकन हुआ है। उसके ऊपर नागी को अवस्थित दिखाया गया है। इसके बायी ओर साधु पीछी कमण्डलु तथा ज्ञान का साधन ग्रन्थ धारण किए हुए दिखाये गये हैं। इसके ऊपर (बायी ओर की भांति) यहां भी पाच पांच देव-कुलिकाओ की तीन पंक्तियां हैं। मध्यवर्ती पंक्ति में प्रेमासक्त दम्पतियो और निकटवर्ती पंक्तियों में पूर्ववत् विभिन्न मुद्राओ मे विभिन्न वाद्ययन्त्र धारण किए हुए

11. इस द्वार के दोनो पक्षों का विवरण गर्भगृह के प्रवेश द्वार के दोनो पक्षों से मिलता जुलता है। अत: वही से ज्ञात कर ले।

12. रायबहादुर दयाराम साहनी इस मन्दिर में केवल २० यक्षिणी प्रतिमायें देख सके।

ए० प्रो० रि०, पृ० ६।

कदाचित् उन्होंने मढियो के पीछे इसी मन्दिर की दिवाल में जडी २-२ यक्षी प्रतिमाओं पर ध्यान नहीं दिया। यदि किया होता तो उन्हे २४ यक्षिणियो की मूर्तिया अवश्य मिलती।

13 पार्श्वो धनुर्बाण भण्डि-मुद्गरश्च फल वर।
सर्परूप: श्यामवर्ण: कर्तव्य: शान्तिमिच्छता।।
शुक्ल, डा० द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रतिमाविज्ञान, आठवा पटल, पृ० २७८

स्त्री-पुरुषों का मनोरम अंकन हुआ है।

चौखट के ऊपर मध्य में बहुत ही सुन्दर कमलाकृति आसन पर द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ का पद्मासन में और उनके दोनो ओर एक एक तीर्थंकर का कायोत्सर्गासन में अंकन है। उनमें भी दोनो ओर पाँच पाँच विद्याधर युगल उडते हुए दिखाये गये हैं और उनके ऊपर नवग्रहो का अंकन है। इसके ऊपर एक नवीन पंक्ति प्रारम्भ होती है, जिसके मध्य में एक देवकुलिका में एक पद्मासन तीर्थंकर और उनके दोनों ओर चार-चार पद्मासन और छह-छह कायोत्सर्गासन तीर्थंकरो का अंकन है। इस पंक्ति के ऊपर तथा मध्यवर्ती देवकुलिका के दोनो ओर तीर्थंकर की माता के सोलह मंगल स्वप्नों का मार्मिक चित्रण है, उनमें (बायें से दाये) एक हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, झूलती हुई दो मालायें पूर्ण चन्द्रमा, उदीयमान सूर्य, सरोवर में क्रीडा करता हुआ मछलियों का युगल। देवकुलिका के दाये : दो स्वर्ण कलश, पद्म सरोवर, लहराता हुआ समुद्र रत्नजटित सिंहासन, स्वर्गीय विमान, धरणेन्द्र का भवन, रत्न समूह और प्रज्वलित अग्नि अंकित है[14]।

मंगल-स्वप्नो की मान्यता भारत में अत्यन्त प्राचीन है। छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेख है कि वह यदि स्त्री को देखे तो समझ ले कि अभीष्ट कार्य सफल होगा। उन स्वप्नों के निमित से समझ लें कि उन कार्यों में सफलता मिलगी[15]।" दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार भगवान् जिनेन्द्र जब माता के गर्भ में आने लगते है, तब माता सोलह स्वप्नों को देखती हैं। अत. ये स्वप्न भगवान् जिनेन्द्र के जन्म का अनुमान कराने में सूचना स्वरूप है[16] भगवान् महावीर से पहले स्वप्न-फल प्रदर्शित करने वाले विद्वानों को निमित्त पाठक कहा जाता था। आजीवक सम्प्रदाय में निमित-शास्त्र बहुत प्रचलित था। ईसा पूर्व प्रथम शती में कालकाचार्य ने इन्ही से निमित्त-शास्त्र की पूर्ण विद्या प्राप्त की थी[17]। इन सोलह स्वप्नो का दिगम्बर जैन परम्परा में बहुत अधिक महत्व है और विभिन्न ग्रन्थो में विस्तार से उनका फल बताया गया है[18]। श्वेताम्बर जैन परम्परा में भी भगवान जिनेन्द्र के पूर्व माता को स्वप्न-दर्शन आवश्यक माना गया है, किन्तु उनके यहाँ इनकी संख्या चौदह स्वीकार की गई है[19]। सोलह-स्वप्नो के दृश्य उत्कीर्ण करने की परम्परा बहुत प्रचलित रही है, इसे खजुराहो के घण्टई मन्दिर और आदिनाथ मन्दिर में आबू के खरतर बसहि में भी देखा जा सकता है। यत्र तत्र अब भी ये दृश्य अंकित किये जाते हैं।

इस मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण स्वप्नों की सोलह संख्या निर्विवाद रूप से सिद्ध करती है कि इस मन्दिर का सम्बन्ध दिगम्बर जैन परम्परा से रहा है। उपर्युक्त सोलह स्वप्नों की बायी ओर महाकाली नाम की नरारूढा आठवी विद्यादेवी[20] का अंकन है, जिसका एक हाथ अभय मुद्रा में है, एक हाथ किंचित् खण्डित हो गया है और शेष दो में वज्र तथा घण्टी है।

14 (अ) भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण आदि पुराण:, पं० पन्नालाल जैन सम्पादित, ।काशी, वि० स० २००७। सर्ग १२, श्लोक १०१ से ११तक।

(ब) जिनसेन, हरिवंश पुराण, (बम्बई, १९३०) सर्ग ८ श्लोक ५८ तथा ७४।

15 देखिये—छादोग्योपनिषद्, २,८-८।

16 वीरनन्दी—चन्द्रप्रभ चरित, सर्ग १६, प० ५३।

17 शाह, डा० उमाकान्त प्रेमानन्द : स्टडीज इन जैन आर्ट, । बनारस १९५५। पृ० १०५, टिप्पणी-१

18 (अ) जिनसेन, महापुराण आदि पुराण, सर्ग १२, पद्य १५५ और आगे।

(ब) वीरनन्दी : चन्द्रप्रभ चरित, १६-६३।

(स) मुनिसुव्रतकाव्य, ३, २८, २९।

(ड) रूपचन्द्र —पंच मगल पाठ, जिनवाणी सग्रह। कलकत्ता, १९३७। पृ० ५२।

19 (अ) भद्रबाहु। कल्पसूत्र, डा० हर्मन याकोबी द्वारा सूत्र ३, पृष्ठ २१९। तथा सूत्र ३१-३६, पृष्ठ २२९ से २३८ तक।

(ब) शाह, डा० यू० पी० · स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० १०५।

20 शुक्ल, डा० द्विजेन्द्रनाथ · भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ० २७१-२७४।

दाये बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी सिंह वाहिनी अम्बिका[21] अंकित है, जिसके दायें हाथ की गोद में बालक है और बाये हाथ में आमगुच्छक है। उल्लेखनीय यह कि इस मूर्ति में उसका दूसरा पुत्र अनुपस्थित है। इस शासन देवी का मुकुट अपनी निजी विशेषता रखता है, जिसकी बनावट आधुनिक सेनापति की टोपी से बहुत कुछ मिलती जुलती है।

इसके ठीक नीचे वीणावादन में तन्मय सरस्वती की मनोहारी प्रतिमा अंकित है। इसके ऊपर के दायें हाथ में सूत्र से मजबूती के साथ लेपेटी गई पुस्तक और बाये में घट विद्यमान है। इसके आभूषणों में पग में पायल, पाँव पोश, करधनी, हथफल, वघमा के चूरा, बाजूबन्द, मोहन माला, भोरला, ठुसी, कर्णफूल और बेंदी तथा वस्त्र अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ निर्दशित हैं। इसकी केश राशि अत्यन्त घुंघराली और जूडा ऊपर को सम्हाल कर बाँधा गया है।

इसके मुकाबले (चौखट के दाये किनारे) चतुर्भुजा लक्ष्मी का भी बहुत सुन्दर अंकन हुआ है जिसके दाये ऊपर के हाथ में कमल है और नीचे का वरद् मुद्रा में है, तथा बाया ऊपर का खण्डित है तथा नीचे के हाथ में कमल है।

इस प्रकार गर्भ का प्रवेश द्वार सूक्ष्मता और भव्यता से अलंकृत है और तत्कालीन स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है।

गर्भ गृह

प्रवेश द्वार को वर्तमान में लकडी के किवाडो से बन्द किया जाता है चार सीढियो से उतर कर २ फुट नीचे आना पड़ता है, प्रवेश करते ही दोनों ओर अम्बिका की ४॥ फुट ऊंची प्रतिमायें अंकित दृष्टव्य है। सामने ही १२' ४" ऊंची कायोत्सर्गासन भव्य तीर्थंकर प्रतिमा के दर्शन होते ही हृदय भक्ति से भर उठता है। यह विशालाकार प्रतिमा काल के कराल थपेडो और आततायियो की काली करतूतो से बहुत कुछ खण्डित हो गई है। परन्तु भक्तों ने उसकी यथा सम्भव जुड़ाई करा दी है। इसे १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रतिमा मानकर इस मन्दिर का नाम ही शान्तिनाथ मन्दिर प्रचलित हो गया है। परन्तु शान्तिनाथ[22] का चिन्ह हिरण या यक्ष यक्षिणी आदि कोई भी यहाँ दृष्टिगत नही होते। ऐसा प्रतीत होता है कि अहार, खुजुराहो, सीरोन, चाँदपुर आदि निकटवर्ती तीर्थ स्थानो पर विद्यमान कायोत्सर्गासन विशालाकार शान्तिनाथ की प्रतिमाओ की समानता के कारण भक्तों ने इसे भी शान्तिनाथ प्रतिमा कहना प्रारम्भ कर दिया, जो कदाचित् सम्भव भी है। भक्तो ने इसके चिन्ह या यक्ष आदि का अन्वेषण या तो किया ही नही, या वे इसमें असफल रहे, क्योंकि अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इस प्रतिमा के सामने २ फुट ३ इंच के अन्तर से एक दीवाल खड़ी थी, जिसमें प्रवेश करने के लिये १ फुट ६ इंच चौडाई की एक खिडकी थी,[23] इसमे मे प्रवेश करके एक अन्धकारपूर्ण और बदबूदार सकरी कोठरी[24] में मूर्ति का चिन्ह खोज निकालने का साहस कदाचित् ही किसी को होता वर्तमान में इस दीवाल को हटा दिया गया है, और एक

21 देखिए—टिप्पणी, सख्या ६

22 (अ) फुहरर ने पता नही किस आधार पर इसे ऋषभनाथ की मूर्ति लिखा है। फुहरर, ए : मान्युमेन्टल ए० इ०। अलाहाबाद १८८१।
(ब) कनिघम इस विषय में पूर्णतः मौन धारण किये है, वे इसे मात्र विशालाकार दिगम्बर प्रतिमा कहते हैं। पृष्ठ १०८-आ०म०रि० जिल्द १०
(स) किन्तु साहनी ने इसे शान्तिनाथ की मूर्ति कहा है। देखिये—साहनी, दयाराम : ए० प्रो० रि० पृष्ठ १०।

23 (अ) कनिघम, ए : आ० स० रि०, जिल्द १० पृ०१००
(ब) फुहरर, ए : दि० मा० ए० इं०, । अलाहाबाद, १८९१।

24 (अ) कनिघम, ए : आ० स० रि०, जिल्द १०, पृ०१००
(ब) साहनी, दयाराम : ए० प्रो० रि०, पृ० १०।
(स) श्री परमानन्द जी बरया ने भी इस दीवाल, खिडकी तथा वहाँ के अन्धकार विषक तथ्यो की पुष्टि की है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली दिगम्बर जैन मंदिर, शिरपुर

(नेमचन्द धन्नूसा जैन)

विदर्भ के प्राचीन शिल्प के याद में जिसका उल्लेख होता ही है तथा जैन शिल्प-कला में जिसका नाम पहले आता है ऐसा पवली मन्दिर शिरपुर गाँव के बाहर पश्चिम दिशा की ओर है। इस मन्दिर के शिल्प-रचना-वास्तु के बाबत पिछले अंको में विस्तृत चर्चा की गई है। इस मन्दिर के इर्दगिर्द कुछ जमीन खोद कर मिट्टी बाजू कर दी, तो पता चला की जमीन पर ४-५ फुट मिट्टी चढ गई थी जिसमें मन्दिर का नीचे का भाग दब गया था। अब मन्दिर के तीनों बाजूओ के दरवाजे के सामने १०'×१०' के चबूतरे लगे हैं। और उसके सामने से सीढियाँ भी लगी हैं। इस खुदाई में ता २०-२-६७ के दिन एक अति जीर्ण पाषाण का खड्गासन चतुर्मुख जिन बिम्ब, जिनबिम्बस्तम्भ तथा एक शिलालेख स्तम्भ मिला है। कुछ भग्नावशेष भी प्राप्त हुए है।

मन्दिर के बाहर गर्भागार के दोनो ओर २ से १॥ फीट लम्बी तथा ६ इच चौडी और २॥ इच से ३ इच जाडी ईटो की दिवाल मिली है। वह जमीन में पुरुष भर तो निश्चित है तथा उसके एक भाग में चूने का प्लास्टर है। इन ईटो का याने दिवाल का काल अदाजा गुप्त काल बताया जाता है। यह ईंट वजन में बहुत हल्की है।

इस मन्दिर के अन्दर गर्भगृह के सामने चूने के प्लास्टर की जगह पाषाण की फर्मी बिछाने के इरादे से खोदते समय ता० ६-३-६७ को ११ मूर्ति अखण्ड मिली। बहुतेक मूर्ति हरे पाषाण की है, एक लाल पाषाण की है, सब मूर्तिया आकर्षक है। प्रत्येक मूर्ति पर लेख है तथा कुछ पर के लेख घिस गये है। प्राप्त मूर्ति में एक मूर्ति तो सिर्फ दो इच की है।

इन जिन बिम्बो का प्रगट होने की बात कई वर्तमान पत्रों में प्रकाशित हुई है तथा कुछ पेपरो में फोटो भी आये हैं। उन्हे पढ कर और देख कर मुझे शिरपुर जाने की इच्छा हुई। इसी समय पर डा० यशवंत खुशाल देशपाडे, अध्यक्ष—शारदाश्रम यवतमाल (हल्ली मु० नागपुर) नाती की शादी में परतना डा० (अचलपुर)

गार्डर द्वारा टूटी हुई कड़ी को सम्हाल कर उसका उद्देश्य पूरा कर दिया गया है। इस विशालाकार मूर्ति के दोनो ओर, प्रवेशद्वार के भीतर दोनो तथा चौखट के ऊपर दाये अम्बिका और चौखट के नीचे बायें पार्श्व यक्ष का अकन होने से यह सम्भावना अधिक है कि यह मूर्ति २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ की होनी चाहिये[25]।

लगभग ३ फुट ऊँचे ४० फुट ५ इंच लम्बे और ३५ फुट चौड़े अधिष्ठान वाले इस मन्दिर के प्रदक्षिणा पथ की छत जमीन से १७ फुट ऊँची है और छत पर से पूरे शिखर की ऊँचाई लगभग ४५ फुट है। इस प्रकार इस मन्दिर के अत्यन्त भव्य अर्धमण्डप, अन्तराल, प्रदक्षिणा पथ और गर्भगृह से इसकी पचायतन शैली स्पष्ट है तथा स्थापत्य और वास्तु कला के क्रमिक विकास की दृष्टि से इसमें अनेक सम्भावनायें छिपी हुई है।

सहस्त्रो शीत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुएं बिता देने पर पर भी प्रकृति के आगन में निर्भयता से अवस्थित देवगढ का यह मन्दिर वहाँ के सभी स्मारकों में सर्वाधिक समृद्ध और महत्वपूर्ण है। तथा अपने निर्माताओं की यशोगाथा अमर किए हुए है।

25 मेरी इस मान्यता की पुष्टि शोधक विद्वान् श्री नीरज जैन के विचारो से भी होती है।
द्रष्टव्य—अनेकान्त, वर्ष १७ किरण ४ में प्रकाशित निबन्ध —देवताओ का गढ : देवगढ . पृ० १६८

आये थे। उन्होने मुझे टपाल दी और उनके साथ साथ मे ता० २६-३० मार्च को शिरपुर पहुचा।

डा० यशवंतराव ने इस मन्दिर का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया, तथा गाँव के भी अंतरीक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर को भेट दी। उनकी रिपोर्ट है की, यह पवली मन्दिर ६ वी या १० वी शताब्दी का है तथा स्पष्टतया और पूर्णतया यह मन्दिर दिगम्बरियों का ही है।

डा० यशवतराव ने प्राप्त मूर्तियों के लेख तथा शिलालेख भी उतार लिये है। उसकी एक प्रति उन्होने मुझे भी दी है। उनका सविस्तार अहवाल तथा मूर्तिलेख संग्रह अनेकान्त में छपवाने की अनुमती उनसे ली है अत. वह आगे दे रहा हूँ। लेकिन पहले "यह मन्दिर भी श्वेताम्बरो का ही है और यह मन्दिर श्वेताम्बरो के मैनेजमेंट के अन्दर ही है।" आदि एक लेख वहा के श्वेताम्बर मैनेजर ने ता० २४-३-६७ के दैनिक मातृभूमि में प्रकाशित किया है, इसका सरल अर्थ है कि यह दिगम्बरी समाज और इतिहास के लिये लाल झडी है। श्वेतांबर लोग किसी बहाने से यहाँ भी कब्जा करने की तैयारी में हैं। हाल ही अप्रेल के अंतिम सप्ताह में (२६-४-६७) बुधवार के दिन उन लोगो ने दिगम्बरी धर्मशाला के ताले तोडे तथा बोर्डस् निकलवाये। उस समय जो झगड़ा हुआ। उस कारण ताले तथा बोर्डस् स्थानीय पुलिस स्टेशन में जप्त होकर रखे गये हैं।

यद्यपि वहां की दिगम्बर जनता जागृत है, तथापि समाज के सारे लोग उनके पीछे तन, मन, धन से नही होंगे तब तक उनकी बाजू मजबूत नही हो सकती। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार का कार्य चालू है। उसके लिये कम से कम १५ हजार रुपये की तथा मन्दिर जी के सामने के महाद्वार के आजुबाजू धर्मशाला के निर्माण हेतू २५ हजार रुपये की आवश्यकता है। इसकी पूर्ति अगर हमारे गणमान्य धनी तथा दानी लोग करेगे तो आगे के झगडे तथा विपत्ती से यह स्थान बच सकता है। बाद में हम कोर्ट कचेरी में हजारो रुपये लगा देगे या यह मन्दिर नष्ट होने पर लाखों रुपये लगायें तो भी ऐसा मन्दिर खडा नही हो सकता। अत: इसकी कीमत समय पर यदि न आकी जाय तो इसको खतरा है यह सुनिश्चित है। और यह निर्विवाद है कि, आज तक इस मन्दिर पर कब्जा कभी श्वेताम्बरो का न था, और न है।

पिछले अंक में इस मन्दिर बाबत ऐतिहासिक तथा संशोधक लोगो के मत प्रकाशित किये हैं। अभी और कुछ दिगम्बर जैन समाज के लिये यहा दिये जाते है। इससे भी इस मन्दिर पर हमारा कब्जा कैसा है यह सिद्ध होता है:—

(१) एच० सी० जज्जमेंट पृष्ठ ३१२ (पी०पी०बी०) "श्वेताम्बर लोग इस पवली मन्दिर के कभी मालिक नही हो सकते, क्योंकि उन्होने ही मुख्य मन्दिर के केस में मालकी हक्क की माग पीछे ली है।" आदि।

(२) कन्फरन्वेशन रिपोर्ट, बाय ब्लैकस्टोन, असि-स्टेन्ट आर्चियालाजीकल सर्वे ईस्टर्न सर्कल बालपुर ता० १७-४-१६१३—'सिरपुर का प्राचीन मन्दिर अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान का है तथा वह दिगम्बर जैनो का है।' आदि।

(३) लीस्ट आफ प्रोटेक्टेड मानुमेंट एक्स्पेक्टेड बाय दी गवर्नमेंट आफ इण्डिया करेक्टेड अप्टू सप्टेम्बर १६२८—"यह शिरपुर गाँव के बाहर का अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का मन्दिर जैनो का है तथा पुरातत्त्व विभाग ने इसको संरक्षित करके ताबे मे लिया है और ता० ८ मार्च १६२१ के करार के अनुसार दिगम्बरी लोग आर्डीनरी रिपेरी कर सकते हैं तथा स्पेशल रिपेरी सिर्फ गवर्नमेंट ही करेगी।" आदि।

(४) अकोला जिलाध्यक्ष का वासम के तहसीलदार को पत्र १३-३-६१—"शिरपुर गाव के पश्चिम में जो दिगम्बर लोगो का प्राचीन मन्दिर है, वहाँ वे लोग सरकार के ताबे में देने के लिए तैयार है क्या ?" आदि।

(५) ऊपर के पत्रको दिगम्बर समाज के पचो की तरफ से श्री यादवराव जी श्रावगे का उत्तर ता० १-४-६१ "यह मन्दिर समस्त दिगम्बर जैन समाज का होने से मालकी में अमला नही छोड सकता तथा इस मन्दिर में अभी अनेकों दिगम्बर मूर्तियाँ विराजमान है, जो कि समाज से नित्य पूजी जाती है। और अभी इस मन्दिर के

जीर्णोद्धार की आवश्यकता है, वह एक तो सरकार ने करना या हम को करने की परवानगी देना।"

(६) पुरातत्त्व विभाग—भोपाल से ता० २६-१२-६३ का पत्र—"आपकी विनती के अनुसार आपको पवली मन्दिर की दुरुस्ती करने की परवानगी दी जाती है। सरकार की तरफ से अभी नहीं होगी।" आदि।

(७) पुरातत्त्व विभाग भोपाल से ता० ५-१२-६८ का पत्र—"सरकार की तरफ से शिरपुर के पवली मन्दिर की रिपेरी नहीं हो सकी, क्योंकि यह पवली मन्दिर सरक्षित स्थलों के याद मे से निकाल दिया है। आप मालिक ही है, अतः अब आप उचित मरम्मत कर सकते है।" आदि।

अब बताइये इस मन्दिर के मालिक कौन है और आज तक यह मन्दिर किसके मैनेजमेंट के अन्दर है तथा किसके कब्जे मे है ? इस मन्दिर बाबत और इतिहासकारों के मत समाज के सामने रखता हूँ :—

(८) आर्चियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया, मेडिव्हल टेंपल आफ दी दक्खन बाय कोझेन्स १९३१ पेज ६७ —

"यह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली टेंपल दिगम्बर जैनों का है।" आदि।

(९) इम्पीरियल गझेटीयर (आक्सफर्ड) पार्ट ७, पेज ६७—बासम डिस्ट्रिक्ट—अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का प्राचीन मन्दिर इस जिले मे सबसे आकर्षक कलाकृति का स्थान है। यह मन्दिर दिगम्बर जैनों का है।" आदि।

अब इस ही मन्दिर मे हाल जो ११ मूर्ति तथा स्तम्भलेख मिला उनके ऊपर के उपलब्ध लेख देखो —

(१) नेमिनाथ प्रभु—७ इंच ऊंची "सवत १७२७ मार्गशिर्ष सुदि १३ शुक्ले श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छ पुष्करगणे श्री लोहाचार्यान्वये भट्टारक श्री लक्ष्मीसेनाम्नाये भट्टारक श्री गुणभद्रोपदेशात् ·· · ज्ञातीय इक्ष्वाकुवंश उपजात यावायक गोत्रे स० क (त्या) न तस्यात्मज. स० वासुदेव तस्यात्मज. इद बिम्ब प्रणमन्ति।

(२) सिफ २ इंच ऊंची लेख नहीं, लांछन नहीं।

(३) श्री पार्श्वनाथ—ऊंची ७ इंच– सम्वत् १७५४ वैशाख सुदि १३ शुक्रवार काष्ठासंघे········ प्रतिष्ठा।

(४) श्री पार्श्वनाथ—ऊंची ८॥ इंच—शके १५६१ फालगुण सुदी द्वितीया सेनगणे भ० सोमसेन उपदेशात् श्रीपुर (नगरे) प्रतिष्ठा।

(५) श्री पार्श्वनाथ—९ इंच ऊँची—स्वस्ति श्री सवत १८११ माघ शु० १० श्री कुन्दकुन्दाम्नाये गुरु ज्ञानसेन उपदेशात् आदिनाथ तत्पुत्र पासोबा सइतवाल (पुत्र) कृपाल जन्म निमित्ते श्रीपुर नगरे अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली जी(जि)नालय जीर्णोद्धार कृत्य प्रतिष्ठितमिदं बिम्बम्।

(६) +(७) श्री चन्द्रनाथ—३ इंच ऊची, लेख नहीं।

(८) श्री आदिनाथ—२॥ इंच ऊंची—लेख नहीं।

टीप—यह सब प्रतिमा हरे पाषाण की है लेख नं० ४ तथा ५ इतिहास के लिये विशेष महत्त्व रखते हैं।

(९) श्री रत्नत्रय प्रभु—लाल पाषाण ८॥ इंच ऊंची लेख नहीं।

(१०) श्री पार्श्वनाथ—कालसर पाषाण ६॥ इंच उंची। लेख नहीं।

टीप—लेख ९ तथा १० यह दो मूर्ति शिल्प की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है और प्राप्त मूर्तियो में सबसे प्राचीन है याने कम से कम एक हजार साल पहले की है। इन दो मूर्तियो का अलग फोटो दिया है। तथा ग्रुप फोटो भी दिया है।

(११) चौबीसी पीतल की—१॥ फुट ऊँची सोने की पालिश है। इस पर लेख है। लेकिन यह प्रतिमा तिजोरी मे होने से लेख बाचने को नहीं मिली।

(१२) मन्दिर के बाहर जो २८-२-६७ को शील-स्तम्भ प्राप्त हुआ उसके ऊपर का लेख—श्री अंतरीक्ष नम गुरु कुन्द कुन्द नमः सवत १८११ माघ सुद १० आदिनाथ पुत्र पासोबा सइतवाल··· ···पुत्र कृपाला जन्मे हेऊन उद्धार केले।

इस परसे इस क्षेत्र में जीवन भरने वाले कौन हैं इसका पता चलता है। इस स्थान का निर्माण करने वाले तथा कायम रखने वाले और सरक्षण संवर्धन का इतिहास बनाने वाले दिगम्बर जैन ही है। इसी बात का

समर्थन डा० यशवंत खुशाल देशपांडे जी ने अपने अभिप्राय में किया है। वाचकों के लिये मैं उसका अनुवाद दे रहा हूँ :—

साप्ताहिक तरुण भारत, नागपुर ता० २३-४-६७ पृष्ठ ८ के आधार से अनुवादित—

लेखक—डा० य० खु० देशपांडे
शिरपुर यहाँ के श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ
मूर्ति, शिल्प और वास्तु इनके निरीक्षण का अहवाल

ता० २४ मार्च, १९६४ के तरुण भारत के अंक में 'शिरपुर में प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई' इस शीर्षक के नीचे का वृत्त बाचा तब भारतीय और तदगभूत विदर्भके प्राचीन मूर्ति शिल्प इनका अभ्यासक इस नाते मेरा लक्ष वेधा बाद में ता० २४-३-६७ के दैनिक मातृभूमि के अंक में शिरपुर के जैन संस्थान मैनेजर का खुलासा, इस मथले के नीचे एक लेख प्रसिद्ध हुआ है, उस पर से वहाँ दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बीच झगडा रहते हुए अब दिगम्बर लोगों ने प्राचीन मन्दिर की देवढ़ी का खोद काम चालु करके सब प्राचीन अवशेष नष्ट करने के के कार्य में लगे हैं, आदि मजकूर प्रसिद्ध हुआ है। इस पर से दिगम्बरी और श्वेताम्बरी लोगों में वहा संघर्ष है। ऐसा मालूम पड़ने पर भी, इस संघर्ष का विचार न करते हुए भी, प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति कैसी है, और विदर्भ के प्राचीन वस्तु, शिल्प और मूर्ति का अभ्यास पूर्वक निरीक्षण करने के हेतू मेरे इस वृद्धपन में पराधीनता प्राप्त होने पर भी प्रत्यक्ष शिरपुर जाने का मैंने ठहराया और ता० २९,३० मार्च को मेरे मित्र की सहायता से रात को शिरपुर आकर दिगम्बरियो की धर्मशाला में मुकाम किया।

ता० ३० को सबेरे प्रथम पौली मन्दिर की तरफ गया। यह मन्दिर अत्यन्त जीर्ण शीर्ण हुआ है और इसके तुरन्त दुरुस्ती की व्यवस्था न हुई तो नष्ट होने की और विदर्भ के प्राचीन वास्तु, शिल्प तथा मूर्ति जो कि भारतीय वैदर्भीय संस्कृति का बहुमूल्य प्रतीक है नष्ट होने की सम्भावना है। यह सामान्य आदमी को भी दिखता है।

मन्दिर के सभामण्डप द्वार का ताला था वह दिगम्बर पुजारी ने लगाया था ऐसा मालूम पड़ा। मैं महा द्वार से प्रवेश करके मन्दिर चौक में आया। वहाँ अनेक शताब्दी का बैठा हुआ ४-५ फुट मिट्टी का थर निकालके मंदिर बंधा उस समय जो पातवी थी वह प्राप्त हुवी अब मंदिर के सामने के चबूतरे को ३-४ हाथ सीढ़ियां मूलस्वरूप में दीख रही है। वहां विद्यमान दिगंबरी लोगों ने वह चालू जीर्णोद्धार की जानकारी दी। और यह लेव्हलींग का कार्य करते समय वहां प्राप्त हुवे हुये चर्तुमुख बिंब, प्रस्तर स्तंभ और उस परका शिलालेख भी बताया। मैंने उस शिलालेख का वाचन करके टीपणी ली। यह सब लेख दिगम्बरी होने का मालूम पड़ा। मन्दिर के इर्दगिर्द दक्षिण, पश्चिम और उत्तर बाजू के लेव्हलिंग का कार्य तथा वहां मिले हुए प्राचीन वस्तु, जमीन में जो गुप्त कालीन ईंटो की (ईंट दो फुट लम्बी) दिवाल के अवशेष हैं उसका निरीक्षण करके उसका टीपण लिया।

अब तक मन्दिर का पुजारी वहाँ आया, उसने मन्दिर का द्वार खोला फिर हमने कुछ दिगम्बरी लोगों के साथ मन्दिर में प्रवेश किया। मन्दिर के बाहर के स्थापत्य तथा अन्दर के स्थापत्य और शिल्प दिवाल पर उत्कीर्ण मूर्ति तथा तीर्थंकरो के चरित्र के कथा प्रसंग वहां दीख पडे। तथा गर्भागार और सभा मण्डप मे प्रस्थापित मूर्ति जिसकी पूजा अभी भी दिगम्बरी करते हैं, दीख पड़ी। इस पर से मेरे मुताबिक किसी भी अभ्यासकों को निश्चय होगा की यह मन्दिर तथा जिसने यह मन्दिर बनवाया वह श्वेतांबरी नहीं था तो दिगम्बरी पंथ का ही था। यह स्पष्ट है। वहाँ के प्रतिष्ठित ऐसी मन्दिर में की स्थापित दिगम्बरी मूर्ति, दिगम्बरी पुजारी यह देख कर इन मूर्तीयो की अब तक दिगम्बरो की तरफ से ही पूजा होती है यह स्पष्ट है।

इसके बाद मन्दिर में जहाँ फर्सी नही थी वहा खोदने से ११ दिगम्बर मूर्तिया मिली, उनका निरीक्षण किया और जिन मूर्तियों पर लेख थे उनका वाचन करके उतारा किया। यह सब दिगम्बरो के ही हैं ऐसा मालूम पड़ा। इस पौली मन्दिर में एक भी श्वेताम्बरी मूर्ति दिखी नही। निरीक्षण पूर्ण होने के बाद मैं अपने निवासस्थान में

आया, साथ में एक दो दिगम्बरी बन्धू भी थे। गाँव के मन्दिर में भी परिभ्रमण करते समय श्वेताम्बरी मैनेजर वा अन्य श्वेताम्बरी बन्धु मिले नही, उससे उनको मिल कर मन्दिर बाबत चर्चा करने का योग आया नही।

मन्दिर समीप जाते ही प्रावार के बाहर जैनों की धर्मशाला लगती है। मन्दिर के बाहर के प्रागन मे प्रवेश करते ही सामने पूर्व दिशा में श्वेताम्बरियों ने अपने अलग पूजा के लिये भव्य मन्दिर बना कर जयपुर से खास संगमरमर पाषाण की विघ्नहर पार्श्वनाथ की श्वेताम्बरीय पद्धत की मूर्ति बना कर उसकी यहां प्रतिष्ठापना करने का ध्यान में आया। मूल मन्दिर के सामने (पडोस में) जो पुरानी धर्मशाला है उसमें सभी यात्रेकरू ठहरते हैं। ऐसा मालूम पडा। फिर मैंने मन्दिर के आँगन में प्रवेश किया। वहाँ से मुख्य मन्दिर के तल घर में प्रवेश किया। वहां इतना मालूम हुआ कि, मुख्य मूर्ति का जो वाद है या उनके पूजा का जो समय निश्चित हुआ है उसे छोड कर बाकी मूर्ति तथा गुरु पीठ इनकी पूजा सिर्फ दिगम्बरी लोग ही कर सकते है। मुख्य मन्दिर के बाहर आने पर सामने ही श्वेताम्बरी पथ के व्यवस्थापको की बैठक (अलग अलग) दिखती है।

इस तरह मेरे इन एक दिन के निरीक्षण का त्रोटक अहवाल है। और आधारभूत ग्रन्थों का तथा लेखो का अभ्यास करके एक विस्तृत अहवाल प्रसिद्ध करने का मानस है। मैं खुद वैदिक धर्मानुयायी हू। मेरा यह दृढ निश्चय है कि किसी भी धर्मियों ने और धर्मपथियो ने अपने अपने श्रद्धा के अनुसार धर्माचरण करना, उन पर अन्य धर्मियो ने वा पंथियो ने दूसरे के श्रद्धा को धक्का लगेगा ऐसा वर्तन नहीं करना। और ये पुरातन भारतीय धर्म व पंथ परस्पर में भाई-चारे से तथा प्रेम से एकत्र रहना। पर मत सहिष्णुता यह भारतीयों का प्रमुख गुण है। उससे ही भारत में अनेक धर्म और पंथों ने हजारों साल से एकीभाव से रह कर परचक्रका विरोध किया है। और यह ही सहिष्णुता परस्पर में प्रेम भाव बढ़ाने को कारणीभूत हुयी है।

अत में यह स्पष्ट करता है कि, विदर्भ में मिलने वाली प्राचीन वास्तु, शिल्प और मूर्ति, दक्षिण द्रविड़ देश में तथा ओरिसा में कोणारक, पुरी व भुवनेश्वर आदि अनेक स्थलोंपर जो वस्तु-शिल्प तथा मूर्ति है, इनमें सादृश्य है। मैंने द्राविड ओरिसा प्रांत के प्रमुख पुराने वस्तु-शिल्प-मूर्ति का अभ्यासनीय निरीक्षण किया है। विदर्भ के प्राचीन वास्तु आदि का काल ८ से १० वीं शताब्दीका आता है।

विदर्भ के प्राचीन वास्तु शिल्प तथा मूर्ति इनको होना वैसा अभ्यास हुआ नही। यह सब भारतीय प्राचीन धन सरक्षण करने की जिम्मेदारी उन धर्मीय लोगोंकी तथा भारतीय सरकार की है। दूसरे की श्रद्धा को धक्का न देते हुये अपने धर्म का पालन करके दूसरे की श्रद्धा को धक्का न देते हुये अपने धर्म का पालन करके दूसरे धर्मियों पर आक्रमण न करके उनसे भाईचारे से रहना ही श्रेयस्कर है, ऐसा मेरा इन १-१॥ दिन के निरीक्षण का फल करके मैं नम्रता से जनता के सामने विचार के लिए रखता हूँ।

माने या न माने तो भी यह अहवाल महत्त्व का ही है। क्योंकि, डा० य० खु० देशपांडे साहब ७५ साल के उमर के हैं, याने वयोवृद्ध होने के साथ ज्ञानवृद्ध भी हैं। भारत स्वतन्त्र होने पर भारत की स्वतन्त्रता का इतिहास लिखने मे उनका ही सहयोग था। वे इतिहास संशोधन के लिये तथा ऐतिहासिक अहवाल प्रसिद्ध करने के लिये देश में या विदेशों में जब जागतीक परिषद हुई तब उसमें यथा समय भाग लेते ही रहे हैं। महानुभावों के मराठी वाङ्मय पर उनका विशेष अधिकार है। उन्होंने उसका अच्छा सम्पादन भी किया हैं। हिन्दु हो या मुस्लिम सबके इतिहास की तरफ वे गौरव के साथ देखते हैं तथा उन सबका जतन करना वे खुद का कर्तव्य समझते हैं। अब भी इस ७५ साल की उमर मे वे अभ्यासक ही कहलाते है। अत: उनके इस अदम्य उत्साह के लिये वे भारतीय जनता के धन्यवाद के पात्र तो हैं ही, लेकिन समस्त भारत के इतिहास की चलती निधी है। प्रभु उनको दीर्घायु तथा आरोग्य प्रदान करे ऐसी मेरी उनके प्रति आदराजली है।

उन्होंने जो हमको भाईचारे की शिक्षा दी उसका हम आदर करेंगे और निज पर कल्याण के लिये तैयार रहेंगे ऐसी उम्मीद रखता हूँ।

कैवल्य दिवस एक सुझाव

मुनि श्री नगराज जी

वैशाख शुक्ला दशमी का दिन आया और चला गया। आचार्यों, मुनियों व श्रावक-श्राविकाओ को यह अनुभव ही विशेषत: नहीं हुआ कि वह हमारा कोई ऐतिहासिक दिवस था। और उसके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य भी था। वैशाख शुक्ला 'पनरस' का दिन आया, अगले दिन समाचार-पत्रों में पढ़ा गया, अमुक जगह वैशाली पूर्णिमा का समारोह मनाया गया, लोगों ने जाना, यह बौद्धों का ऐतिहासिक दिवस है इसी दिन बुद्ध का जन्म हुआ था। इसी दिन बुद्ध को सम्बोधिलाभ हुआ था और इसी दिन बुद्ध का परिनिर्वाण भी[1]। बुद्ध के सम्बोधि-दिवस को जहाँ सर्व साधारण भी जानते हैं वहाँ महावीर के कैवल्य-दिवस को बहुत सारे जैन भी नही जानते। इसका कारण है, कैवल्य-दिवस के नाम से जैन धर्म-सघों में कोई आध्यात्मिक समारोह किये जाने की प्रथा नही है।

भगवान महावीर के जन्म, कैवल्य और परिनिर्वाण ये तीन उत्कृष्ट जीवन प्रसंग होते हैं। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी जन्म-जयन्ती के रूप में मनाई जाने लगी है। कार्तिक अमावस्या भी परिनिर्वाण-दिवस के रूप में कुछ कुछ मनाई जाती है। वैशाख शुक्ला दशमी कैवल्य-दिवस के रूप में कही मनाई जाती हो, ऐसा नहीं सुना गया। जन्म और परिनिर्वाण-दिवस से भी अधिक महत्त्व कुछ अपेक्षाओं से कैवल्य-प्राप्ति का है। सभी जैन संघो में इस दिवस को आध्यात्मिक समारोह के रूप में मनाने का क्रम चालू हो, तो एक बहुत ही सात्त्विक परम्परा का श्री गणेश होगा। सार्वजनिक स्तर पर इसे मनाते रहने में जैन शासन की गौरव-वृद्धि का एक अभिनव सूत्रपात होगा।

जैन एकता की दृष्टि से भी कैवल्य-दिवस का मनाया जाना बहुत उपयोगी होगा। सभी संघो में यह एक निर्विवाद तिथि है। सभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय और सभी दिगम्बर सम्प्रदाय वैशाख शुक्ला दशमी को ही महावीर की कैवल्य तिथि को मानते हैं। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार महावीर की प्रथम देशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को होती है। इस बीच में भगवान महावीर गणधरो के अभाव में निश्शब्द रहते हैं।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर की प्रथम देशना कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर ही देव और देवांगनाओ के बीच हो जाती है। व्रत-लाभ की दृष्टि से वह वाणी फल-शून्य रहती है। दूसरी देशना मे इन्द्रभूति आदि दीक्षित होते हैं और चतुर्विध तीर्थ की स्थापना होती है।

देशना-काल की इस विविधता से कैवल्य-दिवस प्रभावित नही होता। सभी जैन परम्पराओं में तद्सम्बन्धी मान्यता ज्यो की त्यो रहती है। कैवल्य-दिवस की स्थापना के बाद जैन समाज के पास तीन पर्व ऐसे हो जाते है, जिन्हे वह निर्विवाद तथा एक दिन और एक साथ मना सकता है। वे होगे-जन्म-दिवस कैवल्य-दिवस और परिनिर्वाण दिवस।

सम्बत्सरी पर्व की एकता में अनेक बाधाएं दीवार बनकर खड़ी हैं। इस स्थिति मे कैवल्य-दिवस की स्थापना बहुत कुछ पूरक हो सकेगी ऐसी आशा है। अपेक्षा है संघो एवं संस्थाओं के दायित्वशील लोग इस ओर ध्यान दे व अपने अपने परिप्रेक्ष में इस सात्विक परम्परा का श्री गणेश करे।

---

1 बौद्धो की सर्वास्तिवादो परम्परा मे बुद्ध का परिनिर्वाण कार्तिक पूर्णिमा को माना जाता है।

महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियां

(मुनि श्री नगराज जी)

किसी भी, महापुरुष की जीवन-कथा में कुछ पात्र अवश्य ऐसे होते हैं जो उस जीवन-कथा के साथ सदा के लिए अमर रहते हैं। महावीर और बुद्ध की जीवन-चर्या में ऐसे पात्रों का योग और भी बहुलता से मिलता है। महावीर के साथ ग्यारह गणधरो के नाम अमर हैं। ये सब भिक्षु-संघों के नायक थे। इन्होंने ही द्वादशागी का आकलन किया।

गौतम

गौतम उन सब में प्रथम थे और महावीर के साथ अनन्य रूप से संपृक्त थे। ये गूढ-से-गूढ़ और सहज से सहज प्रश्न महावीर से पूछते ही रहते थे। इनके प्रश्नों पर ही विशालतम आगम विवाह पण्णत्ति (भगवती सूत्र) गठित हुआ है। ये अपने लब्धि-बल से भी बहुत प्रसिद्ध रहे है।

गौतम का महावीर के प्रति असीम स्नेह था। महावीर के निर्वाण प्रसग पर तो वह तट तोड़ कर ही बहने लगा। उन्होने महावीर की निर्मोह वृत्ति पर उलाहनों का अम्बार खडा कर दिया, पर अन्त में सम्भले। उनकी वीतरागता को पहचाना और अपनी सरागता को। पर-भाव से स्वभाव में आए। अज्ञान का आवरण हटा। कैवल्य या स्वयं अर्हत् हो गये।

गौतम द्वारा प्रतिबुद्ध पन्द्रह सौ तापस भिक्षुओ को जब सहज ही कैवल्य प्राप्त हुआ, गौतम को अपने पर ग्लानि हुई। उनके उस अनुताप को मिटाने के लिए महावीर ने कहा था—"गौतम! तू बहुत समय से मेरे साथ स्नेह से संबद्ध है। तू बहुत समय से मेरी प्रशसा करता आ रहा है। तेरा मेरे साथ चिरकाल से परिचय है। तूने चिरकाल से मेरी सेवा की है। मेरा अनुसरण किया है, कार्यों में प्रवर्तित हुआ है। पूर्ववर्ती देव-भव तथा मनुष्य-भव में भी तेरा मेरे साथ सम्बन्ध रहा है, और क्या, मृत्यु के पश्चात् भी—इन शरीरों के नाश हो जाने पर दोनों समान, एक प्रयोजन वाले तथा भेद-रहित (सिद्ध) होंगे।"[1]

उक्त उद्गारों से स्पष्ट होता है, महावीर के साथ गौतम का कैसा अभिन्न सम्बन्ध था।

चन्दनबाला

चन्दनबाला महावीर के भिक्षुणी संघ में अग्रणी थी। पद से वह 'प्रवर्तिनी' कहलाती थी। वह राज-कन्या थी। उसका समग्र जीवन उतार-चढाव के चलचित्रों में भरा पूरा था। दासी का जीवन भी उसने जिया। लोह-शृंखलाओ में भी वह आबद्ध रही, पर उसके जीवन का अन्तिम अध्याय एक महान् भिक्षुणी-संघ की सचालिका के गौरवपूर्ण पद पर बीता।

कल्पसूत्र[2] के अनुसार महावीर के भिक्षु-सघ में सातसौ भिक्षु, चउदह सौ भिक्षुणियों ने कैवल्य (सर्वज्ञत्व) पाया। तेरह सौ भिक्षु-भिक्षुणियो ने अवधि-ज्ञान प्राप्त किया। पाँच सौ भिक्षु मन:पर्यवज्ञानी हुए। तीन सौ चतुर्दश-पूर्व-धर हुए तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियाँ लब्धिधर, तपस्वी, वाद-कुशल आदि हुए।

महावीर कभी-कभी भिक्षु-भिक्षुणियों की विशेषताओं

---

1. समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एव वयासी—'चिरसंसिट्ठो ऽसि मे गोयमा ! चिरसथुओ ऽसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओ ऽसी मे गोयमा ! चिरजुसिओऽसि मे गोयमा ! चिराणुगओऽसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! अणतर देवलोए अणंतरं !

माणुस्सए भवे, किं परं ? मरणा कायस्स भेदा, इओ चुत्ता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

—भगवती सूत्र, श० १४, उ० ७

2. सूत्र सं० १३८-४०, ४२, ४४।

का नामग्राह उल्लेख भी किया करते थे।

त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षुओं का भी पर्याप्त विवरण मिल जाता है। सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, आनन्द, उपालि, महाकाश्यप, आज्ञाकौण्डिन्य आदि भिक्षु बुद्ध के अग्रगण्य शिष्य थे। जैन परम्परा में गणधरो का एक गौरवपूर्ण पद है और उनका व्यवस्थित दायित्व होता है। बौद्ध परम्परा में गणधर जैसा कोई सुनिश्चित पद नही है, पर सारिपुत्र आदि का बौद्ध भिक्षु संघ में गणधरों जैसा ही गौरव व दायित्व था।

सारिपुत्र

गौतम की तरह सारिपुत्र भी बुद्ध के अनन्य सहचरो में थे। वे बहुत सूज-बूझ के धनी, विद्वान् और व्याख्याता थे। बुद्ध इन पर बहुत भरोसा रखते थे। एक प्रसंग-विशेष पर बुद्ध ने इनको कहा—"सारिपुत्र! तुम जिस दिशा में जाते हो, उतना ही आलोक करते हो, जितना कि बुद्ध।"[1] आगम-साहित्य में केशी-गौतम-चर्चा का बहुत ऊँचा स्थान है। केशीकुमार श्रमण पाँच सौ भिक्षुओं के नेता और पार्श्व-परम्परा के अनुयायी थे। गौतम भी पाच सौ भिक्षुओं के परिवार से विहार करते थे। दोनो का मिलन हुआ। पार्श्व और महावीर के आचार-भेदों पर सात्त्विक चर्चाएं हुई। गौतम की प्रत्युत्पन्न मेधा से प्रभावित श्रमण केशीकुमार अपने भिक्षु-समुदाय के साथ महावीर की अनुशासना में प्रविष्ट हुए।[2]

सारिपुत्र की सूज-बूझ का भी एक अनूठा उदाहरण त्रिपिटक साहित्य में मिलता है। बुद्ध का विरोधी शिष्य देवदत्त जब ५०० वज्जी भिक्षुओ को साथ लेकर भिक्षु-सघ से पृथक् हो जाता है तो मुख्यत: सारिपुत्र ही अपने बुद्धि-कौशल से उन पाँच सौ भिक्षुओ को देवदत्त के चंगुल से निकाल कर बुद्ध की शरण में लाते हैं।[3]

एक बार बुद्ध ने आनन्द से पूछा—"तुम्हे सारिपुत्र सुहाता है न?" आनन्द ने कहा—"भन्ते! मूर्ख, दुष्ट और विक्षिप्त मनुष्य को छोड़ कर ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसे आयुष्मान् सारिपुत्र न सुहाते हों। आयुष्मान सारिपुत्र महाज्ञानी हैं, महाप्राज्ञ हैं। उनकी प्रज्ञा अत्यन्त प्रसन्न, अत्यन्त तीव्र है[1]।"

सारिपुत्र के निधन पर बुद्ध कहते हैं—"आज धर्म-रूप कल्प वृक्ष की एक विशाल शाखा टूट गई है।" बुद्ध सारिपुत्र को धर्म सेनापति भी कहा करते थे।

मौद्गल्यायन

मौद्गल्यायन का नाम भी सारिपुत्र के साथ-साथ बुद्ध के प्रधान शिष्यों में आता है। ये तपस्वी और ऋद्धि-मान् थे। जैन परम्परा में जैसे गौतम के लब्धि-बल के विषय में अनेक बातें प्रचलित है, उसी प्रकार मौद्गल्यायन के ऋद्धि-बल की अनेक घटनाएं बौद्ध परम्परा में प्रचलित हैं। गौतम का एक ही क्षीर-पात्र से पन्द्रह सौ तीन भिक्षुओं को मनोहत्य खीर खिलाना और मौद्गल्यायन का ऊचाई पर बंधे चन्दन पात्र को आकाश में उडकर उतार लाना दोनो के तपोबल की उल्लेखनीय घटनाएं हैं।

पाचसौ वज्जी भिक्षुओ को देवदत्त के नेतृत्व से मुक्त करने में सारिपुत्र के साथ मौद्गल्यायन का भी पूरा हाथ रहा है[2]।

बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा ने सत्ताईस करोड स्वर्ण मुद्राओ की लागत से बुद्ध और उसके भिक्षु-संघ के लिए एक विहार बनाने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए विशाखा ने बुद्ध से एक मार्ग-दर्शक भिक्षु की याचना की। बुद्ध ने कहा—'तुम जिस भिक्षु को चाहती हो, उसी का चीवर और पात्र उठालो।' विशाखा ने यह सोचकर कि मौद्गल्यायन भिक्षु ऋद्धिमान् है, उनके ऋद्धि-बल से मेरा कार्य शीघ्र सम्पन्न होगा, उन्हे ही इस कार्य के लिए मागा। बुद्ध ने पाँच सौ भिक्षुओं के परिवार से मौद्गल्यायन को वहां रखा। कहा जाता है, उनके ऋद्धि-बल से विशाखा के कर्मकर रात भर में साठ-साठ योजन से बडे बडे वृक्ष, पत्थर आदि उठा ले आने में समर्थ हो

1. अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, १-४-१
2. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३
3. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक-खन्धक।

1. संयुक्तनिकाय, अनाथपिण्डिकवग्ग, सुसिमसुत्त।
2. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, सघ-भेदक-खन्धक।

जाते थे ।[1]

जैन परम्परा उक्त समारम्भ पूर्ण उपक्रम को भिक्षु के लिए आचरणीय नहीं मानती और न वह लब्धि-बल को प्रयुज्य ही मानती है, पर लब्धि-बल की क्षमता और प्रयोग की अनेक अद्भुत घटनाएं उसमें भी प्रचलित हैं। महावीर द्वारा संदीक्षित नन्दीसेन भिक्षु ने जो श्रेणिक राजा के पुत्र थे, अपने तपोबल से वेश्या के यहा स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि कर दिखाई ।[2]

महावीर ने अंगुष्ठ-स्पर्श से जैसे समग्र मेरु को प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित किया; बौद्ध परम्परा में मौद्गल्यायन द्वारा वैजयन्त प्रासाद को अंगुष्ठ-स्पर्श से प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित कर देने की बात कही जाती है ।[3] कहा जाता है, एक बार बुद्ध, मौद्गल्यायन प्रभृति पूर्वाराम के ऊपरी भौम मे थे। प्रासाद के नीचे कुछ प्रमादी भिक्षु वार्ता, उपहास आदि कर रहे थे। उनका ध्यान खीचने के लिए मौद्गल्यायन ने अपने ऋद्धि बल से सारे प्रासाद को प्रकम्पित कर दिया। संविग्न और रोमांचित उन प्रमादी भिक्षुओ को बुद्ध ने उद्बोधन दिया ।[4]

औपपातिक सूत्र में महावीर के पारिपार्श्विक भिक्षुओ के विषय में बताया गया है :—

"१. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो मन से भी किसी को अभिशप्त और अनुगृहीत कर सकते थे।

२. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो वचन से ऐसा कर सकते थे।

३. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो कायिक-प्रवर्तन से ऐसा कर सकते थे।

४. अनेक भिक्षु श्लेष्मौषध लब्धि वाले थे। उनके श्लेष्म से ही सभी प्रकार के रोग मिटते थे।

५. अनेक भिक्षु जल्लौषध लब्धि के धारक थे। उनके शरीर के मैल से दूसरों के रोग मिटते थे।

६. अनेक भिक्षु विप्रुषौषध लब्धि के धारक थे। उनके प्रस्रवण की बूंद भी रोग-नाशक होती थी।

७. अनेक भिक्षु आमर्षौषध लब्धि के धारक थे। उनके हाथ के स्पर्श-मात्र से रोग मिट जाते थे।

८. अनेक भिक्षु सर्वौषध लब्धि वाले थे। उनके केश, नख, रोम आदि सभी औषध रूप होते थे।

९. अनेक भिक्षु पदानुसारी लब्धि के धारक थे; जो एक पद के श्रवण-मात्र से अनेकानेक पदों का स्मरण कर लेते थे।

१०. अनेक भिक्षु संभिन्नश्रोतृ लब्धि के धारक थे, जो किसी भी एक इन्द्रिय से पांचो इन्द्रियों के विषय ग्रहण कर सकते थे। उदाहरणार्थ—कान से सुन भी भी सकते थे, चख भी सकते थे आदि।

११. अनेक भिक्षु अक्षीणमहानस लब्धि के धारक थे, जो प्राप्त अन्न को जब तक स्वयं न खालेते थे; तब तक शतशः— सहस्रशः व्यक्तियों को खिला सकते थे।

१२. अनेक भिक्षु विकुर्वण ऋद्धि के धारक थे। अपने नाना रूप बना सकते थे।

१३. अनेक भिक्षु जंघाचारण लब्धि के धारक थे। वे जंघा पर हाथ लगाकर एक ही उड़ान में तेरहवें रुचकवर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते थे।

१४. अनेक भिक्षु विद्याचारण लब्धि के धारक थे। वे ईषत् उपष्ठम्भ से दो उड़ान में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक और मेरुपर्वत पर जा सकते थे।

१५. अनेक भिक्षु आकाशातिपाती लब्धि के धारक थे। वे आकाश में गमन कर सकते थे। आकाश से रजत आदि इष्ट अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कर सकते थे।"[1]

1. धम्मपद अट्ठकथा, ४-४४।
2. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १०, सर्ग ६।
3. मज्झिमनिकाय, चूलतण्हासंखय सुत्त।
4. संयुत्तनिकाय, महावग्ग, ऋद्धिपाद संयुत्त, प्रासादकम्पनवग्ग, मोग्गालान सुत्त।

1. अप्पेगइया मणेणं सावाणुग्गहसमत्था, वएणं सावाणुग्गहसमत्था, काएणं सावाणुग्गहसमत्था, अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एवं जल्लोसहिपत्ता, विप्पोसहिपत्ता, आमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता, ·······पयाणुसारी, संभिन्नसोआ, अक्खीणमहाणसिओ, विउव्वणिड्ढिपत्ता, चारणा, विज्जाहरा, आगासाइवाइणो। —उववाइय सुत्त १५

मौद्गल्यायन का निधन बहुत ही दयनीय प्रकार का बताया गया है। उनके ऋद्धि-बल से जल-भुन कर इतर तैर्थिकों ने उनको पशुमार से मारा। उनकी अस्थियाँ इतनी चूर चूर कर दी गई कि कोई खण्ड एक तन्दुल से बड़ा नहीं रहा। यह भी बताया गया है कि प्रतिकारक ऋद्धि-बल के होते हुए भी इन्होंने इसे भावी का परिणाम समझ कर स्वीकार किया।[1]

आनन्द

कुछ दृष्टियों से बुद्ध के सारिपुत्र और मौद्गल्यायन से भी अधिक अभिन्न शिष्य आनन्द थे। बुद्ध के साथ इनके संस्मरण बहुत ही रोचक और प्रेरक हैं। इनके हाथों कुछ एक ऐसे ऐतिहासिक कार्य भी हुए हैं, जो बौद्ध परम्परा में सदा के लिए अमर रहेंगे। बौद्ध परम्परा में भिक्षुणी संघ का श्रीगणेश नितान्त आनन्द की प्रेरणा से हुआ। बुद्ध नारी-दीक्षा के पक्ष में नहीं थे। उन्हें उसमें अनेक दोष दीखते थे। केवल आनन्द के आग्रह पर महा प्रजापति गौतमी को उन्होंने दीक्षा दी। दीक्षा देने के साथ-साथ यह भी उन्होंने कहा—"आनन्द! यह भिक्षु संघ यदि सहस्र वर्ष तक टिकने वाला था तो अब पाचसौ वर्ष से अधिक नहीं टिकेगा। अर्थात् नारी-दीक्षा से मेरे धर्म-संघ की आधी ही उम्र शेष रह गई है।"

प्रथम बौद्ध संगीति में त्रिपिटको का संकलन हुआ। पाँचसौ अर्हत्-भिक्षुओ में एक आनन्द ही ऐसे भिक्षु थे, जो सूत्र के अधिकारी ज्ञाता थे; अतः उन्हे ही प्रमाण मान कर सुत्तपिटक का सकलन हुआ। कुछ बातो की स्पष्टता यथा समय बुद्ध के पास न कर लेने के कारण उन्हे भिक्षु संघ के समक्ष प्रायश्चित्त भी करना पडा। आश्चर्य तो यह है कि भिक्षु-संघ ने उन्हे स्त्री-दिक्षा का प्रेरक बनने का भी प्रायश्चित्त कराया।

आनन्द बुद्ध के उपस्थाक (परिचारक) थे। उपस्थाक बनने का घटना-प्रसंग भी बहुत सरस है। बुद्ध ने अपनी आयु के ५६ वे वर्ष में एक दिन सभी भिक्षुओं को आमन्त्रित कर कहा—"भिक्षुओ! मेरे लिए एक उपस्थाक नियुक्त करो। उपस्थाक के अभाव में मेरी अवहेलना होती है। मैं कहता हूँ, इस रास्ते चलना है, भिक्षु उस रास्ते जाते है। मेरा चीवर और पात्र भूमि पर यो ही रख देते हैं।" सारिपुत्र, मौद्गल्यायन आदि सभी को टाल कर बुद्ध ने आनन्द को उपस्थाक-पद पर नियुक्त किया।[1]

तब से आनन्द बुद्ध के अनन्य सहचारी रहे। समय समय पर गौतम की तरह उनसे प्रश्न पूछते रहते और समय-समय पर परामर्श भी देते रहते। जिस प्रकार महावीर से गौतम का सम्बन्ध पूर्व-भवो में भी रहा; उसी प्रकार जातक साहित्य में आनन्द के भी बुद्ध के साथ उत्पन्न होने की अनेक कथाएं मिलती है। आगन्तुकों के लिए बुद्ध से भेट का माध्यम भी मुख्यत: वे ही बनते। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर गौतम की तरह आनन्द भी व्याकुल हुए। गौतम महावीर-निर्वाण के पश्चात् व्याकुल हुए। आनन्द निर्वाण से पूर्व ही एक ओर जाकर दीवाल की खूंटी पकड कर रोने लगे, जब कि उन्हें बुद्ध के द्वारा उसी दिन निर्वाण होने की सूचना मिल चुकी थी। महावीर-निर्वाण के पश्चात् गौतम उसी रात को केवली हो गये। बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् प्रथम बौद्ध संगीति में जाने से पूर्व आनन्द भी अर्हत् हो गए। गौतम की तरह इनको भी अर्हत् न होने की आत्म-ग्लानि हुई। दोनो ही घटना-प्रसंग बहुत सामीप्य रखते है।

महावीर के भी एक अनन्य उपासक आनन्द[2] थे, पर ये गृही-उपासक थे और बौद्ध-परम्परा के आनन्द बुद्ध के भिक्षु उपासक थे। नाम-साम्य के अतिरिक्त दोनों में कोई तादात्म्य नहीं है। महावीर भिक्षु शिष्यों में भी एक आनन्द थे, जिन्हें बुलाकर गोशालक ने कहा था-मेरी तेजोलब्धि के अभिघात से महावीर शीघ्र ही काल-धर्म को प्राप्त होंगे। जिसका उल्लेख गोशालक सलाप में आता है।

उपालि

उपालि प्रथम सगीति में विनय-सूत्र के सगायक थे।

1. धम्मपद, अट्ठकथा, १०-७

1. अगुत्तरनिकाय, अट्ठकथा १-४-१
2. उपासकदशाग सूत्र, अ० १

विनय-सूत्र उन्होंने बुद्ध की पारिपार्श्विकता स ग्रहण किया था ये नापित कुल मे हुए थे। शाक्य राजा भद्दिय, आनन्द आदि अन्य पात्र शाक्य कुमारों के साथ प्रव्रजित हुए थे।

महाकाश्यप

महाकाश्यप बुद्ध के कर्मठ शिष्य थे। इसका प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व का जीवन भी बहुत विलक्षण और प्रेरक रहा है। पिप्पली कुमार और भद्राकुमारी का अख्यान इन्ही का जीवन वृत्त है। वही पिप्पलीकुमार माणवक धर्म सघ में आकर आयुष्मान् महाकाश्यप बन जाता है। इसके सुकोमल और बहुमूल्य चीवर का स्पर्श कर बुद्ध ने प्रशसा की। इन्होंने बुद्ध से वस्त्र-ग्रहण करने का आग्रह किया। बुद्ध ने कहा—,मैं तुम्हारा यह वस्त्र ले भी लूँ, पर क्या तुम मेरे इस जीर्ण मोटे और मलिन वस्त्र को धारण कर सकोगे ?" महाकाश्यप ने वह स्वीकार किया और उसी समय बुद्ध के साथ उनका चीवर-परिवर्तन हुआ। बुद्ध के जीवन और बौद्ध परम्परा की यह एक ऐतिहासिक घटना मानी जाती है।

महाकाश्यप विद्वान थे। ये बुद्ध सूक्तों के व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर ये मुख्य निर्देशक रहे हैं। पाच सौ भिक्षुओ के परिवार से विहार करते, जिस दिन और जिस समय ये चिता-स्थल पहुँचते है, उसी दिन और उसी समय बुद्ध की अन्त्येष्टि होती है।[1]

अजातशत्रु ने इन्ही के सुझाव पर राजगृह में बुद्ध का धातु विधान (अस्थि गर्भ) बनवाया, जिसे कालान्तर से सम्राट अशोक ने खोला और बुद्ध की धातुओं को दूर-दूर तक पहुँचाया।[2]

ये महाकाश्यप ही प्रथम बौद्ध सगीति के नियामक रहे है।[3]

आज्ञाकौण्डिन्य, अनिरुद्ध आदि और भी अनेक भिक्षु ऐसे रहे हैं, जो बुद्ध के पारिपार्श्विक कहे जा सकते है।

1. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त।
2. दीघनिकाय, अट्ठकथा, महापरिनिब्बाण सुत्त।
3 विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पचशतिका खन्धक।

गौतमी

बौद्ध भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी का नाम उतना ही श्रुतिगम्य है, जितना जैन परम्परा में महासती चन्दनबाला का। दोनों के पूर्वतन जीवन-वृत्त में कोई समानता नही है, पर दोनो ही अपने-अपने धर्म-नायक की प्रथम शिष्या रही है अपने-अपने भिक्षुणी-सघ में अग्रणी भी।

गौतमी के जीवन की दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने नारी-जाति को भिक्षु-सघ में स्थान दिलवाया तथा भिक्षुणियों को भिक्षुओं के समान ही अधिकार देने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने गौतमी को प्रव्रजित करते समय कुछ शर्तें उस पर डाल दी थी, जिनमे एक थी—चिर दीक्षिता भिक्षुणी के लिये भी सद्य: दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होगा। गौतमी ने उसे स्वीकार किया, पर प्रव्रजित होने के पश्चात् बहुत शीघ्र ही उसने बुद्ध से प्रश्न कर लिया—"भन्ते! चिर दीक्षिता भिक्षुणी ही नव-दीक्षित भिक्षु को नमस्कार करे, ऐसा क्यों ? क्यों न नव दीक्षित भिक्षु ही चिर दीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करे ?" बुद्ध ने कहा --"गौतमी! इतर धर्म-सघो में भी ऐसा नही है। हमारा धर्म-संघ तो बहुत श्रेष्ठ है।"[1]

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतमी द्वारा यह प्रश्न उठा लेना, नारी-जाति के आत्म-सम्मान का सूचक उनके इस उत्तर से पता चलता है, महापुरुष भी कुछ एक ही नवीन मूल्य स्थापित करते हैं; अधिकाशत: तो वे भी लौकिक व्यवहार या लौकिक ढर्रों का अनुसरण करते हैं। अस्तु, गौतमी की यह बात भले ही आज पच्चीस सौ वर्ष बाद भी फलित न हुई हो, पर उसने बुद्ध के समक्ष अपना प्रश्न रखकर नारी-जाति के पक्ष में एक गौरवपूर्ण इतिहास तो बना ही दिया है।

गौतमी के अतिरिक्त खेमा, उत्पलवर्णा, पटाचारा, कुण्डल केशा भद्राकापिलायनी आदि अन्य अनेक भिक्षुणियाँ बौद्ध धर्म-सघ में मुख्यस्थान रही हैं। बुद्ध ने 'एतदग्ग वग्ग सुत्त' में अपने तत्कालिन भिक्षुओं तथा

1. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्खुणी खन्धक

बारह भिक्षुणियों को नाम-ग्राह अभिनन्दित किया है तथा पृथक्-पृथक् गुणो में पृथक्-पृथक् भिक्षु-भिक्षुणियों को अग्रगण्य बताया है। वे कहते हैं :—

१. भिक्षुओं। मेरे अनुरक्तज्ञ भिक्षुओं में आज्ञा-कौण्डिन्य[1] अग्रगण्य है।

२. ··· महाप्राज्ञों में सारिपुत्र[2] ·· ।

३. ··· ऋद्धिमानो में महामौद्गल्यायन[3] ·· ।

४. ······धुतवादियो (त्यागियों) में महाकाश्यप[4] ।

५. ······दिव्यचक्षुकों में अनुरुद्ध[5] ······।

६. ······उच्चकुलीनों में भद्दिय कालिगोधा-पुत्र[6]···

७. ······कोमल स्वर से उपदेष्टाओं में लकुण्टक भद्दिय ···[7]

८. ······सिंहनादियों में पिण्डोल भारद्वाज[8]······

९. ······धर्म-कथिकों में पूर्ण मैत्रायणी-पुत्र[9]··· ··

१०. ······व्याख्याकारों में महाकात्यायन[10] ···

११. ··· ··मनोगत-रूप-निर्माताओं व चित्त-विवर्त चतुरों में चुल्लपन्थक[11]······

१२. ··· संज्ञा-विवर्त-चतुरों में महापन्थक[12] · ···

१३. ··· ·अरण्य-बिहारियों व दक्षिणेयों में सुभूति[13]···

१४. ······आरण्यकों (वन वासियों) में रेवतखदिर वनिये[1] ····

१५. ······ध्यानियो में कंखा रेवत[2] ····

१६. ······उद्यमशीलों में सोणकोडिवीस[3]······

१७. ··· · सुवक्ताओं में सोणकुटिकण्ण[4] ···

१८. ······लाभार्थियों में सीवली[5]······

१९. ······श्रद्धाशीलों में वक्कलि[6]······

२०. ······संघीय-नियम-बद्धता में राहुल[7]······

२१. ······श्रद्धा से प्रव्रजितों में राष्ट्रपाल[8]··· ··

२२. ······प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में कुण्डधान[9] ·· ··

२३. ······कवियों में वंगीस[10]

२४. ······समन्तप्रासादिकों (सर्वतः लावण्य सम्पन्न) में उपसेन वगन्त पुत्र[11]······

२५. शयनासन-प्रज्ञापकों में द्रव्य-मल्लपुत्र[12] ·····

२६. ···· देवताओं के प्रियों में पिलिन्दिवात्स्य[13]···

२७. ···प्रखर बुद्धिमानों में बाहियदारुचीरिय[14] ·

२८. ·· ·· विचित्र वक्ताओं में कुमार काश्यप[15]······

---

1. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण वस्तु ग्राम, ब्राह्मण
2. मगध, राजगृह से अविदूर उपतिष्य (नालक) ग्राम ब्राह्मण
3. मगध, राजगृह से अविदूर कोलितग्राम, ब्राह्मण
4. मगध, महातीर्थ ब्राह्मण ग्राम, ब्राह्मण
5. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, बुद्ध के चाचा अमृतोदन शाक्य के पुत्र
6. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय
7. कौशल, श्रावस्ती, धनी (महाभोग)
8. मगध, राजगृह, ब्राह्मण
9. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण-वस्तु ग्राम
10. अवन्ती, उज्जयिनी, ब्राह्मण
11. मगध, राजगृह, श्रेष्ठि-कन्यापुत्र
12. मगध, राजगृह, श्रेष्ठि-कन्यापुत्र
13. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य

---

1. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम, सारिपुत्र के अनुज
2. कौशल, श्रावस्ती, महाभोग
3. अग, चम्पा, श्रेष्ठी
4. अवन्ती, कुररग्घर, वैश्य
5. शाक्य, कुण्डिया, क्षत्रिय, कोलिय-दुहिता सुप्रवासा का पुत्र
6. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
7. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, सिद्धार्थ-पुत्र
8. कुरु, थुल्लकोण्ति, वैश्य
9. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
10. कौशल श्रावस्ती, ब्राह्मण
11. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम, ब्राह्मण, सारिपुत्र के अनुज
12. मल्ल, अनूपिया, क्षत्रिय
13. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
14. बाहियराष्ट्र, कुलपुत्र
15. मगध, राजगृह

२६. ···प्रतिसंवित्प्राप्तों में महाकोठ्ठित[1]····

३०. बहुश्रुतों, गतिशीलों, स्थितिमानों व उपस्थाकों में आनन्द[2] ····

३१. ··· महापरिषद् वालों में उरुवेल काश्यप[3] ·

३२. ··· कुल-प्रसादकों में काल-उदायी[4] ···

३३. ···निरोगों में वक्कुल[5] ···

३४. ···· पूर्व जन्म का स्मरण करने वालों में शोभित[6]··· ·

३५. ······विनयधरों में उपालि[7] ···

३६. ··· भिक्षुणियों के उपदेष्टाओं में नन्दक[8] ·

३७ ··· जितेन्द्रियों में नन्द[9]···

३८. भिक्षुओं के उपदेष्टाओं में महाकप्पिन[10] · ···

३९. तेज-धातु-कुशलों में स्वागत[11]··· ·

४०. ··· प्रतिभाशालियों में राध[12] ··

४१. ······रूक्ष चीवर-धारियों में मोघराज[13]······

भिक्षुणियों में

१. ····· भिक्षुओ ! मेरी रक्तज्ञा भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी अग्रगण्य है[14]।

२. ···महाप्रज्ञाओं में खेमा[15]······

३. ······ऋद्धिशालिनियों में उत्पलवर्णा[1]······

४. ··· विनयधराओं में पटाचारा[2] ·····

५. ··· धर्मोपदेशिकाओं में धम्मदिन्ना[3]······

६. · ध्यायिकाओं में नन्दा[4]···· ·

७. उद्यमशीलाओं में सोणा[5] ···

८. ····· प्रखर प्रतिभाशालिनिओं में भद्राकुण्डल-केशा[6]···

९ ·····पूर्वजन्म का अनुस्मरण-कारिकाओं में भद्रा कापिलायनी[7]

१०. ··· महाअभिज्ञा-धारिकाओं में भद्रा कात्यायनी[8] · ···

११. रूक्ष चीवर-धारिकाओं में कृशा गौतमी[9] ·····

१२. श्रद्धा-युक्तों में शृगाल माता[10]······

आगम साहित्य में 'एतदग्ग वग्ग' की तरह नाम-ग्राह कोई व्यवस्थित प्रकरण इस विषय का नहीं मिलता, पर कल्पसूत्र का केवली आदि का संख्याबद्ध उल्लेख महावीर के भिक्षु-संघ की व्यापक सूचना हमें दे देता है। औपपातिक सूत्र में निर्ग्रन्थों के विविध तपों का और उनकी अन्य विविध विशेषताओं का सविस्तार वर्णन है। तप के विषय में बताया गया है—"अनेक भिक्षु कनकावली तप करते थे। अनेक भिक्षु एकावली तप, अनेक भिक्षु लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप, अनेक भिक्षु महासिंह-निष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु लघुसिंहनिष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु भद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु महाभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु आयंबिल वर्द्धमान तप, अनेक भिक्षु मासिकी भिक्षु

---

1. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
2. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, अमृतौदन पुत्र
3. काशी, वाराणसी, ब्राह्मण
4. शाक्य, कपिलवस्तु, अमात्यगेह
5. वत्स, कौशाम्बी, वैश्य
6. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
7. शाक्य, कपिलवस्तु, नापित
8. कौशल, श्रावस्ती, कुल-गेह
9. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, महाप्रजापती-पुत्र
10. सीमान्त, कुक्कुटवती, राजवंश
11. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
12. मगध, राजगृह, ब्राह्मण
13. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण, बाबरी-शिष्य
14. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, शुद्धोदन की पत्नी
15. मद्र, सागल, राजपुत्री, मगधराज बिम्बिसार की पत्नी

---

1. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठि-कुल
2. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठि कुल
3. मगध, राजगृह, विशाख श्रेष्ठी की पत्नी
4. शाक्य, कपिलवस्तु, महाप्रजापती गौतमी की पुत्री
5. कौशल, श्रावस्ती, कुलगेह
6. कौशल, श्रावस्ती, कुलगेह
7. मद्र, सागल, ब्राह्मण, महाकाश्यप की पत्नी
8. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, राहुल-माता-देवदहवासी, सुप्रबुद्धशाक्य की पुत्री
9. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य

प्रतिमा, अनेक भिक्षु द्विमासिका भिक्षु प्रतिमा से सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा अनेक भिक्षु प्रथम-द्वितीय-तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक रात्रि प्रतिमा, अनेक भिक्षु सप्त सप्तमिका प्रतिमा, अनेक भिक्षु लघुमोन्द प्रतिमा, अनेक भिक्षु यव-मध्यचन्द्र प्रतिमा तथा अनेक भिक्षु वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा तप करते थे[1]।"

अन्य विशेषताओ के सम्बन्ध से वहा बताया गया है—"वे भिक्षु ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न व लाघव-सम्पन्न थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे, वे इन्द्रिय-जयी, निन्द्रा-जयी और परिषह्-जयी थे। वे जीवन की आशा और मृत्यु के भय से विमुक्त थे वे, प्रज्ञप्ति आदि विद्याओ व मंत्रो में प्रधान थे। वे श्रेष्ठ, ज्ञानी, ब्रह्मचर्य, सत्य व शौच में कुशल थे। वे चारु वर्ण थे। भौतिक आशा-बाँछा से वे ऊपर उठ चुके थे औत्सुक्य रहित, श्रामण्य-पर्याय में सावधान और बाह्य-आभ्यन्तरिक ग्रन्थियो के भेदन में कुशल थे। स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त के ज्ञाता थे। परवादियो को परास्त करने में अग्रणी थे। द्वादशाङ्गी के ज्ञाता और समस्त गणिपिटक के धारक थे। अक्षरो के समस्त सयोगो के व सभी भाषाओं के ज्ञाता थे। वे जिन (सर्वज्ञ) न होते हुए भी जिनके सदृश थे[2]।"

प्रकीर्ण रूप से भी अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियो के जीवन प्रसग आगम-साहित्य में बिखरे पडे है, जिनसे उनकी विशेषताओं का पर्याप्त ब्योरा मिल जाता है।

काकन्दी के धन्य

काकन्दी के धन्य बत्तीस परिणीता तरुणियों और बत्तीस महलो को छोडकर भिक्षु हुए थे। महावीर के साथ रहते उन्होने इतना तप तपा कि उनका शरीर केवल अस्थि कंकाल-मात्र रह गया था। राजा बिम्बिसार के द्वारा पूछे जाने पर महावीर ने उनके विषय में कहा—"अभी यह धन्य भिक्षु अपने तप से, अपनी साधना से चतुर्दश सहस्त्र भिक्षुओं में दुष्कर क्रिया करने वाला है[1]

मेघकुमार

बिम्बिसार के पुत्र मेघकुमार दीक्षा-पर्याय की प्रथम रात में संयम से विचलित हो गये। उन्हे लगा, कल तक जब मैं राजकुमार था, सभी भिक्षु मेरा आदर करते थे, स्नेह दिखलाते थे। आज मैं भिक्षु हो गया, मेरा वह आदर कहाँ ? मुंह टाल कर भिक्षु इधर-उधर अपने कामो में दौडे जाते है। सदा की तरह मेरे पास आकर कोई जमा नही हुए। शयन का स्थान मुझे अन्तिम मिला है। द्वार से निकलते और आते भिक्षु मेरी नीद उडाते है। मेरे साथ यह कैसा व्यवहार ? प्रभात होते ही मैं भगवान् महावीर को उनकी दी हुई प्रव्रज्या वापिस करूँगा। प्रात:काल ज्यो ही वे महावीर के सम्मुख आये, महावीर ने अपने ही ज्ञान-बल से कहा—"मेघकुमार ! रात को तेरे मन में ये ये चिन्ताए उत्पन्न हुई। तुमने पात्र-रजोहरण आदि संभला कर जाने का निश्चय किया।" मेघकुमार ने कहा—"भगवन् ! आप सत्य कहते है।" महावीर ने उन्हे सयमारूढ करने के लिए नाना उपदेश दिये तथा उनके पूर्व भव का वृत्तान्त बताया मेघकुमार पुन: सयमारूढ हो गया।

मेघकुमार भिक्षु ने जाति-स्मरण ज्ञान पाया। एकादशाङ्गी का अध्ययन किया। गुणरत्नसंवत्सर तप की आराधना की। भिक्षु की 'द्वादश प्रतिमा' आराधी। अन्त में महावीर से आज्ञा ग्रहण कर वैभार गिरि पर आमरण अनशन कर उत्कृष्ट देव-गति को प्राप्त हुए।

बौद्ध परम्परा में सद्य: दीक्षित नन्द का भी मेघकुमार जैसा ही हाल रहा। वह अपनी नव विवाहिता पत्नी जनपद कल्याणी नन्दा के अन्तिम आमत्रण को याद कर दीक्षित होने के अनन्तर ही विचलित-सा हो गया। बुद्ध

1. उववाइय सुत्र, १५
2. उववाइय सुत्र १५-१६

1. इमेसिण भन्ते ! इदभूई पामोक्खणं चउदसण्हं समण साहसीणं कयरे अणगारे महादुक्कर कारए चेव महाणिज्जरकारएचेब ? एवं खलु सेणिया ! इमीसि इदभूई पामोक्खाण चउदसण्ह समण साहसीण धन्ने अणगारे महा दुक्करकारए चेव महानिज्जर कारए चेव।

—अणुत्तरोववाई दसाग, वर्ग० ३, अ० १

ने यह सब जाना और उसे प्रतिबुद्ध करने के लिये पर्वत पर ले गये। वहां एक बन्दरी का शव उसे दिखाया और पूछा—"क्या तुम्हारी पत्नी इससे अधिक सुन्दर है ?" वह बोला—"अवश्य।" तब बुद्ध उसे त्रायस्त्रिंश स्वर्ग में ले गये। अप्सराओं-सहित इन्द्र ने उनका अभिवादन किया। बुद्ध ने अप्सराओं की ओर संकेत कर पूछा—"क्या जनपद कल्याणी नन्दा इससे भी सुन्दर है ?" वह बोला—"नहीं, भन्ते !" बुद्ध ने कहा—"तब उसके लिए तू क्यों विक्षिप्त हो रहा है ? भिक्षु धर्म का पालन कर। तुझे भी ऐसी अप्सराएं मिलेंगी।" नन्द पुन श्रमण धर्म में आरुढ़ हुआ। उसका वह वैषयिक लक्ष्य तब मिटा, जब सारिपुत्र आदि अस्सी महा श्रावकों (भिक्षुओं) ने उसे इस बात के लिए लज्जित किया। अन्त में भावना से भी विषय-मुक्त होकर वह अर्हत् हुआ[1]।

मेघकुमार और नन्द के विचलित होने के निमित्त सर्वथा भिन्न थे, पर घटना-क्रम दोनों का ही बहुत समान है। महावीर मेघकुमार को पूर्व भव का दुःख बताकर सुस्थिर करते हैं और बुद्ध नन्द के आगामी भव के सुख बताकर करते है।

शालिभद्र

राजगृह के शालिभद्र, जिनके वैभव को देखकर राजा बिम्बिसार भी विस्मित रह गये थे; भिक्षु जीवन में आकर उत्कट तपस्वी बने। मासिक, द्विमासिक और त्रैमासिक तप उनके निरन्तर चलता रहता। एक बार महावीर वृहत् भिक्षु-संघ के साथ राजगृह आये। शालिभद्र भी साथ थे। उस दिन उनके एक महीने की तपस्या का पारणा होना था। उन्होंने नतमस्तक हो, महावीर से भिक्षार्थ नगर में जाने की आज्ञा माँगी। महावीर ने कहा—"जाओ, अपनी माता के हाथ से पारणा पाओ।" शालिभद्र अपनी माता भद्रा के घर आए। भद्रा महावीर और अपने पुत्र के दर्शन को तैयार हो रही थी; उत्सुकता से उसने घर आए मुनि की ओर ध्यान ही नहीं दिया। कर्मकरों ने भी अपने स्वामी को पहचाना। शालिभद्र बिना भिक्षा पाए ही लौट आए। रास्ते में एक अहिरन मिली। दही का मटका लिए जा रही थी। मुनि को देखकर उसके मन में स्नेह जगा। रोमांचित हो गई। स्तनों से दूध की धारा बह चली। उसने मुनि को दही लेने का आग्रह किया। मुनि दही लेकर महावीर के पास आये पारणा किया। महावीर से पूछा—"भगवन् ! आपने कहा था, माता के हाथ से पारणा करो। वह क्यों नहीं हुआ ?" महावीर ने कहा—"शालिभद्र ! माता के हाथ से ही पारणा हुआ है। वह अहिरन तुम्हारे पिछले जन्म की माता थी।"

महावीर की अनुज्ञा पा शालिभद्र ने उसी दिन वैभार गिरि पर्वत पर जा आमरण अनशन ठा दिया। भद्रा समवशरण में आई। महावीर के मुख से शालिभद्र का भिक्षाचारी से ले कर अनशन तक का सारा वृत्तान्त सुना। माता के हृदय पर जो बीत सकता है, वह बीता। तत्काल वह पर्वत पर आई। निर्मोही पुत्र ने आंख उठाकर भी उसकी ओर नहीं देखा। पुत्र की उस तप: क्लिष्ट काया को और मरणाभिमुख स्थिति को देख कर उसका हृदय हिल उठा। वह दहाड मार कर रोने लगी। राजा बिम्बसार ने उसे सान्त्वना दी। उद्बोधन दिया। वह घर गई। शालिभद्र सर्वोच्च देवगति को प्राप्त हुए। उनके गृही-जीवन की विलास-प्रियता और भिक्षु-जीवन की कठोर साधना दोनों ही उत्कृष्ट थी।

स्कन्दक

स्कन्दक महावीर के परिव्राजक भिक्षु थे। परिव्राजक-साधना से भिक्षु-साधना में आना और उसमें उत्कृष्ट रूप से रम जाना उनकी उल्लेखनीय विशेषता थी। आगम बताते है स्कन्दक यत्नापूर्वक चलते, यत्नापूर्वक ठहरते, यत्नापूर्वक बैठते, यत्नापूर्वक सोते, यत्नापूर्वक खाते और यत्नापूर्वक बोलते। प्राण, भूत, जीव, सत्व के प्रति संयम रखते। वे कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक ईर्या आदि पांचों समितियों से संयत, मन: संयत, वच: संयत, काय-संयत,

---

1. सुत्तनिपात, अट्ठकथा, पृ० २७२, धम्मपद, अट्ठकथा, खण्ड १, ९६-१०५; जातक सं० १८२, थेरगाथा १५७; Dictionary of Pali Proper Name, Vol. I, pp 10-11

वच: संयत, जितेन्द्रिय, आकांक्षा-रहित, चपलता-रहित और संयमरत थे[1]।

वे स्कन्दक भिक्षु स्थविरो के पास अध्ययन कर एकादश अंगों के ज्ञाता बने। उन्होंने भिक्षु की द्वादश प्रतिमा आराधी। भगवान् महावीर से आज्ञा लेकर गुणरत्नसंवत्सर तप तपा। इस उत्कृष्ट तप से उनका सुन्दर सुडौल और मनोहारी शरीर रूक्ष, शुष्क और कृश हो गया। चर्म-वेष्टित हड्डिया ही शरीर में रह गईं। जब वे चलते, उनकी हड्डियाँ शब्द करती; जैसे कोई सूखे पत्तों से भरी गाडी चल रही हो, कोयलो से भरी गाडी चल रही हो। वे अपने तप के तेज से दिप्त थे[2]।

स्कन्दक तपस्वी को बोलने में ही नहीं, बोलने का मन करने मात्र से ही क्लान्ति होने लगी। अपने शरीर की इस क्षीणावस्था का विचार कर वे महावीर के पास आये उनसे आमरण अनशन की आज्ञा मागी। अनुज्ञा पा, परिचारक भिक्षुओ के साथ विपुलाचल पर्वत पर आये, यथाविधि अनशन ग्रहण किया। एक मास के अनशन से काल-धर्म को पा अच्युत्कल्प स्वर्ग में देव हुए। महावीर के पारिपार्श्विकों में उनका भी उल्लेखनीय स्थान रहा है। पचमाग भगवती सूत्र में उनके जीवन और उनकी साधना पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

महावीर की भिक्षुणियो में चन्दनबाला के अतिरिक्त मृगावती, देवानन्दा, जयन्ती, सुदर्शना आदि अनेक नाम उल्लेखनीय है।

महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्ष-भिक्षुणियो की यह सक्षिप्त परिचय-गाथा है। विस्तार के लिए इस दिशा में बहुत अवकाश है। जो लिखा गया है, वह तो प्रस्तुत विषय की झलक मात्र के लिए ही यथेष्ट माना जा सकता है। ●

1. भगवती सूत्र, श० २, उ० १

2. तए णं से अणगारे तेण उरालेणं, विउलेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेण सुक्के, लुक्खे, निम्मसे, अट्ठि-चम्मावणद्धे, किडिकिडियाभूए, किमे, धमणि, संतए जाए यावि होत्था। जीवं-जीवेण गच्छइ, जीव जीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भास भासमाणे गिलाइ, भासं भासि-स्सामीति गिलायति। से जहानामए कट्ठसगडिया इ वा, पत्तसगडिया इ वा, पत्त-तिल-भंड सगडिया इ वा, एरडकट्ठसगडिया इ वा, इंगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, ऐवा मेव खदए वि अणगारे ससद्द गच्छइ, ससद्द चिट्ठइ, उवचिए तवेणं, अवचिए मंससोणिएणं, हुयासणे विव भासारासिपडिच्छण्णे तवेणं, तेएणं, तव तेयसिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे चिट्ठइ। —भगवती सूत्र, श० २, उ० १

राजा श्रेणिक या बिम्बसार का आयुष्य काल

(पं० मिलापचन्द कटारिया)

जैन शास्त्रो में राजा श्रेणिक की आयु के विषय में कही कोई स्पष्ट निर्देश नही मिलता है कि उनकी कितनी आयु थी। तथापि उनके कथा प्रसगों से उनकी आयु का पता लगाया जा सकता है। इस लेख में हम इसी पर चर्चा करते हैं :—

उत्तरपुराण के ७४ वे पर्व में राजा श्रेणिक का चरित्र निम्नप्रकार बताया है :—

"राजा कुणिक की श्रीमती राणी से श्रेणिक नाम का पुत्र हुआ। राजा के और भी बहुत से पुत्र थे। राजा ने एक दिन सोचा कि इन सब पुत्रों में राज्य का अधिकारी कौन पुत्र होगा ? निमित्तज्ञानी के बताये निमित्तो से राजा को निश्चय हुआ कि एक श्रेणिक पुत्र ही मेरे राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। तब राजा ने दायादों से श्रेणिक की रक्षा करने के लिये श्रेणिक पर बनावटी क्रोध करके

उसे नगर से निकाल दिया । वहाँ से निकल कर श्रेणिक दूर देश में जाने की इच्छा से चलता हुआ नंदिग्राम में पहुचा । किंतु नंदिग्राम के निवासियो ने राजाज्ञा के भय से राजकुमार श्रेणिक को कोई आश्रय नही दिया । इससे नाराज हो श्रेणिक आगे बढ़ा । रास्ते मे उसे एक ब्राह्मण का साथ हुआ । उससे प्रेमपूर्वक अनेक बाते करता हुआ श्रेणिक उस ब्राह्मण के मकान पर जा पहुचा । श्रेणिक की वाक्चातुरी, यौवन आदि गुणों पर मुग्ध होकर उस ब्राह्मण ने उसके साथ अपनी युवा-पुत्री का विवाह कर दिया । श्रेणिक अब यही रहने लगा । यही पर श्रेणिक के उस ब्राह्मण कन्या से एक अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ । एक दिन श्रेणिक के पिता कुणिक को अपना राज्य छोडने की इच्छा हुई । कुणिक ने ब्राह्मण के ग्राम से श्रेणिक को बुला कर उसे अपना सब राज्य सभला दिया । अब श्रेणिक राज्य करने लगा । पीछे से अभय कुमार और उसकी माता भी राजा श्रेणिक से आ मिले ।

(श्लोक ४१८ से ४३०)

उत्तरपुराण पर्व ७५ में लिखा है कि :—

सिंधुदेश की वैशाली नगरी के राजा चेटक के १० पुत्र और ७ पुत्रिया थी प्रियकारिणी मृगावती सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा चंदना ये उन पुत्रियो के नाम थे । ये सब—वय में उत्तरोत्तर छोटी छोटी थी । इनमें सबसे बड़ी पुत्री प्रियकारिणी थी जो राजा सिद्धार्थ को व्याही गई थी जिससे—भगवान् महावीर का जन्म हुआ था । और सबसे छोटी पुत्री चदना थी जो बालब्रह्मचारिणी ही रह कर महावीर स्वामी की सभा में आर्यिकाओ में प्रधान गणिनी हुई थी । तथा गंधार देश के महीपुर के राजा[1] सत्यको ने ज्येष्ठा पुत्री की याचना उसके पिता राजा चेटक से की थी । परन्तु चेटक ने उसे नही दी जिससे क्रुद्ध हो सत्यकि ने चेटक से सग्राम किया । संग्राम में सत्यकि हार गया । अतः लज्जित हो वह दमधर मुनि से दीक्षा ले मुनि हो गया । इसी तरह चेलना पुत्री को भी राजा श्रेणिक ने माँगी थी परन्तु उस समय श्रेणिक की उम्र ढल चुकी थी जिससे चेटक ने उसे देने से इकार कर दिया था । फिर अभयकुमार के प्रयत्न से छिपे तौर पर चेलना के साथ श्रेणिक का विवाह हुआ था उस प्रयत्न मे ज्येष्ठा का विवाह सम्बन्ध भी श्रेणिक के साथ होने वाला था किंतु चेलना की चालाकी से वैसा न हो सका । इसी एक कारण से विरक्त हो ज्येष्ठा ने अपनी मामी यशस्वती आर्यिका से दीक्षा ले ली थी और वह आर्यिका हो गई थी । (श्लोक ३ से ३४ तक)

उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक ३१ आदि में लिखा है कि—श्रेणिक ने महावीर के समवशरण में जा वहाँ गौतमगणधर से पूछा कि—"अंतिम केवली कौन होगा ?" इस पर गौतम ने कहा कि—वह यहा समवशरण में आया हुआ विद्युन्माली देव है जो आज से ७ दिन बाद जम्बू नाम का सेठ पुत्र होगा । जिस समय महावीर मोक्ष पधारेंगे उस समय मुझे केवलज्ञान होगा और मैं सुधर्म गणधर के साथ विचरता हुआ इसी विपुलाचल पर \

1 उत्तर पुराण पर्व ५७ श्लो० में 'सत्यको' पद है जिससे नाम 'सत्यक' प्रकट होता है किन्तु इसी के आधार पर बने पुष्पदत्त कृत अपभ्रंश महापुराण में इसी स्थल पर (भाग ३ पृ० २४३ में) 'सच्चइ' पद है जिससे नाम 'सत्यकि' प्रकट होता है इसके सिवा उत्तर पुराण ही में सर्ग ७६ श्लो० ४७४ मे "सत्यकि-पुत्रक" पद देते हुए सत्यकि नाम सूचित किया है अतः पर्व ७५ श्लो० १३ में सत्यको की जगह सत्यकि (सत्यकी शुद्ध पाठ होना चाहिए इससे छदो भंग भी नही होता है ।

हरिवंशपुराणत्रिलोय पण्णत्ती त्रिलोयसार, हरिषेण कथाकोश, विचारसार प्रकरण (श्वे०) सभी में ११वे रुद्र का नाम सच्चइ सुय (सत्यकि सुत) देते हुए इस राजा का नाम सत्यकि ही प्रकट किया है । इसी राजा का मुनि अवस्था में उत्पन्न पुत्र ११ वा रुद्र है । अतः हमने 'सत्यकि' ही नाम सब जगह दिया है । हरिषेण कथा कोष में सत्यकि के साथ कही कही सात्यकि नाम भी दिया है । ब्र० नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष में तो सात्यकी ही दिया है । प्राकृत के 'सच्चइ' पद का सात्यकि और सत्यकि दोनो बन जाता है । तथा 'कि' भी ह्रस्व और दीर्घ दोनो रूपों मे हो जाती है ।

आऊंगा। उस वक्त इस नगर का राजा चेलना का पुत्र[1] कुणिक परिवार के साथ मेरी वंदना को आवेगा। तभी जम्बूकुमार भी मेरे पास आ दीक्षा लेने को उत्सुक होवेगा। उस वक्त उसके भाई बन्धु उसे यह कह कर रोक देंगे कि—थोड़े ही वर्षों में हम लोग भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा धारण करेंगे। बन्धु लोगों के इस कथन को वह टाल नहीं सकेगा और वह उस समय नगर में वापिस चला जावेगा। तदनन्तर परिवार के लोग उसे मोह में फंसाने के लिये चार सेठों की चार पुत्रियों के साथ उसका विवाह रच देंगे। इतने पर भी जम्बूकुमार भोगानुरागी न हो कर उल्टे दीक्षा लेने को उद्यमी होगा। यह देख उसके भाई बन्धु और कुणिक राजा (श्लोक १८३) उसका दीक्षोत्सव मनायेंगे। उस वक्त मुझे विपुलाचल पर विराजमान जान कर वह जम्बू उत्सव के साथ मेरे पास आ मेरी भक्ति पूर्वक वंदना कर सुधर्मगणधर के समीप संयम धारण करेगा। मेरे केवलज्ञान के १२वें वर्ष जब मुझे निर्वाण प्राप्त होगा तब सुधर्माचार्य केवली और जम्बूस्वामी श्रुतकेवली होंगे। उसके बाद फिर १२वें वर्ष में जब सुधर्म केवली मोक्ष जायेंगे तब जम्बूस्वामी को केवलज्ञान होगा। फिर वे जम्बू केवली अपने भव नाम के शिष्य के साथ ४० वर्ष तक विहार कर मोक्ष पधारेंगे।

उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक ३३१ आदि में लिखा है कि :—

एक दिन उज्जयिनी के श्मशान में महावीर स्वामी प्रतिमायोग से विराजमान थे। उनको ध्यान से विचलित करने के लिये रुद्र ने उन पर उपसर्ग किया। परन्तु वह भगवान को ध्यान से डिगाने में समर्थ न हो सका। तब रुद्र ने भगवान का[2] महतिमहावीर नाम रखकर उनकी बड़ी स्तुति की और फिर—नृत्य किया

1. उत्तर पुराण के अनुसार श्रेणिक के पिता का नाम भी कुणिक है और पुत्र का नाम भी कुणिक है।

होने से 'महतिमहावीर' यह एक ही नाम सिद्ध होता है

2 भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित उत्तर पुराण पृ० ४६५-६६ में महति और महावीर ऐसे २ नाम अनुवादक जी ने दिये है किन्तु मूल में एक वचनात पद होने से 'महतिमहावीर' यह एक ही नाम सिद्ध होता है: देखो पर्व ७४ "समहतिमहावीराख्यां कृत्वा विविधाः स्तुती" ॥४३६॥ इसी के आधार पर आशाधर ने भी त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र में सर्ग २४ श्लो० ३४ में "महति-महावीर" यह एक नाम सूचित किया है। इसी तरह स्वकृत सहस्त्रनाम के श्लोक ६१ में भी 'महति महावीर' यह एक नाम देते हुए उसका अर्थ इस प्रकार किया है—मस्य मलस्य हतिर्हनन=महति-। महतौ महावीरः=महति महावीरः। (पापों के नाश करने में शूरवीर) पाक्षिकादि प्रतिक्रमण (क्रियाकलाप पृ० ७३) में महदि-महावीरेण वड्ढमाणेण महाकस्सवेण" पाठ आता है इसमें भी 'महति महावीर' यह एक नाम ही सूचित किया है। महदि प्राकृत का संस्कृत में महति और महाति दोनों रूप बनते हैं अतः कवि असग ने अपने महावीर चरित में 'महातिमहावीर' यह एक नाम दिया है जिसका अर्थ होता है महान् से भी अत्यन्त महान् वीर। स्व० प० खूबचन्द जी सा० ने इसके हिन्दी अनुवाद में अतिवीर और और महावीर ऐसे दो नाम बनाये हैं जो मूल से विरुद्ध हैं मूल में तो एक वचनात प्रयोग किया है देखो—स महाति महादिरेष वीरः प्रमदादित्यभिधाव्यधत्तानस्य ॥१२६॥ पर्व १७। अतः असग के अनुसार भी "महातिमहावीर." यह एक नाम ही सिद्ध होता है।

धनंजय नाम माला के श्लोक ११५ में लिखा है—सन्मति महति वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः॥ यहां महातिः 'वीर' महावीर ऐसे अलग अलग नाम बनाये हैं यह कवि की प्रतिभा है अमरकीर्ति ने इसके भाष्य में 'महतिः' नाम का अर्थ इस प्रकार किया है—महती—पूजा यस्य स महतिः। किन्तु उत्तरपुराण आदि में 'महति महावीर' यह एक नाम ही दिया है। दो नाम इसलिये भी नहीं हो सकते कि—उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक २६५ में 'महावीर' यह नाम सर्पवेषी संगमदेव ने पहिले ही रख दिया था, देखो—स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार स

जो ज्येष्ठा को चाहता था वह भी मुनि हो गया था। उत्तरपुराण में इनका इतना ही कथन किया है। किन्तु अन्य जैन कथा ग्रन्थों में इनका आगे का हाल भी लिखा मिलता है। हरिषेण कथाकोश की कथा न० ९७ में लिखा है कि—

एक बार ज्येष्ठा आदि कितनी ही आर्यिकाये आतापन योग में स्थित उक्त सत्यकि मुनिकी वदनार्थ गई थी[1]। वहा से लौट कर पहाड़ पर से उतरते समय अकस्मात् जल वर्षा होने लगी जिससे आर्यिकाये तितरबितर हो गई। उस वक्त ज्येष्ठा एक गुफा में प्रवेश कर अपने भीगे कपडे उतार कर निचोडने लगी। उसी समय वे सत्यकि मुनि भी अपना आतापन योग समाप्त कर उसी गुफा में आ घुसे। वहाँ ज्येष्ठा को खुले अग देख एकान्त पा मुनि के दिल मे काम विकार हो उठा। दोनो का सयोग हुआ। ज्येष्ठा के गर्भ रहा। सत्यकि तो इस कुकृत्य का गुरु से प्रायश्चित्त ले पुनः मुनि हो गये। किंतु ज्येष्ठा सगर्भा थी उसने अपनी गुर्वाणी यशस्वती के पास जा अपना सब हाल यथार्थ सुना दिया। गुर्वाणी ने उसे रानी चेलना के यहा पहुँचा दिया। चेलना ने शरण देकर ज्येष्ठा को गुप्त रूप से अपने पास रक्खा। वही उसके पुत्र पैदा हुआ। पुत्र जन्म के बाद ज्येष्ठा ने अपनी गुर्वाणी से प्रायश्चित्त लेकर पुन आर्यिका की दीक्षा ग्रहण करली।

ज्येष्ठा के जो पुत्र हुआ था उसका लालन पालन भी चेलना ने ही किया। वह पुत्र बडा उद्दंड निकला। एक दिन उसकी उद्दंडता से हैरान होकर चेलना के मुख से निकल पडा कि—"दुष्ट जार जात यहा से चला जा" यह यह सुन उसने अपनी उत्पत्ति चेलना से जाननी चाही। चेलना ने सब वृत्तान्त उस को यथावत् सुना दिया। सुन कर वह अपने पिता सत्यकी मुनि के पास जा दीक्षा ले मुनि हो गया। वह नवदीक्षित मुनि ग्यारह अग दशपूर्वों का पाठी हो गया और रोहिणी आदि पाचसौ महाविद्याओ व सात सौ क्षुद्र विद्याओ की भी उसे प्राप्ति हो गई। वह विद्या के प्रताप से सिंह का रूप बना कर उन लोगो को डराने लगा जो लोग सत्यकी मुनि की वंदनार्थ आते जाते थे। उसकी ऐसी चेष्टा जान कर सत्यकी मुनि ने उसे फटकारा और कहा कि तू स्त्री के निमित्त से एक दिन भ्रष्ट होवेगा। गुरु वाक्य सुन कर सत्यकि पुत्र ने निश्चय किया कि मैं ऐसी जगह जाकर तप करूँ जहाँ स्त्री मात्र का दर्शन भी न हो सके तब मैं कैसे भ्रष्ट होऊँगा ? ऐसा सोच कर वह कैलाश पर्वत पर जा पहुँचा और वहाँ आतापन योग में स्थित हो गया। वहाँ एक विद्याधर की आठ कन्याये स्नान करने को आई। उनकी अनुपम सुन्दरता को देख कर वह उन पर मोहित हो गया। ज्यो ही वे कन्यायें अपने वस्त्राभूषण उतार वापिका के जल में स्नान करने को घुसी तब ही उस ने अपनी विद्या के द्वारा उनके वस्त्राभूषणों को मगा लिया। वापिका से निकल कर उन कन्याओ को जब तट पर अपने २ वस्त्राभूषण न ही मिले तो उन्होने उस मुनि से पूछताछ की। मुनि ने उन से कहा तुम सब मेरी भार्या बनो तो तुम्हारे वस्त्रादि तुम्हे मिल सकते है। उत्तर में उन कन्याओ ने कहा कि यह बात तो हमारे माता पिता के आधीन है। वे अगर हमें आपको देना चाहे तो हमारी कोई इंकारी नही है। उसने कहा अच्छा तो तुम सब अपने माता पिता को पूछ लो यह कह उसने उनके वस्त्राभूषण दे दिये। उन कन्याओ ने घर पर जा यह बात अपने पिता देवदारु को कही। देवदारु ने एक वृद्ध कंचुकी को भेज कर सत्य की पुत्र से कहलवाया कि -मेरा भाई विद्युज्जिह्व मुझे राज्य से निकाल आप राजा बन बैठा है। अगर आप उससे मेरा राज्य दिलासको तो मैं ये सब कन्याये आपको दे सकता हूँ। सत्यकि पुत्र ने ऐसा करना स्वीकार किया और अपनी विद्याओ के बल से उसके भाई विद्युज्जिह्व को मारकर देवदारु को राजा बना दिया। तब देवदारु ने भी अपनी आठों कन्याओ की शादी सात्यकि के साथ कर दी। कितु वे सब कन्यायें रतिकर्म के समय उसके

1. ब्र० नेमिदत्तकृत आराधना कथा कोश मे इस जगह आर्यिकाओं का भगवान महावीर की वंदनार्थ जाना लिखा है। वह ठीक नही है। क्योकि इस वक्त तक तो अभी महावीर ने दीक्षा ही नही ली है। तब उनकी वंदना की कहना असंगत है। जैसा कि हम आगे बतायेगे।

शुक्र के तेज को न सह सकने के कारण एक एक करके मर गईं। इसी तरह अन्य भी एक सौ विद्याधर कन्याये मरण को प्राप्त हुई। आखिर में एक विद्याधर कन्या ऐसी निकली जो इस काम में उसका साथ दे सकी। उसके साथ उस ने नाना प्रकार के भोग भोगे। फिर इसी सत्यकी पुत्र (२१ वे रुद्र) ने[1] आकर भगवान महावीर पर उपसर्ग किया था। यह कथा श्रुतसागर ने मोक्ष पाहुड गाथा ४६ की टीका में भी इसी तरह लिखी है। ब्र० नेमिदत्त ने भी आराधना कथा कोश में लिखी है।

इस प्रकार उत्तरपुराण की कथाओ के ये उद्धरण ऐसे हैं जिनसे हम राजा श्रेणिक की आयु का अदाजा लगा सकते है। श्रेणिक को देश निकाला होने पर उसने जो देशांतर में एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे अभयकुमार पुत्र हुआ था उस समय श्रेणिक की उम्र कम से कम १८ वर्ष की तो होगी ही। आगे चल कर इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ है ऐसा कथा में कहा है। तो चेलना के विवाह के वक्त अभयकुमार की आयु भी १८ वर्ष से तो क्या कम होगी? इसी प्रकार यहा तक यानी चेलना के विवाह के वक्त तक श्रेणिक की उम्र करीब ३६ वर्ष की सिद्ध होती है। उसीसे कथा में लिखा है कि श्रेणिक की आयु ढल जाने के कारण ही राजा चेटक अपनी पुत्री चेलना को श्रेणिक को देना नही चाहता था। अब आगे चलिये—चेलना की बहिन ज्येष्ठा को श्रेणिक की प्राप्ति न हुई तो वह दीक्षा ले आर्यिका हो गई। इसी आर्यिका के सत्यक मुनि के सयोग से सत्यकि पुत्र (रुद्र) उत्पन्न हुआ है। चेलना के विवाह के बाद सत्यकी पुत्र की उत्पत्ति होने तक कम से कम एक वर्ष का काल भी मान लिया जावे तो यहा तक श्रेणिक की उम्र ३७ वर्ष की होती है शास्त्रो मे रुद्रों के ३ काल माने हैं—कुमारकाल संयमकाल और असंयमकाल। हरिवंश पुराण सर्ग ६० में लिखा है कि—

> वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशति. संयमेऽष्टभि·।
> एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसंयमे ॥५४५॥

अर्थ—११वे रुद्र का कुमारकाल ७ वर्ष, संयमकाल २८ वर्ष और असयमकाल ३४ वर्ष का था।

यह विषय त्रिलोकप्रज्ञप्ति में भी आया है। उसके चौथे अधिकार की गाथा नं १४६७ इस प्रकार है :—

> *सगवासं कोमारो संजमकालो हवेदि चोत्तीसं।*
> अडवीसं भंगकालो एयारसयस्स रुद्दस्स ॥१४६७॥

इसमें ११ वे रुद्र का सयमकाल ३४ वर्ष का और असंयमकाल २८ वर्ष का बताया है। यह गाथा अशुद्ध मालूम पडती है। इसलिये इसका कथन हरिवंशपुराण मे नही मिलता है। इस गाथा में प्रयुक्त 'चौत्तीस' के स्थान में 'अडवीसं' और 'अडवीस' के स्थान में 'चोत्तीम' पाठ होना चाहिये। जान पड़ता है किसी प्रतिलिपिकार ने प्रमाद से उलट पलट लिख दिया है।

अब प्रकृत विषय पर आइये—रुद्र ने महावीर पर उपसर्ग किया तो वह ऐसा काम सयमकाल में तो कर नही सकता है। रुद्र की संयमकाल की अवधि उसकी ३५ वर्ष की उम्र तक मानी गई है जैसा कि ऊपर लिखा गया है इन ३५ वर्षों को श्रेणिक की उक्त ३७ वर्ष की उम्र मे जोडने पर यहाँ तक श्रेणिक की उम्र ७२ वर्ष की हो जाती है। फिर संयमकाल की समाप्ति के बाद सत्यकि पुत्र का कैलाश पर पहुँच कर वहा विद्याधर कन्याओ को व्याहने और एक एक करके उन कन्याओ के मरने पर अंत मे विशिष्ट विद्याधर कन्या के साथ रमण करते हुए भगवान महावीर तक पहुच कर उन पर उपसर्ग करने में भी ज्यादा नही एक वर्ष भी गिन ले और और महावीर को उनकी उम्र के ४२ वे वर्ष में केवलज्ञान हुआ उसी वर्ष में ही यह उपसर्ग भी मान ले तो इसका यह अर्थ हुआ कि महावीर को जब केवल ज्ञान पैदा हुआ,

---

1. इस ११वे रुद्र का असली नाम क्या था यह किसी ग्रन्थकार ने सूचित नही किया है किन्तु कवि असग ने महावीर चरित सर्ग १७ श्लोक १२५-१२६ में भव नाम दिया है। हरिषेण कथाकोश की कथा न०६७ मे तथा श्रीधर के अपभ्रंश वर्द्धमान चरित आदि में भी भव दिया है लेकिन यह नाम नही है रुद्र का पर्यायवाची शब्द है देखो धनंजय नाममाला श्लोक ७० अथवा अमरकोष।

तब राजा श्रेणिक की उमर लगभग ७३ वर्ष की थी। अर्थात् महावीर से श्रेणिक ३१ वर्ष बडे थे। इस हिसाब से जब श्रेणिक ने चेलना से विवाह किया तब श्रेणिक ३६ वर्ष के थे और महावीर ५ वर्ष के थे। इतिहास में महावीर और गौतम बुद्ध को समकालीन माना जाता है। अत: उस वक्त गौतम बुद्ध भी बालक ही माने जायेंगे ऐसी हालत में उस वक्त हम श्रेणिक को बौद्धमती भी नही कह सकते हैं। बौद्ध धर्म के चलाने वाले खुद गौतम ही जब उस वक्त बालक थे तो उस समय बौद्धधर्म कहा से आयेगा ? अगर हम इतिहास की गड़बड़ी से बुद्ध और महावीर की वय में १०-१५ वर्ष का अन्तर भी मान लें तब भी श्रेणिक के समय में बौद्ध मत का सद्भाव नही था। इसीलिये हरिषेण कथाकोश में श्रेणिक को भागवतमत (वैष्णवमत) का बताया है। वह ठीक जान पडता है। तथा महावीर का निर्वाण उनकी ७२ वर्ष की वय में हुआ माना जाता है अत: महावीर से ३१ वर्ष बडे होने के कारण श्रेणिक की उम्र वीर निर्वाण के वक्त १०३ वर्ष की माननी होगी। उम्र का यह टोटल यहाँ कम से कम लगाया गया है, इससे अधिक भी संभव हो सकता है वीरनिर्वाण के वक्त श्रेणिक जीवित थे कि नही थे यह उत्तरपुराण से स्पष्ट नही होता है। किंतु हरिवंशपुराण में वीरनिर्वाण के उत्सव में श्रेणिक का शरीक होना लिखा है। और हरिषेण कथाकोश में कथा नं० ५५ में श्रेणिक का अंतकाल वीर निर्वाण से करीब ३।। वर्ष बाद होना बताया है। यथा :—

ततो निर्वाणमापन्ने महावीरे जिनेश्वरे।
त्रिसस्समाश्चतुर्थस्य कालस्य परिकीर्तिता: ।।३०६।।
तथा मासाष्टकं ज्ञेयं षोडशापि दिनानि च।
एतावति गते काले नून दु:खमनामनि ।।३०७।।
पूर्वोक्त: श्रेणिको राजा सीमतं नरकं ययौ ।।३०८।।

अर्थ—महावीर के निर्वाण के बाद चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८ मास १६ दिन व्यतीत होने पर दु:खम नाम के पाँचवें काल में मनवाञ्छित महाभोगों को भोग कर राजा श्रेणिक मर कर प्रथम नरक के सीमंत बिल मे गया[1]।

उक्त १०३ वर्ष में वीर निर्वाण के बाद ये ३।। वर्ष जोड़ने पर श्रेणिक की कुल आयु १०७ वर्ष करीब की बनती है।

अब हम श्रेणिक की आयु के साथ जम्बूकुमार का संबंध बताते है—ऊपर उत्तरपुराण की कथा में लिखा है कि—गौतम केवली जब प्रथम बार विपुलाचल पर आये थे उस समय राजगृह का राजा कुणिक था। यानी राजा श्रेणिक उस समय नही थे—वे मर चुके थे। अर्थात् वीर निर्वाण से ३।। वर्ष बाद जब श्रेणिक न रहे तब तक प्रथम बार गौतम केवली विपुलाचल आये थे। उस समय बांधवो के अनुरोध से जम्बूस्वामी दीक्षा लेते २ रुक गये। पुन जब दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये तब उनके सान्निध्य में सुधर्माचार्य के पास से जम्बूस्वामी ने दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा को अगर हम अदाजन वीर निर्वाण से यों कहिये गौतम के केवली होने से ६ वर्ष के बाद होना मान ले और दीक्षा के वक्त जम्बूकुमार की २० वर्ष की उम्र मानलें तो कहना होगा कि वीरनिर्वाण के वक्त जम्बूकुमार १४ वर्ष के थे और जम्बू की १७।। वर्ष की उम्र के लगभग तक श्रेणिक जीवित रहे थे। इसलिये जम्बू का श्रेणिक की राज सभा में आना जाना व श्रेणिक द्वारा सम्मान पाना तो संगत हो सकता है। परन्तु कुछ जैन कथा ग्रन्थों में लिखा है कि—"जम्बूकुमार की मदद से राजा श्रेणिक ने एक विद्याधर कन्या को विवाही थी" यह बात नही बन सकती है। क्योंकि उस समय राजा श्रेणिक बहुत ही वृद्ध हो हो चले थे। जब जम्बू ११ वर्ष के थे तब श्रेणिक एक सौ वर्ष के थे। इसी तरह कुछ कथा ग्रन्थो में जम्बू के दीक्षोत्सव में श्रेणिक की उपस्थिति बताना भी गलत है। उत्तर पुराण के अनुसार दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये थे तब जम्बू ने दीक्षा ली थी किन्तु प्रथम बार जब गौतम केवली विपुलाचल पर आये थे उस वक्त

---

1. उत्तरपुराण में चतुर्थकाल की समाप्ति में ३ वर्ष ८।। मास शेष रहने परवीरनिर्वाण होना लिखा है। यहाँ ३ वर्ष ८ मास १६ दिन इसलिये लिखा है कि १६ वे दिन पंचम काल का प्रारंभ होता है और उसी दिन में श्रेणिक की मृत्यु हुई है।

श्रेणिक मौजूद न थे उस वक्त भी कुणिक ही का राज्य था ऐसा उत्तर पुराण में लिखा है तब जम्बू के दीक्षोत्सव में श्रेणिक को उपस्थित बताना अयुक्त है। जम्बू की दीक्षा के वक्त श्रेणिक की विद्यमानता का उल्लेख हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश में भी नही है।

इस निबन्ध में ३ कथा ग्रन्थो का उपयोग किया गया है—उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश का। तीनों ही ग्रन्थ प्राचीन हैं। उत्तरपुराण का रचना काल वि० सं० ६१० के करीब। हरिवंश पुराण का वि० सं० ८४० और हरिषेण कथा कोश का वि० सं० ६८८ है।

पंडित भगवतीदास कृत वैद्यविनोद

(डा० विद्याधर जोहरापुरकर, मण्डला)

१ जैन साहित्य में वैद्यक ग्रन्थ—

प्राचीन जैन आचार्यों ने लोकहित की प्रेरणा से कई लौकिक विषयो पर भी ग्रन्थ लिखे है। वैद्यक भी इन्ही विषयों मे से एक है। यद्यपि अब तक पूज्यपाद नामांकित वैद्यसार और उग्रादित्य विरचित कल्याण-कारक ये दो ही जैन वैद्यक ग्रन्थ प्रकाशित हुए है तथापि अन्य कई अप्रकाशित अवस्था में है। उग्रादित्य के कथन से मालूम होता है कि वैद्यक के अनेक अंगो पर जैन आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। उन्होंने पूज्यपाद प्रकटित शालाक्य, पात्रस्वामि प्रोक्त शाल्यतन्त्र और सिद्धसेन कृत विषोग्रग्रहशमन विधि का नामोल्लेख किया है। इन्ही अनुपलब्ध या अप्रकाशित ग्रन्थो में से एक का परिचय कराना इस लेख का उद्देश्य है।

२ प्रस्तुत ग्रन्थ वैद्य विनोद—

यह ग्रन्थ पुरानी हिन्दी में लिखा गया है। इसमें ६२४ पद्य हैं। मुख्य रूप से दोहा और चौपाई छन्दों मे ये पद्य हैं। कही-कही अडिल्ल, पद्धडिया और सोरठा छन्दों का भी प्रयोग है। ग्रन्थ के पहले उद्देश्य में ५२ पद्य है तथा इसमें मंगलाचरण के बाद वैद्य के गुण-अवगुण नाडी के लक्षण, वात, पित्त, कफ, दोषो के लक्षण और साध्य-असाध्य रोगो के लक्षण बतलाये है। दूसरे उद्देश्य में १२० पद्य है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वर, सन्निपात, संग्रहणी, पाण्डुरोग, अतिसार आदि रोगो के लिए सुदर्शनचूर्ण, चिन्तामणि रस, कनकसुन्दरी वटी, अठारहमूल काढा, गंगाधर चूर्ण आदि औषधियो के प्रयोग का वर्णन है। तीसरे उद्देश्य में ७६ पद्य है तथा अर्श, शूल, कृमि, क्षय आदि रोगो के उपचार बतलाये गये हैं। चौथे उद्देश्य मे ७७ पद्य है तथा इसमे श्वास, कास, मंदाग्नि, अजीर्ण, विपूची, सर्दी, हिचकी आदि रोगो के उपचारों का वर्णन है। इसके बाद ग्रन्थ के अन्त तक स्त्री-पुरुषो के विशिष्ट रोगो की चिकित्सा बतलाई है। इस प्रकरण का काफी बडा हिस्सा पुत्र प्राप्ति के उपायो से घिरा हुआ है।

३ ग्रन्थ रचना का समय और स्थान—

लेखक की अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना शाहजहां के काल मे संवत १७०४, चैत्र शुक्ल १४ गुरुवार को अकबराबाद में पूर्ण हुई थी। यथा—

सत्रहसइ रुचिडोत्तरइ सुकल चतुर्दसि चैतु।
गुरुदिन भनी पूरनु करिउ सुलिता पुरि सहु जयतु ॥ ६१६

लिखिउ अकबराबादि सिरु साहजहाँ के राज।
साह निमइ सराइ सरिसु देस कोस गज बाजि ॥ ६२०

४ ग्रन्थकर्ता पंडित भगवतीदास—

अन्तिम प्रशस्ति मे लेखक ने अपने पिता का नाम कृष्णदास तथा नगर का नाम बूढिया बताया है, यथा—

कृष्णदास तनुरुह गुणी नयरि बूडियइ वासु।
सुहिदु जु जोगीदास कउ कवि सु भगवतीदासु ॥६२१

ग्रन्थ के मगलाचरण मे भट्टारक महेन्द्रसेन को नमस्कार है। ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्तियो से मालूम होता है कि महेन्द्रसेन काष्ठासघ - माथुरगच्छ के भट्टारक थे, उनके गुरु का नाम सकलचन्द्र और प्रगुरु का नाम गुणचन्द्र था। ग्रन्थ में लेखक ने जोगीदास और नैनसुख इन दो लेखको का एकाधिक बार आधार के रूप में उल्लेख किया है। महाज्वराकुशवटी के वर्णन मे उन्होने वैद्यमहोत्सव नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

५ लेखक की अन्य रचनाएं—

अनेकान्त में पं० परमानन्दजी शास्त्री ने भगवतीदास के बारे मे समय-समय पर चार लेख लिखे है, जिनमे उनकी कई रचनाओ के नाम मालूम होते है। ये लेख वर्ष ५ पृ० १३, वर्ष ७ पृ० ५८, वर्ष ११ पृ० २ ५ तथा वर्ष १४ पृ० २२७ पर छपे है। इनसे ज्ञात होने वाली रचनाओ के नाम इस प्रकार हैं—

मुकति शिरोमणि चूनडी गीत (सवत १६८०) सीता सतु (सं० १६८४), लघु सीता सतु (स० १६८७) मृगाक लेखाचरित्र (सं० १७००)' टंडाणारास, आदित्य व्रतरास, दशलक्षणरास, खिचडीरास, साधुसमाधिरास, जोगीरास, मनकरहारास, रोहिणीव्रतरास, चतुरवनजारा, द्वादश अनुप्रेक्षा, सुगधदशमी कथा, आदित्यवार कथा, अनथमी कथा, वीरजिनिद गीत, राजमती नेमीश्वर ढमाल, सज्ञानी ढमाल, आदिनाथ स्तुति और शान्तिनाथ स्तुति। इनके अतिरिक्त हमारी जिस पोथी में वैद्यविनोद लिखा है उसी म लेखक की एक रचना ज्योतिषसार भी अंकित है। अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार इसका रचनाकाल स० १६६४ तथा स्थान हिसार का वर्धमान मन्दिर था। उदयचन्द मुनि के उपदेश से इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इसमें द्वादशमासफल काण्ड, अर्धकाण्ड तथा ग्रहफलादि विचारकाण्ड ये तीन भाग हैं। हिन्दी, अपभ्रंश और सस्कृत तीनो भाषाओ के पद्य इसमें प्रयुक्त हुए है। इसकी रचना की प्रेरणा बिहारी दास साधना ने दी थी। आधार के रूप मे गर्गमुनि और भड्डुली के नाम आए है। इसी पोथी में द्वात्रिंशदिद्रकेवली तथा नवाककेवली ये शकुन ग्रन्थ भी है। पहले को गौतम स्वामी कृत और दूसरे को गर्गाचार्यकृत कहा है तथा उनके अनुवाद भगवतीदासकृत है ऐसा प्रशस्तियो से प्रतीत होता है। इन के अतिरिक्त कार्कापड विचार यह शकुनदर्शक रचना भी भगवती दास के नाम से इसी पोथी में लिखी है।

यहाँ पर भी नोट करना जरूरी है कि ब्रह्मविलास के कर्ता भैया भगवतीदास ओसवाल थे। वे वैद्यविनोद के कर्ता से भिन्न और उत्तरवर्ती है। उनकी रचनाओ का समय स० १७३१ से ५५ तक अर्थात् वैद्यविनोद कर्ता से कोई आधी शताब्दी बाद का है।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९६६ का पुरस्कार घोषित

श्री ताराशंकर बन्द्योपाध्याय की कृति गणदेवता पर

(श्री लक्ष्मीचन्द जैन, भारतीय ज्ञानपीठ)

दिल्ली, ११ मई, १९६७

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित एक लाख रुपये के वार्षिक साहित्यिक पुरस्कार की प्रवर परिषद् ने दिनाक ११ मई, १९६७ को यहा हुई अपनी बैठक में सन् १९६६ का पुरस्कार सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री ताराशकर बनर्जी के पक्ष में घोषित करने का निर्णय किया है।

यह द्वितीय पुरस्कार है, प्रथम पुरस्कार मलयालम के महाकवि जी शकर कुरुप को भेट किया गया था जिसका समर्पण समारोह गत १९ नवम्बर १९६६ को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ था।

यह पुरस्कार भारतीय भाषाओ में से सर्वश्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर दिया जाता है। सन्

१९६५ में प्रथम पुरस्कार जो महाकवि कुरुप के नाम घोषित हुआ था, वह उनकी इसी कोटि की काव्य रचना "ओटक्कुषल बांसुरी" पर दिया गया। प्रथम पुरस्कार के लिए पुस्तकों की प्रकाशन अवधि थी १९२० से १९५८ तक। अब दूसरे पुरस्कार के लिए श्री ताराशकर की कृति को सन् १९२५ से १९५९ तक की अवधि में प्रकाशित ग्रंथों में से चुना गया है।

पुरस्कार प्रदायिनी संस्था भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना सन् १९४४ में श्री शान्तिप्रसाद जैन ने की थी। ज्ञानपीठ प्रकाशनों की संख्या अब ५०० से ऊपर हो चुकी है। इनमें संस्कृत, प्राकृत, पाली, अर्धमागधी, तामिल एवं कन्नड की प्राचीन पाण्डुलिपियों को वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादित कर प्रकाश में लाये गए शोध-ग्रन्थ तथा सुप्रसिद्ध एवं नवीन लेखकों के मूल हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से अनूदित साहित्यिक ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

वार्षिक साहित्यिक पुरस्कार की प्रवर परिषद के अध्यक्ष हैं डाक्टर सम्पूर्णानन्द। परिषद के अन्य सदस्य हैं—काका साहब कालेलकर, डा० आर०आर० दिवाकर, डा० हरेकृष्ण महताब, डा० नीहार रंजन रे, डा० गोपाल रेड्डी, डा० कर्णसिंह, डा० वी राघवन, श्रीमती रमा जैन तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन। ये अन्तिम दो ज्ञानपीठ का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रीमती रमा जैन ज्ञानपीठ की अध्यक्षा हैं तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन इसके मंत्री हैं।

प्रवर परिषद की इस बैठक ने पुरस्कार का उच्च निर्णय सर्वसम्मति से किया।

गणदेवता तथा इसके लेखक श्री ताराशंकर बनर्जी

गणदेवता बंगाल के उस ग्राम्य जीवन एवं समाज का प्रतिबिम्ब है जो स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भिक वर्षों में विद्यमान था। इस उपन्यास में प्राचीन ग्राम्य व्यवस्था के विघटन तथा नये पैदा हुए लालची धनिक वर्ग के उभरने की प्रक्रिया का यथातथ्य चित्रण है। परिपार्श्व में चित्रित हैं—छोटे-छोटे आपसी झगडे तथा शोषण की मनोवृत्ति जिनके बीच अकेला जूझता हुआ एक निर्धन अध्यापक जिसकी मानवीय सदाशयता में आस्था अन्त तक अडिग रहती है। उसे विश्वास है कि मानवता अपनी पूरी-पूरी आब के साथ एक बार फिर से सिर ऊंचा करके चलने लगेगी।

यद्यपि उपन्यास में संक्रमणकालीन बंगाल के ग्राम्य-जीवन का ही चित्रण है। परन्तु प्रतीकरूप में यह पूरे समकालीन भारतीय ग्रामों का प्रतिनिधित्व करता है। उपन्यासकार ने अपने पात्रों को हाड़-मांस के सजीव चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किया है जो व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ समूहगत प्रतिनिधित्व भी होकर सामने आते हैं।

उपन्यासकार श्री ताराशंकरजी का जन्म २५ जुलाई १८०८ को लाबपुर, जिला बीरभूम, पश्चिम बंगाल के एक जमींदार परिवार में हुआ था। यह स्व० श्री हरिदास बनर्जी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। ताराबाबू केवल आठ वर्ष के ही थे जब इनके पिता का देहान्त हो गया। इनका पालन पोषण अपनी माता श्रीमती प्रभावती देवी के संरक्षण में ही हुआ, जो अभी तक जीवित हैं।

अपने गाँव के अंग्रेजी हाई स्कूल से ही ताराबाबू ने मैट्रिक परीक्षा पास की। स्कूल जीवन के अंतिम वर्षों में इनका संपर्क क्रान्तिकारियों से हो चुका था। मैट्रिक करने के बाद आपने कलकत्ता के सेण्ट जेवियर्स कालेज में में प्रवेश किया। यहां आकर क्रान्तिकारियो से सम्पर्क और बढा तथा फलस्वरूप इन्हें कालिज की पढाई छोड कर अपने गाव में नजरबन्द होना पडा।

गांव में यों तो इनका काम अपनी छोटीसी जमीदारी की देखभाल करना था, मगर इनका मन लेखन कार्य में ही रमता था। अत: इन्होने इसी क्षेत्र का चयन कर लिया, और कविताए तथा नाटक लिखने लगे।

सन् १९२८ में तारा बाबू ने कहानियां लिखनी शुरू की। आपकी पहली कहानी 'कल्लोल' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

फिर राष्ट्रीय आन्दोलन ने इन्हें खींचा और आप स्थानीय कांग्रेस के रूप में जेल चले गये। जेल जाने

के पहले वे एक छोटासा उपन्यास 'चैताली घूर्णी' (चैत का तूफान) भी लिख चुके थे, जो इन्होंने बाद मे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को समर्पित किया। नेताजी से इनका परिचय नया-नया ही हुआ था।

जेल में रहते हुए आपने जेल जीवन पर ही एक अन्य उपन्यास लिखा।

तारा बाबू इस समय तक सौ से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें चालीस उपन्यास है बाकी मुख्यतया कथा संग्रह और नाटक है। सफल उपन्यासकार तथा कहानीकार होने के साथ-साथ आप अच्छे नाटककार भी है। इनके दो नाटकों का तो कलकत्ता के रंगमंच पर बराबर प्रदर्शन होता रहता है। आपकी मुख्य कृतियों के नाम है :—

(क) कथा-साहित्य

१. धात्री देवता, २. कालिन्दी, ३. दावी, ४. गण-देवता, ५. पंचग्राम, ६. हाँसुली बाँकेर उपकथा, ७. नागिनी कन्यार काहिनी, ८. विचारक, ९. आरोग्य निकेतन, १०. सप्तपदी, ११. पंच पाथाली, १२ राधा, १३. कन्ना, १४. मंजरी आपेरा।

(ख) नाटक .

१. द्विपुरुष, २. कालिन्दी।

'हाँसुली बाँकेर उपकथा' नामक उपन्यास पर तारा बाबू को १९४७ मे 'शरत्चन्द्र स्मृति पुरस्कार' सर्वप्रथम भेंट किया गया था।

१९५५ मे आपके 'आरोग्य निकेतन' को 'रवीन्द्र पुरस्कार' मिला।

१९५६ मे इसी उपन्यास पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सन् १९५६ मे भारत सरकार के दो प्रतिनिधियो में से एक के रूप मे तारा बाबू को चीन भेजा गया, किन्तु रास्ते में ही बीमार पड़ जाने के कारण आपको रंगून से स्वदेश लौट आना पड़ा। फिर अगले ही वर्ष चीन सरकार के निमन्त्रण पर आप वहां गये और एक महीने तक चीन का दौरा लगाया।

विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धियों के कारण आपको सन् १९५६ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से 'जगत तारिणी' पदक प्राप्त हुआ।

एशियाई लेखक सम्मेलन (१९५८) की तैयारी-समिति की बैठक मे भाग लेने के लिए आप मास्को भी गये थे, तथा फिर उसी वर्ष ताशकन्द में हुए अफ्रो-एशियाई सम्मेलन मे भारतीय शिष्ट-मण्डल के नेता बनाकर भेजे गये।

सन १९५१ से १९६० तक आप पश्चिम बंगाल विधान सभा के मनोनीत सदस्य रहे। फिर १९६० से १९६६ तक राज्य सभा के मनोनीत सदस्य। १९५८ मे अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के मद्रास अधिवेशन का सभापतित्व किया।

इन दिनों आप एक वृहद् उपन्यास पर काम कर रहे है। जिसकी पृष्ठभूमि है—१७९९ से १९५३ तक बंगाल की जमींदारी प्रथा। ●

साहित्य-समीक्षा

(१) जैन निबन्ध रत्नावली- लेखक पं० मिलाप चन्द्र जी कटारिया और रतनलाल कटारिया, केकड़ी। प्रकाशक, श्री वीर शासन संघ, कलकत्ता। पृष्ठ संख्या ४३८, मूल्य ५) रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में विविध विषयों के ५० निबन्ध दिये हुए हैं जो खोजपूर्ण हैं। बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता का विचार ऐसे अनेक खोजपूर्ण साहित्यिक निबन्धों के प्रकाशित करने का था, किन्तु उनकी यह भावना पूर्ण न हो सकी। यह निबन्ध संग्रह राजस्थान के प्रसिद्ध साहित्य सेवी, निर्भीक वक्ता, मार्मिक समालोचक और गुणी

जनानुरागी विद्वान पं० चैनसुखदास जी को समर्पण किया गया है।

पिता और पुत्र दोनो ही लेखको ने बडे परिश्रम से शुद्धाम्नाय में आने वाली भ्रान्तियों का उद्भावन करते हुए वस्तुस्थिति को सरल भाषा में रखने का प्रयत्न किया है। आशा है दोनों विद्वान भविष्य मे और भी महत्वपूर्ण निबन्ध लिखकर जैन साहित्य का गौरव बढायेगे।

वीर शासन सघ का यह प्रकाशन सुन्दर हुआ है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनो ही बधाई के पात्र है। सजिल्द प्रति का ५) मूल्य अधिक नही है। समाज और विद्वानो को चाहिए कि वे खरीद कर पढें।

(२) **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** (प्रथम भाग)--लेखक प० बेचरदास दोषी, और डा० मोहन लाल मेहता। प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी। पृष्ठ सख्या ३६०, पक्की जिल्द, छपाई-सफाई उत्तम, मूल्य : १५) रुपये।

इस ग्रथ मे श्वेताम्बर जैन साहित्य का इतिहास दिया गया है, जो एक संगठित योजना का परिणाम है। इसके प्रथम भाग में अग साहित्य का परिचय कराया गया है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना प० दलसुख मालवणिया ने लिखी है, जिसमें इतिहास का विवरण देते हुए अग-उपागो के सम्बन्ध में विचार किया गया है, और उनकी एक तालिका भी दी है। परन्तु प्रस्तावना में अग-सूत्रो की भाषा और उसके इतिहास के सम्बन्ध में कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण नही दिये गए। अग साहित्य के इतिहास के इस ग्रन्थ में उनकी भाषा के सम्बन्ध मे किसी प्राकृत भाषा के विशिष्ट अभ्यासी विद्वान से विचार कराना आवश्यक था।

अग ग्रन्थो का २७० पृष्ठो में परिचय दिया गया है जिसमे दो विशेषताएं दृष्टिगत होती है। एक तो उसमे श्वेताम्बर दिगम्बर के स्थान पर सचेल अचेल प्रयोग का उल्लेख किया गया है। दूसरे मत-भेदों को नजरन्दाज करते हुए ग्रन्थगत विषय का परिचय कराया गया है, किन्तु उसमें बहुत कुछ सावधानी बर्ती गई है। फिर भी इतना दिखाने का अवश्य प्रयत्न किया है कि अचेल परम्परा को भी ये आगम मान्य रहे है या उनके आधार पर उन्होंने (दिगम्बरो ने) ग्रंथ रचे है।

पृष्ठ ३६ पर लिखा है कि अचेल परम्परा के आचार्य धरसेन, यतिवृषभ, कुन्दकुन्द, भट्ट अकलंक आदि ने इन पुस्तकारूढ आगमो अथवा इनसे पूर्वके उपलब्ध आगमो के आश्रय को ध्यान में रखते हुए नवीन साहित्य का सृजन किया है। आचार्य कुन्द कुन्द रचित साहित्य में आचार पाहुड, सुत्तपाहुड, समवाय पाहुड आदि अनेक पाहुडान्त ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। इन पाहुडो के नाम सुनने से आचारांग, स्थानाग, समवायाग आदि की स्मृति हो जाती है।

इस विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि महावीर का शासन जब अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय दुर्भिक्षादि कारणों से दो भागों मे विभक्त हुआ तब गणधर इन्द्रभूति रचित द्वादशागसूत्र दोनों ही परम्पराओ के साधुओ मे कण्ठस्थ रहे। अत उनके नामो मे समानता रहना स्वाभाविक है। किन्तु उनके समान नाममात्र की उपलब्धि पर से यह नतीजा नही निकाला जा सकता कि वर्तमान मे जो श्वेताम्बरीय आगम साहित्य उपलब्ध है उस पर से दिगम्बर साहित्य रचा गया है। अगो के नाम एक होने पर भी उनके विषय, विवेचन और परिभाषादि मे भेद पाया जाता है। अन्वेषण करने पर उनमे कुछ ऐसी विशेषताए भी प्राप्त हो सकती है जिनके कारण वे एक नही हो सकते। अतः दिगम्बर साहित्य श्वेताम्बर साहित्य के आधार पर रचा गया है यह कोरी निराधार कल्पना है।

यदि ऐसा होता तो उसके आधार का स्पष्ट उल्लेख मिलता। पर कुन्दकुन्दादि जिन आचार्यों के नामो का उल्लेख किया गया है, उनका कोई भी ग्रन्थ श्वेताम्बरीय आगम साहित्य के आधारपर नही रचा गया। जैसा कि श्वेताम्बरीय ग्रन्थो में दिगम्बर ग्रन्थों का अनुकरण देखा जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य का जो साहित्य पाया जाता

है, उस पर श्वेताम्बरीय आगम का कोई प्रभाव नहीं है। और न समयसारादि ग्रन्थों की मान्य चर्चा भी आगमों में मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में स्थान पाहुड और समवाय पाहुड आदि ग्रंथों का कोई उल्लेख नहीं किया। पाहुडों के वे नाम कल्पित जान पड़ते हैं।

इतिहास के पृष्ठ ११४ और १३६ के कथनों की संगति अहिंसा धर्म के साथ संगत नहीं बैठती, क्योंकि उसमें मांस भक्षण की स्पष्ट अनुमति है। कोई भी अहिंसक व्रती श्रावक मांस का नाम सुनकर भोजन छोड़ देता है। साथ में मद्य, मक्खन और मधु का सेवन भी व्रती गृहस्थजनों में वर्जित है। फिर साधु के तो उसकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है? वह तो पंचपाप के साथ आरम्भ परिग्रह का भी त्यागी है महाव्रती है।

अग्राह्य भोजन का कथन करते हुए पृ० ११६ में लिखा है कि—"कहीं पर अतिथि के लिए मांस अथवा मछली पकाई जाती हो अथवा तेल में पूए तले जाते हों तो भिक्षु लालचवश लेने न जाय। किसी रुग्ण भिक्षु के लिए उसकी आवश्यकता होने पर वैसा करने में कोई हर्ज नहीं। मूलसूत्र में एक जगह यह भी बताया गया गया है कि भिक्षु को अस्थि बहुल अर्थात् जिसमें हड्डी की बहुलता हो वैसा मांस व कंटक बहुल अर्थात् जिसमें कांटों की बहुलता हो, वैसी मछली नहीं लेनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि आपको ऐसा मांस व मछली चाहिए? तो भिक्षु कहे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और हड्डियां व कांटे न आवें, इसका ध्यान रखो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि हड्डीवाला मांस व कांटों वाली मछली दे तो उसे लेकर एकान्त में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठकर मांस व मछली खाकर बची हुई हड्डियों व कांटों को निर्जीव स्थान पर डाल दे।"

इस कथन में भी मांस भक्षण का स्पष्ट उल्लेख है। जैन आचार तो अहिंसक और संयम प्रधान एवं निवृत्ति-परक है। उसमें इस प्रकार के कथनों की संगति उपयुक्त नहीं है। यदि उस काल के जैन साधुओं में मांस भक्षण की प्रवृत्ति होती तो दिगम्बर साहित्य में उसका उल्लेख जरूर होता, पर ऐसा नहीं है; और न उसका खण्डन ही है। श्वेताम्बरीय अंग साहित्य पर बौद्ध साहित्य का प्रभाव है। कहा नहीं जा सकता कि ऐसी असंगत एवं धर्म विरुद्ध बातें अंग-सूत्रों में कैसे प्रविष्ट हो गईं। ये सब कथन आचार शिथिलता के द्योतक हैं। ऐसी स्थिति में वर्तमान आगम दिगम्बरों को मान्य रहे, लिखना समुचित नहीं है।

अंग साहित्य में अनेक कथाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया है, भाषा सरल और मुहावरेदार है।

(३) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग २। लेखक, डा० जगदीशचन्द्र और मोहनलाल मेहता। प्रकाशक: पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५। पृष्ठ ४६०, मूल्य १५)

प्रस्तुत भाग अंग बाह्य आगम से सम्बद्ध है। इसमें उपांगों का परिचय दिया हुआ है; उपांगों को तीन भागों में बाँटा गया है। उपांग, मूलसूत्र और छेदसूत्र। इन सबका परिचय उपांगों की अच्छी जानकारी प्रदान करता है। अंग सूत्रों के परिचय से उपांगों की कथन-शैली और वस्तु-तत्त्व का विवेचन विस्तृत और सरल है। उपांगों में प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, बृहत्कल्प, अनुयोगद्वार और नन्दि-सूत्र आदि हैं, जिनमें वस्तु तत्त्व का विस्तृत व्याख्यान मिलता है। जिससे जिज्ञासु पाठक अपने विचारों को विशद् बनाने में समर्थ हो सकते हैं। इस भाग में उपांगों का परिचय संक्षिप्त और सरल शैली से दिया गया है। साथ में कुछ पौराणिक आख्यानों का भी उल्लेख किया है और उसे बोधगम्य बनाने में डा० मेहता ने अच्छा श्रम किया है। उपांगों के प्रकाशित संस्करणों का भी फुटनोट में परिचय कराया गया है। इस तरह जैन-साहित्य के इतिहास का यह द्वितीय भाग भी अपनी विशिष्टता को लिए हुए है। इसके लेखक विद्वान् और प्रकाशक संस्था सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

(४) जैन आचार — लेखक, डा० मोहन लाल मेहता, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,

जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५। पृ० २४४, मूल्य ५) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय जैन आचार है। जो छः अध्यायों या प्रकरणों में विभाजित है। जैनाचार की भूमिका जैन दृष्टि से चरित्र विकास, जैन आचार ग्रन्थ, श्रावकाचार, श्रमणधर्म और श्रमणसंघ।

लेखक महोदय ने इन प्रकरणों में जैनाचार को स्पष्ट करने के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध और वैदिक ग्रन्थो का भी उपयोग किया है। और आचार सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए विषय का स्पष्टीकरण किया है। डा० साहब के विचार सुलझे हुए है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। डा० सा० ने दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उसके विकास के दो रूपो का कथन करते हुए उसे इस रूप में रखने का प्रयत्न किया है, जिससे उसमें किसी विरोध की सम्भावना ही न रहे। आशा है डा० सा० जैन धर्म के जिन सिद्धान्तों पर तुलनात्मक अध्ययन करना शेष है, उन पर भी तुलनात्मक दृष्टि से विस्तृत प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक पार्श्वनाथ विद्याश्रम के प्राण ला० हरजसराय जैन अमृतसर को भेंट की गई है। इसके लिये लेखक और प्रकाशक दोनो ही धन्यवाद के पात्र हैं।

५ पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दन इन्डिया फ्रोम जैन सोर्सेज—लेखक डा० गुलाबचन्द चौधरी प्रकाशक मोहनलाल जैनधर्म प्रकाशक समिति अमृतसर। बड़ा साईज, मूल्य २४) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक खोजपूर्ण शोध प्रबन्ध है जिसमें ईसा की ७ वी शताब्दी से १३ वी शताब्दी तक के इतिवृत्तो पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ का फारवर्ड (भूमिका) प्रसिद्ध विद्वान स्व० डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने लिखा है। और इस पर लेखक को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री भी मिली है।

डा० गुलाबचन्द चौधरी अच्छे विद्वान है उन्होने अपने इस शोध प्रबन्ध में ७ वी से १३ वी शताब्दी के मध्यवर्ती समय में होने वाले विविध राजवंशों, राजाओं, सभ्यता और उस समय के रचे जाने वाले साहित्य में उल्लिखित जैन इति- वृत्तों एवं कला पर प्रामाणिक प्रकाश डालने का यत्न किया है। साथ ही ग्रन्थो, ग्रन्थ प्रशस्तियों, शिलालेखो, ताम्रपत्रो, मूर्तिलेखो आदि पर से जो इतिवृत्त संकलित किया उसे यथा स्थान नियोजित किया है और फुटनोट में उनके उद्धरण भी दे दिये है। इससे ग्रन्थ महत्वपूर्ण हो गया है और अन्वेषक विद्वानो और छात्रों के लिए उपयोगी बन गया है। इसके लिए डा० गुलाबचन्द चौधरी और उक्त संस्था के संचालक गण सभी धन्यवाद के पात्र है।

—परमानन्द जैन शास्त्री

वीर-सेवामन्दिर में वीर शासन-जयन्ती

का

उत्सव सानन्द सम्पन्न

ता० २२ को प्रातःकाल ८ बजे वीरसेवामन्दिर भवन २१ दरियागंज में गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी वीर शासन जयन्ती का उत्सव रा० ब० लाला दयाचन्द जी और बाबू यशपाल जी जैन सम्पादक जीवन साहित्य की अध्यक्षता में सानन्द सम्पन्न हुआ। वीरशासन की महत्ता पर विद्वानों के भाषण हुए और जैन बालाश्रम के छात्रों के दो उपदेशिक पद हुए। तथा महिलाश्रम की छात्राओं का एक सुन्दर भजन हुआ। भाषणकर्ता विद्वानों में परमानन्द शास्त्री, पं० जयन्तीप्रसाद जी, ला० प्रेमचन्द जी जैनावाच, पं० मथुरादास जी, बा० विमलप्रसाद जी पहाड़ीधीरज और बाबू यशपाल जी के महत्त्वपूर्ण भाषण हुए। बा० विमलप्रसाद जी ने अपने भाषण में कहा कि जब तक हमारी दृष्टि नहीं बदलेगी तब तक हम धर्म के वास्तविक रहस्य को नहीं पा सकेंगे। बाह्य क्रियाकाण्डों में संलग्न रहकर हम धर्म के स्वरूप तक नहीं पहुंच सकते। अतः दृष्टि का बदलना अत्यन्त आवश्यक है। बा० यशपाल जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भगवान महावीर के अपरिग्रह पर प्रकाश डालते हुए महात्मा टालस्टाय की ६ गज जमीन नामक कहानी का सार बतलाया और कहा कि महावीर का यह सिद्धान्त कितना महत्त्वपूर्ण है इसका जीवन में अमल करने पर आत्मा वास्तविक शान्ति का पात्र बन सकता है। इस तरह सभी भाषण रोचक हुए। अन्त में बा० प्रेमचन्द जी ने समागत सज्जनों का आभार व्यक्त किया, और वीरशासन की जयध्वनि पूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

प्रेमचन्द जैन
स० मंत्री वीरसेवामन्दिर
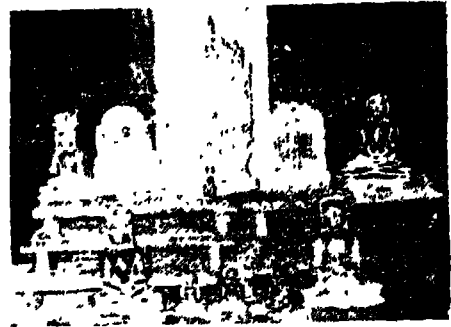
अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली दि० जैन मन्दिर शिरपुर के गर्भगृह के सामने का चूने का प्लास्टर खोदते समय ता० ६-३-६७ को जो ११ अखंडित दि० मूर्तियां मिली उनका चित्र ऊपर दिया गया है।

R. N. 10591/62

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन
संस्थापक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी

श्रीमती रमा जैन
अध्यक्षा—भारतीय ज्ञानपीठ काशी

तारा शंकर बंद्योपाध्याय
गणदेवता कृति के रचयिता

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित ।

द्वै मासिक

अगस्त १९६७
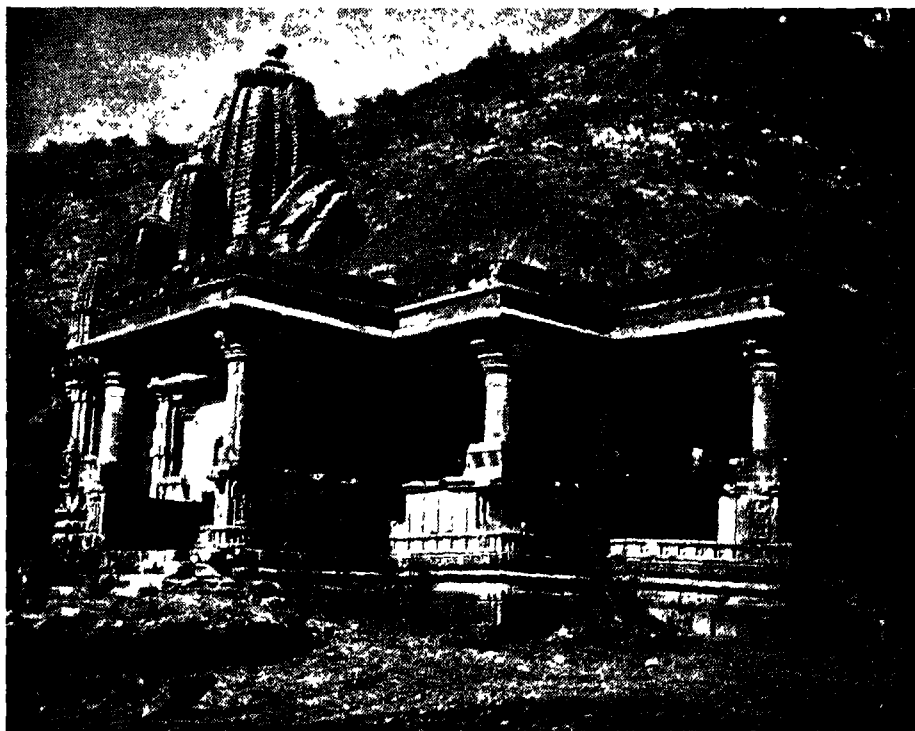
अनेकान्त

दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर नागदा (उदयपुर)

परिचय—देखो, अनेकान्त जून १९६७

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

★

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

जिनवाणी के भक्तों से

वीरसेवामन्दिर का पुस्तकालय अनुसन्धान से सम्बन्ध रखता है। अनेक शोधक विद्वान अपनी थीसिस के लिए उपयुक्त मैटर यहां से संगृहीत करके ले जाते हैं। संचालक गण चाहते हैं कि वीरसेवामन्दिर की लायब्रेरी को और भी उपयोगी बनाया जाय तथा मुद्रित और अमुद्रित शास्त्रों का अच्छा संग्रह किया जाय। अत. जिनवाणी के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे वीरसेवामन्दिर लायब्रेरी को उच्चकोटि के महत्वपूर्ण प्रकाशित एवं हस्त-लिखित ग्रन्थ भेंट भेज कर तथा भिजवा कर अनुगृहीत करें। यह संस्था पुरातत्त्व और अनुसन्धानके लिए प्रसिद्ध है।

व्यवस्थापक

वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन प्रेमी ग्राहकों का वार्षिक मूल्य प्राप्त नहीं हुआ है। उन्हें चाहिए कि वे २०वें वर्ष का वार्षिक शुल्क छह रुपया मनीआर्डर से भिजवा दें। अन्यथा अगला अंक वी० पी० से भेजा जावेगा, जिसमें ८५ पैसा वी० पी० खर्च का देना होगा। आशा ही नहीं किन्तु विश्वास है कि प्रेमी पाठक वार्षिक मूल्य भेज कर अनुगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक **'अनेकान्त'**

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं।

व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २०
किरण ३

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० सं० २०२४

अगस्त
सन् १९६७

सुपार्श्व-जिन-स्तुतिः

(मुरजः)

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावकः ।
भवानेकोऽपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्श्वकः ॥२९॥

—समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे भगवन् ! सुपार्श्वनाथ ! आप, स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले—दोनों के विषय में समान हैं—राग द्वेष से रहित हैं । सबको पवित्र करने वाले हैं—सबको हित का उपदेश देकर कर्म बन्धन से छुटाने वाले है । अतः आप एक असहाय (दूसरे पक्ष में प्रधान) होने पर भी नेता की तरह सबके द्वारा आश्रयणीय हैं—सेवनीय हैं ।

भावार्थ—जिस तरह एक ही नेता अनेक आदमियों को मार्ग प्रदर्शित कर इष्ट स्थान पर पहुंचा देता है उसी तरह आप भी अनेक जीवों को मोक्षमार्ग बतलाकर इष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं । और स्वयं भी पहुँचे हैं । अतः आप सब की श्रद्धा और भक्ति के भाजन हैं ।

—:o:—

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

(गत वर्ष १६ कि० ५ से आगे)

परमानन्द जैन शास्त्री

अग्रवाल जैन समाज के अनेक व्यक्तियों ने राष्ट्रीय क्षेत्र मे जो अपनी सेवाये प्रदान की है। उनमें से कुछ व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। बाबू श्यामलाल जी एडवोकेट रोहतक ने कांग्रेस मे बड़ा भारी कार्य किया है। उन्होने अनेक बार जेल यात्रा की और अपने भाषणों द्वारा जनता मे कांग्रेस के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न की। उनका भाषण अच्छा और प्रभावक होता था। बाबू सुमतिप्रसाद जी वकील मुजफ्फर नगर, बाबू रतनलाल जी वकील बिजनौर ये दोनो वकील भूतपूर्व एम. एल. है, जो अपने कर्तव्य पालन मे सदा सावधान रहते है। और सामाजिक कार्यों में सहयोग देते रहते है। बाबू अजित-प्रसाद जैन वकील सहारनपुर जो खाद्यमंत्री भी रहे है। अयोध्याप्रसाद गोयलीय और लाला तनसुखराय आदि। स्वराज्य मिलने के बाद भी अनेक व्यक्ति राष्ट्रसेवा मे अपने बहुमूल्य जीवन लगाते रहे है।

खतौली जि० मुजफ्फरनगर के सेठ माड़ेलाल ने खतौली के दस्सों की धार्मिक श्रद्धा को कायम रखने के लिये अपना सर्वस्व होम दिया, तब कही उनका स्थितिकरण हो सका। वे विपदा के समय भी अपने धैर्य का सतुलन बराबर रख सके यही उनकी महानता है।

इस समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों मे अनेक व्यक्ति ऐसे हुए है जिन्होंने धर्म और सस्कृति के संरक्षणार्थ अपने कर्तव्य का निष्ठा के साथ पालन किया है और कर रहे हैं। साहु खानदान में साहु सलेखचन्द जी, साहु जुगमन्दिर दास जी, साहु श्रेयान्सप्रसाद जी और श्रावक शिरोमणि साहु शान्तिप्रसाद जी आदि के नाम खास तौर से उल्लेख-नीय है। साहू श्रेयान्सप्रसाद जी का धार्मिक, सामाजिक आदि सभी कार्यों मे सहयोग रहता है। राजनैतिक कार्यों में भी योग रहा है। वर्तमान मे साहू शान्तिप्रसाद जी इस समाज के सम्माननीय व्यक्ति है; उनमें धार्मिकता विनय शीलता और उदारता आदि गुण विद्यमान है। उनके द्वारा की जाने वाले तीर्थ रक्षा और प्राचीन मन्दिरो का जीर्णो-द्धार कार्य, जैन प्राकृत विद्यापीठ, ये सब कार्य उनकी महत्ता और औदार्य के सूचक हैं। भारतीय ज्ञानपीठ उनकी महत्वपूर्ण प्रकाशन संस्था है आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी भी धार्मिक, साहित्यिक कार्यो मे भाग लेती रहती है। और भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा है। समाज को आप दोनों से बहुत आशाएँ है। आपके सुपुत्र अशोककुमार और अलोकप्रकाश भी धार्मिक कार्यों मे योग देते रहते है। इस तरह आप का समूचा परिवार धार्मिक भावना से ओत-प्रोत है। आप का जैन समाज की प्राय. सभी सस्थाओ में आर्थिक योग-दान देना, सन्तो की सेवा में समुपस्थित रहना और सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों मे तत्परता दिखलाना, सराहनीय है। जहां आप उद्योगपति है वहा योग्यविचारक तथा धार्मिक निष्ठावान है। परोपकारी और विनयशील है। वीरसेवामन्दिर पर आपका विशेष अनुग्रह है। साहु श्रेयान्सप्रसाद जी की तरह साहु शीतलप्रसाद जी भी धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों मे अभिरुचि लेते रहते है। और अपनी उदारवृत्ति द्वारा उनमे सहयोग प्रदान कर उनकी प्रगति का प्रयत्न करते रहते हैं।

कलकत्ता के सेठ रामजीवन सरावगी और उनका परिवार तथा पुत्रादि अपने पिता के अनुकूल धार्मिक भावना का उद्भावन कर रहा है। उनके पुत्रों में सबसे अधिक लगन बाबू छोटेलाल जी में थी। पुरातत्व और जैन साहित्य के प्रचार मे उनका सराहनीय सहयोग रहा है। वे केवल धार्मिक संस्थाओं में स्वय दान देते और दिलाते ही नही थे; किन्तु उनकी प्रगति मे सब तरह का

सहयोग भी प्रदान करते थे। वीरसेवामन्दिर तो उनकी प्रवृत्तियों का जीता जागता उदाहरण है। पुरातत्व के सम्बन्ध में उनके कई महत्व के लेख प्रकाशित हुए हैं, और अभी बहुत सी सामग्री उनकी अपूर्ण पड़ी है। खण्ड गिरि उदयगिरि के सम्बन्ध में उन्होने जो प्रयत्न किया वह भी सराहनीय है। वे अतिथि सत्कार के बड़े प्रेमी थे। उनके लघुभ्राता बाबू नन्दलाल जी सरावगी भी अपनी उदार प्रवृत्ति द्वारा सामाजिक क्षेत्र में सेवा-कार्य बड़ी लगन से करते हैं। पूज्यवर्णी गणेशप्रसाद जी के स्मारक तय्यार कराने मे आपने जो सहयोग दिया वह प्रशंसनीय है। वीरसेवामन्दिर मे तो आपका सराहनीय सहयोग रहा है और वर्तमान मे है। दोनो ही भाई पूज्यवर्णीजी के अत्यन्त भक्त है, वर्णी जी महापुरुष थे, उनका सभी पर सम भाव रहता था। अन्वेषण करने पर अग्रवाल समाज के अनेक व्यक्तियों का ऐसा परिचय भी उपलब्ध होगा जिन्होने देश, धर्म और समाज के उत्थान मे अपना सर्वस्व अर्पण किया है।

कतिपय अग्रवाल जैन कवि और विद्वान

जैन संस्कृति के प्रसार और प्रचार मे केवल श्रावको ने ही योगदान नहीं दिया किन्तु समय-समय पर अनेक अग्रवाल जैन कवियो और विद्वानो ने अपनी रचनाओं द्वारा लोक कल्याण की भावनाओ को प्रोत्तेजन दिया है। इतना ही नहीं किन्तु तात्कालिक रीति-रिवाजों के साथ अपनी धार्मिक भावनाओं को वृद्धिगत किया है। अग्रवाल जैनों मे अनेक कवि हुए होगे किन्तु यहा उनमें से कुछ विद्वानो और कवियों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

प्रथम कवि श्रीधर हरियाना देश के निवासी थे और अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे, वे हरियाना से यमुना नदी को पार कर दिल्ली आये थे। कवि ने पार्श्वनाथ चरित की आदि प्रशस्ति में दिल्ली का अच्छा वर्णन किया है। वहां के तात्कालिक शासक तोमरवंशी राजा अनंगपाल (तृतीय) का भी उल्लेख किया है जिसका राज्य संवत् ११८९ मे दिल्ली में मौजूद था। कवि के पिता का नाम 'बुधगोल्ह' और माता का नाम 'बील्हा देवी' था। कवि ने अपनी गुरु परम्परा और जीवनादि घटना का कोई उल्लेख नही किया। कवि की अद्यावधि तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमे दो उपलब्ध है तथा उनकी भाषा अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी है तीसरी रचना की भाषा भी अपभ्रंश ही जान पड़ती है। और तीसरी रचना 'चन्द्रप्रभचरिउ' का पार्श्वनाथ चरिउ की आद्य प्रशस्ति मे उल्लेख है। कवि ने पार्श्वनाथ चरित्र की रचना संवत् ११८९ मे योगिनीपुर (दिल्ली मे) अनंगपाल (तृतीय) के राज्य मे मगसिर वदी अष्टमी के दिन की है१। इस ग्रन्थ की स० १५७७ की लिखी प्रति आमेर शास्त्र का भण्डार मे उपलब्ध है।

कवि की दूसरी रचना 'वड्ढमाण चरिउ' है। ग्रन्थ की १० सन्धियो मे जैनियो के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान का जीवन-परिचय अंकित है। कवि ने इस कृति को 'वेदाउ' नगर के जायसवंशी दिनकर, शाह नरवर के पुत्र नेमचन्द की अनुमति से वि० स० ११९० के ज्येष्ठ मास के प्रथम पक्ष की पचमी गुरुवार के दिन समाप्त की है२। ग्रंथ की प्रति ब्यावर भवन मे उपलब्ध है।

द्वितीय कवि सधारु है जिनकी जाति अग्रवाल थी। पिता का नाम महाराज और माता का नाम 'सुधनु' था। जो गुणवती थी। कवि एरच्छ नगर के निवासी थे। इनकी बनाई हुई एक मात्र कृति 'प्रद्युम्न चरित्र' है जिसमें यादववंशी श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवनचरित अंकित किया गया है। यह हिन्दी भाषा का एक सुन्दर चरित

---

१. स णवासिएयारहसएहि,
परिवाडिए वरिसहं परिगएहि।
कसणट्ठमीहि आगहणमासि,
रविवार समाणिउ सिसिर भासि ॥
—पासणाह चरिउ प्रशस्ति

२. णिवविक्कमाइच्च हो कालए,
णिव्वुच्छव वर तूर खालए।
एयारह सएहिं परिविगयहिं,
संवच्छर सय णवहिं समेयहिं ॥
जेट्ठ पढम पक्खइ पंचमि दिणे
गुरुवारे गयणं गणि ठिइयणे ॥
—वर्धमान चरित प्रशस्ति

काव्य है। परन्तु लेखकों की कृपासे उसमें अत्यधिक पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं उनसे ऐसा लगता है कि संभवतः कवि ने ही उसे संक्षिप्त किया हो, कुछ भी हुआ हो, पर उसके सम्बन्ध में अभी अन्य प्राचीन प्रतियों का अन्वेषण करना आवश्यक है, जिससे परिस्थिति का ठीक पता चल सके। कवि ने इस काव्य को सं० १४११ में बनाया हैं। कथानक अतिरंजित है, फिर भी कवि ने उसे संक्षेप में रखने का यत्न किया है।

जब गणधर से द्वारिका के १२ वर्ष में विनाश होने, कृष्ण और हलधर के बचने और जरत्‌कुमार के हाथ से कृष्ण की मृत्यु का समाचार ज्ञात कर कुंवर प्रद्युम्न ने जिन दीक्षा लेने का विचार किया तब श्रीकृष्ण ने मना किया। और कहा कि तुम द्वारिका का राज्य करो। तब कुमार ने जो उत्तर दिया वह बड़ा सुन्दर है:—

चिन्तायुक्त भयो परदुवन, दीक्षा लै कीन्हौं तपचरनु।
बिलख वचन बोलै नारायनु, हमको साथ पुत्त परदुवन।
कवन बुद्धि उपजी तुहि आजु, तू लेहि द्वारिका भुंजं राजु।
तू राजधुरंधर जेठो पुत्तु, तो विद्याबल अहिवहु तत्तु।
तेरो पौरुष जानै सब कवनु,
जिम तपु लेहि सो पुत्तु परदुवनु।

× × ×

नारायनु के वचन सुनेहि, तापै कंद्रपु उत्तर देहि।
काको राजु भोगु घरवारु, सुपनंतरु है यहु संसारु।
काको बालक पौरुष धनों, काको बाप कुटुंब मुहितनों।

इस तरह ग्रन्थ के अनेक कथन सुन्दर और सरस है। भाषा में अपभ्रंश और देशी भाषा के शब्दों की बहुलता है। ग्रन्थ का मनन करने से हिन्दी के विकास का मौलिक रूप सामने आ जाता है।

तीसरे कवि हरिचन्द हैं। जो अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। कवि के पिता का नाम 'जंडू' और माता का नाम 'वील्हा' देवी था। यह कहां के निवासी थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है? यह कृति पर से कुछ ज्ञात नहीं होता। कवि की एक मात्र कृति 'अणथमियकहा' है, जो अपभ्रंश भाषा में रची गई है। उक्त कथा में १६ कडवक दिये हुए हैं जिनमें रात्रि भोजन से होने वाली हानियों को दिखलाते हुए उसका त्याग करने की प्रेरणा की गई है और बतलाया है कि—जिस तरह अन्धा मनुष्य ग्रास की शुद्धि-अशुद्धि सुन्दरतादि का अवलोकन नहीं कर सकता। उसी प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि में भोजन करने वाले लोगों से कीड़ी, पतंगा, झींगुर, चिउंटी, डांस, मच्छर आदि सूक्ष्म और स्थूल जीवों की रक्षा नहीं हो सकती। बिजली का प्रकाश भी उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सकता। रात्रि में भोजन करने से भोजन में उन विषैले जन्तुओं के पेट में चले जाने से अनेक तरह के रोग हो जाते हैं[1] उनसे शारीरिक स्वास्थ्य को बड़ी हानि पहुँचती है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से तथा वैद्यक और धार्मिक दृष्टि से रात्रि भोजन का परिहार करना श्रेयस्कर है। कवि का समय १५वीं शताब्दी जान पड़ता है।

चौथे कवि वीरु है, जो अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। और शाह तोतू के पुत्र थे। तथा भट्टारक हेमचन्द्र के शिष्य थे। कवि ने 'धर्मचक्र पूजा' सं० १५८६ में रोहतक[2]

---

१. जिहि दिट्ठि णय सरइ अंधु जेम,
नहि गास-सुद्धि भणु होय केम।
किमि-कीड-पयंगइ भिंगुराइ,
पिप्पीलइं डंसइ मच्छिराइं।
खज्जूरइ कण्ण सलाइयाइं,
अवरइ जीवइ जे बहु सयाइं।
अन्नाणी णिसि भुंजंतएण,
पसुसरिसु धरिउ अप्पाणु तेण।
घत्ता—जं वालि विदीणउ करि उज्जोवउ
अहिउजीउ संभवइ परा।
भमराइ पयंगइं बहुविह भंगइं
मडिय दीसइ जित्यु धरा॥
—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ० ११५।

२. रुहितासपुर रोहतक का नाम है। यह हरियाना प्रदेश में है, और यहां अग्रवाल जाति के सम्पन्न लोग निवास करते हैं। १६वीं शताब्दी में अनेक विद्वानों द्वारा ग्रन्थ रचना की गई है।

नगर के पार्श्वनाथ मन्दिर में बनाकर समाप्त की थी१। कवि की दूसरी रचना 'बृहत्सिद्ध चक्रपूजा' है। जिसे ग्रन्थ कर्ता ने वि० सं० १५८४ में दिल्ली के बादशाह बाबर के राज्यकाल में रोहतक के उक्त पार्श्वनाथ मन्दिर में काष्ठा-संघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक यशोसेन की शिष्या आर्यिका राजश्री के भाई नारायणसिंह पद्मावती पुरवाल के पुत्र जिनदास की आज्ञा से बनाई थी२। कवि की दोनों रचनाएं संस्कृत भाषा में हैं और वे सब पूजा के विषय में लिखी गई हैं। कवि की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में अन्वेषण करना चाहिए। नन्दीश्वर पूजा और ऋषि मंडलयन्त्र पूजा ये दो ग्रंथ भी इनके बताये जाते हैं; परन्तु उनके बिना देखे यह कह सकना कठिन है कि वे इन्हीं वीरु की कृति हैं या अन्य किसी वीरु नाम के विद्वान की।

पांचवें कवि पं० मेधावी है। जो सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारकीय विद्वान थे। आपका वंश अग्रवाल था, पिता का नाम साहु 'उद्धरण' और माता का नाम 'भीषुही' था३। कवि आप्त आगम के श्रद्धानी और जिन चरणों के भ्रमर थे। इनके गुरु भ० जिनचन्द्र थे जो दिल्ली में भ० शुभचन्द्र के पट्ट पर संवत् १५०७ की ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी के दिन प्रतिष्ठित हुए थे। आपकी जाति बघेरवाल और पट्टकाल ६४ वर्ष बतलाया जाता है। किन्तु आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां सं० १५०२ की उपलब्ध होती है। अतएव पट्टावली का उक्त समय (सं० १५०७) संकित हो जाता है। भ० जिनचन्द्र उस काल के प्रभाविक विद्वान थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां भारत के प्रत्येक प्रान्त के मन्दिरों में पाई जाती हैं। आपके अनेक शिष्य थे उनमें पं० मेधावी प्रमुख थे। ये हिसार के निवासी थे और कुछ समय नागौर भी रहे थे। उन्होंने नागौर में ही सं० १५४१ में फिरोजखान के राज्य काल में 'मेधावी संग्रह श्रावकाचार' पूरा किया था४। आपके द्वारा अनेक ग्रन्थ दातृ प्रशस्तियां लिखी गई हैं जो सं० १५१६ से १५४२ तक की लिखी हुई उपलब्ध होती हैं। भ० जिनचन्द्र के शिष्य पुस्तक गच्छीय श्रुतमुनि और दो अन्य मुनियों से मेधावी ने अष्टसहस्री का अध्ययन किया था। जिनचन्द्र के शिष्य रत्नकीर्ति, रत्नकीर्ति के शिष्य विमलकीर्ति थे। जो श्रुतमुनि के द्वारा दीक्षित थे। मेधावीकृत दातृ प्रशस्तियों में अनेक ऐतिहासिक उल्लेख और तात्कालिक श्रावकों की धार्मिक परिणति का परिचय मिलता है। मेधावी प्रतिष्ठाचार्य भी थे। परन्तु इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति अभी अवलोकन में नहीं आई है।

छठवें कवि हैं, छीहल जो अग्रवाल कुलभूषण नाल्हिग-वंश के विद्वान थे। आप के पिता का नाम नाथू या नाथूराम था५। आपकी रचनाओं में पंच सहेली गीत, पन्थी-गीत, पंचेन्द्रियवेलि और बावनी आदि हैं। पंचसहेलीगीत एक शृंगार परक रचना है जो सं० १५७५ मे फाल्गुन

१. चन्द्रबाणाष्टषष्ठाकै: (१५८६) वर्तमानेषु सर्वत:।
श्रीविक्रमनृपान्नूनं नयविक्रमशालिन: ॥८
पौषे मासे सिते पक्षे षष्ठींदुदिननामकै: (के)।
रुहितासपुरे रम्ये पार्श्वनाथस्य मन्दिरे ॥९
—धर्मचक्र पूजा

२. वेदाष्टबाण शशि-सवत्सर विक्रमनृपाद्वहमाने।
रुहितासनाम्नि नगरे बब्बर मुगलाधिराज-सद्राज्ये॥
श्रीपार्श्वचैत्यगेहे काष्ठासंघे च माथुरान्वयके।
पुष्करगणे बभूव........................॥
—बृहत्सिद्धचक्रपूजा।

३. स्वग्रोतानूकजातोद्धरणतनुरुहो भीषुहीमातृसूत:।
मीहाख्य: पंडितो वै जिनमतनयत: श्रीहिसारे पुरेऽस्मिन्॥
—धर्म संग्रह श्रा०।

४. सपादलक्षे विषयेऽतिसुंदरे
श्रिया पुरं नागपुरं समस्ति तत्।
पेरोजखानो नृपति: प्रपाति
यन्न्यायेन शौर्येण रिपून्निहन्ति च ॥१८*
× × ×
मेधाविना निवसन्नहं बुध:,
पूर्णां व्यधां ग्रंथमिमं तु कार्तिके।
चंद्राब्धिबाणैकमितेऽत्र वत्सरे,
कृष्णे त्रयोदश्यहनि स्वभक्तित:॥
—धर्मसंग्रह श्रा०

५ नातिग वंस सि नाथु सुतनु, अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी बसुधा बिस्तरी, कवि कंकण छीहल कवि॥
—बावनी

सुदि १५ के दिन रची गई थी रचना मे पंचसहेलियों के विरह का वर्णन है। वर्णन सहज और स्वभाविक है।

पन्थीगीत—सासारिक दुख का एक पौराणिक उदाहरण है। इसे रूपक काव्य कहा जा सकता है। यह पौराणिक दृष्टान्त महाभारत और जैन ग्रन्थो मे पाया जाता है। वहाँ इसे संसार वृक्ष के नाम से उल्लेखित किया गया है :—

एक पथिक चलते चलते रास्ता भूल गया और सिहो के वन मे पहुँच गया। वहा रास्ता भूल जाने मे वह जगल मे इधर उधर भटकने लगा। उसी समय उसे सामने एक मदोन्मत्त हाथी आता हुआ दिखाई दिया, उसका रूप रौद्र था और वह क्रोधवश अपने शुण्डादण्ड को हिलाता हुआ आ रहा था। पथिक उसे देख भयभीत होकर भागने लगा। और हाथी उसके पीछे पीछे चला, वहा घासफूस से ढका हुआ एक अन्धा कुआ था पन्थी को वह न दिखा, और वह उसमें गिर गया, उसने वृक्ष की एक टहनी पकड ली और उसके सहारे लटकता हुआ दुख भोगने लगा। उस कुए के किनारे पर हाथी खडा था, उसमे चारो दिशाओं मे चार सर्प और बीच मे एक अजगर मुहबाए पड़ा था। उस कुए के पास एक वटवृक्ष था, उसमे मधुमक्खियों का एक छत्ता लगा हुआ था। हाथी ने उसे हिला दिया, जिससे अगणित मधु मक्खिया उडने लगी। और मधु की एक एक विन्दु उस पथिक के मुख मे पड़ने लगी। इसमें कूप संसार है, पंथी जीव है, सर्प गति है, अजगर निगोद है, हाथी अज्ञान है और मधु विन्दु विषय-सुख है। कवि कहता है कि यह ससार का व्यवहार है। अतः हे गवांर! तू चैत, जो मोह निद्रा मे सोते है वे अधिक असावधान है। इन्द्रियरस मे मग्न हो परमब्रह्म को भुला दिया है, इस कारण तेरा नर जन्म व्यर्थ है। कवि छीहल कहते है कि हे आत्मन् अब तू जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म का अवलम्बन कर कर्म बन्धन से छूट सकता है—जैसा कि उक्त गीत के निम्न पद्य से प्रकट है:—

"संसार को यहु विवहारो चित चेतहूरे गंवारो,
मोहनिद्रा में जे जन सूता ते प्राणी अति बे गूता।
प्राणी बे गूता बहुत ते जिन परम ब्रह्म बिसारियो,
भ्रम भूलि इंद्रिय तनो रस, नर जनम वृथा गंवाइयो।
बहु काल नाना दुख दीरघ सह्या छीहल कहे करिधर्म,
जिन भाषित जुगतिस्यो स्यौं मुकित पद लह्यौ।।"

पचेन्द्रिय वेलि ४ पद्यों की एक लघु रचना है, जिसमें आत्मसम्बोधन का उपदेश निहित है। अपने आराध्यदेव को घट में स्थापित करने के लिये हृदय की पवित्रता आवश्यक है, यदि घट अपवित्र है तो जप, तप, तीर्थयात्रादि सब व्यर्थ है, अतः घट की आन्तरिक शुद्धि को लक्ष्य में रख कर भव-समुद्र से तिरा जा सकता है।

चौथी कृति बावनी है, जो छीहल बावनी के नाम से प्रसिद्ध है यह रचना स० १५८४ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी गुरुवार के दिन रची गई है[१]। इसकी पद्य संख्या ५३ है। कवि ने इसमे पांचो इन्द्रियो के विषय राग से होनेवाले परिणाम का सुन्दर चित्रण करते हुए इन्द्रिय विषयों से अपना सरक्षण करने की प्रेरणा की है। कवि की भाषा पर ब्रज और राजस्थानी का प्रभाव अंकित है उसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है:—

ओंकार आकार रहित अविगत अपरम्पार।
अलख अजोनी ......सृष्टि कर्ता विश्वम्भर।
घट—घट अंतर वसइ तासु चीन्हइ नहि कोई।
जल-थल-सुरग-पयालि जिहां देखहु तिहं सोई।
जोगीन्द्र सिद्ध मुनिवर, जिनके प्रबल महातप सिद्धउ।
'छीहल' कहइ तसु पुरुष को किणही अन्त न लद्धउ।।१

× × ×

नाद श्रवण धावन्त तजइ मृग प्राण ततक्खण,
इन्द्रिय परस गयद वारिज, अलि मरइ विचक्षण।
लोयणनु बुध पतंग पड़इ पावक पेखन्तउ।
रसना स्वाद विलग्गि, मीन बज्झइ वेखन्तउ,
मृग मीन-भंवर-कुंजर-पतग ए सम विणसइ इक्करसि
छीहल कहइ रे लोइया इन्द्रिय रक्खउ अप्पवसि।।२
मृगवन मज्झि चरंतउ, रिउ पारधी पिक्ख तिहि।
जब पाछिउ पुनि चल्यो वधिक रोपियउ थंभ तिहि।
दिसि दाहिणी सुइवान सिंह जिय सम्मुख धायउ।

१- चउरासी अग्गल सइजु पनरह संवच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी कातिग गुरुवासर—बावनी
हृदय उपन्नी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हों।
सारद तणइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हों।।"बावनी

बाम अंग पर जलिय तासु भय जाण न पायउ ।
छीहल गमण चहुदिसि नहीं चित चिन्ता चिन्तउ हरिण
हा हा दैव संकट परयो तो विण अवर न को सरण ।।३

अन्तभाग:—

चउरासी अगल सइ जु पनरह संवच्छर ।
सुकुल पक्ख अष्टमी कातिग गुरु वासर ।।
हृदय उपन्नी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हौं ।
सारद तणइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हौं ।
नातिगवंश सि नाथुसुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि ।
बावनी बसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि ।

पांचवी कृति उदर गीत है, जो सम्बोधक उपदेशक रचना है। कवि की अन्य कृतियों का अन्वेषण होना चाहिये।

सातवे कवि नन्दलाल है, जो आगरा के पास गोसना नामक ग्राम के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गोयल था। पिता का नाम भैरों या भैरोदास और माता का नाम चंदा देवी था[1]। कवि की दो कृतिया मेरे अवलोकन में आई है। दोनो ही रचनाए सुन्दर हैं। पहली रचना सुदर्शन चरित है, जिसमे ५१० पद्यो मे सेठ सुदर्शन के चरित का चित्रण किया गया है। कथानक पर नयनन्दी के 'सुदसण चरिउ, का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा और भाव दोनो का चयन सुन्दर हुआ है। ग्रन्थ यद्यपि चौपाई छन्द मे लिखा गया है; चरित्र रोचक और शिक्षा प्रद है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना स० १६६३ माघ शुक्ला पचमी[2] गुरुवार के दिन जहांगीर बादशाह के राज्य मे समाप्त की है। ग्रन्थ की यह प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्र भडार मे उपलब्ध है।

डा० प्रेमसागर जी ने हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि के पृ० १५८ पर नन्द कवि के परिचय मे, नन्द कवि और श्रवणदास के पुत्र नन्दलाल को एक मानकर उनके साथ पाडे हेमराज की पुत्री जैनी का विवाह हो गया लिखा है। जब कि दोनों नन्दलाल भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। दोनों के समय, स्थान और माता पिता के नामो में भी भिन्नता है। ऐसी स्थिति में उनका एकत्व सदोष और निराधार है। आशा है पाठकगण इस भूल का परिमार्जन करने का प्रयत्न करेगे।

दूसरी रचना 'यशोधर चरित्र' है जिसमें राजा यशोधर का चरित अंकित है। कथानक पौराणिक होते हुए भी कवि ने उसमें नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। भाषा मे प्रसाद और गतिशीलता है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे जहांगीर द्वारा होने वाले गोवध निषेध की घटना का उल्लेख किया है—'गोवध मेट्यो आन दिवाय। कीरति रही देश मे छाय।'' जहांगीर के राज्यकाल में जैनियो के द्वारा सम्पन्न होने वाली प्रतिष्ठा का भी उल्लेख किया है:—

होय प्रतिष्ठा जिनवर तनी, दीसहि धर्मवंत बहुधनी ।
एक करावहिं जिनवर धाम, लागे जहां असंखित दाम ।।१४

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना सवत् १६७० मे श्रावण शुक्ला सप्तमी सोमवार के दिन समाप्त की थी, जैसा कि उसके निम्न पद से प्रकट है:—

संबत सोरह सै अधिक, सत्तरि सावन मास ।
सुकल सोम दिन सत्तमी, कही कथा मृदुभास ।।

कवि की दोनों ही रचनाएं अभी अप्रकाशित हैं जिन्हें प्रकाश में लाना चाहिए।

आठवे कवि वशीदास है, जो फातिहाबाद के निवासी और अग्रवाल कुल मे उत्पन्न हुए थे। और मूलसंघ के भट्टारक विशालकीर्ति के शिष्य थे। कवि की बनाई हुई एक मात्र कृति रोहिणी विधि कथा है जिसे कवि ने सबत १६९५ जेठ वदी दोयज को बनाकर समाप्त की थी, जैसा कि ग्रन्थ की आदि प्रशस्ति के निम्न पद्यों से स्पष्ट है:—

सोरहसौ पञ्चानउ ठई, ज्येष्ठ कृष्णा की दुतिया भई ।
फातिहाबाद नगर सुखमान, अग्रवाल शिव जाति प्रधान ।

---

१. अग्रवार है वंश गोसना थानको,
गोइल गोत प्रसिद्ध चिन्हु ता ठाव को ।
माता चंदा नाम पिता भैरों भन्यों,
नन्द कही मनमोद सुगुन गनुना गन्यो ।।

२. संबत सोरहसै उपरान्त, त्रेसठि जानहु वरस महत ।५०८
माघ मास उजारै पाख, गुरु वासर दिन पंचमी ।
बंध चौपही भाष, नन्द कही मति सारिणी ।।५०९
—सुर्दशन चरित्र

नवमें कवि भगवतीदास हैं, जो बूढ़िया१ जिला अम्बाला के निवासी थे। भगवती दास का कुल अग्रवाल और गोत्र 'बंसल' था। इनके पिता का नाम किसनदास था। इन्होंने चतुर्थवय में मुनिव्रत धारण कर लिया था२। भगवतीदास बूढ़िया से देहली आ गये थे और दिल्ली के काष्ठा संघी भट्टारक मुनि महेन्द्रसेन के शिष्य हो गये, थे, जो भट्टारक सकलचन्द्र के प्रशिष्य थे३। भगवतीदास ने हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा की है आपकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ सं० १६५१ से सं० १७०४ तक की उपलब्ध होती हैं। इससे आप दीर्घजीवी जान पड़ते हैं। उनकी आयु ७५–८० वर्ष से कम नहीं जान पड़ती, आप की प्राय: सभी रचनाएँ पद्यों में रची गई हैं जिनकी संख्या ६० से ऊपर है। उन रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं— १. अर्गलपुर जिन वन्दना (१६५१) एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें उक्त संवत् में आगरा के ४८ जिन मन्दिरों आदि का वर्णन दिया है, रचनाकाल सं० १६५१ है जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है—

"संवत् सोलह सइजु इक्यावन, रविदिनु मास कुमारी हो।
जिन वंदनु करि फिरि घरि आए, विजयवसमि जयकारी हो।।"

दूसरी रचना दिल्ली की 'दोहाराजावली' है, जो ऐतिहासिक पद्यबद्ध रचना है और जिसका रचनाकाल (१६८७) है* और वह सिहरदि नगर मे रची गई है। प्रस्तुत राजावली शाहजहां के राज्यकाल तक की है। तीसरी रचना चूनड़ी है जिसे कवि ने सं० १६८० में बनाकर समाप्त किया था। चौथी रचना लघुसीतासतु१ और पांचवीं रचना अनेकार्थ नाममाला२ जो सं० १६८७ में रची गई है। कवि ने अनेकार्थ नाममाला और अन्य कई रचनाएँ 'सिहरदि' नगर में रची है जो इलाहाबाद के पास गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहां जैन मन्दिर और अग्रवाल जैनों के अनेक घर थे। कवि ने वहां रह कर अनेक रचना रची है, जिनमें उक्त नगर का उल्लेख है। छठी रचना ज्योतिष सार है जिसे कवि ने शाहजहां के राज्यकाल में हिसार के वर्धमान मन्दिर में सं० १६९४ में रचा था३। सातवीं रचना मृगांक लेखाचरित है जिसे कवि ने संवत् १७०१ में बना कर समाप्त किया था४। यह अपभ्रंश भाषा की रचना है, इससे हिन्दी के विकास

१. बूढ़िया पहले एक छोटी-सी रियासत थी, जो धन धान्यादि से खूब समृद्ध नगरी थी। जगाधरी के बस जाने से बूढ़िया की अधिकांश आबादी वहां से चली आई, आज कल वहां खंडहर अधिक दिखाई देते है जो उसके गत वैभव के सूचक हैं।

२. किसनदास वणिउ तनुज भगोती,
तुरिये गहिउ व्रत मुनि जु भगोती।
नगर बूढ़िये वसै भगोती, जन्मभूमि है आसि भगोती।
अग्रवाल कुल बंसल गोती, पंडित पद जन निरख भगोती।
—बृहत् सीतासतु

३. सकलचन्द तिस पट्टभनि, भवसागर तार।
तासु पट्ट पुनि जानिये, रिसिमुनि माहिंदसेन।
भट्टारक सुवि प्रकट जसु, जिनि जितियो रणि मैनु।।
—अनेकार्थ नाममाला

* सोलह सइ सतसीह सुसवति जानिए,
जेठनि जलसिय मासि बुधउ मन आनिए।
अगरवाल जिन भवनि पुरि सिहरदि भली,
अरुहा कवि सुभगोतीदास भनी राजावली।।६६।।
—दिल्ली राजावली

१. संवतु सुनहु सुजान, सोलह सइ जु सतासियइ।
चैति सुकल तिथि दान, भरणी ससि दिन सो भयो।।
—सीतासतु

२. सोलह सयरु सतासियइ, साढि तीज तम पाखि।
गुरु दिनि श्रवण नक्षत्र भनि, प्रीति जोगु पुनि भाखि।।
साहिजहां के राजमहिं, 'सिहरदि' नगर मझार।
अर्थ अनेक जु नाम की, माला भनिय विचारि।।६७
—अनेकार्थ नाममाला

३. वर्षे षोडश शत च नवति मिते श्री विक्रमादित्यके,
पंचम्यां दिवसे विशुद्ध तरके मास्याश्विने निर्मले।
पक्षे स्वाति नक्षत्र योग सहिते वारे बुधे संस्थिते,
राजत्साहि सहाबदीन भुवने साहिजहां कथ्यते।।
—ज्योतिषसार प्रशस्ति

४. सगदह संवदतीह तहा विक्कमराय महप्पए।
अगहणसिय पंचमि सोमदिणे पुण्ण ठियउ अवियप्पए।।
—मृगांकलेखा चरित

का महत्व स्थापित होता है। आठवीं रचना 'वैद्यविनोद' है जिसे कवि ने सं० १७०४ मे सुलतानपुर (आगरा) में बनाया था१। अन्य शेष रचनाओं में संवत् नहीं दिया है। अतएव वे सब रचनाएँ इन्ही के मध्य में रची गई है। उनके नाम और पद्य संख्या निम्न प्रकार हैं :—

९. टंडाणारास, १०. आदित्यव्रतरास, ११. पखवाडा रास, १२. दशलक्षण रास, १३. खिचडीरास, १४. समाधिरास, १५. जोगीरास, १६. मनकरहारास, १७. रोहिणीव्रतरास, १८. चतुरवनजारा रास, १९. द्वादश अनुप्रेक्षा, सुगध दशमी कथा, २१ आदित्यवार कथा, २२. अनथमी कथा, २३. चूनड़ी (मुक्तिरमणकी) २४. राजमती नेमीनाथ स्तवन, २५. सज्ञानी ढमाल, २६. आदित्यनाथ स्तवन, २७. शान्तिनाथ स्तवन, २८. बावनी छपई ७ पद्य, २९. मनहरणगीत मे ६ प०, ३०. मनमइगलुगीत२ १३ प०, ३१. दहाढालगीत १२ प० ३२. दहाढाल गीत (द्वितीय) १५ पद्य, ३३. ललारे गीत १२ प०, ३४. दहागीत ११ प०, ३५. भमरा गीत १८ प०, ३६. लघुमन्धि, ३७ खिचडी रासु २६ प०, ३८ बडावीर जिनिंदगीत २२ प०, ३९. हालिमडे का गीत १७ प०, ४०. सांवला गीत १२ प०, ४१. राइसाढालगीत १७ प०, ४२. चैतढमाल३ रागु सालिग १७ प० ४३. ढमाल राग गाडी १७ प०, मोतीहटकई देहु रइ रंग भीने, मारूलाल रग भीने हो। ४४. तुम छाडि चले जिन लाहो, गीत १० प०, ४५. मनसूवा गीत १८ पद्य४, कर्मचेतना हिंडोला गीत १६ प०, ४७. बारहमासा चरित्रगडका १२ प०, ४८. विवाहगीत बारहमास १२ प०, ४९. रुक्मिनवेली का बारहमास५ १४ प०, ५०. गीत ११ प०, गढ़ दिल्ली में बनाया। ५१ वैरागीलाल बारहमासा १६ प० (मोती बाजार दिल्ली मे बनाया), ५२. चौमासा गीत ५ प०, मधुकर गीत १४ प० दिल्ली मोती बाजार में बनाया। ५३. दिवाली ढाल गीन ११ प० दिल्ली मोती बाजार में बनाया, ५४. रागमारू पद १–१३ प०, ५५. पश्चिमी भाषा का वणजारा गीत १४ प०, ५६. ढमाल ३५ प०, ५७. राजमती नेमीसुर गीत १८ प०, ५८. मुक्तावलिरासु २८ प०, ५९. राजमती नेमीश्वर ढमाल ८६ प०, कपिस्थल में बनाया, ६०. वनजारा गीत ३५ पद्य।

इनके अतिरिक्त कवि की अन्य अनेक रचनाएँ अभी अन्वेषणीय हैं। इन रचनाओं मे से कतिपय रचनाएं सुन्दर हैं; और प्रकाशन की बाट जोह रही हैं। खेद है कि दि० जैन समाज का ध्यान साहित्य प्रकाशन की ओर नगण्य सा है।

दसवे कवि पाडे रूपचन्द हैं। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र 'गर्ग' था। इनका जन्म कुरुदेश के 'सलेमपुर' नाम के स्थान पर हुआ था। इनके पितामह का नाम मामट और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दूसरी पत्नी से रूपचन्द का जन्म हुआ था। इनके चार भाई और भी थे, हरिराज, भूपति, अभयराज और कीर्तिचन्द्र। रूपचन्द ने बनारस में शिक्षा पाई थी, विद्वान और कवि थे और अध्यात्म के प्रेमी थे। इनकी कृतियां परमार्थी दोहा शतक, मगल गीत प्रबन्ध, नेमिनाथ रास, खटोलना गीत और अध्यात्मपद आपका दोहा शतक और अध्यात्मिक गीत दोनों ही सांसारिक विषयों से विराग उत्पन्न करनेवाले

---

१. सत्रह सइ चउिडोत्तरइ. सुकल चतुर्दशि चैतु।
गुरु दिन भनी पूरनु करिउ, सुलितांपुर सहजयतु॥

२. इद्र धनुष सम सोहनी विषय सुखन की आशा रे।
सुख चाहइ ते बावरे अंति जु होहि निरासा रे॥५
अंत—अरे धर्म ध्यान मनुलाइए तउ पावमि सिव वासोरे,
मोतीहट जोगिनिपुरे भनत भगोती दासोरे।

३. अंत—ललना मोतीहट जोगिनपुरे भनत भगोतीदास।
जिनजी जे नर गावही ते खंडति अघ-पासु।
ललना नेमिनवल मेरइ मनिवसे॥१७॥

४. आदि—भव वन भमत दुखित भए मन सूवारे।
इद्रिय सुख जु अधीन समझ मन सूवारे।
श्री जिनशासन वनु भला मनसूवारे।
तइ तजिय मतिहीन समझु मनसूवा रे॥१॥
× × ×
अत—दास भगवती इउं मनइ मनसूवा रे।
जो गावहि नरनारि समुझि जिनवाणी,
मनधरइ मनसूवा रे।
ते उतरहिं भव पार समझ मनसूवा रे॥१८॥

५. अंत—जे नर नारी जिण गुण गावहि,
पावहि अमर विलासो।
गढ़ ढिल्ली मोतीहटि जिणहरि भणत भगौतीदासो॥१४

और अध्यात्मरस से सराबोर है पढ़ते ही हृदय में विषयों के प्रति ग्लानि और स्वरूपको पहिचाननेकी दृष्टि आ जाती है, उनका हृदय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, किन्तु मोहवश वह अल्पकालिक होता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां तीन-चार दोहे दिये जाते है :—

परकी संगति तुम गए, खोई अपनी जाति।
आपा पर न पिछानहू, रहे प्रमावनि माति ॥४२
बिना तत्त्व परचै लगत, अपरभाव अभिराम।
ताम और रस रुचित हैं, अमृत न चाख्यो जाम ॥८८
चेतन के परचै बिना, जप तप सब अकयत्थ।
कन बिन तुष ज्यों फटकतें, कछु न आवै हत्थ ॥८५
चेतन सों परचं नहीं, कहा भये व्रतधारि।
सालि बिहूने खेत की, वृथा बनावति बारि ८६

मगल गीत प्रबन्ध और नेमिनाथ रास दोनों ही सुन्दर रचनाएँ है। जो पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। समवसरण पाठ संस्कृत की रचना को सं० १६६२ मे बना कर समाप्त किया था[१]। वह आगरे मे आये थे और तिहुना साहु के देहरे (मन्दिर) में ठहरे थे[२]। तब बनारसी दास और उनके साथियों ने गोम्मट सार ग्रंथ बचवाया था, रूपचन्दजी ने कर्म सिद्धान्त का वर्णन कर एकान्त दृष्टि को दूर किया था, इससे बनारसीदास और उनके साथी जैनधर्म में दृढ़ हुए थे। आप अध्यात्म रस के रसिया थे। आपके अध्यात्मिक पदों मे विषय-विरक्ति और अध्यात्मरस का अनुभव मिलता है, पद बड़े ही सरल एवं आत्म-सम्बोधक है। परमार्थी दोहा शतक मे सुन्दर दोहों द्वारा विषय सेवन से होने वाले कटुक फलों का दिग्दर्शन कराते हुए उन्हें निस्सार बतलाया है। वे आत्म-सम्बोधकी भावना से परिपूर्ण हैं। खटोलना गीत भी आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। यह रचना अने० वर्ष १० कि० ३ में प्रकाशित हो चुकी है।

ग्यारहवें कवि जगजीवन हैं—जो आगरा के निवासी और संघवी अभयराज तथा मोहनदे के पुत्र थे। यह विद्वान कवि और अध्यात्म शैली के वरिष्ठ प्रेरक थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। सघवी अभैराज उस समय सबसे अधिक सुखी और सम्पन्न थे[३]। उनके अनेक पत्नियां थीं; जिनमें सबसे छोटी मोहनदे से जगजीवन का जन्म हुआ था। सघवी अभयराज ने आगरा मे एक जिनमन्दिर बनवाया था[४]। जगजीवन जाफरखां के दीवान थे, और जाफरखा बादशाह शाहजहा का पाँच हजारी उमराव था। उस समय की अध्यात्म शैली मे हेमराज, रामचन्द्र, मथुरादास, भवालदास, भगवतीदास और प० हीरानन्द आदि थे। "समैं जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयो, ज्ञानिन की मण्डली में जिस को विकास है।" प० हीरानन्द की जगजीवन की प्रेरणा से समवसरण विधान सं० १७०१ में बनाया था[५]। और उन्हीं जगजीवन की प्रेरणा से सं० १७११ में पचास्तिकाय का पद्यानुवाद रचा था[५]। (क्रमशः)

---

१. श्रीमत्सम्वत्सरेऽस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्ये-
ऽतीतेदृगनंदभद्रांशुकृत परिमिते (१६७२) कृष्णपक्षेषमासे।
देवाचार्य प्रचारे शुभनवमितिथौ सिद्धयोगे प्रसिद्धे।
पौनर्वस्वित्पुडस्थे (?) समवसृतिमहं प्राप्तमाप्ता समाप्ति॥

२. अनायास इस ही समय नगर आगरे थान।
रूपचन्द पडित गुनी, आयो आगम जान॥
—अर्ध कथानक, ६३० प.
तिहुनासाहु देहरा किया, तहा आइ तिन डेरा लिया।
सब अध्यात्मी कियो विचार, ग्रन्थ वचायो गोम्मटसार॥
साहु तिहुना अग्रवाल और गर्ग गोत्रीय थे। इन्होने सं० १६१६ में आषाढ़ सुदि एकम के दिन आत्मानुशासन की सटीक प्रति लिखवाई थी।

देखो जैन ग्रंथ सूची भ० ४ पृ० १०२

३. अब सुनि नगरराज आगरा, सकल सोभ अनुपम सागरा।
साहजहां भूपति है जहां, राज करै नयमारग तहां।७५
ताको जाफर खां उमराव, पंचहजारी प्रगट कराउ।
ताको अगरवाल दीवान, गरगगोत सब विधि परधान।७६
सघही अभैराज जानिए, सुखी अधिक सबकरि मानिए।
बनितागण नाना परकार, तिनमें लघु मोहनदे सार॥८०
ताको पूत पूत सिरमौर, जगजीवन जीवन की ठौर॥
सुदररूप सुभग अभिराम, परम पुनीत धरम धन-धाम।८१
—समवसरण विधान

४. अभैराज संघपति संघही को बनिउदेहरो नीको हो,
साहिमती बाई उत्तिम सती सयानी भोरी हो।
गिरधर पडित गुनगन मंडित बंधु नरायन जोरी हो।
बन्धु नरायनु गिरधरि पांडे, बहुत बिनौ करि राखे॥
—अर्गलपुर जिनवन्दना जैन सं० शोधां० ५

५. एक अधिक सत्रह सौ समैं,
सावन सुदि सातमि बुधि रमैं।
ता दिन सब संपूरन भया,
समवसरन कहवत परिनया ॥६२—समवसरण विधान

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन दि० टीका

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत की हस्तलिखित मूल प्रतियों तथा उस पर लिखी गई किसी संस्कृत टीका की खोज करने-कराते समय मुझे हाल में दैव योग से एक ग्रन्थप्रति उपलब्ध हुई है जिसके ऊपर बाद को किसी दूसरी कलम से लिखा गया है:—

"अयं योगप्रकाशः ग्रन्थः अस्य टीका इंद्रनंदिनामा भट्टारकेन कृता"

ग्रन्थप्रति के अन्त मे ग्रन्थ को 'योगसार' और टीका को 'योगसार टीका' भी लिखा है; परन्तु देखने पर मालूम हुआ कि यह अपने अभीष्ट योगसारप्राभृत की टीका नहीं है बल्कि आचार्य हेमचन्द के योगशास्त्र पर लिखी गई एक टीका है, जिसमे योगशास्त्र को योगशास्त्र नाम से ही नहीं किन्तु 'योगप्रकाश' और 'योगसार' नाम से भी उल्लेखित किया है। यह टीका प्रति कारंजा (अकोला) के एक शास्त्र भंडार से ब्रह्मचारी माणिकचन्द जी चवरे द्वारा उपलब्ध हुई है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रति की पत्र संख्या ७७, पत्रों की लम्बाई ११। और चौडाई ४॥। इन्ची है, पत्र के प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या प्रायः ११-कही कही १२ तथा दो तीन पत्रों पर १३-१३ भी है, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ५५ से ६८ तक, कागज पुराना देशी और लिखाई, जो पड़ी मात्राओं के प्रयोग को भी लिए हुए है, अच्छे सुन्दर अक्षरों में प्रायः शुद्ध है—कहीं कहीं कुछ अशुद्धियाँ भी पाई जाती है। कागज आदि की स्थिति को देखते हुए यह प्रति प्रायः ४०० वर्ष पुरानी लिखी जान पड़ती है।

इस टीका को देखकर मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या यह टीका पहले से उपलब्ध एवं लोक-परिचय में आई हुई है अथवा नई ही उपलब्ध हुई है। दिगम्बर शास्त्र भण्डारों को मैंने बहुत देखा है, बहुतों की सूचियाँ भी देखने मे आई हैं परन्तु इससे पहले कहीं से भी इस टीका का कोई परिचय मुझे प्राप्त नहीं हुआ और इसलिए मैंने प० दलसुख जी मालवणिया (अहमदाबाद) और पं० सुबोधचन्द्र जी (जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई) जैसे कुछ श्वेताम्बर विद्वानों से यह जानना चाहा कि क्या हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र पर उनके स्वोपज्ञ विवरण के बाद की बनी हुई कोई संस्कृत टीका श्वे० शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध है? उत्तर में यही मालूम पड़ा कि ऐसी कोई टीका उपलब्ध नहीं है? पं० सुबोधचन्द्र जी ने तो दिगम्बर टीका की उपलब्धि को जानकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यह भी लिखा कि "योगसार शास्त्र पर दिगम्बरीय टीका होने का (हाल) मैं सर्वप्रथम सुन रहा हूँ, यह आनन्द दायक समाचार है।" ऐसी स्थिति मे इस नवोपलब्ध टीका का सर्व साधारण को परिचय देने के लिए मुझे अन्तःकरण से प्रेरणा मिली और मैंने टीका का तुलनादि के रूप में कुछ विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के लिये पं० दरबारीलाल जी जैन कोठिया न्यायाचार्य ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ विवरण-सहित मुद्रित प्रति मुझे स्याद्वाद विद्यालय काशी के अकलंक सरस्वती भवन से भेज दी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। परन्तु योगशास्त्र की यह मुद्रित प्रति मोटे कागज पर होने पर भी इतनी जीर्ण तथा कडकब्वल जान पड़ी कि पत्रों को इधर उधर पलटने पर उनके टूट जाने का भय उपस्थित हो गया और इसलिए उस पर काम करना कठिन जान पड़ा। श्री प० सुबोधचन्द्र जी को जब किसी दूसरी मूल ग्रन्थ प्रति को भिजवाने के लिए लिखा गया तब उन्होंने भी स्वोपज्ञ-विवरण-प्रति की जीर्णता को स्वीकार किया और लिखा कि हमारा मडल इसको फिर से छपवाना चाहता है। साथ ही एक दूसरी मुद्रित प्रति की सूचना की जो योगशास्त्र मूल के साथ उसके स्वोपज्ञ विवरण में पाये जाने वाले 'आन्तर' श्लोकों को भी भिन्न

और अध्यात्मरस से सराबोर है पढ़ते ही हृदय मे विषयों के प्रति ग्लानि और स्वरूपको पहिचाननेकी दृष्टि आ जाती है, उनका हृदय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, किन्तु मोहवश वह अल्पकालिक होता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां तीन-चार दोहे दिये जाते है :—

परकी संगति तुम गए, खोई अपनी जाति।
आपा पर न पिछानहू, रहे प्रमादनि माति ॥४२
बिना तत्त्व परचै लगत, अपरभाव अभिराम।
ताम और रस रुचित हैं, अमृत न चाख्यो जाम ॥८८
चेतन के परचै बिना, जप तप सब अकयत्थ।
कन बिन तुष ज्यों फटकतें, कछु न आवै हत्थ ॥८५
चेतन सौं परचै नहीं, कहा भये व्रतधारि।
सालि विहूने खेत की, वृथा बनावति वारि ८६

मंगल गीत प्रबन्ध और नेमिनाथ रास दोनों ही सुन्दर रचनाएँ है। जो पाठको को अपनी ओर आकर्षित करती है। समवसरण पाठ संस्कृत की रचना को सं० १६६२ मे बना कर समाप्त किया था१। वह आगरे मे आये थे और तिहुना साहु केदेहरे (मन्दिर) में ठहरे थे२। तब बनारसी दास और उनके साथियों ने गोम्मट सार ग्रंथ बचवाया था, रूपचन्दजी ने कर्म सिद्धान्त का वर्णन कर एकान्त दृष्टि को दूर किया था, इसमे बनारसीदास और उनके साथी जैनधर्म मे दृढ़ हुए थे। आप अध्यात्म रस के रसिया थे। आपके अध्यात्मिक पदो मे विषय-विरक्ति और अध्यात्मरस का अनुभव मिलता है, पद बड़े ही सरल एव आत्म-सम्बोधक है। परमार्थी दोहा शतक मे सुन्दर दोहों द्वारा विषय सेवन से होने वाले कटुक फलो का दिग्दर्शन कराते हुए उन्हे निस्सार बतलाया है। वे आत्म-सम्बोधकी भावना से परिपूर्ण हैं। खटोलना गीत भी आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। यह रचना अने० वर्ष १० कि० ३ मे प्रकाशित हो चुकी है।

ग्यारहवें कवि जगजीवन हैं—जो आगरा के निवासी और संघवी अभयराज तथा मोहनदे के पुत्र थे। यह विद्वान कवि और अध्यात्म शैली के वरिष्ठ प्रेरक थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। संघवी अभैराज उस समय सबसे अधिक सुखी और सम्पन्न थे३। उनके अनेक पत्नियां थी; जिनमें सबसे छोटी मोहनदे से जगजीवन का जन्म हुआ था। संघवी अभयराज ने आगरा मे एक जिनमन्दिर बनवाया था४। जगजीवन जाफरखां के दीवान थे, और जाफरखां बादशाह शाहजहां का पाँच हजारी उमराव था। उस समय की अध्यात्म शैली मे हेमराज, रामचन्द्र, मथुरादास, भवालदास, भगवतीदास और प० हीरानन्द आदि थे। "समै जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयौ, ज्ञानिन की मण्डली मे जिस को विकास है।" प० हीरानन्द की जगजीवन की प्रेरणा से समवसरण विधान सं० १७०१ मे बनाया था३। और उन्हीं जगजीवन की प्रेरणा से सं० १७११ मे पंचास्तिकाय का पद्यानुवाद रचा था५। (क्रमशः)

१. श्रीमत्संवत्सरेऽस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्ये-
ऽतीतेदृगनंदभद्रांशुकृत परिमिते (१६७२) कृष्णपक्षेषमासे।
देवाचार्य प्रचारे शुभनवमितिथौ सिद्धयोगे प्रसिद्धे।
पौनर्वस्वितपुडरथे (?) समवसृतिमहं प्राप्तमाप्ता समाप्ति ॥

२. अनायास इस ही समय नगर आगरे थान।
रूपचन्द पडित गुनी, आयो आगम जान ॥
—अर्ध कथानक, ६३० प.
तिहुनासाहु देहरा किया, तहा आइ तिन डेरा लिया।
सब अध्यात्मी कियो विचार, ग्रन्थ वचायो गोम्मटसार ॥
साहु तिहुना अग्रवाल और गर्ग गोत्रीय थे। इन्होने स० १६१६ मे आषाढ़ सुदि एकम के दिन आत्मानुशासन की सटीक प्रति लिखवाई थी।

देखो जैन ग्रंथ सूची भा० ४ पृ० १०२

३. अब सुनि नगरराज आगरा, सकल सोभ अनुपम सागरा।
साहजहा भूपति है जहा, राज करै नयमारग तहां ॥७५
ताको जाफर खां उमराव, पंचहजारी प्रगट कराउ।
ताको अगरवाल दीवान, गरगगोत सब विधि परधान ॥७६
सघही अभैराज जानिए, सुखी अधिक सबकरि मानिए।
वनितागण नाना परकार, तिनमें लघु मोहनदे सार ॥८०
ताको पूत पूत सिरमौर, जगजीवन जीवन की ठौर ॥
सुंदररूप सुभग अभिराम, परम पुनीत धरम धन-धाम ॥८१
—समवसरण विधान

४. अभैराज सघपति सघही को वनिउदेहरो नीको हो,
साहिमती बाई उत्तिम सती सयानी भोरी हो।
गिरधर पंडित गुनगन मंडित बंधु नरायन जोरी हो।
बन्धु नरायनु गिरधरि पाडे, बहुत विनौ करि राखे ॥
—अर्गलपुर जिनवन्दना जैन सं० शोधा० ५

५. एक अधिक सत्रह सौ समै,
सावन सुदि सातमि बुधि रमै।
ता दिन सब सपूरन भया,
समवसरन कहवत परिनया ॥६२—समवसरण विधान

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन दि० टीका

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

श्रीमदमितगति-नि.सगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत की हस्तलिखित मूल प्रतियो तथा उस पर लिखी गई किसी संस्कृत टीका की खोज करने-कराते समय मुझे हाल में दैव योग से एक ग्रन्थप्रति उपलब्ध हुई है जिसके ऊपर बाद को किसी दूसरी कलम से लिखा गया है:—

"अथ योगप्रकाशः ग्रन्थः अस्य टीका इन्द्रनंदिनामा भट्टारकेन कृता"

ग्रन्थप्रति के अन्त मे ग्रन्थ को 'योगसार' और टीका को 'योगसार टीका' भी लिखा है, परन्तु देखने पर मालूम हुआ कि यह अपने अभीष्ट योगसारप्राभृत की टीका नही है बल्कि आचार्य हेमचन्द के योगशास्त्र पर लिखी गई एक टीका है, जिसमे योगशास्त्र को योगशास्त्र नाम से ही नही किन्तु 'योगप्रकाश' और 'योगसार' नाम से भी उल्लेखित किया है। यह टीका प्रति कारंजा (अकोला) के एक शास्त्र भंडार मे ब्रह्मचारी माणिकचन्द जी चवरे द्वारा उपलब्ध हुई है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रति की पत्र संख्या ७७, पत्रो की लम्बाई ११। और चौडाई ४।। इन्ची है, पत्र के प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या प्रायः ११-कही कही १२ तथा दो तीन पत्रो पर १३-१३ भी है, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ५५ से ६० तक, कागज पुराना देशी और लिखाई, जो पड़ी मात्राओ के प्रयोग को भी लिए हुए है, अच्छे सुन्दर अक्षरों में प्रायः शुद्ध है—कही कही कुछ अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं। कागज आदि की स्थिति को देखते हुए यह प्रति प्रायः ४०० वर्ष पुरानी लिखी जान पड़ती है।

इस टीका को देखकर मेरे हृदय मे यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या यह टीका पहले से उपलब्ध एवं लोक-परिचय मे आई हुई है अथवा नई ही उपलब्ध हुई है। दिगम्बर शास्त्र भण्डारों को मैंने बहुत देखा है, बहुतो की सूचियाँ भी देखने मे आई है परन्तु इससे पहले कही से भी इस टीका का कोई परिचय मुझे प्राप्त नही हुआ और इसलिए मैने पं० दलसुख जी मालवणिया (अहमदाबाद) और पं० सुबोधचन्द्र जी (जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई) जैसे कुछ श्वेताम्बर विद्वानों से यह जानना चाहा कि क्या हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र पर उनके स्वोपज्ञ विवरण के बाद की बनी हुई कोई संस्कृत टीका श्वे० शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध है ? उत्तर में यही मालूम पड़ा कि ऐसी कोई टीका उपलब्ध नहीं है ? पं० सुबोधचन्द्र जी ने तो दिगम्बर टीका की उपलब्धि को जानकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यह भी लिखा कि "योगसार शास्त्र पर दिगम्बरीय टीका होने का (हाल) मैं सर्वप्रथम सुन रहा हूँ, यह आनन्द दायक समाचार है।" ऐसी स्थिति मे इस नवोपलब्ध टीका का सर्व साधारण को परिचय देने के लिए मुझे अन्तःकरण से प्रेरणा मिली और मैंने टीका का तुलनादि के रूप में कुछ विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के लिये पं० दरबारीलाल जी जैन कोठिया न्यायाचार्य ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ विवरण-सहित मुद्रित प्रति मुझे स्याद्वाद विद्यालय काशी के अकलंक सरस्वती भवन से भेज दी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। परन्तु योगशास्त्र की यह मुद्रित प्रति मोटे कागज पर होने पर भी इतनी जीर्ण तथा कडकव्वल जान पड़ी कि पत्रों को इधर उधर पलटने पर उनके टूट जाने का भय उपस्थित हो गया और इसलिए उस पर काम करना कठिन जान पड़ा। श्री पं० सुबोधचन्द्र जी को जब किसी दूसरी मूल ग्रन्थ प्रति को भिजवाने के लिए लिखा गया तब उन्होने भी स्वोपज्ञ-विवरण-प्रति की जीर्णता को स्वीकार किया और लिखा कि हमारा मंडल इसको फिर से छपवाना चाहता है। साथ ही एक दूसरी मुद्रित प्रति की सूचना की जो योगशास्त्र मूल के साथ उसके स्वोपज्ञ विवरण में पाये जाने वाले 'आन्तर' श्लोकों को भी भिन्न

टाइप-द्वारा साथ मे लिये हुए है, और कुछ दिन बाद उसे भिजवा दिया, जिसके लिए मै उनका भी आभारी हूँ।

इस टीका के तुलनात्मक अध्ययन और उस पर से परिचयात्मक नोट्स तथा मूल के पाठान्तर लेने आदि पर जो परिश्रम किया गया है उसके फल स्वरूप ही आज यह परिचायक लेख लिखा जाकर पाठकों की सेवा मे उपस्थित किया जाता है, जिससे अन्धकार मे पड़ी हुई यह टीका प्रकाश मे आए और अपने लाभो से जगत को लाभान्वित करने मे समर्थ हो सके। साथ ही हम अपने उपकारी टीकाकार को कुछ जान पहचान सके, जिसने उपकार-बुद्धि से टीका के निर्माण मे कब कितना परिश्रम किया था और उसके द्वारा मूल योगशास्त्र को कहाँ तक उजाला था।

प्रस्तुत टीका के निर्माता भट्टारक इन्द्रनन्दी है, जो उन भट्टारक श्री अमरकीर्ति के शिष्य थे जिन्हे टीका के आदि मे चतुर्धागमवेदी, मुमुक्षुनाथ, ईशिन्, अनेकवादिव्रज-सेवितचरण और लोके परिलब्धपूजन जैसे विशेषणो के साथ उल्लेखित किया गया है। टीका की आदि मे मगलाचरणादि को लिए हुए जो तीन पद्य है वे इस प्रकार है —

प्रणम्य वीरं त्रिजगत्प्रवन्द्यं विभावनेकान्तपयोधिचन्द्रम्।
देवेशमज्ञानतमः खरांशुं समस्तभाषामयसुध्वनीशम्॥१
लसच्चतुर्धागमवेदिन परं मुमुक्षुनाथाऽमरकीर्तिमीशिनम्।
अनेकवादिव्रजसेवितक्रमं विनम्य लोके परिलब्धपूजनम्।२
जिना (निजा)त्मनो ज्ञानविदे प्रशिष्टां
विद्वद्विशिष्टस्य सुयोगिना च।
योगप्रकाशस्य करोमि टीकां सूरीन्द्रनन्दीहितनन्दनीं वै॥३

इनमे से प्रथम पद्य वीर भगवान की और दूसरा अपने गुरु अमरकीर्ति स्वामी की स्तुति मे है। तीसरा पद्य टीका के निर्माण की प्रतिज्ञा को लिये हुए है, जिसमे मूल ग्रन्थ को यहाँ 'योगप्रकाश' नाम स उल्लेखित किया है, जिसका कारण उसमे योग-विषय के द्वादश प्रकाशो का होना जान पड़ता है। अन्यत्र संधियों मे 'योगशास्त्र' और 'योगसार' नाम से भी उल्लेखित किया है। मूल ग्रन्थकार के लिये यहाँ 'विद्वद्विशिष्ट' विशेषण का प्रयोग किया गया है और टीका को अपने तथा अन्य योगियों के लिये 'ज्ञानविदे प्रशिष्टा' लिखा है और साथ ही अपने (इन्द्रनन्दी सूरि के) 'ईहित की नन्दिनी' भी बतलाया है। टीका के अन्त मे जो प्रशस्ति पद्य दिया है उसमे टीका का नाम 'योगिरमा' सूचित किया है और उसे 'योगसारी' विशेषण भी दिया है। साथ ही जिसके विशेष बोध के निमित्त यह टीका रची गई है उसका नाम 'चन्द्रमती' दिया है और उसे जैनागम, शब्दशास्त्र, भरत(नाट्य) और छन्द:शास्त्रादि की विज्ञा तथा 'चारुविनया' बतलाया है —'चारुविनया' विशेषण से वह उनकी अच्छी विनयशीला शिष्या भी हो सकती है। प्रशस्ति का वह पद्य, जिसमे टीका के निर्माण का समय भी दिया हुआ है, इस प्रकार है:—

खाष्टेशे शरवीति मासि च शुचौ शुक्लद्वितीयातिथौ
टीका योगिरमेन्द्रनन्दिमुनिपः श्री योगसारी कृता।
श्रीजैनागमशब्दशास्त्र-भरत-छन्दोभिमुख्यादिक-
वेत्री चन्द्रमतीति चारुविनया तस्या विबोध्यै शुभा॥

इसमें टीका का जो निर्माण काल 'खाष्टेशे' आदि पदो के द्वारा दिया है उससे वह शक-सवत् ११८० की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया के दिन बनकर समाप्त हुई जान पड़ती है। 'खाष्टेशे' पद ११८० का और 'शरवि' पद सवत्सर का वाचक है। यह ११८० विक्रम सवत् तो हो नही सकता, क्योंकि उस वक्त तक तो मूल योगशास्त्र का निर्माण भी नही हुआ था, तब यह शक सवत् ही होना चाहिए। दूसरे 'खाष्टेशे' पद में जिस 'ईश' शब्द का प्रयोग है वह 'ईश्वर' का वाचक है और शक काल-गणना मे 'ईश्वर' नामका ११वाँ सवत्सर है, उसीसे उसकी ११ सख्या का ग्रहण किया जाता है। तदनुसार यहाँ ११८० शक सवत् ही ठहरता है। जो विक्रम सवत् १३१५ के बराबर है और इसलिए टीका को निर्मित हुए आज ७०८ वर्ष से ऊपर का समय हो चुका है। आचार्य हेमचन्द का निधन वि० सवत् १२२९ मे हुआ है, उनके निधन से यह टीका कोई ८६ वष बाद की बनी हुई है।

योगशास्त्र मुख्यत. दो विभागो मे विभक्त है, जिनमें से प्रथम विभाग मे आदि के चार प्रकाश हैं और द्वितीय विभाग शेष पाँच से बारह तक आठ प्रकाशो को लिये हुए है। आ० हेमचन्द्र का स्वोपज्ञ विवरण प्रायः प्रथम विभाग

के ऊपर है, द्वितीय विभाग के ऊपर जो कुछ है उसे प्राय: नाम मात्र का विवरण कहना चाहिए—जगह जगह **स्पष्ट:, स्पष्टौ, स्पष्टा:** आदि लिखकर उसकी स्थान पूर्ति की गई है। शायद इसी से योगशास्त्र की प० हीरालाल श्रावक कृत जो गुजराती टीका (भावातर) सन् १८९९ मे प्रकाशित हुई थी उसकी प्रस्तावना मे शा० भाण जी पाथा ने यह साफ लिख दिया है कि—

तेमां बारा प्रकाशो छे; तेमाना पहेला चार प्रकाशोनुं तेमणे विवरण कर्यु छे, अने बाकीना आठ प्रकाशोनुं कर्यु नथी।

इसमे ग्रन्थ के १२ प्रकाशों मे से प्रथम चार प्रकाशो का ग्रन्थकार ने विवरण किया है बाकी आठ प्रकाशो का विवरण नही किया, ऐसी स्पष्ट सूचना की गई है। यदि यह ठीक है तब आठ प्रकाशों पर जो कही कही कुछ विवरण पाया जाता है वह किसका किया हुआ है? यह एक नया प्रश्न पैदा होता है।

प्रथम विभाग के तीन प्रकाशो पर जो विवरण है उसमे अनेक लम्बी लम्बी कथाएं, कथानक तथा चरित्र दिये है, जिनके नाम इस प्रकार है—

१-महावीर चरित, २-सनत्कुमार चरित, ३-भरत-चक्रिकथा, ४-आदिनाथचरित, ५-मरुदेवी दृष्टान्त, ६-दृढ प्रहारि कथा, ७-चिलातिपुत्र कथा, ८-सुभूम-ब्रह्मदत्त कथा, ९-कालसौकरिकपुत्रकथा, १०-कालिकार्य वसुराज कथा, ११-१४ कौशिक-रौहिणेय-रावण-सुदर्शन की कथाए, १५-१८ सगर कुचिकर्ण-तिलक-नन्द के कथानक, १९-अभयकुमार कथा, २०-चन्द्रावतस कथा, २१-चुलिनीपितृ कथा, २२-२४ मगमक-स्थूलभद्र-कामदेव की कथाए और आनन्द श्रावक की कथा।

इन सब कथा कथानकों के चित्रण मे, जिनमें से अधिकाश का योग विषय के साथ कोई सम्बन्ध भी नही है और न योगशास्त्र मे जिनको प्रस्तुत ढग से उदाहृत करके रखना उपयुक्त तथा आवश्यक मालूम होता है, जिस समय और शक्ति का व्यय हुआ है वे दोनो यथेष्ट मात्रा मे अवशिष्ट नहीं रहे और इसलिए कुछ परस्थितियो के वश द्वितीय विभाग के आठो प्रकाशो को प्राय बिना विवरण के ही समाप्त कर देना पडा, ऐसा जान पड़ता है। अस्तु,

द्वितीय विभाग के आठो प्रकाशों पर ही मुख्यत. प्रस्तुत टीका लिखी गई है, जिससे मालूम होता है कि जिन श्लोकों को 'स्पष्ट' कहकर छोड़ दिया गया है उनमें विवरण के योग्य कितना तत्त्व भरा हुआ है। द्वितीय विभाग के आठो प्रकाश टीका मे क्रमश द्वितीय अधिकार से प्रारम्भ होते है, योगशास्त्र-विवरण और टीका मे परस्पर पद्यो का कुछ अन्तर भी पाया जाता है—कुछ पद्य एक दूसरे मे कमती-बढती उपलब्ध होते है—अनेकानेक पाठ भेद भी पाये जाते है, जिनका कुछ परिचय आगे चलकर दिया जायगा। यहाँ सबसे पहले टीका के प्रथम अधिकार गत मूल पद्यों पर विचार किया जाना आवश्यक है। इस अधिकार मे मूल योगशास्त्र के ५-८ पद्यो का उल्लेख है, जिनमें से पहला पद्य टीका-सहित इस प्रकार है:—

परमात्मा जिन सर्वदेहं व्याप्य निरजन: ।
सर्वत्र सर्वग: शुद्ध: बुद्धो वसति नित्यश: ॥१॥

टीका—अथादौ मगलार्थ प्रथम इम पदं कथ्यते यदुक्तं, आदौ मध्ये वसाने च मगल भाषित बुधै:।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्र तद्विघ्नप्रशान्तये ॥१॥

अत्र नमस्कारार्थ जिनेन्द्रस्तुतिर्विधीयते। जिन सर्वत्र वसति। इति स चराचर त्रैलोक्ये वसति। किं कृत्वा? सर्वदेह व्याप्य सर्व च तनुदेह सकलशरीर चाभिगम्य वसति। किंविशिष्ट? परमात्मा परमश्चासावात्मा परमात्मा प्रकृष्टात्मेति। कथ वसति? नित्यश सर्वदैव। पुन. कथंभूत। सर्वग: सर्व गच्छति जानात्येव सर्वग। ज्ञानन कृत्वा सर्व व्रजति इति वा। शुद्ध. निर्मल. कर्मकलकवर्जित। बुद्ध. बुध्यते स्म बुद्ध त्रैकाल्य वेदीति। पुन कथभूत? निरंजन. निर्गतमजन यस्मात् निरजन कलिमलरहित ॥इति॥१॥

इससे प्रकट है कि यह पद्य, जिनेन्द्र-गुणस्तुति को लिये हुए मूल ग्रन्थ के मगलाचरण रूप मे उल्लिखित हुआ है। इसके बाद "अथोत्पत्तिमाह" इस प्रस्तावना वाक्य के साथ दूसरा पद्य टीका-सहित इस प्रकार है

आदौ तस्योत्पत्तिश्चात्र कथ्यते सा सविस्तरा ।
पश्चात्तस्य मया सम्यग् लक्षण परमात्मन: ॥२॥

टीका—आदौ प्रथम तस्य परमनिरजनस्य सदा चिदानन्दरूपस्य परमात्मन उत्पत्तिरुद्भव कथन उच्यते

सा उत्पत्तिः सविस्तरा कथ्यते । पश्चात्तस्य परमात्मनो मया सम्यक् सम्यक्तया नासारिकत्वापेक्षया कथयित्वा निरंजनेनोच्यते कथ्यते ॥२॥

इस पद्य मे मगलाचरण-गत परमात्मा की शरीर से उत्पत्ति को विस्तार के साथ कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और उसके बाद परमात्मा का सम्यक् लक्षण बतलाने की बात कही गई है। तदन्तर "अथोत्पत्तिं दर्शयन् गर्भ-स्थानस्वरूपमाह" इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ मूल का तीसरा पद्य दिया है, जो टीका-सहित निम्न प्रकार है:—

स्त्रियो नाभेरधोऽधश्च द्वे शिरे नालवत्ततः ।
कोशवद्योनिराम्रस्य मंजरीवास्ति पेशिका ॥३॥

टीका—स्त्रियो नार्याः नाभेरध द्वे शिरे स्त शिरा द्वय-मस्ति पद्मकोशवत् पद्मनाल इव । ततस्तस्मादधः कोशव-द्योनिरस्ति । पद्मकोश इव योनिर्गर्भोत्पत्त्याशयः वर्तते । ततोऽप्यध. आम्रस्य चूतवृक्षस्य मजरीव पेशिका मास-ग्रन्थिरस्ति इति ॥३॥

इसमे गर्भोत्पत्ति स्थान की शिराओ तथा आकारादिक का उल्लेख करते हुए उत्पत्तिक्रम के कथन को प्रारम्भ किया गया है और फिर "तस्मात् किं जायते" इत्यादि प्रस्तावनावाक्यों के साथ मूल के अगले चतुर्थादि पद्यो को देकर उनकी टीका दी गई है, जिन सबमे शरीर से पर-मात्मा की उत्पत्ति का कथन है। अन्त मे उपसहारात्मक ५८वाँ पद्य दिया है, जो इस प्रकार है:—

शरीरमित्थं कथितं समासतः योगस्य समाधनहेतवे च यत् ।
तदूह्य(?)सर्व पवनस्य वश्यतां विधाय सद्योगिवरा स्वसिद्धये ।

इस पद्य पर टीका नही। इसका आशय इतना ही जान पडता है कि जो शरीर योग के ससाधन का हेतु है उसे सक्षेप में इस प्रकार बतलाया गया है, इस प्रकार के शरीर को लेकर पवन को स्वाधीन करने का विधान कर सद् योगिवर अपनी सिद्धि के लिये प्रवृत्त होते हैं।

इस पद्य के अनन्तर अधिकार को समाप्त करते हुए जो सन्धिवाक्य दिया है वह इस प्रकार है:—

"भट्टारक श्री इन्द्रनन्दिविरचितायां योगशास्त्र-टीकायां गर्भोत्पत्त्यादिनामादिमोधिकारः ॥१॥"

इसमें अधिकार का नाम 'गर्भोत्पत्त्यादि' दिया है, जो परमात्मा की गर्भ से उत्पत्ति आदि का सूचक है और उसे योगशास्त्र-टीका का आदिम अधिकार बतलाया है।

इस अधिकार के पूरे ५८ पद्य योगशास्त्र के उक्त स्वोपज्ञ विवरण में नहीं पाए जाते; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि ये पद्य टीका मे कहाँ से आए? जो टीकाकार योगशास्त्र की टीका लिखने की प्रतिज्ञा करे और उस प्रतिज्ञा के अनन्तर ही एक पूरा प्रकरण किसी दूसरे ग्रन्थ मे उठाकर रखे तथा सन्धि-वाक्य मे भी उसे योगशास्त्र का अंश सूचित करे, यह बात कुछ जी को लगती मालूम नही होती—खासकर ऐसी हालत में जब कि टीकाकार मूलकार के प्रति बहुमान का भाव रखता है। टीकाकार ने हेमचन्द्राचार्य को एक जगह (पृ० ३) **'विद्वद्विशिष्ट'** (विद्वानो में श्रेष्ठ) लिखा है और दूसरी जगह द्वितीय अधिकार में पचम प्रकाश के **'पृथ्वीबीजसंपूर्ण'** इत्यादि ४३वें (५८वें) पद्य की टीका मे—'हेमचन्द्राचार्य के पृथ्वीबीज **'क्ष'** का समर्थन करते हुए, उन्हे **'परमयोगीश्वर'** बतलाया है, जैसा कि टीका के निम्न अंश से प्रकट है:—

"पृथ्वीबीजं क्षंकारं तेन बीजेन संपूर्णं सम्यक् पूर्णीकृतं । केचनाचार्या लंकारं वदन्तीति । षडावयत्सांभभोरामार्गता आराधकेन लाम्रादि क्षाख्यामक्षरमूर्त्या विलसन्ति इति वचनात् तेन हेतुना परमयोगीश्वरेण हेमचन्द्राचार्येण क्षं कारं बीज इष्टं ।"

ऐसी स्थिति मे बहुत सभव है कि योगशास्त्र की जो पहली प्रति लिखकर तैयार हुई हो उसके प्रथम प्रकाश मे उक्त प्रकरण हो, उस प्रति पर से होने वाली कुछ प्रतियाँ बाहर चली गई हों और उन्ही में से कोई प्रति टीकाकार को प्राप्त हुई हो। बाद को विवरण लिखने आदि के समय हेमचन्द्राचार्य ने स्वेच्छा से अथवा किसी की प्रेरणा पाकर उक्त प्रकरण को योगशास्त्र जैसे ग्रन्थ के लिए अनुपयुक्त समझते हुए निकाल दिया हो। कुछ भी हो, यह विषय विद्वानो के लिए अनुसधान के योग्य है और इसकी अच्छी खोज होनी चाहिए, जिससे वस्तुस्थिति का ठीक पता चल सके।

इस प्रकरण के प्रारम्भिक २-३ पद्यो को अन्तिम पद्य सहित प० सुबोधचन्द्र जी के पास बम्बई भेजकर मैंने यह मालूम करना चाहा था कि क्या हेमचन्द्राचार्य के किसी ग्रन्थ मे ये पद्य पाये जाते है। उत्तर मे उन्होने लिखा था

कि 'गर्भोत्पत्त्यादिविषयक उल्लिखित श्लोक कही नही मिले परन्तु आगम मे जो पाठ है उसे लिखकर साथ मे भेजा है यदि इस पाठ की आवश्यकता हो तो लिखे। तो पूरा लिखकर भिजवाऊंगा। आगम का जो पाठ उन्होंने लिखकर भेजा वह दो गाथाओ के रूप मे टीका सहित इस प्रकार है —

अथाहाराधिकारे किञ्चिद् गर्भादिस्वरूपमाह—

इत्थीए नाभिहिट्ठा सिरादुगं पुप्फनालियागार ।
तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा सठिया कोसा ॥९॥

हे आयुष्मन् ! हे गौतम ! स्त्रिया नार्या नाभेरधोभागे पुष्पनालिकाकारं सुमनोवृन्तसदृश शिराद्विक धमनियुग्म वर्तते, च पुनस्तस्य शिराद्विकस्याधो योनि स्मरकूपिका संस्थिताऽस्ति। किंभूता ? अधोमुखा। पुन किंभूता ? (कोस त्ति) कोशा खड्गपियानकाकारेत्यर्थ ॥९॥

तस्स य हिट्ठा चूयस्स मंजरी तारिसाउ मंसस्स ।
ते रिउकाले फुडिया सोणियलवया विमोयन्ति ॥ १०॥

(तस्स य) तस्याश्च योनेरधोऽधोभागे चूतस्याम्रस्य यादृश्यो मञ्जर्यो वल्लर्यो भवन्ति तादृश्यो मासस्य पललस्य मञ्जर्यो भवन्ति, ता मञ्जर्यो मासान्ते स्त्रीणा यदजस्रमस्र दिनत्रय स्रवति तदृतुकाल स्त्रीधर्मप्रस्ताव तस्मिन् स्फुटिता प्रफुल्ला सत्य. शोणितलवकान् रुधिरबिन्दून् विमुञ्चन्ति स्रवन्ति।

'सप्ताहं कललं विन्द्यान् ततः सप्ताहमर्बुदम् ।
अर्बुदाज्जायते पेसी पेसीतोऽपि घनं भवेत् ॥१॥

उक्त दोनो गाथाएँ (९-१०) कौन से आगम ग्रन्थ की है, यह कुछ मालूम नही हो सका; परन्तु वे जिस श्वे० आगम ग्रन्थ की भी है उसके आहाराधिकार से सम्बन्ध रखती है और उनमे जिस विषय का उल्लेख है वह योगशास्त्र की टीका के प्रथम अधिकार मे दिये हुए उक्त पद्य न० ३ के विषय मे बिल्कुल मिलता जुलता है और इसलिए मैने आगम के उस सारे कथन को टीका सहित उद्धृत करके भेज देने को लिख दिया था, परन्तु पं० सुबोधचन्द जी अपनी कुछ परिस्थितियो के वश अभी तक उसे भेज नही पाए, इससे आगे का तुलना कार्य नही हो सका। हो सकता है उक्त आगम की गाथाओं के विषय को लेकर आचार्य हेमचन्द्र द्वारा 'गर्भोत्पत्त्यादि' नाम के उस प्रकरण को सकलित किया गया हो जो योगशास्त्र की टीका में प्रथम अधिकार रूप से पाया जाता है, यह भी अनुसन्धान तथा खोज का विषय है।

अब मैं द्वितीय विभाग के आगे प्रकाशों को लेता हूँ, जो टीका मे क्रमशः द्वितीयादि अधिकारों के अन्तर्गत है और मोटे रूप मे यह दिखलाना चाहता हूँ कि उनमे परस्पर पद्यों की क्या कुछ कमी-बेशी पाई जाती है।

(१) टीका के तृतीय अधिकार मे योगशास्त्र के छठे प्रकाश के छह पद्य है, जबकि विवरण मे उनकी सख्या आठ दी है। निम्न दो पद्य टीका मे ग्रहीत नही है—

जित्वापि पवनं नानाकरणैः क्लेशकारणैः ।
नाड्प्रचारमायत्त विधायापि वपुर्गतम् ॥४॥
पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः ।
चित्तसंक्लेशकरणा मुक्तेः प्रत्यूहकारणम् ॥५॥

हो सकता है कि ये दोनों पद्य विवरण के समय ग्रन्थ मे नये प्रवृष्ट किये गए हो अथवा अपने अपने पूर्ववर्ती पद्य के साथ 'आन्तर' श्लोक के रूप मे हो और इन पर गलती से नम्बर पड गये हों। इन पर तथा इनके पूर्ववर्ती पद्यों पर भी कोई विवरण नही है। चौथे पद्य को देखते हुए विवरण में यह प्रस्तावना-वाक्य दिया है—"प्राणायामस्तत कैश्चिदाश्रितो ध्यान-सिद्धये इति यदुक्तं तत् श्लोकद्वयेन् प्रतिक्षिपति।" और इसके बाद चौथा पद्य निम्न प्रकार से दिया है —

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ।
प्राणास्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः ॥ ॥

इस पद्य के स्थान पर जो पद्य टीका मे पाया जाता है उसका रूप इस प्रकार है —

प्राणायामस्ततो[तः] कैश्चिदाश्रितो मोक्षसिद्धये ।
तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ॥ ॥

(२) टीका के चौथे अधिकार मे योगशास्त्र का सातवाँ प्रकाश पूरे २८ पद्यो को लिए हुए है। विवरण मे उन पद्यो का प्रायः कोई अर्थ नही दिया, जब कि टीका मे अच्छा अर्थ यन्त्र-मंत्रादि के साथ दिया हुआ है।

(३) टीका के ५वें अधिकार में योगशास्त्र का आठवाँ प्रकाश है, जिसके विवरण में पद्य सख्या ८१ दी है, जो ८० जान पड़ती है; क्योंकि निम्न 'उक्त च' श्लोक पर भी

गलती से नम्बर ७६ पड गया है; जब कि वह नही पड़ना चाहिए था—

वीतरागो भवेद्योगी यत्किंचदपि चिन्तयेत् ।

तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तरा ।।७ ।।

टीका मे इस प्रकाश के पद्यो की सख्या ८६ दी है, इस वृद्धि के साथ दोनों मे परस्पर कुछ पद्यों की न्यूनाधिकता भी पाई जाती है, जैसे कि विवरण के निम्न तीन पद्य टीका में नही है—

तदेव च क्रमात्सूक्ष्मं ध्यायेद् बालाग्रसन्निभम्, (२६)
प्रत्यावमानसहनक्ष्यादलक्ष्य दधतः स्थिरम् (७)
एव च मत्रविद्यानां वर्णेषु च पदेषु च (८०)

इससे टीका मे अन्य १२ पद्यों की वृद्धि समझनी चाहिए, जिन्हे तुलना करके मालूम करने की जरूरत है। कुछ महत्व के पाठभेद भी है जैसे पापभक्षिणी विद्या के मत्र मे 'क्ष्रू' के आगे तथा 'क्षी' के पूर्व '**क्षे** अक्षर की वृद्धि है और '**ज्ञानवद्भिः समाम्नातं वज्रस्वाम्यादिभिः स्फुटम्**' वाक्य मे प्रयुक्त 'वज्रस्वाम्यादिभिः' पद के स्थान पर '**वज्रस्वाहादिभिः**' पद टीका म दिया है और उसका अर्थभी '**वज्रेणास्वाहादिः येषां तैः[ते] तैः स्फुटं प्रकटक ज्ञानवद्भिः समाम्नातः समाराध्यः**' ऐसा दिया है। इस अधिकार मे यत्र भी दिये है, जो विवरण मे नही है और कुछ मत्र भी अधिक दिये है। पूरी तरह तुलना करने की जरूरत है, जिसके लिए अवकाश नही मिल सका।

(४) टीका के छठे अधिकार मे नवमा प्रकाश है, जिसके १५ पद्य है; जब कि विवरण मे पद्य संख्या १६ दी है, जिसका कारण निम्न 'उक्त च' पद्य पर १४वाँ नम्बर पड़ जाना है—

येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।।१४।।

विवरणो मे मूल पद्यों का कोई अर्थ नही; जबकि टीका मे वह पाया जाता है:

(५) टीका के सातवे अधिकार मे योगशास्त्र का १०वाँ प्रकाश है। विवरण मे इस प्रकाश के २४ मूल पद्य दिये है, जब कि टीका मे उनकी संख्या ६१ दी है। विवरण मे नवमादि पद्यों के अनन्तर जिन्हे 'आन्तर श्लोक' लिखा है वे टीका मे प्राय. मूल पद्यो के रूप मे पाये जाते है।

(६) टीका के आठवें अधिकार में योगशास्त्र का ११वाँ प्रकाश है, जिसकी पद्य सख्या ६० है, विवरण मे यह ६१ दी है। कुछ पद्यो मे 'यदाह' आदि श्लोकों की दृष्टि से कुछ अन्तर भी है; जैसे '**धत्ते न खलु स्वास्थ्यं**' नाम के तीसरे पद्य के नीचे '**स्पष्टम्**' पद के बाद जो '**यदाह**' कहकर '**छिन्ने भिन्ने हते दग्धे**' आदि दो पद्य दिये हैं उन्हें टीका में मूलरूप से ग्रहण किया है।

(७) टीका के ६वे अधिकार मे योगशास्त्र का १२वाँ प्रकाश है, जिसकी पद्य सख्या विवरण मे ५५ दी है, टीका मे वह ४७ हो रही है, जिसका कारण कुछ पद्यो पर दोबारा पूर्व के नम्बर पड जाना है। विवरण का निम्न पद्य टीका मे नही पाया जाता जो '**गुरुमेव स्तौति**' वाक्य के साथ दिया है.—

यद्वत्सहस्रकिरणः प्रकाशको निचिततिमिरमग्नस्य ।
य(त)द्वद्गुरुरत्र भवेदज्ञानध्वान्त-पतितस्य ।।१६।।

हो सकता है कि यह पद्य विवरण के समय बढाया गया हो अथवा टीका मे छूट गया हो।

(८) शेष रहा टीका का दूसरा अधिकार, यह योगशास्त्र के पाँचवे प्रकाश को आत्मसात् किए हुए है, जो पद्य सख्या की दृष्टि से ग्रन्थ का सबसे बड़ा प्रकाश है। विवरण मे इसके पद्यों की संख्या २७३ दी है जब कि टीका में वह ३२४ के लगभग पाई जाती है। दोनों मे मूल पद्यों का जो परस्पर अन्तर पाया जाता है उसका स्थूल रूप से सक्षिप्त सार इस प्रकार है:—

टीका मे निम्न पद्य को पचम प्रकाश का प्रथम पद्य निर्दिष्ट किया है—

अथात्मसिद्धिमानेतुं मनो वशे विधीयते ।
तन्मनः पवनाधीनमभ्यस्तां मारुतं ततः ।।१।।

इसमें आत्मसिद्धि के लिये मन को वश में करने आदि की जो बात कही गई है उसका सम्बन्ध प्रथम अधिकार के अन्तिम (५८वे) पद्य मे प्रयुक्त '**पवनस्य वश्यतां विधाय सद्योगिवराः स्वसिद्धये**' वाक्य के साथ जुड़ता है। यह पद्य जिसके प्रारम्भ में '**अथ**' शब्द मंगल का भी वाचक है। विवरण मे नही है। विवरण में इस प्रकाश का पहला पद्य है:—

प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यानसिद्धये ।
शक्यो नेतरथा कर्तुं मनःपवननिर्जयः ॥१॥

इस पद्य को देते हुए, विवरण मे प्राणायाम को दूसरों द्वारा योग के आठ अंगों में निर्दिष्ट किया है ऐसा दिखलाकर लिखा है: —

"न च प्राणायामो मुक्तिसाधने ध्याने उपयोगी, असौमनस्यकारित्वात् तथापि कायारोग्य कालज्ञानादौ स उपयोगीत्यस्माभिरपीहोपदर्श्यते ।"

अर्थात्-यद्यपि प्राणायाम मुक्ति के साधन रूप ध्यान मे असौमनस्यकारी होने से उपयोगी नही है तथापि शरीर के आरोग्य और कालज्ञानादि मे उपयोगी है, इसलिए वह हमारे द्वारा यहा प्रदर्शित किया जाता है।

यह पद्य टीका मे दूसरे नम्बर पर है और इसके बाद टीका मे निम्न दो पद्य 'युग्म' रूप मे और दिये है, जो विवरण में नही है —

क्षाराम्लाहारवर्जेन क्षीरभोजनमेव च ।
मिष्टाहार मिताहारं कृत्वा ब्रह्न च स (द्)व्रतम् ॥३॥
क्रोधादिचतुष्कस्य जय त्यक्तपरिग्रहम् ।
सुखासनं स्थितो योगी प्राणायामं करोति च ॥४॥युग्मं ।

इनकी टीका के अनन्तर **'किमर्थं करोत्याशङ्क्याह'** इस वाक्य के साथ पाचवा पद्य (टीका सहित) निम्न प्रकार दिया है:—

प्राणायाम विना ध्यान न सिद्ध्यति कदाचन ।
मनःपवनमाजेतुं न शक्यते नरैरपि ॥५॥

ये तीनो पद्य विवरण मे नही है। विवरण मे जो **'मनो यत्र मरुत्तत्र'** आदि तीन पद्य नं० २ से ४ दिये है वे टीका मे न० ६ से ८ तक है—६ नबर दो पद्यों पर पड जाने से अशुद्धि से न० ७ तक है। उनके बाद टीका मे **'स त्रिधा कथं कार्य इत्याशङ्क्य दर्शयितुमाहार्यया'** इस वाक्य के साथ निम्न पद्य आर्या छन्द मे दिया है, जो तीन प्रकार का प्राणायाम कैसे किया जाय। इसे अक्षर-सख्या से निर्दिष्ट करता है:—

स्वरैः पूर्यो वायुः प्रथममीडया कुंभकमिति ।
चतुःषष्ठ्या, रेच्यास्तदनु रवानै पिंगला ॥८(६)॥

इसकी टीका के अनन्तर **'एव सामान्यः प्राणायामोऽतो विशेषप्राणायाममाह"** इस वाक्य के साथ **'सामान्येनाऽनिले जित्वा, न ज्ञात्वा च विशेषं हि, प्राणायामेन युक्तेन, हिक्का श्वासश्च कासश्च, यथा सिंहो गजो व्याघ्रः, युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं,** नामके छह पद्य अपनी अपनी टीका के साथ दिये है। इनके बाद विवरण के ५ से ७ नम्बर वाले तीन पद्य है जिनके नम्बर टीका में १५ से १७ दिये हैं, एक नम्बर की कमी चली जाती है। विवरण के **समाकृष्य यदापानात्'** नामक पद्य न० ७ के अनन्तर टीका में जो एक अतिरिक्त पद्य न० १८ पर दिया है वह इस प्रकार है.—

अपानेन च लिंगेन बहिर्यातं तु मारुतम् ।
पूरित्वोदरमारुध्य मुक्तस्तेनापि रेचकः ॥१८॥

इसके बाद टीका में १६ से ७६ नम्बर तक प्रायः वे सब पद्य है जो विवरण मे न० ८ से ६४ तक पाये जाते है। विवरणस्थित १२वे पद्य के बाद टीका में २४वा जो अतिरिक्त पद्य दिया है उसका रूप है—

"अहो नास्तीदृशं लोके प्राणायामाच्च केवलात् ।
प्राणवायुर्जयेत्कृत्स्नान् रोगान्न देहसंभवान् ॥"

तदन्तर युद्धादि प्रश्नो को लेकर टीका में पद्य न० ८० से १२५ तक जो ४६ पद्य टीका सहित दिये है वे विवरण मे ६४वे पद्य के अनन्तर नहीं पाये जाते। विवरण मे **'वामा शस्तोदये पक्षे'** (६५) से लेकर **'रोहिणीं शशिभृल्लक्ष्म'** (१३६) तक जो पद्य है वे टीका मे प्राय १२६ से १६२ नम्बर तक पाये जाते है—कहीं कही कुछ अन्तर भी है। नम्बर १६२ के बाद टीका मे दो पद्य मूलरूप मे निम्न प्रकार दिये है, जो विववण मे **'लौकिका अप्याहुः'** इस वाक्य के साथ उद्धृत हैं —

अरुन्धतीं ध्रुव चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
क्षीणायुष्को न पश्यन्ति चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥१६३॥
अरुंधती भवेज्जिह्वा ध्रुव नासाग्रमुच्यते ।
तारा विष्णुपद प्रोक्त भ्रुवौ स्यात्मातृमण्डलम् ॥१६४॥

इनकी टीका न देकर **'एतद्द्वय सुगम'** लिख दिया है।

विवरण मे **'स्वप्ने स्व भक्ष्यमाणं'** (१३७) से लेकर **'पृच्छायाः समय लग्ना'**—(२०२) तक जो मूल पद्य है वे टीका मे प्राय पदय नं० १६५ से २७३ के अन्तर्गत है। कहीं कही कुछ पद्य छूटे है; जैसे **'वृक्षाग्रे कुत्रचित्पश्येत्'** (१३६) **अष्टोत्तरसहस्त्रस्य जापात्** (१७५) **अनातुरकृते**

ह्योनत्(१८२)ये पद्य टीका में नहीं है। टीका में विवरण के **'अथवा शकुना द्विद्यात्'** नामक पद्य नं० १७७ से पहले **'यदुक्तं'** रूप में ६ पद्य दिये हैं, पश्चात् **'अथ यत्रमाह'** वाक्य के साथ बहुत से पद्य यंत्र-मत्रादि के साथ दिये है, तदनन्तर उक्त पद्य नं० १७७ को लिया है। इसी तरह विवरण में स्थित **'लग्नस्थश्चेच्छशीसौरि'**–(२०३) से **'एवमाध्यात्मिक काल'** (२२४) नाम के पद्य भी टीका में ग्रहीत नहीं है। इसके बाद **'को ज्येष्यति द्वयोर्युद्धे'** (२२५) से लेकर **'क्रमेणैवं परपुरः प्रवेशाभ्यासशक्तितः'** (२७३) तक के पद्य टीका में पद्य नं० २७४ से ३२४ के अन्तर्गत है—कुछ पद्य नहीं भी है; जैसे **'अग्रे वामविभागे'** (२५३), **'लाभाऽलाभौ सुख दुःख'** (२५४) नाम के पद्य टीका में नहीं है।

इस तरह पचम प्रकाश के विवरण और टीका दोनो में परस्पर योगशास्त्र के मूलपद्यों की कमी-वेशी आदि के रूप में कितना ही अन्तर पाया जाता है। यह सब अन्तर कब कैसे तथा किसके द्वारा घटित हुआ, एक अनुसधान का विषय है, जिसका पता उन अति प्राचीन प्रतिओं तथा उनपर से होनेवाली दूसरी प्रतियो से चलाया जा सकता है जो स्वोपज्ञवृत्ति रूप विवरण के लिखे जाने से पूर्व प्रचार में आई हों। विवरण मूल ग्रन्थ के साथ साथ नहीं लिखा गया, बल्कि बाद को (कितने वर्ष बाद यह मालुम नहीं) चौलुक्यनृपति (कुमारपाल) की प्रार्थना से प्रेरित होकर लिखा गया है, यह बात स्वोपज्ञवृत्ति (विवरण) के निम्न पद्य से जानी जाती है:—

> **श्री चौलुक्यक्षितिपतिकृतप्रार्थनाप्रेरितोऽहं,**
> **तत्त्वज्ञानामृतजलनिधेर्योगशास्त्रस्य वृत्तिम्।**
> **स्वोपज्ञस्य व्यरचयमिमां तावदेषा च नन्द्याद्,**
> **यावज्जैनप्रवचनवती भूर्भुवःस्वस्त्रयीयम्॥**

द्वितीय अधिकार की समाप्ति पर जो निम्न सन्धिवाक्य टीका में दिया है उसमें स्पष्ट घोषणा की गई है कि यह अधिकार योगशास्त्र की टीका में उसके पाँचवे प्रकाश की अमरकीर्ति भट्टारक के शिष्य इन्द्रनन्दि भट्टारक विरचित टीका के रूप में है:—

इति योगशास्त्रेऽस्य **पचम प्रकाशस्य श्रीमदमरकीर्तिभट्टारकाणां शिष्य श्री भट्टारकइन्द्रनन्दिविरचितायां योगशास्त्रस्य टीकायां द्वितीयोधिकारः॥**

पद्यो के उक्त अन्तर के अतिरिक्त आठो प्रकाशो में विवरण गत तथा टीकागत मूल श्लोको में परस्पर पाठान्तर भी बहुत पाये जाते हैं, जिनमें कुछ साधारण और कुछ विशेष महत्त्व के है, उन सब की सूची बनाना समयसाध्य है और इसलिये उसको यहाँ छोडा जाता है; फिर भी नमूने के तौर पर कुछ पाठान्तर यहाँ पंचम प्रकाश के और दिखलाये जाते है —

विवरणगत पाठ पद्य नं० सहित

२१ प्राणापानसमोदानव्यानेष्वेषु वायुषु।
यं पं वं रौं लौं बीजानिध्यातव्यानि यथाक्रमम्॥
२८ पार्ष्णौ गुल्फे च जघायां
६८ उदेति पवनः पूर्वं शशिन्येष त्र्यह ततः
८६ अथेदानीं प्रवक्ष्यामि
११८ आध्यात्मिविपर्यासः, संभवेद्
व्याधितोपितन्निश्चायाय, कालस्य लक्षणम्
१२७ षडादिषोडशदिनान्यान्तराण्यपि शोषयेत्
१८१ अश्रुपूर्णदृशोगावो

टीकागत पाठ पद्य नबर सहित

३६ प्राणापान......
ऐं ह्रीं बं रौं लां बीजानि धातव्यानि यथाक्रमम्
४३ पार्ष्णौ गुल्फे जघयोश्चा
१२६ उदेति पक्षे दिनारम्भे यत्नेन शशिनस्तथा
१४५ अधुना प्रविवक्ष्यामि
१७३ आध्यात्मिकविपर्यासैः, सभवेद्
व्याहितोपि, तत्त्वैश्वर्याय, कालस्य निर्णयम्
१८३ षडादिषोडशान्तानामग्निघोष शृणोति न।
२५२ अशुभपूर्णदृशो गावो

अब मै ऐसे मूल पद्यो की टीका के कुछ नमूने और दिखला देना चाहता हूँ जिनपर विवरण नही है जिन्हे विवरण मे 'स्पष्ट' कहकर छोड दिया है अथवा नाम मात्र का साधारण विवरण है —

उपतापमसंप्राप्तः शीतवातातपादिभिः ।
पिपासुरमरीकारि योगामृतरसायनम् ॥८-३॥

टीका—शीतवातातपादिभि. शीतश्च वातश्च आतपश्च शीतवातातपा ते आदौ येषा ते शीतवातातपादयः आदिशब्दात् दशमशक-तृषारोगादयस्तैरुपताप कष्ट असंप्राप्तोऽवेदिता पिपासु पीतुर्मिच्छु पीनाभिलाषी अमरा इत्यादि अमरं करोतीत्यमराकारि । एवंविध योगामृत रसायन योग एवामृतं योगामृत तदेव रसायन योगामृतरसायन अनन्तकालजीवितकर योगामृतमापन पीनुमुत्सुक इति भावः ॥३॥

रागादिभिरनाक्रान्त क्रोधादिभिरदूषितम् ।
आत्मारामं मनः कुर्वन्निर्लेपः सर्ववस्तुषु ॥७-४॥
विरत (क्तः) कामभोगेभ्य स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
सवेगह्रदनिर्मग्नः (सवेदह्रदनिमग्नः) सर्वत्र समता श्रयन् ॥ ७-५

टीका—योगी समता स्वर्ण-तृण-मित्र-रत्न-दृषत्स्वपरादिष्वेकभावः समता श्रयेदाभजेत् । कथंभूत सन् रागादिभी राग-द्वेष-मत्सरादिभिरनाक्रान्तो नाक्रान्तो न व्याप्त इति । किंविशिष्ट सर्वकर्मसुनिर्लेप सर्वव्यापारादिषु कर्मसु व्यतिरिक्त । कथंभूतः ? कामभोगेभ्यः विरक्तो विरक्त सन् स्वशरीरेऽपि निःस्पृह. । अपि तु आत्मदेहेऽपि स्पृहावर्जितः । सवेदहृद्निमग्नः वेदैं सह-सवेद तच्चह्रन् तस्मिन्नेव निमग्नः सवेदहृद्निमग्न वेदा पंवेदादय वेदैंव्याप्तहृदयेऽनिमग्न. । क्रोधादिभि. क्रोध-मान-माया-लोभा आदिशब्दात् प्रमादा अपि ग्राह्यास्तैरदूषित तेषां दोषरहितमिति । एवंभूतं मनश्चित्त । पुन. कथभूत ? आत्माराम आत्मन्यारमतीत्यात्माराम स्वरूपचिन्तनपर कुर्वन् सर्वत्र समभावमश्नीयादिति भाव ॥४,५॥

पिण्डस्थं च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ ॥

(विवरण) पिण्ड शरीर तत्र तिष्ठतीति पिण्डस्थं ध्येयम् ।

टीका—पिण्डे शरीरे पार्थवप्रभृतिकधारण करोतीति । शरीरे यो (यद्) ध्यायेत् तत्पिंडस्थमिति ध्यान । नमस्कारादि ओमित्य (त्येका) क्षरा मंत्र अर्हमिति द्वयक्षरो मंत्र इत्यादि पचत्रिंशदक्षरो नमस्कारादीनां स्मृति करोतीति पदस्थ । प्रतिमादिकावयवध्यान करोतीति रूपस्थं । रूपातीतं निरजनमिति ।

पार्थिवी स्यादाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्र(त्व) भूः पंचमी चेति पिण्डस्थे पञ्चधारणाः । ६॥

टीका—पृथिव्या भवा धारणा पार्थिवी । अथानन्तरमाग्नेमी अग्नौ भवाग्नेयी । वायोर्भवा वायवी वरुणे भवा वारुणी । तत्त्वभू तत्त्वे भवतीति तत्त्वभूरिति कथभूता सप्तधानुरहित निष्कलंक निर्मल चन्द्रबिम्बसदृश उज्वलकांति सर्वज्ञमदृशमात्मान स्मरेदिति । बहुलतेजः पुंजैश्च दलिततमोभरं सिंहासनारूढ देवदानव गणधरगंधर्वसिद्धचारणमुनिप्रभृतिभि सेवितचरण अनेकातिशयैं शोभायमान विदलितकर्म महिम्ना निधान ।

आत्मीय शरीरे पुरुषाकारमात्मान स्मरेदित्येषा तत्त्वभूः पचमी धारणा ज्ञेया ॥६॥

टीका के इन नमूनो से विज्ञ पाठक टीका की प्रकृतिस्थिति उसके महत्व एव उपयोग को भली प्रकार अनुभव में ला सकते है । इस प्रकार योगशास्त्र द्वितीय विभाग के आठो प्रकाशों के सैकडों पद्यो की टीका को यह 'योगिरमा' टीका अपने मे आविर्भूत किये हुए है। और इसलिए इसकी उपयोगिता कुछ कम मालूम नही होती । यह प्राचीन टीका शीघ्र प्रकाश मे आने के योग्य है । इससे योगशास्त्र के पाठान्तरो का भी कितना ही पता चलेगा और उससे अनुसधान का विषय प्रशस्त बनेगा ।

इस टीका की कोई दूसरी प्रति अभी तक नही मिली । हाल मे जैनसिद्धान्तभवन आरा, ऐल्लक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावर और महावीर भवन जयपुर आदि को खास तौर से लिखकर तलाश कराई गई; परन्तु सब जगह से उत्तर नकारात्मक ही प्राप्त हुआ । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो के शास्त्र भण्डारों में इसकी और प्रयत्न पूर्वक खोज होनी चाहिए । मुनि श्री पुण्यविजय जी को श्वेताम्बर शास्त्र भण्डारों का बहुत पता है, उन्हे कृपया प्रकट करना चाहिए कि क्या उनके परिचय के किसी भण्डार में यह टीका उपलब्ध है । जो सज्जन अपने अनुसंधान के फल स्वरूप इस टीका की किसी दूसरी प्रति का परिचय देगे वे आभार के पात्र होंगे । ★

सागारधर्मामृत पर इतर श्रावकाचारों का प्रभाव

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

ग्रन्थ-परिचय

पण्डितप्रवर श्री आशाधर विरचित सागारधर्मामृत श्रावकाचार सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना उनके समय में वर्तमान समस्त श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्य के[1] परिशीलनपूर्वक की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ पं. आशाधर विरचित 'धर्मामृत' ग्रन्थ का उत्तरार्ध है। इसके ऊपर स्वयं उन्हीं के द्वारा रची गई एक भव्य-कुमुदचन्द्रिका नाम की उपयोगी टीका भी है, जो मा. ग्रन्थमाला द्वारा मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ज्ञानदीपिका नामकी एक पजिका[2] भी उनके द्वारा रची गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ८ अध्यायों मे विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका स्वरूप है। उसमे प्रथमत: गृहस्थों की अवस्था का चित्रण करके सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के प्रभाव को प्रगट करते हुए सम्यग्दृष्टियो के विरल होने से भद्र—मिथ्या धर्म मे स्थित होकर भी समीचीन धर्म से द्वेष न करने वाले—पुरुषों को भी उपदेश के योग्य बतलाया है। निर्मल सम्यक्त्व; निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत तथा मरण समय मे सल्लेखना; इसे पं० आशाधर ने परिपूर्ण सागारधर्म बतलाया है (१-१२)। उन्होने श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद निर्दिष्ट किये है और तदनुसार ही उन्होने यहा आगे श्रावकाचार का वर्णन भी किया है।

द्वितीय अध्याय में पाक्षिक श्रावक के आचार की प्ररूपणा करते हुए सर्वप्रथम श्रावकधर्म के आधारभूत ८ मूलगुणो का निर्देश किया है[3]। तत्पश्चात् वर्णभेद को लक्ष्य मे रखकर यथायोग्य पूजाविधान, दानविधि व उसका फल, यतिपरम्परा के स्थिर रखने की प्रेरणा, विशेष व्रतविधि और कीर्ति-अर्जन; इत्यादि विषयो का विवेचन किया गया है। पाक्षिक श्रावक देशचारित्र को पक्ष—प्रतिज्ञा का विषय—बना कर यथासम्भव उसके परिपालन का प्रयत्न करता है।

तृतीय अध्याय मे नैष्ठिक—उक्त देशव्रत का निष्ठा पूर्वक परिपालन करने वाले—श्रावक के भेदभूत दर्शनिक आदि ग्यारह श्रावको मे से प्रथम दर्शनिक की कर्तव्य-विधिका विचार किया गया है। उसमे न्यायोचित आजीविका, अभक्ष्य भक्षण का त्याग, सात व्यसनों की विरति और पत्नी को धर्माधिष्ठित करना; इत्यादि की चर्चा की गई है। उक्त दर्शनिक श्रावक के लक्षण में

---

१. यथा—आ. कुन्दकुन्द का चारित्रप्राभृत, उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र (अ० ७), स्वामी समन्तभद्र का रत्नकरण्डक, आ. जिनसेन का महापुराण (पर्व ४०), हरिभद्र सूरि की श्रावकप्रज्ञप्ति, हेमचन्द्र सूरि का योगशास्त्र, सोमदेव सूरि का उपासकाध्ययन, आ. अमितगति का अमितगति-श्रावकाचार, अमृतचन्द्र सूरि का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और वसुनन्दी का वसुनन्दि-श्रावकाचार आदि।

२. इसका उल्लेख उन्होंने भव्य-कुमुदचन्द्रिका टीका को प्रारम्भ करते हुए निम्न श्लोक में किया है—
समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात् क्वचित्।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पञ्जिकायां विलोक्यताम्॥

३. इन मूलगुणो का निर्देश करते हुए प० आशाधर ने सोमदेव सूरि का अनुसरण कर स्वमत से मद्य, मास, मधु और पाच उदुम्बर फलों के त्यागरूप आठ मूलगुणो को अपनाया है। साथ ही स्वामी समन्तभद्र सम्मत पाच अणुव्रतों के साथ मद्य-मास-मधु के त्याग को और जिनसेन स्वामी के मतानुसार उक्त पाच उदुम्बर फलों के परित्याग के साथ मद्य, मांस और द्यूतक्रीडा के परित्याग को आठ मूलगुण कहा गया है। (देखिये श्लोक, २, २-३ व १८)

उपर्युक्त 'परमेष्ठिपदैकधी' विशेषण का स्पष्टीकरण करते हुए स्वोपज्ञ टीका मे कहा गया है कि दर्शनिक श्रावक आपत्ति में घिर कर भी उससे छुटकारा पाने के विचार से शासनदेवतादि की कभी भी आराधना नही करता है१।

चतुर्थ अध्याय में व्रतिक (द्वितीय) श्रावक की प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए उसके लक्षण में कहा गया है कि जो अखण्ड सम्यग्दर्शन के साथ निर्मल आठ मूलगुणो और बारह उत्तरगुणो का परिपालन करता है उसे व्रतिक श्रावक कहा जाता है। यहा अहिंसाणुव्रत के वर्णन मे उसके अतिचारों का निर्देश करते हुए हिंसा-अहिंसा का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है (४,१५-३८)। तत्पश्चात् सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, स्वदारसन्तोष और परिग्रह-परिमाणअणुव्रत की प्ररूपणा की गई है।

पाचवें अध्याय मे ७ शीलों—३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतो—का वर्णन किया गया है। यहा भोगोपभोगपरिमाण व्रत के प्रसग मे मद्य, मास व मधु तथा त्रसघात, बहुघात एव प्रमाद के विषयभूत पदार्थो के परित्याग के साथ ही अति जड़बुद्धि जनों के आश्रय से १५ खरकर्मो के भी परित्याग का उपदेश दिया गया है।

छठे अध्याय में उपर्युक्त व्रतिक श्रावक की दिनचर्या के वर्णन मे प्रथमत: प्रात कालीन अनुष्ठेय विधि का विवेचन करते हुए शय्या को त्याग कर श्रावक को क्या करना चाहिये, जिनमन्दिर में किस प्रकार जाना चाहिये तथा वहा क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इत्यादि की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् अर्थार्जन की विधि, हानि-लाभ मे समभाव का विधान, भोजनविधि और आगमरहस्य की जानकारी आदि का कथन करते हुए सान्ध्य कृत्य का वर्णन किया गया है। अन्त मे निद्रा के नष्ट होने पर क्या विचार करना चाहिये, इसका निरूपण करते हुए अध्याय को समाप्त किया गया है।

इस प्रकार तीसरे अध्याय मे दर्शन प्रतिमा तथा चौथे, पाचवे और छठे इन तीन अध्यायो मे व्रतप्रतिमा का वर्णन करके आगे के सातवे अध्याय में सामायिक आदि शेष नौ प्रतिमाओं की प्ररूपणा की गई है।

अन्तिम आठवे अध्याय में श्रावक के तीसरे भेद रूप साधक का वर्णन करते हुए अन्त मे अनुष्ठेय सल्लेखना का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ का सक्षिप्त विषयपरिचय है।

१ तत्त्वार्थसूत्र व उसकी टीकायें

तत्त्वार्थसूत्र के सातवे अध्याय मे शुभास्रव की प्ररूपणा करते हुए सक्षेप मे श्रावकाचार की प्ररूपणा की गई है। उसके और उस पर रची गई सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक आदि टीकाओ के भी रहते हुए उक्त सागारधर्मामृत की रचना मे उनका विशेष२ आश्रय नही लिया गया है। उसकी रचना रत्नकरण्डक, उपासकाध्ययन, योगशास्त्र और वसुनन्दि-श्रावकाचार से अधिक प्रभावित दिखती है। यथा—

२. रत्नकरण्डक और सागारधर्मामृत

आचार्य समन्तभद्रविरचित रत्नकरण्डक मे सक्षिप्त होने पर भी श्रावकाचार की सर्वाङ्गपूर्ण प्ररूपणा की गई है। यद्यपि इसमे प्रमुखता से श्रावकाचार का वर्णन देखा जाता है, पर ग्रन्थरचना का उद्देश धर्म की देशना रही है३। धर्म मे अभिप्राय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

---

१. आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते। पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेकग्रहणम्। (सा. ध. स्वो. टीका ३–७)

२. यत्र क्वचित् तत्त्वार्थसूत्र का भी उपयोग किया गया है। यथा—तत्त्वार्थसूत्रके ७वें अध्याय मे 'विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषात् तद्विशेष.' यह सूत्र (३९) उपलब्ध होता है। इसका प्रभाव सा. ध. के निम्न श्लोक पर पूर्णतया देखा जाता है—

व्रतमतिथिसविभाग. पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।
द्रव्यविशेषवितरण दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥५–४१

इसके अतिरिक्त सा. ध. मे उसके नाम का उल्लेख भी स्वय पं० आशाधर ने किया है। यथा—एतेनेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनलक्षणमतिचारद्वय तत्त्वार्थशास्त्रोपदिष्टमपि सगृहीत भवति।
सा० ध० स्वो० टीका ४–५८

३. ग्रन्थ के प्रारम्भ मे सूचना भी वैसी की गई है—
देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
ससारदु खत. सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ र. क. २

सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का रहा है१। इसीलिए इसका रत्नकरण्डक—रत्नो की पेटी—यह सार्थक नाम भी प्रसिद्ध हुआ है२। उक्त धर्म की प्ररूपणा करते हुए वहा यथाक्रम से प्रथमत. ४१ श्लोकों मे सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। पश्चात् ४२-४६ श्लोको मे सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उसके विषयभूत प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगों का कथन किया गया है। तदनन्तर ४७–१२१ श्लोको मे सम्यक्चारित्र का विवेचन करते हुए उसके सकल और विकल इन दो भेदो का निर्देश करके उनमे सकलचारित्र के निर्देशपूर्वक विकलचारित्रभूत श्रावकाचार का कुछ विस्तार से निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् १२२–३५ श्लोको मे सल्लेखना का विचार करके आगे १३६–४७ श्लोको मे श्रावकपदो के—११ प्रतिमाओ के—स्वरूप मात्र का निर्देश किया गया है। अन्त मे (१४६) उपसहार करते हुए उद्देश के अनुसार यह कहा गया है कि पाप—रत्नत्रय स्वरूप धर्म के प्रतिपक्षभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये—जीव के शत्रु है३, क्योकि वे भवपद्धति स्वरूप है—ससार परिभ्रमण के कारण है४, और रत्नत्रयस्वरूप धर्म उस जीव का बन्धु—हितैषी मित्र है; ऐसा निश्चय करके यदि मुमुक्षु भव्य जीव समय को—परमागम अथवा आत्मा को—जान लेता है तो वह निश्चित ही श्रेष्ठ ज्ञाता हो जाता है।

पण्डितप्रवर आशाधर ने अपने सागारधर्मामृत की रचना में इस रत्नकरण्डक का पर्याप्त उपयोग किया है। उन्होने अपनी भव्य-कुमुदचन्द्रिका नामकी स्वोपज्ञ टीका में जहा तहा कहीं स्वामी समन्तभद्र५, कही केवल स्वामी६, और कही रत्नकरण्डक७ नाम का भी निर्देश स्वयं किया है। इसके अतिरिक्त यत्र क्वचित् बिना किसी प्रकार के नामोल्लेख के भी रत्नकरण्डक के मत का निर्देश किया गया है८। आ० समन्तभद्र की विषयवर्णनपद्धति को उन्होंने कही तो अपना लिया है और कही मतान्तर के रूप मे उसका उल्लेख कर दिया है। यथा—

१. आ. समन्तभद्र ने विकलचारित्र की प्ररूपणा करते हुए प्रथमत. पांच अणुव्रतों के स्वरूप का निर्देश किया है। तत्पश्चात् आठ मूलगुणो का उल्लेख उन्होने इस प्रकार किया है—

मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

अर्थात् मद्य, मांस और मधु के परित्यागपूर्वक पाच अणुव्रतों का पालन करना; ये आठ मूलगुण है जो श्रमणोत्तम—गणधरादि—के द्वारा निर्दिष्ट है।

समन्तभद्र को अभीष्ट इन आठ मूलगुणो का निर्देश

१ सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥ र. क. ३

२. येन स्वय वीतकलङ्कविद्या-दृष्टि-क्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥
र. क. १४९

३ पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुव भवति ॥
र. क. १४८।

४. देखिये टिप्पण नं १।

५. [क] स्वामिसमन्तभद्रमते पुन सूरिः स्मरेत् (२–३)।
[ख] एतेन यदुक्त स्वामिसमन्तभद्रदेवै. 'दर्शनिकस्त-त्वपथगृह्य' इति दर्शनप्रतिमालक्षणं तदपि सगृहीतम्। (३–२५)

६. [क] स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे··· (२–३)।
[ख] यत्तु "सम्यग्दर्शनशुद्ध ···।।" इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्······ (४–५२)।
[ग] स्वामिमतेन त्विमे—अतिवाहनातिसग्रह···।। (४–६४)
[घ] अत्राह स्वामी यथा—विषय-विषतोऽनुपेक्षा···। (५–२०)
[ङ] स्वामी पुनर्भोगोपभोगपरिमाणशीलातिचारानन्यथा पठित्वा·· (७–११)।
[च] यदाह स्वामी "अन्नं पान खाद्य···। (७-१५)

७. अन्यत्र पुना रत्नकरण्डकादिशास्त्रे रात्रिभक्तशब्दो निरुच्यते··· (७–१५)।

८. ततो न 'श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि (र. क. १३६)' इत्यनेन विरोध: (३–८)।

सा. ध. मे किया गया है१।

२. रत्नकरण्डक में सत्याणुव्रत के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि स्थूल झूठ का त्यागी—सत्याणुव्रती—ऐसे सत्य वचन को भी न स्वयं बोलता है और न दूसरे को बुलवाता है जो विपत्ति का कारण हो२। इसको स्पष्ट करते हुए उसकी टीका मे प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि जो सत्य भी वचन दूसरे को आपत्तिजनक हो उसे भी सत्याणुव्रती नही बोलता है३।

इस कथन को प० आशाधर ने सोमदेव सूरि के अनुसार४ कुछ और विकसित करते हुए 'सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन्' कहकर यह सूचना की है कि जो सत्य भी वचन स्व व परको विपत्तिकर हो उसका भी परित्याग उसे करना चाहिए५। विशेषता यह रही है कि रत्नकरण्डक मे जहा 'विपदे' इतना मात्र सामान्य से कहा गया है और जिसे उस पर टीका करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य ने मात्र पर को विपत्तिकर माना है, वहां प० आशाधर ने उसे पर के साथ स्व (निज) को भी विपत्तिजनक स्वीकार किया है।

३. रत्नकरण्डक मे ब्रह्मचर्याणुव्रत के स्वरूप को दिखलाते हुए जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है लगभग वही अभिप्राय प० आशाधर ने भी अपने सा. ध. मे वैसे ही कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त किया है६। रत्नकरण्डक मे जैसे परस्त्री का परित्याग 'पापभीतेः' अर्थात् केवल पाप के भय से ही कराया गया है, न कि राजदण्डादि के भय से, वैसे ही सा. ध में भी उसका परित्याग 'अंहसो भीत्या' अर्थात् पाप के ही भय से कराया गया है, राजदण्डादि के भय नहीं कराया गया। विशेषता यह रही है कि 'परदारान्' पद के द्वारा जहां आ. समन्तभद्र को स्वस्त्री से भिन्न अन्य सभी स्त्रियां अभिप्रेत है७ वहा सा. ध. मे 'अन्यस्त्री' से अन्य से सम्बद्ध पत्नी व पुत्री आदि मात्र विवक्षित दिखती है, अन्यथा वहां उसके साथ 'प्रकटस्त्री' के ग्रहण की कुछ आवश्यकता नही रहती८। दूसरी विशेषता यह है कि रत्नकरण्डक मे उक्त व्रत का उल्लेख परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष इन दो नामों से किया गया है, परन्तु सा. ध. मे मात्र स्वदारसन्तोषी के नाम से ही उसका उल्लेख किया गया है।

४. रत्नकरण्डक (६३) मे निरतिचार पाच अणुव्रतों के पालन का फल स्वर्गलोक की प्राप्ति बतलाया गया है। इसी प्रकार उनके परिपालन का फल सा. ध. (४-६६) मे भी स्वर्गीय श्री का उपभोग ही निर्दिष्ट किया गया है।

---

१. स्वामिसमन्तभद्रमते पुनः सूरिः स्मरेत्। किं तत्? स्थूलवधादि स्थूलहिंसानृतस्तेय-मैथुन-ग्रन्थपञ्चकम्। क्व? फलस्थाने पञ्चोदुम्बरफलप्रसंगे तन्निवृत्तौ वा। मद्य-मांस-मधुविरतित्रय पञ्चाणुव्रतानि चाष्टौ मूलगुणान् स्मरेदित्यर्थ। (सा. ध. स्वो. टीका २-३)

२. स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे। यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥

३ न केवलमलीकम्, किन्तु सत्यमपि चौरोऽयमित्यादिरूप न स्वयं वदति न परान् वादयति। किंविशिष्टम्? यदुक्त सत्यं परस्य विपदेऽपकाराय भवति। प्रभा० टीका ३-६

४ तत् सत्यमपि नो वाच्य यत् स्यात् परविपत्तये। जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥ उपासका० ३७७

५ कन्या-गो-क्ष्मालीक-कूटसाक्ष्य-न्यासापलापवत्। स्यात् सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥ सा० ध० ४-३६

६ न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥ र० क० ५६

सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियौ। न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ सा० ध० ४-५२

७ यत् परदारान् परिगृहीतान् अपरिगृहीतांश्च। प्रभा० टीका ३-१३

८ अन्यस्त्री परदाराः परिगृहीता अपरिगृहीताश्च। तत्र परिगृहीताः सस्वामिकाः अपरिगृहीता स्वैरिणी प्रोषितभर्तृका कुलाङ्गना वा अनाथा। कन्या तु भाविभर्तृकत्वात् पित्रादिपरतन्त्रत्वाद्वा सनाथेत्यन्यस्त्रीतो न विशिष्यते। प्रकटस्त्री वेश्या। सा० ध० स्वो० टीका ४-५२

५. रत्नकरण्डक में कहा गया है कि दिग्व्रत धारक श्रावक के अणुव्रत महाव्रत रूपता को प्राप्त हो जाते है। कारण यह कि दिग्व्रत मे स्वीकृत मर्यादा के बाहिर गमनागमन का अभाव हो जाने से उसके स्थूल पापों के समान सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसके द्रव्य प्रत्याख्यानावरण—संयमघातक—कषायों का मन्दोदय हो जाने से भावरूप चारित्रमोह के परिणाम भी अतिशय मन्दता को प्राप्त हो जाते हैं, अतः उनका रहना न रहने के बराबर है।

यही बात सा. ध. मे भी लगभग वैसे ही शब्दों मे कही गई है। उभय ग्रन्थगत वे श्लोक निम्न प्रकार है१—

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥
प्रत्याख्यानतनुत्वा·मन्दतराश्चरणमोहपरिणामा ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥

—र. क ७०-७१ ।

दिग्विरत्या बहिः सीम्नः सर्वपापनिवर्तनात् ।
तप्तायोगोलकल्पोऽपि जायते यतिवद् गृही ॥
दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः ।
महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥

—सा ध. ५, ३-४ ।

६. रत्नकरण्डक मे भोगोपभोगपरिमाणव्रत के प्रसग मे भोगोपभोग वस्तुओ का प्रमाण कर लेने के अतिरिक्त मधु, मास, मद्य, अल्पफल व बहुविघात रूप आद्रक (अदरख) आदि तथा अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थो के परित्याग की प्रेरणा की गई है। (८२, ८४-८६)

ठीक उसी प्रकार से सागारधर्मामृत मे भी उक्त भोगोपभोग वस्तुओ का प्रमाण कर लेने (५-१३) के साथ मास के समान त्रसघातजनक, मधु के समान बहुविघातजनक, मद्य के समान प्रमादोत्पादक, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थों के भी परित्याग की प्रेरणा की गई है (५-१५)।

इसके अतिरिक्त उक्त भोगोपभोग वस्तुओ के परिमाण का विधान जिस प्रकार रत्नकरण्डक (८७) मे नियम—परिमित काल—और यम—यावज्जीवन—के रूप मे किया गया है उसी प्रकार सा. ध. (५-१४) मे भी उनके प्रमाण का विधान किया गया है।

७. सामायिक के प्रकरण मे उसके काल को लक्ष्य मे रखकर रत्नकरण्डक मे कहा गया है (९८) कि जब तक केशों का बन्धन, मुट्ठी का बन्धन, वस्त्र का बन्धन (गाठ) और पर्यक आसन का बन्धन शिथिलता को प्राप्त नही होता है तब तक सामायिक बैठकर या खड़े रहकर करना चाहिये।

रत्नकरण्डक के उक्त कथन का अनुसरण कर सा. ध. में भी कहा गया है कि आत्मध्यानी केशबन्धन आदि के छूटने तक२ साधु के समान जो समस्त हिंसादि पापों का परित्याग करता है, इसका नाम सामायिक है (५-२८)।

८. इसी प्रकरण मे सामायिक के समय श्रावक को क्या विचार करना चाहिए, इसकी सूचना रत्नकरण्डक मे इस प्रकार की गई है—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

इसका मिलान सा.ध. के निम्न श्लोक (५-३०) के साथ कीजिये—

यद्यपि इस टीका मे 'मया न मोच्यते' कहकर यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि जब तक मैं उपर्युक्त केशबन्धन आदि को नही छोड़ देता हूँ तब तक मैं सामायिक से विचलित नही होऊंगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामायिकव्रती करता है, पर आ. समन्तभद्र का अभिप्राय भी ऐसा ही रहा हो, यह सम्भावना बहुत कम की जा सकती है। उक्त कथन से तो यही अभिप्रेत दिखता है कि बालों आदि में लगाई गई शिथिलतापूर्ण गांठ आदि जब तक नहीं छूट जाती है तब तक सामायिक मे स्थित रहूँगा।

---

१ उभय ग्रन्थगत इन श्लोको का टीका भाग भी द्रष्टव्य है।

२. कियत्कालम् ? केशबन्धादिमोक्षं यावत्—केशबन्ध आदिर्येषा मुष्टिबन्ध-वस्त्रग्रन्थ्यादीना गृहीतनियमकालावच्छेदहेतूनां ते केशबन्धादय, तेषा मोक्षो मोचन तमवधीकृत्य स्थितस्येत्यर्थ.। सामायिकं हि चिकीर्षुर्यावदय केशबन्धो वस्त्रग्रन्थ्यादिर्वा मया न मोच्यते तावत् साम्यान्न प्रचलिष्यामीति प्रतिज्ञा करोति। (सा ध. स्को टीका ५-२८)

मोक्ष आत्मा सुख नित्यः शुभः शरणमन्यथा ।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ।।

९. अष्टमी और चतुर्दशी को—चारों पर्वदिनों मे—चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना, इसका नाम प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास का यह लक्षण रत्नकरण्डक (१०६) और सागारधर्मामृत (५-३४) दोनो ग्रन्थो मे प्राय समान ही देखा जाता है। पर सा. ध. मे उसके उत्तम—चार भुक्तिक्रियाओ का परित्याग१, मध्यम—जल को न छोड़कर शेष चार प्रकारके आहार का परित्याग—और जघन्य—आचाम्ल व निर्विकृति२ आदि को रखकर शेष आहार का त्याग, इस प्रकार प्रोषधोपवासव्रती की शक्ति के अनुसार तीन भेद कर दिये गये है। इस प्रकार की विशेषता समन्तभद्र को अभीष्ट नही रही दिखती।

इसके अतिरिक्त समन्तभद्र ने उपवास के दिन विशेष रूप से जो पांच पापो व अलंकरण (श्रृंगार) आदि का परित्याग कराया है३ उसके ऊपर ग्रन्थ के विस्तृत होने पर भी पं० आशाधर ने बल नही दिया।

१०. रत्नकरण्डक मे सल्लेखना का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्याः ।।१२२।।

इसी को लक्ष्य मे रखकर सा. ध. मे भी लगभग इसी प्रकार से उसका स्वरूप कहा गया है—

धर्माय व्याधि-दुर्भिक्ष-जरादौ निष्प्रतिक्रिये ।
त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन तच्च्युतौ वाशनं त्यजेत् ।।८-२०

११. आगे इसी प्रकरण में सल्लेखनाविधि का वर्णन करते हुए रत्नकरण्डक मे कहा गया है कि सल्लेखना के समय शोक व भय आदि को छोड़कर आत्मबल के साथ उत्साह को प्राप्त होता हुआ आगमवाक्यों के आश्रय से मन को प्रसन्न करे और तब आहार—कवलाहार—का परित्याग करके स्निग्ध पान—पीने योग्य दूध आदि—को वृद्धिगत करे। फिर क्रम से उस दूध आदि को भी छोडकर खरपान—शुद्ध गरम जल—को रक्खे और अन्त मे उसे भी छोड़कर उपवास को स्वीकार करता हुआ पंच-नमस्कार मत्र मे दत्तचित्त होकर शरीर को छोड़ दे४।

रत्नकरण्डकोक्त इसी त्यागक्रम को प्रायः सा. ध. में भी अपनाया गया है५। विशेष इतना है कि रत्नकरण्डक मे जहा केवल सात श्लोकों में (१२२–२८) ही उक्त सल्लेखना का वर्णन किया गया है वहां सा. ध. में

१. चतुर्भुक्त्युज्झनं चतसृणा भुक्तीना भोज्यानामशन-स्वाद्य-खाद्य-पेयद्रव्याणा भुक्तिक्रियाणा च त्यागः। एका हि भुक्तिक्रिया धारणकदिने, द्वे उपवासदिने, चतुर्थी च पारणकदिने प्रत्याख्यायते। (सा. ध. स्वो. टीका ५-३४)

२. तत्राचाम्लम् असंस्कृतसौवीरमिश्रौदनभोजनम्। निर्विकृतिः—विक्रियेते जिह्वा-मनसी येनेति विकृतिर्गोरसेक्षुरस-फलरस-धान्यरसभेदाच्चतुर्धा। तत्र गोरसः क्षीर-घृतादि, इक्षुरसः खण्ड-गुडादिः, फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दः, धान्य-रसस्तैल-मण्डादि। अथवा यद्येन सह भुज्यमान स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते। विकृतेर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृतिः। (सा. ध. स्वो. टीका ५-३५)

३. र. क. १०७.

४. र. क. १२६-२८

५. सा. ध.—आहारादि का त्यागक्रम ८, ५५-५६ व ६३-६४; पचनमस्कार मंत्र के स्मरण के साथ शरीरत्याग ८-११०.

उक्त दोनों ग्रन्थों की टीकाओं मे जो मूल ग्रन्थगत कुछ पदों का स्पष्टीकरण किया गया है उसमें भी समानता देखी जाती है। यथा—

र. क. टीका—आहारं कवलाहाररूपम् \ स्निग्ध दुग्धादिरूपं पानं विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत्। खरपानं कञ्जिकादि शुद्धपानीयरूपं वा। (परि. ५, श्लोक ६)

सा. ध. स्वो. टीका—किं तत्? अशनं कवलाहारम्। स्निग्धपानं दुग्धादि (८-५५)। किं तत्? खरपानं प्रथम शुद्धकाञ्जिकादिरूपं पश्चाच्च शुद्धपानीयरूपम् (८-५६)। यह विशेष स्मरणीय है कि पं आशाधर ने रत्नकरण्डक के टीकाकार प्रभाचन्द्र का बडे आदर के साथ स्मरण किया है। यथा—यथाहुस्तत्रभगवन्त श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकाया चतुरावर्तत्रितय इत्यादिसूत्रे ...... (अन. ध. ८-९३)। 'सूत्रे' कहने से यह भी ज्ञात हो जाता है कि पं० आशाधर प्रस्तुत रत्नकरण्डक को सूत्रग्रन्थ जैसा ही समझते थे।

पूरे एक अध्याय (८वे) के द्वारा उसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यहां सल्लेखना मे अधिष्ठित श्रावक को उसमें दृढ़ करने के लिए विविध प्रकार से उपदेश द्वारा उत्साहित किया गया है।

१२. रत्नकरण्डक में दर्शनिक श्रावक का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

सम्यग्दर्शनशुद्धः ससार-शरीर-भोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः१ ॥१३७॥

इसमें उपयुक्त सभी विशेषण प्राय सा. ध. मे निर्दिष्ट दर्शनिक श्रावक के लक्षण मे (३,७-८) उपलब्ध होते है। यथा—पाक्षिकाचारसंस्कारदृढ़ीकृतविशुद्धदृक्,-भवाङ्ग-भोग-निर्विण्ण., परमेष्ठिपदैकधीः।

१३. आचार्य समन्तभद्र ने 'स्वगुणः पूर्वगुणैः सह सतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः'२ कहकर यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि आगे की प्रतिमाओं का परिपालन यदि पूर्व प्रतिमाओ की पूर्णता के साथ होता है तो उनकी प्रतिष्ठा समझना चाहिए—अन्यथा उनकी स्थिति सम्भव नहीं है।

इस आशय को पं० आशाधर ने सा. ध. मे भी श्लोक ३–५ के द्वारा व्यक्त कर दिया है।

रत्नकरण्डक से विशेषता

उपर्युक्त जो थोड़े-से उदाहरण दिये गये है उनसे निश्चित है कि पं० आशाधर ने आ. समन्तभद्र विरचित प्रस्तुत रत्नकरण्डक को एक महत्त्वपूर्ण श्रावकाचार ग्रन्थ माना है और तद्गत बहुत-से विधि-विधानो को अपने सागारधर्मामृत मे यथोचित स्थान दिया है। पर वे तद्गत सब विधानों से सहमत नहीं हो सके। इसका कारण देश-काल की परिस्थिति ही समझना चाहिये। इसीसे उन्होने कहीं तो रत्नकरण्डक से कुछ भिन्न मत प्रगट किया है और कहीं तद्गत विधान को कुछ विकसित किया है। जैसे—

१. रत्नकरण्डकोक्त सम्यग्दर्शन के लक्षण मे 'त्रिमूढापोढ' एक विशेषण दिया गया है (श्लोक ४)। तदनुसार सम्यग्दर्शन में आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान तीन मूढताओ से रहित होना चाहिए। इन मूढताओं मे एक देवमूढता भी है। उसका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि राग-द्वेष से मलिनता को प्राप्त हुए देवो की अभीष्ट फल की प्राप्ति की अभिलाषा से जो आराधना की जाती है, वह देवमूढता है३। तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि प्राणी ऐसे देवो की उपासना—पूजा-भक्ति आदि—किसी भी अवस्था मे नही करता।

इस बात को प० आशाधर भी स्वीकार करते है। उन्होने अपने अनगारधर्मामृत मे कहा भी है कि मुनि की तो बात ही क्या है, किन्तु श्रावक को भी सयम से हीन माता-पिता, गुरु, राजा व मत्री आदि, वेषधारी साधु, कुदेव—रुद्र आदि तथा शासनदेवता आदि—और वैसा श्रावक भी; इनमे से किसी की भी वन्दना नही करना चाहिये४।

पर इस कथन में श्रावक से अभिप्राय उनका नैष्ठिक—प्रतिमाधारी—श्रावक का रहा है, पाक्षिक श्रावक का नही—पाक्षिक श्रावक वैसा कर सकता है५। किन्तु आ. समन्तभद्र तो असयतसम्यग्दृष्टि के लिए भी उसका सर्वथा निषेध करते है६।

---

१. तत्त्वपथगृह्यः—तत्त्वानां व्रतानां पंथा मार्गा. मद्यादि-निवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणाः ते गृह्याः पक्षा यस्य। (प्रभा. टीका ५-१६)

२. र. क. १३६

३. वरोपलिप्सयाशावान् राग-द्वेषमलीमसा.।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥र.क. २३.
यद्यपि इसकी टीका मे आ. प्रभाचन्द्र ने यह स्पष्टीकरण किया है कि यदि सम्यग्दृष्टि शासनदेवता के नाते उनकी पूजा-भक्ति आदि करता है तो इससे उसके सम्यग्दर्शन की विराधना नही होती—उसकी विराधना तो स्वार्थवश वैसा करने पर ही होती है; पर आ. समन्तभद्र का भी वैसा अभिप्राय रहा है, कहा नहीं जा सकता; क्योकि, उन्होने सर्वथा ही उसका निषेध किया है।

४. श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयता।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि सयतैः। (अन. ध. ८-५२)

५. आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते, पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेकग्रहणम्। (सा. ध. स्वो. टीका ३-७)

६. भयाशा-स्नेह-लोभाच्च कुदेवागम-लिङ्गिनाम्।
प्रणाम विनय चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥र. क. ३०.

२. आ. समन्तभद्र को जहाँ मद्य, मांस और मधु के परित्याग के साथ पांच अणुव्रत; ये श्रावक के आठ मूलगुण अभिप्रेत है वहां पं० आशाधर मद्य, मास व मधु के त्याग के साथ पांच उदुम्बर फलों के परित्याग रूप आठ मूलगुणों को स्वीकार करते है१।

३. आ. समन्तभद्र सत्याणुव्रत में ऐसे सत्य वचन को भी हेय ही मानते है जो विपत्तिजनक—पर के लिये पीडाप्रद—हो। परन्तु पं. आशाधर ऐसे सत्य वचन को हेय मानते हैं जो स्व-पर के लिये कष्टप्रद हो२।

४. आ. समन्तभद्र को ब्रह्मचर्याणुव्रत के परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष ये दोनों ही नाम अभीष्ट है। उनका अभिप्राय है कि ब्रह्मचर्याणुव्रती अपनी पत्नी को छोड़ शेष सभी स्त्रियों का परित्यागी होना चाहिए। परन्तु प० आशाधर उक्त ब्रह्मचर्याणुव्रत को दो भेदों मे विभक्त करते है—स्वदारसन्तोष और परदारवर्जन। इनमे प्रथम का परिपालक देशसंयम में अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक और द्वितीय का परिपालक उस देशसंयम के अभ्यास में संलग्न व्यक्ति होता है३।

५. भोगोपभोगपरिमाणव्रत के जो पांच अतिचार आ. समन्तभद्र को अभीष्ट है, पं० आशाधर तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण कर उनसे भिन्न ही उन अतिचारों का उल्लेख करते है४।

६. आ. समन्तभद्र नियत समय तक पाचो पापो के पूर्णतया त्याग को सामायिक बतलाते हैं। पर पं० आशाधर लगभग इसी प्रकार के लक्षण का निर्देश करके५ भी उस सामायिक की सिद्धि के लिए तदाकार जिनप्रतिमा के विषय मे अभिषेक, पूजा, स्तुति और जप के प्रयोग का तथा अतदाकार जिनप्रतिमा के विषय में अभिषेक के बिना शेष तीन के प्रयोग का उपदेश करते है६। पं० आशाधर के इस कथन का आधार सोमदेव सूरिका उपासकाध्ययन रहा है, जहां आप्त सेवा के उपदेश को समय कहकर उसमे नियुक्त कर्म को—स्नान व पूजनादि रूप विविध क्रियाकाण्डों को—सामायिक कहा गया है७ और इसी से उन सब की वहां विस्तारपूर्वक उस सामायिक के प्रकरण मे प्ररूपणा भी की गई है८।

७. आ. समन्तभद्र के समान प्रोषधोपवास के लक्षण का निर्देश करके९ भी प० आशाधर ने पात्र की शक्ति को लक्ष्य मे रखकर उसे उत्तम, मध्यम और जघन्य इस प्रकार तीन भेदो मे विभक्त कर दिया है१०। किन्तु आ. समन्तभद्र को उक्त प्रोषधोपवास मे चारों प्रकार के ही आहार का सर्वथा त्याग अभीष्ट रहा प्रतीत होता है।

८ आ. समन्तभद्र ने वैयावृत्य के प्रसंग में जिनेन्द्रदेव की परिचर्या—पूजा—का सामान्य से निर्देश किया है११। उसका कुछ विकसित रूप महापुराण१२, उपासकाध्ययन१३

---

१. र. क. ६६, सा. ध. २, २-३.
२. र. क. ५५; सा. ध. ४-३९.
३. र. क. ५९; सा. ध. ४-५२. (द्विविधं हि तद् व्रतं स्वदारसन्तोषः परदारवर्जनं चेति। एतच्च अन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियाविति स्त्रीद्वयसेवाप्रतिषेधोपदेशाल्लभ्यते। तत्राद्यमभ्यस्तदेशसंयमस्य नैष्ठिकस्येष्यते, द्वितीयं तु तदभ्यासोन्मुखस्य—स्वो. टीका।)
४. र. क. ९०; सा. ध. ५-२०.
५. र. क. ९७; सा. ध. ५-२८.
६. स्नपनार्चा-स्तुति-जपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते। युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति ॥५-३१
७. आप्तसेवोपदेशः स्यात् समयः समयार्थिनाम्। नियुक्तं तत्र यत् कर्म तत् सामायिकमूचिरे ॥४६०
(पं० आशाधर ने उक्त श्लोक (५-३१) की स्वो. टीका में इस उपासकाध्ययन के नाम का निर्देश स्वयं भी कर दिया है। यथा—कथम्? यथाम्नायम् उपासकाध्ययनाद्यागमानतिक्रमेण)
८. देखिये पृ. २१२-८७।
९. र. क, १०६; सा. ध ५-३४।
१०. सा. ध. ५-३५ (देखिये पीछे पृ० १२१)
११. र. क. ११९-२०,
१२. पर्व ३८, श्लोक २६-३२ (इस प्रकरण मे सागारधर्मामृत के ये श्लोक महापुराण के निम्न श्लोको के आश्रय से रचे गये है—सा. २-२५–म. ३८, २७-२८, सा. २६—म. ३२; सा. ध. २७—म. ३०; सा. २८—म. ३१; सा. २९—म. ३३)
१३. उपासका. पृ. २३३-८७।

और वसुनन्दिश्रावकाचार१ आदि के आधार से सागारधर्मामृत में उपलब्ध होता है२।

९. आ. समन्तभद्र ने सामान्य से श्रावक के दर्शनिक आदि ग्यारह भेदों का ही निर्देश किया है३। परन्तु पं० आशाधर ने प्रथमत. उसके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इन तीन भेदों का उल्लेख किया है४ और तत्पश्चात् उनके द्वारा उक्त दर्शनिक आदि ग्यारह भेद उनमें से नैष्ठिक श्रावक के निर्दिष्ट किये गये है५। सम्भवत: पाक्षिक आदि उक्त तीन भेद समन्तभद्र के समय तक नही रहे है।

१०. रत्नकरण्डक में छठे श्रावक का उल्लेख रात्रिभुक्तिविरत के नाम से करके उसके स्वरूप मे कहा गया है कि जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य चारो प्रकार के भोजन को नहीं करता है वह रात्रिभुक्तिविरत कहलाता है६। पर सागारधर्मामृत में उसका रात्रिभक्तव्रत के नाम से उल्लेख करके यह कहा गया है कि जो निष्ठापूर्वक पूर्व पाच प्रतिमाओं का परिपालन करता हुआ मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दिन मे स्त्री का उपभोग नही करता है वह रात्रिभक्तव्रत श्रावक होता है७।

आ. कुन्दकुन्द विरचित चारित्रप्राभृत मे सक्षेप मे सागार संयमचरण—देशचारित्र—का वर्णन किया गया है। वहां देशचारित्र से सम्बन्धित निम्न गाथा उपलब्ध होती है८—

दसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बभारंभ परिग्गह अणमण उद्दिट्ठ देसविरदो य॥

यहा छठी प्रतिमा का उल्लेख रायभत—रात्रिभक्त—के नाम से हुआ है। भुक्ति और भक्त दोनों शब्द पर्यायवाची है, उनका अर्थ जैसे भोजन होता है वैसे ही सेवन भी होता है। प्रकृत मे रात्रिभक्तव्रत से रात्रि में स्त्री-सेवन का व्रत रखना—दिन में उसका परित्याग करना, यह अभिप्राय९ निकालना कुछ क्लिष्ट कल्पना के आश्रित है। इसमे स्त्री का अध्याहार करना पड़ता है। पर उससे रात्रि मे भोजन का व्रत रखने रूप अर्थ का बोध सरलता मे हो जाना है।

ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक के विषय मे रत्नकरण्डक में इतना मात्र कहा गया है कि जो गृहवास को छोडकर मुनि-आश्रम में चला जाता है और वहा गुरु के समीप मे व्रतों को ग्रहण करके तपश्चरण करता हुआ भिक्षावृत्ति से भोजन करता है तथा वस्त्रखण्ड—लगोटी मात्र—को धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक होता है१०। उधर सा. ध. में कहा गया है कि जो पूर्व व्रतो के आश्रय से मोह को मन्द करता हुआ उद्दिष्ट भोजन को छोड देना है वह अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक होता है११। आगे चलकर उसके दो भेदो का निर्देश करके उनमे यह भेद बतलाया गया है कि प्रथम उत्कृष्ट श्रावक तो बालों को

---

१. वसु० श्रा० ३८०-४५८।
२. सा० ध० २, २३-३४।
३. र० क० १३६।
४. सा० ध० १-२०।
५. सा० ध० ३-१।
६ र० क० १४२।
७ सा० ध० ७-१२। (आगे श्लोक ७-१५ मे रत्नकरण्डक के उक्त अभिमत की भी सूचना इस प्रकार कर दी है—निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात्।)
८. समवायाग सूत्र में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—
एक्कारस उवासगपडिमाओ प० (पण्णत्ताओ) त० (त जहा)—दंसणसावए १ कयव्वयकमे २ सामाइयकडे ३ पोसहोववासनिरए ४ दिया बभयारी रत्ति परिमाणकडे ५ दिआवि राओ वि बभयारी असिणाई वियडभोई मोलिकडे ६ सचित्तपरिण्णाए ७ आरभपरिण्णाए ८ पेसपरिण्णाए ९ उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए १० समणभूए ११ आवि भवइ समणाउसो। समवा० ११ पृ० १८-१९।
९. कस्मात् ? रात्रौ निशि स्त्रीसेवाया वर्तनात् रात्रौ भक्त स्त्रीभजन व्रतयति रात्रिभक्तव्रत. इति तच्छब्दस्य व्युत्पादनात्। (सा. ध. स्वो. टीका ७-१५)
१०. र० क० १४७। (सा० ध० का ७-४७वा श्लोक इससे पूर्णतया प्रभावित है)।
११. सा० ध० ७-३७।

कैंची अथवा उस्तरे से बनवा लेता है पर द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक उन बालो का लोच ही करता है, प्रथम सफेद लगोट के साथ उत्तरीय वस्त्र को भी धारण करता है पर द्वितीय मात्र दो लगोटों को ही धारण करता है, प्रथम जहा स्थानादि का समार्जन किसी कोमल वस्त्र आदि से करता है वहा द्वितीय उनका समार्जन मुनिवत् पिच्छी से करता है, तथा प्रथम यदि पात्र मे भोजन करता है तो द्वितीय गृहस्थ के द्वारा दिये गये भोजन को हाथ में लेकर शोधनपूर्वक खाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे का नाम 'आर्य' होता है१। (प्रथम का नाम क्या होता है, इसका उल्लेख नहीं किया गया)।

प्रथम उत्कृष्ट श्रावक के भी वहा दो भेद सूचित किये गये है२—एक तो वह जो पात्रो को लेकर पूर्ति के योग्य भोजन को कितने ही घरों से लाता हुआ एक स्थान मे, जहा प्रासुक जल उपलब्ध होता है, बैठकर हाथ मे अथवा वर्तन में खाता है। बीच मे यदि कोई भोजन के लिये प्रार्थना करता है तो उसके पूर्व में भिक्षाप्राप्त भोजन को खाकर तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वहा भोजन कर लेता है३। दूसरा वह जिसका नियम एक ही गृह सम्बन्धी भिक्षा का होता है४।

यहा प्रथम उत्कृष्ट के विषय में जो यह कहा गया है कि चार पर्वों मे चारों प्रकार के आहार के परित्याग स्वरूप उपवास उसे करना ही चाहिये५, उससे प्रतीत होता है कि यदि अधस्तन पदो मे—दसवी-नौवी आदि नीचे की प्रतिमाओ मे—कुछ शिथिलता रहती है तो वह उन प्रतिमाओ की पूर्णता मे बाधक नही हो सकती है।

३. उपासकाध्ययन और सागारधर्मामृत

सोमदेव सूरि विरचित यशस्तिलकचम्पू एक सुप्रसिद्ध काव्यग्रन्थ है। वह आठ आश्वासो मे विभक्त है। उनमें से प्रथम ५ आश्वासों मे यशोधर राजा का जीवनवृत्त वर्णित है और अन्तिम ३ (६-८) आश्वासो मे श्रावकाचार चर्चित है। ये तीनो आश्वास उपासकाध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है६। उपासक यह श्रावक का सार्थक नाम है, क्योंकि, वह जिनदेवादि की उपासना—आराधना—किया करता है। श्रावक भी उसे इसलिए कहा जाता है कि वह मुनि जनो से धर्मविधि को श्रवण किया करता है७।

(क्रमश)

---

१. सा० ध० ७, ३८-३९ व ४८-४९।

२. एतेन प्रथमोत्कृष्टो द्वेधा स्यादनेकभिक्षानियम. एक-भिक्षानियमश्चेत्युक्तं प्रतिपत्तव्यम्।

सा. ध. स्वो. टीका ७-४६।

३. सा. ध. ७, ४०-४३।

४. सा ध. ७-४६।

५. कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् सा. ध. ७-३९।

६ यह श्री प० कैलाशचन्द जी शास्त्री के द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा पृथक् मे भी प्रकाशित हो चुका है। उसका विशेष परिचय वहा देखा जा सकता है।

आ० प्रभाचन्द्र विरचित रत्नकरण्डक की टीका मे प्रत्येक परिच्छेद के अन्त मे जो समाप्ति सूचक वाक्य (समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां) उपलब्ध होता है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नकरण्डक का नाम भी उपासकाध्ययन रहा है।

७ सपत्तदसणाई पइदियह जइजणा सुणेई य।
सामायारि परमं जो खलु तं सावग विन्ति॥
(श्रा० प्रज्ञप्ति २)

शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावक:। (सा० ध० स्वो० टीका १-१५)। शृणोति तत्त्व गुरुभ्य इति श्रावक: (सा. ध. ५-५५)।

बादामी के चालुक्य नरेश और जैनधर्म

श्री दुर्गाप्रसाद दीक्षित एम० ए०

सातवाहन साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर दक्षिण में अनेकों राजवंशों का उदय और अस्त हुआ। प्राय सभी राजवंश अपने प्रतिद्वन्दियों को हराकर एक साम्राज्य निर्माण की कामना रखते थे। जिस समय उत्तर भारत गुप्त साम्राज्य के स्वर्ण युग से गुजर रहा था उसी समय विदर्भ तथा उसके आसपास के प्रदेशों पर वाकाटको का राज्य था[१]। परन्तु दक्षिण भारत मे छोटी २ राज शक्तिया आपस मे लड़ रहीं थीं। तभी दक्षिण में एक नवीन राजवंश का उदय हुआ जिसने करीब २५० वर्ष तक दक्षिण की इन विश्रंखलित शक्तियो को एक सूत्र मे बाधने का प्रयत्न किया। उनकी यह सफलता, उस समय उन्नति की चरम सीमा पर थी, जब उत्तर भारत मे सम्राट् हर्षवर्धन का शासन था। यह शक्ति सम्पन्न राज्य बादामी के चालुक्य नरेशों का था।

इस अटल सत्य से मुख मोड़ा नहीं जा सकता है, कि इस राजवश के शासन काल में दक्षिण मे जो सास्कृतिक विकास हुआ उसकी तुलना किसी भी राजवंश के शासन युग के सांस्कृतिक विकास से की जा सकती है। दक्षिण के कलात्मक वैभवों की आधार शिला इस युग में ही रखी गयी थी। अजन्ता, एलोरा, और एलीफन्टा की गुफाओं में प्रदर्शित भारतीय कला का बहुत बडा भाग इमी युग की देन है। संस्कृत और कन्नड़ भाषाओ का जो मुखरित स्वरूप हमे पश्चिमी चालुक्यो के अभिलेखो में मिलता है, वह निसन्देहात्मक रूप से इस तथ्य की घोषणा करता है कि इस राजवंश ने, न केवल इन भाषाओं के विद्वानों को आश्रय ही दिया बल्कि प्रगति के लिए समुचित वातावरण प्रदान किया था। इन परिस्थितियो मे रविकीर्ति का यह स्वाभिमान नितान्त स्वाभाविक ही है कि वह कवि कुल गुरु शिरोमणि कालिदास तथा भारवि से अपनी तुलना करे[२]।

धर्म के भी क्षेत्र में यह राजवंश किसी से पीछे नहीं था। चालुक्यों की छत्र छाया में सभी धर्मो को समान रूप से पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने का अवसर मिला। बादामी चालुक्य नरेशों के अनेक अभिलेखों मे अनेकों मन्दिरों, शिवालयों, तथा गुफा गृहों के निर्माण का उल्लेख है। जिसके लिए उन्होंने अनेकों दान दिये थे। यह प्राय सत्य ही है कि उनका व्यक्तिगत धर्म शैव अथवा वैष्णव था, परन्तु उन्होने स्वधर्म को किसी पर लादा नहीं था। अनेकों राज परिवार के सदस्यों द्वारा जिनालयो, जैन सस्थानों और अन्य धार्मिक सम्प्रदायों को दान देना, तथा जैन विश्वासु और श्रद्धालुओं का उच्च राजकीय पद पर होना[३], उनकी धर्म निरपेक्षता का जीता जागता और जलता हुआ नमूना है।

शायद ही भारत का ऐसा कोई क्षेत्र हो जहां जैन धर्म के परिश्रमी प्रचारक न पहुँचे हो। आधुनिक महाराष्ट्, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश तथा गुजरात के जिन अंशों पर छठी सातवी शताब्दी में बादामी के चालुक्य नरेशों का आधिपत्य था, वहाँ आज भी इतनी शताब्दियो के बावजूद जैनधर्म बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह तथ्य ही इस तर्क की उद्घोषणा करता है कि चालुक्यों की छत्र छाया में जैन प्रसारकों को अनुकूल वातावरण और सरक्षण प्राप्त हुआ था। उस युग के कलात्मक निर्माण मे जैन भिक्षुओं का पर्याप्त अश है।

---

१ मिराशी; वा० वि०, वाकाटक नृपति और उनका काल

२ ऐहोल प्रशस्ति एपिग्रेफिया इण्डिका जिल्द ६, पृ० ७.
"येनायोजि नवेश्मस्थिरमर्थ्य विधौ विवेकिना जिनवेश्यम।
स विजयतां रविकीर्ति × कविताश्रित कालिदास
भारवि कीर्तिः ॥३७॥"

३ एहोल प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति, एवं चालुक्यो के शासन पत्रो के लेखक, जो महासन्धि विग्रहीक भी थे, जैनधर्मावलम्बी प्रतीत होते हैं।

संस्कृति और शिक्षा के तत्कालीन कुछ केन्द्र यद्यपि आज छोटे नगर है४ पर उनके अवशेष, मन्दिरो तथा जिनालयों में बची हुई कलाकृतियाँ तथा वास्तु के नमूने उनकी भव्यता, गौरव, प्रसिद्धि तथा उच्चता के प्रतीक है।

बादामी के चालुक्य नरेशों के इतिहास जानने के प्रमुख साधन, उनके अभिलेख, तत्कालीन कलाकृतियाँ तथा ह्वेनसांग के विवरण हे। इस वश के लगभग एक दर्जन अभिलेखों का उद्देश्य जैनधर्म से सम्बन्धित है। कालक्रमानुसार प्रथम चालुक्य वशीय जैन अभिलेख अल्तेम मे प्राप्त हुआ था५। इस अभिलेख को अधिकतर विद्वानों ने जाली माना है६। लेकिन प्राय सभी विद्वान इस विचार से सहमत है कि जाली अभिलेखों के सभी सन्दर्भ जाली ही हों, ऐसा नही कहा जा सकता है। इस अभिलेख में चालुक्य सम्राट् सत्याश्रय (पुलिकेशिन् प्रथम) का उल्लेख है। तदुपरान्त कुहुण्डि विषय के शासक रुद्रनीक सैन्द्रक वंशीय सामियार राजा का वर्णन है। सामियार ने अलक्तक नगर मे एक जैन मन्दिर बनवाया था, तथा इसी मन्दिर के लाभार्थ उसने सम्राट् सत्याश्रय की आज्ञा से शक ४११ में कुछ गाँवों का दान दिया था। इस ताम्रपत्र की त्रुटिपूर्ण तिथि तथा अन्य अनेक आधारों पर फ्लीट तथा अन्य विद्वानों ने इसे जाली माना है७। कीर्तिवर्मन प्रथम एव उसके अनुज मङ्गलेश के राज्यकाल का हमें कोई भी जैन अभिलेख नहीं मिलता है। लेकिन इससे यह अनुमान निकालना असगत ही होगा कि उपर्युक्त सम्राटों के समय मे जैन सम्प्रदाय और धर्म के प्रचार मे राज्य की तरफ से कोई रुकावट थी।

पुलकेशिन् द्वितीय के शासन काल के दो अभिलेखों का सम्बन्ध जैनधर्म से है। प्रथम अभिलेख एहोल प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति एक जिन उपासक था८। इस प्रशस्ति मे पुलकेशिन द्वितीय की विजयों तथा अन्य कार्य कलापो का बड़ा ही सुन्दर एवम् साहित्यिक वर्णन है। इसमे रविकीर्ति के द्वारा एक जिनेन्द्र भवन के निर्माण का उल्लेख है। यद्यपि अभिलेख मे यह नही बताया गया है कि जिनालय का निर्माण कहाँ हुआ था, परन्तु अभिलेख का एहोल मे उपलब्ध होना यह सूचित करता है कि इसका निर्माण कही एहोल नगर मे ही हुआ था। प्रशस्ति मे ऐसा प्रतीत होता है कि रविकीर्ति पुलिकेशन द्वितीय का कोई अधिकारी था। उसके द्वारा पुलिकेशन द्वितीय के शासन काल का बड़ा ही सूक्ष्म विवरण इस विचार का समर्थन करता है। दूसरा अभिलेख लक्ष्मेश्वर (धारवाड़ जिला) मे प्राप्त हुआ है९। इस अभिलेख की सत्यता पर कुछ विद्वानो ने शंका व्यक्त की है१०। लक्ष्मेश्वर अभिलेख मे सेन्द्रक राजा दुर्गशक्ति द्वारा, पुलिगेरे नगर में एक क्षेत्र दान देने का उल्लेख है। इस दान का उद्देश्य शंख जिनेन्द्र के चैत्य मे पूजा की शाश्वत व्यवस्था थी११। सेन्द्रक राजा चालुक्यों के सामन्त थे।

चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल के एक अभिलेख मे१२ राजा के द्वारा कुरुतकुण्टे ग्राम के दान का उल्लेख है। दान ग्रहणकर्त्ता रवि शर्मा बमरि सघ का था। सम्भवत: इस बमरि सघ का सम्बन्ध जैनो मे है। इसकी त्रुटि पूर्ण तिथि तथा अन्य अनेक आधारो पर विद्वानो ने इसे जाली माना है१३। चालुक्य विनयादित्य के शासनकाल के केवल एक अभिलेख का सम्बन्ध जैनधर्म से है। इसमे विनयादित्य द्वारा शक ६०८ मे मूलसघ परम्परा की देवगण शाखा के किसी जैन आचार्य को दान देने का उल्लेख है१४। फ्लीट महोदय ने लक्ष्मेश्वर से उपलब्ध इस अभिलेख को भी जाली करार दिया है१५। परन्तु

---

४ पुलिकेरि, आडूर, परलूर तथा अण्णिगेरि आदि।

५ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ७, पृ० २०९

६ इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २०९-२१४

७ इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २०९-२१४ एवं जिल्द ३०, पृ० २१८, न० ३५

८ एहोल प्रशस्ति, ए० इ०, जिल्द ६, पृ० ७

९ इ० ए० जिल्द ७, पृ० १०६

१० इ० ए० जिल्द ३०, पृ० २१८, न० ३७

११ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७. पृ० ११६ और आगे।

१२ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० २१९

१३ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० २१९ तथा जिल्द ३० पृ० २१७ नं० ३०

१४ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२ और आगे।

१५ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२ तथा आगे और जिल्द ३०, पृ० २१८, नं० ३८

यह विचार सर्वमान्य नही है। विभिन्न कसौटियो पर यह लेख खरा उतरता है।

चालुक्य नरेश विजयादित्य के शासन काल के तीन अभिलेखों का सम्बन्ध जैन सम्प्रदाय से है। शिवगॉव (धारवाड़ जिला) से उपलब्ध ताम्रपत्र मे शक ६३० मे, अलूप (अलूक) सामन्त चित्र वाहन के अनुरोध पर विजयादित्य द्वारा जैन विहार को दान देने का विवरण है१६। इस जैन विहार का निर्माण विजयादित्य की बहिन कुकम देवी द्वारा पुलिगेरे नगर मे किया गया था। कुकम देवी द्वारा जैन सस्थान का निर्माण चालुक्य नरेशों द्वारा जैनों को श्रद्धा की दृष्टि से देखने का अकाट्य प्रमाण है। इसी राज्यकाल के दो अभिलेख लक्ष्मेश्वर मे मिले हैं। प्रथम की तिथि शक ६४५ तथा द्वितीय की तिथि ६५१ शक है१७। शक ६४५ का लक्ष्मेश्वर अभिलेख नष्टप्राय है और उसके विवरणों के विषय मे नि सन्देहात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। शक ६५१ वाले अभिलेख मे विजयादित्य द्वारा पुलिकर नगर के दक्षिण मे स्थित कर्दम नामक ग्राम को उदयदेव पडित उपाख्य निर्वाद्य पण्डित को दान दिये जाने का विवरण है। परम्परा की देवगण शाखा से सम्बधित थे। दान पुलिकर नगर के शख जिनेन्द्र के मन्दिर के लाभार्थ दिया गया था। उदय देव पण्डित को सम्राट् विजयादित्य के पिता का पुरोहित बताया गया है१८। अतएव यह स्पष्ट हो है, कि विनयादित्य को भी जैनो मे आस्था और श्रद्धा थी। उसके शासन काल मे उन्हे पूर्ण सम्मान एवम् सरक्षण प्राप्त था।

विक्रमादित्य द्वितीय के शासन काल का शक ६५६ का लक्ष्मेश्वर अभिलेख१९, उसके शासन काल मे जैनो की स्थिति पर प्रकाश डालता है। इसमे विक्रमादित्य द्वितीय द्वारा पुलिकर नगर मे शख तीर्थ वसति नामक मन्दिर को सुशोभित करके, श्वेत जिनालय के जीर्णोद्धार के उपरान्त नगर के उत्तर में भूमिदान देने का विवरण है। दानग्रहणकर्ता श्री विजय देव पण्डित मूलसंघ परम्परा की देवगण शाखा से सम्बन्धित थे। वह जयदेव पण्डित के शिष्य रामदेवाचार्य के शिष्य थे। दान एक व्यापारी के अनुरोध पर, जिन पूजा के विकासार्थ दिया गया था२०।

कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासन कालके तीन अभिलेखो मे जैनों का उल्लेख है। इनमें से दो अभिलेख तो आडूर जिला धारवाड़ से मिले हैं२१, तथा एक अण्णिगेरि में मिला है२२। आडूर से प्राप्त दोनों अभिलेख तिथि विहीन हैं। प्रथम आडूर अभिलेख का प्रारम्भ वर्धमान की प्रार्थना के साथ होता है। किसी राजा या सामन्त द्वारा २५ निवर्त्तन भूमिदान का उल्लेख है। दान धर्मगामुण्ड द्वारा निर्मित जिनालय और भिक्षु गृह को दिया गया था। आडूर से प्राप्त दूसरे अभिलेख मे कीर्तिवर्मन द्वितीय और उसके सामन्त माधववत्ति अरस का उल्लेख है। इसमे माधववत्ति अरस के द्वारा जिनेन्द्र मन्दिर के पूजार्थ तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं के लिये परलूर के चेडिय (चैत्य) को भूमिदान देने का विवरण है जैन गुरु व प्रभाचन्द्र का भी दोनो आडूर अभिलेखो में उल्लेख है। अण्णिगेरि (जिला धारवाड़) से प्राप्त अभिलेख मे जेबुकगेरि के प्रमुख कलियम्म द्वारा चेडिय (जैन मन्दिर) के उल्लेख है। लेख के सम्पादक श्री यन. लक्ष्मी नारायण राव के अनुसार कलियम्म कीर्त्तिवर्मन द्वितीय के आधीन कोई अधिकारी था२३।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राय सभी चालुक्य नरेशो ने इस धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। चालुक्य नरेश विजयादित्य के पुरोहित का जैन होना, राजवंश मे जैनों के प्रभाव और आदर का स्पष्ट प्रमाण देता है। प्राय. सभी अभिलेखो में जैन मन्दिरो के निर्माण या जीर्णोद्धार का उल्लेख है जो यह बताता है कि उस युग मे इस प्रदेश मे जिन पूजा पर्याप्त उन्नतिशील अवस्था में थी। आधे से अधिक जैनों से सम्बन्धित

१६ ए० इ०, जिल्द ३२, पृ० ३१७ और आगे
१७ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२
१८ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२
१९ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० १०६
२० इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११६ और आगे
२१ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ११, पृ० ६६, कर्नाटक अभिलेख (पंचमुखी द्वारा सम्पादित) जिल्द १ पृ०४
२२ एपिग्रेफिया इण्डिका, जिल्द २१, पृ० २०६
२३ एपिग्रेफिया इण्डिका जिल्द २१, पृ० २०६ और आगे

चालुक्य अभिलेख लक्ष्मेश्वर मे मिले है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आधुनिक लक्ष्मेश्वर प्राचीन काल मे, जैनधर्म के प्रसार और प्रचलन का एक प्रमुख केन्द्र था। अधिकनर चालुक्य—जैन अभिलेख आधुनिक धारवाड जिले में मिले है। फलतः यह स्पष्ट ही है कि आधुनिक धारवाड जिला और उसके आसपास के क्षेत्र मे, उस युग मे इस धर्म ने पर्याप्त प्रभाव और प्रसिद्धि अर्जित की थी।

विडम्बना का विषय है, कि आधे से अधिक और लक्ष्मेश्वर से प्राप्त सभी जैन-अभिलेखों को फ्लीट जैसे विद्वान ने जाली करार दिया है[२४]। लेकिन बाद मे उपलब्ध साक्ष्यो ने फ्लीट के इस मत को, सभी अभिलेखो के प्रति तो नही, परन्तु कुछ के प्रति असगत सिद्ध कर दिया है। कुछ भी हो, ऐसे अभिलेख जिनकी सत्यता पर शंका नही की जा सकती है[२५], यद्यपि थोडे है, परन्तु अपने मे वह उस सामग्री को संजोये हुए है, जो चालुक्य नरेशो के इस धर्म के प्रति दृष्टिकोणो को स्पष्ट करते है। एहोल प्रशस्ति, आडूर अभिलेख, अण्णिगेरि अभिलेख तथा शिगगाँव मे उपलब्ध ताम्रपट, इस तथ्य की उद्घोषणा करते है कि चालुक्य नरेशो के राज्य काल में जैन धर्म को फूलने, फलने और फैलने का पूर्ण अवसर और वातावरण मिला था। राज्य की ओर से उन्हें संरक्षण, सहायता और निर्बाध रूप सिद्धान्तो, आदर्शों तथा नियमो को पालन करने की स्वतन्त्रता थी। सरक्षण का तात्पर्य यह नही है कि इस धर्म को राजकीय सरक्षण प्राप्त था। राजवश के अनेको सदस्यो का विभिन्न मतावलम्बियो को आश्रय तथा सहायता देना, चालुक्यों की धर्म निरपेक्षता को प्रमाणित करता है।

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि चालुक्य नरेशो के शासन काल मे दक्षिण-पश्चिम भारत मे जैन धर्म का पर्याप्त प्रसार हुआ। स्वयम् चालुक्य सम्राटो तथा उनके परिवार के सदस्यो ने इस पुनीत कर्म की ओर अपनी सहायता और महानुभूति व्यक्त कर धार्मिक औदार्य का एक अमिट उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैन मूलसघ परम्परा की देवगण शाखा को इस क्षेत्र मे पर्याप्त सहायता मिली थी। अनेको नगर जैन सस्कृति और धर्म प्रचार के केन्द्र बन गये थे। इस धर्म के प्रचार और प्रसार ने कन्नड और सस्कृत भाषा को भी विकसित होने का सुअवसर प्रदान किया था। ●

२४ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ३०, पृ० २१७-२१८

२५ एहोल प्रशस्ति, आडूर अभिलेख, अण्णिगेरि अभिलेख एवम शिगगाँव ताम्रपत्र।

जैन तर्क में हेत्वनुमान

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन एम. ए. पी-एच. डी.

तर्कशास्त्र (Logic) चाहे भारतीय रहा हो अथवा पश्चिमी, हेत्वनुमान (Sytlogism) सर्वत्र ही न्याय की धुरी रूप में स्वीकार किया गया है। उसकी यथार्थ स्थिति और रूप का निर्णय तर्कशास्त्र का मुख्य विषय है। यहा लेखक को केवल जैन तर्काश्रित हेत्वनुमान का एक सरल अध्ययन पश्चिमी तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना अभीप्सित है।

हेत्वनुमान (Syllogism) **क्या है ?**

हेत्वनुमान का तकनीकी प्रयोग पाश्चमी तर्कशास्त्र की प्रमुख देन है। अनुमान की आकारी (Formal) प्रशाखा मे अव्यवहित (Immediate) और व्यवहित (Mediate) प्रकारों मे से व्यवहित का प्रकाशन हेत्वनुमान के रूप मे ही होता है। अत: पश्चिमी तर्कशास्त्र के जनक 'अरस्तू' ने हेत्वनुमान की परिभाषा इस प्रकार की, "हेत्वनुमान एक वह रीति है जिसमे कुछ कथित चीजो से तद्भिन्न कुछ अन्य चीजे अनिवार्य रूपेण निगमित होती है[१]।" इसी परिभाषा को परिष्कृत रूप में 'ब्रेडले' ने प्रकट किया, कि "हेत्वनुमान वस्तुतः एक तर्क है, जिसमे उद्देश्य और विधेय के रूप मे, दो पदो का एक ही तीसरे पद के साथ दिए हुए संबन्ध मे अनिवार्य रूपेण स्वय उन्ही दोनो पदो के मध्य, उद्देश्य विधेय रूप मे, सम्बध निगमित किया जाता है[२]।" इससे स्पष्ट है, कि हेत्वनुमान अनुमान का एक विशिष्ट तकनीक है, जिसके द्वारा प्रकृत अनुमान को सुव्यवस्थित ढंग से दूसरो तक पहुँचाया जा सकता है, और निष्कर्ष की वैधता पूर्वस्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध की जा सकती हैं। इसमें तीन पद होते है, जिनमें एक मध्यम पद के द्वारा शेष दो पदों में सम्बध प्रस्थापित किया जाता है।

१. Anal Priora, 24 b, 18 से।

२. Principles of Logic, Bk. II pt. I C IV, P. 10

भारतीय तर्कशास्त्र के विवेचन मे प्रमा ज्ञान अथवा विशुद्ध ज्ञानोपलब्धि के कारण रूप में प्रमाण का सम्यक् विवेचन सभी तर्क शास्त्रियों को मान्य रहा है। यद्यपि प्रमाण की संख्या के बारे में मतभेद मिलता है, परन्तु प्रामाणिक चिंतन के लिए प्रमाणशास्त्र के अध्ययन पर सभी एकमत है। जैन परम्परा के अनुसार प्रमाण के केवल दो भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष[३]। परोक्ष प्रमाण के भी स्मृति प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, और आगम भेद सम्मत है[४]। इन भेदों मे न्याय की दृष्टि से केवल तर्क और अनुमान का ही महत्व है। तर्क व्याप्ति-निर्माण की एक प्रक्रिया है, जिसे पश्चिमी तर्कशास्त्र मे आगमन पद्धति के रूप में अध्ययन किया जाता है। अनुमान साधन से साध्य-ज्ञान की उपलब्धि मे निहित है[५]। यही साधन से साध्य-विज्ञान की शाब्दिक अभिव्यक्ति भारतीय तर्कशास्त्र मे परार्थानुमान रूप मे अभिप्रेत है, जो पश्चिमी तर्कशास्त्र के हेत्वनुमान के समकक्ष है। अत परार्थानुमान और हेत्वनुमान प्रयोजन की दृष्ट्या लगभग एक ही है।

जैन हेत्वनुमान का प्रारूप

जैन नैयायिकों का हेत्वनुमान के सम्बध मे अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जो हिन्दू और आरस्तवीय नैयायिकों के दृष्टिकोणो से अशतः साम्य रखते हुए सम्पूर्णत उनसे भिन्न है। जैन हेत्वनुमान का आकार अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। उसमे केवल दो अवयव अभिप्रेत है, जब कि न्यायदर्शन मे पॉच और आरस्तवीय लॉजिक मे तीन माने जाते है। यथा—

पर्वत पर अग्नि है,
क्योंकि वहां धूम्र है।

३. परीक्षामुखम्—२-१

४. वही—३-२

५. वही—३-१४, प्रमाण मीमांसा १-२-७

इसमें पहला अवयव पक्ष और दूसरा हेतु है१। इसी को हिन्दू न्याय मत मे निम्न प्रकारेण पाच अवयवों मे व्यक्त किया जाता है२ :—

पर्वत पर अग्नि है; (प्रतिज्ञा)
क्योंकि वहां धूम्र है; (हेतु)
जहाँ-जहाँ धूम्र, वहाँ-वहाँ अग्नि,
जैसे— (उदाहरण)
ऐसा ही यहाँ है; (उपनय)
अतः पर्वत पर अग्नि है। (निगमन)

आरस्तवीय हेत्वनुमान मे उपर्युक्त पाँच अवयवो मे से पहले तीन को विलोम रीति से रखा जाता है३, यथा—

जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है; (Major premise)
पर्वत पर धूम्र है, (Minor premise)
अतः पर्वत पर अग्नि है। (Conclusion)

जैन नैयायिक पंचावयव हेत्वनुमान में उदाहरण प्रभृति तीन अवयवों को तर्क की विद्वद् गोष्ठी के लिए व्यर्थ मानते है। उनका तर्क है कि हेत्वनुमान मे उदाहरण नामक अवयव का कोई कार्य नहीं है। उदाहरण से न तो साध्यज्ञान उपलब्ध होता है, क्योंकि साध्य के लिए तो हेतु ही है और न व्याप्ति का ही उदय होता है, क्योकि व्याप्ति अथवा अविनाभाव के निश्चय के लिए विपक्ष का प्रतियोग सिद्ध होना आवश्यक है। मात्र रसोई के उदाहरण से व्याप्ति का निश्चय नहीं होता४। साथ ही उदाहरण केवल विशिष्ट दृष्टात का निदर्शन करता है जबकि व्याप्ति सामान्य सत्य का। एक विशेष सामान्य की सिद्धि के लिए अपर्याप्त है। यदि उस एक विशेष पर संदेह करे, तो दूसरा विशेष, दूसरे पर सदेह की अवस्था मे फिर और, और ऐसे ही अवस्था दोष सुनिश्चित है५। अब कोई कहे, कि उदाहरण से व्याप्ति-स्मरण हो जाता है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्ति-स्मरण के लिए हेतु ही पर्याप्त है, और उदाहरण सर्वथा निरर्थक है६। यहाँ तक कि जैन नैयायिक की दृष्टि में उदाहरण न केवल निरर्थक ही है, बल्कि साध्य-ज्ञान की उपलब्धि मे बाधक है, क्योकि हमे सिद्ध करना है कि आग पर्वत पर है, जब कि उदाहरण में आग पर्वत के बिना भी सम्भव दिखाई गई है। अत. प्रस्तुत पक्ष के मुकाबिले दूसरे पक्ष को प्रकट कर संदेह का बीजारोपण होता है, जो साध्य ज्ञान की सिद्धि मे सहायक नहीं कहा जा सकता७।

उदाहरण के अतिरिक्त पंचावयव हेत्वनुमान में अंतिम दो अवयव, यथा—उपनय और निगमन, भी जैनो के अनुसार पिष्टपेषण मात्र है। जैन नैयायिक माणिक्यनन्दि पूछते है. 'कुतोऽन्यथोपनय निगमने' (अर्थात्—अन्यथा किसलिए उपनय और निगमन हों?)८ उपनय और निगमन में जो यह कहा गया, कि ऐसा यह पर्वत धूम्रमय है' 'अतः पर्वत पर अग्नि है', तो क्या उपर्युक्त अवयवो मे वर्णित और उदाहरण मे प्रमाणित पर्वत पर धूम्र से अग्नि के ज्ञान मे कोई संदेह रह गया था? अन्यथा उपनय और निगमन की क्या आवश्यकता पड गई? अत: जैन नैयायिक के अनुसार उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नही है, क्योंकि पक्ष मे साध्य और हेतु के निश्चय हो जाने पर कोई संशय शेष नही रहता९।

हेत्वनुमान मे उदाहरण अंग के प्रति जैनों की उपेक्षा वस्तुतः एक विशेष माने रखती है। हिन्दू नैयायिक व्याप्ति निर्माण की क्रिया को वस्तुतः अनुमान से पृथक नही मानता, बल्कि उसी का एक अंग मानता है। परन्तु जैन नैयायिक व्याप्ति अथवा अविनाभाव सम्बन्ध के निश्चयीकरण की क्रिया को तर्क अथवा ऊहा का नाम देता है, जिसे अनुमान की ही तरह अनुमान से अलग स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करता है। यही पर जैन और आरस्तवीय तर्कशास्त्र एकमत हो जाते हैं। अरस्तू ने सामान्य साध्यवाक्य (Major premise) अथवा व्याप्ति-वाक्य की उपलब्धि आगमन प्रक्रिया के द्वारा मान्य की है, जिसे वह तार्किक अनुमान की प्रक्रिया से पृथक स्थान देता है।

१. परीक्षामुखम् ३-३७, प्रमाणनय तत्वालोकालंकार ३-२८
२. तर्कसंग्रह ४५; न्यायसूत्र, १–१–३२
३. वेल्टन कृत इन्टरमीडिएट लॉजिक, पृ० २००
४. परीक्षामुखम्, ३–३८, ३९
५. वही, ३–४० प्रमाणनय तत्वालोकालंकार ३–३६
६. प्रमेय रत्नमाला ३–४१ प्रमाण नय तत्वा० ३–३७
७. परीक्षामुखम् ३–४२
८. वही, ३–४३
९. वही ३–४४ प्रमाण नय तत्वा० ३–४०

यह आगमन प्रक्रिया का विज्ञान ही जैनों का 'तर्क अथवा ऊहा' है, जो व्याप्तिरूपी सामान्य ज्ञान की खोज और सिद्धि करता है और अनुमान-क्रिया का आधार निर्मित करता है। अतः पश्चिम के आकारी तर्कशास्त्री ठीक जैनो की भांति हेत्वनुमान मे न तो उदाहरण, न उपनय और न निगमन ही स्वीकार करते है, बल्कि मध्यम पद अथवा हेतु (Middle term) के द्वारा पक्ष अथवा धर्मी (Minor term) के साथ साध्य अथवा धर्म (Major term) का सम्बन्ध-स्थापन होना मानते है[१]।

हेतु-मीमांसा

अब हम हेत्वनुमान के समस्त पहलुओं के विस्तार में न जाकर केवल हेतुपद पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि हेतु ही सम्पूर्ण हेत्वनुमान की धुरी है। हेतु के माध्यम से ही अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान होता है। अतः साध्य की सम्यक् ज्ञानोपलब्धि के लिए हेतु का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

हेतु की परिभाषा मे जैन नैयायिक माणिक्यनन्दि का कथन है, कि 'जिस पद का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो वही हेतु या लिङ्ग है[२]।' अविनाभाव का तात्पर्य है, कि जिसके होने पर ही हो और न होने पर न हो। माना क हेतु है और ख साध्य। क और ख के अविनाभाव का तात्पर्य है कि ख के होने पर ही क हो, न होने पर न हो, तो ऐसा सम्बध अविनाभाव होता है। पश्चिमी तर्कशास्त्र में इसे अनिवार्य (Necessary) सम्बन्ध कहते है[३]। ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध सहभाव और क्रमभाव दो रूपो में व्यक्त होता है[४]। पश्चिम मे इसे क्रमश Law of Co-existence and Law of Succession कहते है[५]। इस प्रकार अनिवार्य सबध मे हेतु के सभी दृष्टान्त साध्यमय होते है अथवा हेतु का कोई दृष्टान्त साध्य के बिना सम्भव नही है। यदि साध्य नही है, तो हेतु भी नही हो सकता; उसी के साथ-साथ यदि हेतु उपलब्ध है तो इसका अर्थ है कि वहा साध्य अवश्य है। इस प्रकार न्याय की पदावली मे हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक कहा जाता है, क्योंकि साध्य ही हेतु के दृष्टान्तो में व्यापक होता है। इस से स्पष्ट हुआ कि हेतु और साध्य का सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होताहै, जो सहभाव और क्रमभाव दोनो रूपों मे व्यक्त हो सकता है।

जैन नैयायिक जब हेत्वनुमान का कथन करता है, तो उसके दोनो अवयवों मे त्रिकोणीय सम्बन्ध को व्यक्त करता है, यथा—

पर्वत पर अग्नि है,
क्योंकि वहां धूम्र है।

इसमे त्रिकोणीय सम्बन्ध इस प्रकार है :—
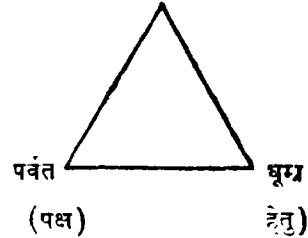
एक ओर, पर्वत और अग्नि का गुह्य सम्बन्ध, दूसरी ओर, पर्वत और धूम्र का प्रकट सम्बन्ध तथा तीसरी ओर धूम्र और अग्नि का ऊहाश्रित अविनाभाव सम्बन्ध है। इसमे अविनाभाव को आधार बनाकर धूम्र और अग्नि को क्रमशः प्रकट और गुह्य मान कर अनुमान के निम्नलिखित चार रूप सम्भव हो जाते है :—

(१) क—पर्वत पर अग्नि है;
क्योंकि वहा धूम्र है।
ख—पर्वत पर शीत स्पर्श नही है;
क्योंकि वहाँ धूम्र है।

(२) क—पर्वत पर धूम्र नहीं है;

---

१. देखिए—Bradley—Principles of Logic Bk. II Pt. I Ch. IV P. 10,
Joseph—An Introduction to logic, P. 253 Second Ed. Revised.
परीक्षामुखम् ३–१४
प्रमाण मीमांसा १–२–७
२. परीक्षामुखम् ३–१५
३. देखिए—एल. एस. स्टेबिंग कृत A modern Introduction to Logic, पृ० २७१
४. परीक्षामुखम् ३–१६; प्रमाण मीमांसा १–२–१०
५. जे. एस. मिल कृत Logic Bk. III Ch. XXII पृ. ४

क्योंकि अग्नि नही है ।

ख—पर्वत पर शीत स्पर्श है;

क्योंकि अग्नि नही है ।

इन चार विकल्पों की सम्भावना का आधार अविनाभाव का निहित अर्थ है । निहित अर्थ है : धूम्र और अग्नि का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, जिसमे १. जहा धूम्र (व्याप्य) वहाँ अग्नि (व्यापक); फिर २. जहा धूम्र (व्याप्य) वहा अग्न्याभाव नही अथवा शीत स्पर्श नही (व्यापक)

[क्योंकि अग्न्याभाव ☰ शीत स्पर्श];

और ३. जहाँ अग्नि नहीं (व्याप्य) वहाँ धूम्र नही (व्यापक); उसी प्रकार ४. जहाँ अग्न्याभाव (व्याप्य) वहाँ अग्नि विरोधी शीतस्पर्श है ।

इन चार विकल्पो की सम्भावना का आधार अविनाभाव का निहित अर्थ है । निहित अर्थ मे अविनाभावी पदो का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ही दृष्टव्य है, कि १. जहाँ व्याप्य, वहाँ व्यापक, २. जहाँ व्यापक नही वहाँ व्याप्य नही । यहाँ पहले विकल्प मे व्याप्य हेतु है और दूसरे मे वह व्यापक । पहले मे हेतु पक्ष मे उपलब्ध है (देखिए उपर्युक्त उदाहरण सख्या १ (क) व (ख) । अत जैन हेतु की उपस्थिति और अनुपस्थिति को आधार बना कर ही उसे दो भेदों मे रखते है[१], यथा—

१. उपलब्धि हेतु
२. अनुपलब्धि हेतु

फिर उसी सम्बन्ध मे हेतु का साध्य के साथ दुहरा सम्बन्ध होता है । जब हेतु साध्य को सिद्ध करता है तो वह एक तरफ तो साध्य का विधान करता है और दूसरी ओर साध्याभाव का निषेध भी जब धूम्र रूपी उपलब्धि-हेतु एक ओर अग्नि का विधान करता, तो दूसरी ओर वह अग्न्याभाव की सभी अवस्थाओ यथा, शीतस्पर्श आदि का निषेध भी करता है । ऐसा ही अनुपलब्धि हेतु मे जब एक ओर अग्नि का अभाव धूम्रभाव का विधान करता है, तो दूसरी ओर वही अग्न्याभाव धूम्राभाव के विरुद्धभाव (धूम्र) का निषेध (धूम्राभाव की अनेक अवस्थाएँ, यथा-शीत स्पर्श आदि की सम्भावना सिद्ध करके) करता है ।

इस प्रकार उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतु मे विधि और निषेध के मिश्रण मे हेतु मुख्यतः चार रूपो मे प्रकट होता है[१], यथा—

१. उपलब्धि अविरुद्ध	(उदाहरण स० १—क)
२. उपलब्धि विरुद्ध	(उदा० सं० १—ख)
३. अनुपलब्धि अविरुद्ध	(उदा० स० २—क)
४. अनुपलब्धि विरुद्ध	(उदा० स० २—ख)

अब हेतु के इन प्रकारों मे से सामान्य नियमों का निगमन करने मे पूर्व इन्हे तनिक चित्रात्मक ढग से समझ लेना और उपयुक्त होगा ।
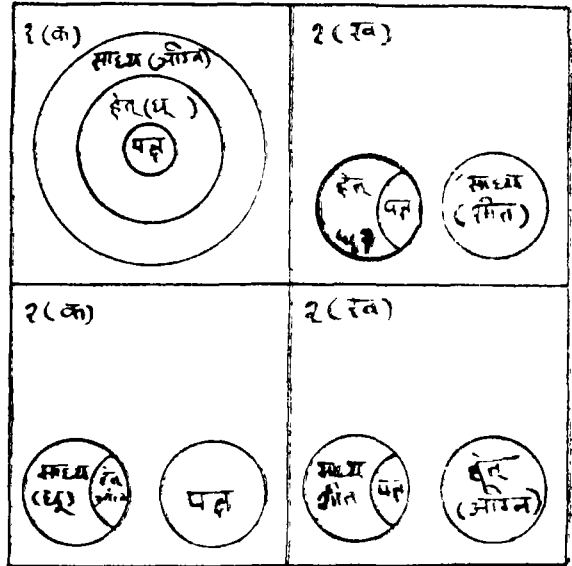
सकेत—जिन पदो के वृत्तों की परिधि एक दूसरे में शामिल हैं उसका तात्पर्य है कि उनमे विधानात्मक सम्बन्ध है; और जो वृत्त परस्पर असम्बद्ध हैं उनमे निषेधात्मक सम्बन्ध समझना चाहिए । उदाहरणार्थ १ (क) मे पक्ष हेतु और साध्य तीनो में भावात्मक सम्बन्ध ही है । १ (ख) में पक्ष और हेतु के मध्य भावात्मक तथा साध्य मे दोनों का निषेधात्मक सम्बन्ध है २ (क) मे हेतु और साध्य के मध्य भावात्मक और दोनों का पक्ष के साथ

---

१. परीक्षामुखम् ३–५७

१. परीक्षामुखम् ३–५८, और भी देखिए चम्पतरायकृत Science of Thought, पृ० १२१–१२२ ।

निषेधात्मक सम्बन्ध है। २ (ख) मे पक्ष और साध्य के मध्य भावात्मक और दोनों का हेतु के साथ निषेधात्मक सम्बन्ध है।]

इससे अब ये नियम निकलते है, कि—

१. उपलब्धि हेतु का पक्ष के साथ धनात्मक (भावात्मक) सम्बन्ध होता है।
२. अनुपलब्धि हेतु का पक्ष के साथ ऋणात्मक (निषेधात्मक) सम्बन्ध होता है।
३. अविरुद्ध हेतु का साध्य के साथ धनात्मक (संगतिपूर्ण) सम्बन्ध होता है।
४. विरुद्ध हेतु का साध्य के साथ ऋणात्मक (असंगतिपूर्ण) सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार हेत्वनुमान के त्रिकोणीय संबंध में उपर्युक्त प्रकार से दो भुजाओं का निर्णय पूरा हो गया। यथा—हेतु और पक्ष, तथा हेतु और साध्य के बारे मे। अब शेष भुजा रहती है पक्ष और साध्य की, जो उपर्युक्त दो भुजाओं की स्थिति से निश्चित होती है, अथवा जिसके नियम उपर्युक्त नियमों से निगमित होते है। यह निगमन गणित के सीधे और सरल नियमों के आधार पर बड़ी आसानी से किया जा सकता है। गणित मे धन-धन के समुच्चय का परिणाम धन, धन—ऋण के समुच्चय का परिणाम ऋण तथा ऋण-ऋण के समुच्चय का परिणाम धन होता है। हमने हेतु संबध के उपर्युक्त चार नियमो मे उपलब्धि को "+", अनुपलब्धि को "—", अविरुद्ध को "+" और विरुद्ध को "—" मान्य किया है। अत. गणित के सर्वमान्य नियम के अनुसार :—

१. उपलब्धि (+) अविरुद्ध (+) हेतु से निष्कर्ष धनात्मक होगा; [यथा–पर्वत पर अग्नि है—१(क)]
२. उपलब्धि (+) अविरुद्ध (—) हेतु से निष्कर्ष ऋणात्मक होगा; [यथा–पर्वत पर शीत नही है–१(ख)]
३. अनुपलब्धि (–)अविरुद्ध (+) हेतु से निष्कर्ष ऋणात्मक होगा; (यथा पर्वत पर अग्नि नहीं है–२(क)]
४. अनुपलब्धि (–) विरुद्ध (–) हेतु से निष्कर्ष धनात्मक होगा; यथा—पर्वत पर शीत. है—२(ख)]

हेत्वनुमान का आकारी निर्वचन

अब हम यदि उपर्युक्त चारों हेत्वनुमानों को आकारी तर्कशास्त्र (Formal Logic) की कसौटी पर कसें, तो हम पाएगे कि वे वस्तुतः एक ही प्रकार के तर्क हैं, और उनकी तात्विकता में कोई भेद नही है। हम उन्हें आकारी तर्क की भाषा में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते है :—

१ (क) सभी धूम्रावस्थाए अग्नि की अवस्था है. MaP
पर्वत पर धूम्रावस्था है; SaP
∴ पर्वत पर अग्न्यावस्था है। ∴ SaP (Barbara)

१ (ख) कोई धूम्रावस्था शीतावस्था नही है; MaP
पर्वत पर धूम्रावस्था है; SaM
∴ पर्वत पर शीतावस्था नहीं है। ∴ SeP (P ≡ शत को अग्न्याभाव मानते हुए)
(Celarent)

२ (क) कोई अग्न्याभाव धूम्रावस्था नहीं है, PaM
पर्वत पर अग्न्याभाव है। SaP
∴ पर्वत पर धूम्रावस्था नही है। ∴ SaM
(Celarent)

२ (ख) सब अग्न्याभाव शीतावस्थाए है; PaM
पर्वत पर अग्न्याभाव है; SaP
∴ पर्वत पर शीतावस्था है। ∴ SaM (M ≡ शीत को धूम्राभाव मानते हुए)
(Barbara)

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से बिल्कुल स्पष्ट है कि चारों हेत्वनुमानों के साध्यवाक्य (Major premise) बिल्कुल एक ही है। १ (क) के साध्यवाक्य का प्रतिवर्तित वाक्य (Obverse proporition)। १ (ख) का साध्य वाक्य है। १ (ख) के साध्य वाक्य का परिवर्तित (Converse Proposition) और १ (क) का परिप्रतिवर्तित वाक्य (Contrapositive) २ (क) का साध्य वाक्य है, तथा २ (क) के साध्यवाक्य का पूर्ण परिप्रतिवर्तित (ComPlete contrapositive) वाक्य २ (ख) साध्यवाक्य है। यथा—

MaP ≡ MeP (Obvdrse) १–(ख)
" ≡ " (Incomplete contrapositive) २-क
MaP ≡ PaM (Complete contrapositive) २–ख

इस प्रकार चारों साध्य वाक्य मूल में एक है। चारो का पक्ष तो पूर्णतः अपरिवर्तित ही है। हेतु पद अवश्य उपलब्धि और अनुपलब्धि प्रकारों में भिन्न हो गया है, जो साध्य वाक्य की जरूरत के लिहाज से हुआ है, क्योंकि प्रत्येक हेत्वनुमान को प्रथम आकृति में ही रहना था। इसीलिए सभी हेत्वनुमान प्रथम आकृति के बारबारा और केलेरीन संयोगो में ही सिमिट कर रह गये है। अतः आकार की दृष्टि से वे सब एक ही प्रकार के अनुमान है।

ऊपर के पैराग्राफ मे जैन हेत्वनुमान की पश्चिमी तर्कशास्त्र सम्मत आकार के संदर्भ मे जाँच की गई। अब इसके साथ हम यह भी बताना चाहेंगे, कि जैन हेत्वनुमान का विषय-विस्तार आरस्तवीय हेत्वनुमान के सीमित विस्तार से ही बंधा नही है। वस्तुतः जैन हेत्वनुमान की सबसे बडी उपलब्धि यह है कि वह आकारी दृष्टिकोण से खरा सिद्ध होते हुए भी आकारी तर्कशास्त्र की सीमाओ से भी मुक्त है। पश्चिम के आकारी तर्कशास्त्रियों ने भी आकारी तर्कशास्त्र की घोर आलोचना की, क्योंकि इस आकारी हेत्वनुमान (Formal syllogism) की परिधि बहुत संकीर्ण है। इसमे प्रत्येक प्रकार की तर्क-प्रक्रिया आकार-गत नहीं की जा सकी, जैसे कि कारण से कार्य कार्य से कारण, अनुक्रम और सहवर्ती घटनाओं संबधी अनुमान आदि। अतः वस्तुगत दृष्टि (Material view-point) से आकारी हेत्वनुमान कोई अधिक मूल्य नही रखता। उसमे केवल उद्देश्य और विधेयरूप मे आने योग्य वर्ग-सम्बोधना (Class concepts) सबधी अनुमान ही विषय किए जा सकते है। परन्तु जैन हेत्वनुमान मे वर्ग-सम्बोधना के साथ अन्य अनुमानों का भी स्थान है। और उसी दृष्टिकोण से हेतु के उपर्युक्त चार भेदो के अनेक उपभेद किये गये है, जो निम्न प्रकार है। इन उपभेदो का विस्तारपूर्वक अध्ययन सम्प्रति स्थानाभाव के कारण सम्भव नही है।

उपभेद[1]—

१ उपलब्धि अविरुद्ध हेतु

	उदाहरण
[क] व्याप्य	शब्द परिणामी है; क्योंकि शब्द बनता है।
[ख] कार्य—	इस पशु में बुद्धि है; क्योंकि इसमें व्यवहार है।
[ग] कारण—	यहाँ छाया है; क्योंकि छाता है।
[घ] पूर्वचर—	रोहिणी का उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका उदय हो चुका है।
[ङ] उत्तरचर—	भरिणी का उदय हो चुका है; क्योंकि रोहिणी का उदय है।
[च] सहचर—	फल मे रूप है; क्योंकि रस है।

२. उपलब्धि विरुद्ध हेतु

[क] व्याप्य—	यहाँ शीतस्पर्श नही है; क्योंकि उष्णता नही है।
[ख] कार्य—	यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योंकि धूम्र है।
[ग] कारण—	इस शरीर मे सुख नहीं है; क्योंकि हृदय शल्य है।
[घ] पूर्वचर—	मुहूर्तांते रोहिणी उदित न होगा; क्योंकि रेवती का उदय है।
[ङ] उत्तरचर—	मुहूर्तपूर्व भरिणी उदित न होगा, क्योंकि पुष्य का उदय है।
[च] सहचर—	यह भित्ति पर भाग विहीन नहीं है; क्योंकि उसका अतर्भाग मौजूद है।

३. अनुपलब्धि अविरुद्ध हेतु

[क] स्वभाव—	भूतल पर घट नहीं है; क्योंकि घट स्वभाव नही है।
[ख] व्यापक—	यहाँ शिंशिपा (वृक्ष) नही है; क्योंकि यहाँ कोई वृक्ष नही है।
[ग] कार्य—	यहाँ अप्रतिबद्ध समर्थन अग्नि नही है; क्योंकि धूम्र नही है।
[घ] कारण—	यहाँ धूम्र नही है; क्योंकि यहाँ अग्नि नहीं है।
[ङ] पूर्वचर—	मुहूर्त बाद रोहिणी उदित न होगा; क्योंकि कृत्तिकोदय नहीं है।

१. परीक्षामुखम् ३-६५ से ८६ पर्यंत।

[च] उत्तरचर— मुहूर्तपूर्व भरिणी उदित नहीं हुआ है, क्योंकि अभी कृत्तिका ऊपर नहीं है।

[छ] सहचर— समतुला का एक छोर उन्नाम नहीं है; क्योंकि दूसरा छोर नाम नहीं है।

४. अनुपलब्धि विरुद्ध हेतु

[क] कार्य— इस प्राणि मे व्याधि विशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टाएँ नहीं है।

[ख] कारण— इसमे दुःख है, क्योंकि इष्ट संयोग नहीं है।

[ग] स्वभाव— सभी वस्तुएँ अनेकान्त धर्मी है, क्योंकि उनमे एकान्त स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार सक्षेप मे, उपलब्धि के दोनों प्रकारो मे ७–७ उपप्रकार और अनुपलब्धि मे अविरुद्ध के ८ तथा विरुद्ध के ३ उपप्रकार किए गए है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि जैन तर्क के क्षेत्र मे किसी वर्ग के तर्कशास्त्रियो से पीछे नही है। हेत्वनुमान की विशद चर्चा और उसका ऊहापोह सहित विवेचन जैनदर्शन की महान् उपलब्धि है। इसमे अरस्तू की हेत्वनुमान संबंधी सभी उपलब्धियां तथा सीमाओं से अधिकांशतः मुक्ति मौजूद है।

(ज्ञानपुर–वाराणसी)

सहायक ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1. Aristotle—Anal Priora
2. F.H. Bradley—Principles of Logic
3. Welton—Intermediate Logic
4. Joseph—An Introduction to Logic
5. L.S. Stabling—A modern Introduction to Logic
6. J.S. mill—Logic
7. C.R. Jain—Science of Thought
8. P.K. Jain—Jaina and Hindu (Nyaya) Logic—a comparative study

9. माणिक्यनन्दि—परीक्षामुखम
10. हेमचन्द्र—प्रमाण मीमासा
11. अन्नमभट्ट—तर्क सग्रह
12. गौतम—न्यायसूत्र
13. प्रमाणनय तत्वालोकालकार
14. अनन्तवीर्य—प्रमेय रत्नमाला

स्व-पर सम्बोधक पद

कविवर दौलतराम

मानत क्यों नहि रे, हे नर ! सीख सयानी।
भयो अचेत मोहमद पीके, अपनी सुधि बिसरानी ॥टेक

दुखी अनादि कुबोध अव्रत तें, फिर तिनसों रति ठानी।
ज्ञानसुधा निज भाव न चाख्यो, पर परनति मति मानी ॥१॥

भव असारता लखै न क्यों जहँ, नृप ह्वै कृमि विट थानी।
सधन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरि से प्रानी ॥२॥

देह येह गद गेह नेह इस, है बहु विपति निसानी।
जड मलीन छिन छीन करमकृत, बधन शिव-सुख-हानी ॥३॥

चाह-ज्वलत ईंधन-विधिवन-घन, आकुलता कुलखानी।
ज्ञान-सुधारस-शोषन रवि ये, विषय अमित मृतुदानी ॥४॥

यों लखि भवतन-भोग विरचि करि, निजहित सुन जिनबानी।
तज रुष राग दौल अब, अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी ॥५॥

महान सन्त भट्टारक विजयकीर्ति

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी-एच. डी.

१५वीं शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात एवं राजस्थान में अपने त्यागमय एवं विद्वत्तापूर्ण जीवन से भट्टारक संस्था के प्रति जनता की गहरी आस्था प्राप्त करने में महान सफलता प्राप्त की थी। उनके पश्चात् इनके दो सुयोग्य शिष्य प्रशिष्यों ने भ० भुवनकीर्ति एव भ० ज्ञानभूषण ने उसकी नींव को और भी दृढ करने मे अपना योग दिया। जनता ने उन साधुओं का हार्दिक स्वागत किया और उन्हे अपने मार्गदर्शक एवं धर्म गुरू के रूप मे स्वीकार किया। समाज में होने वाले प्रत्येक धार्मिक एवं सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समारोहो मे इनका परामर्श लिया जाने लगा तथा यात्रा सघो एव बिम्बप्रतिष्ठाओं मे इनका नेतृत्व स्वत. ही अनिवार्य मान लिया गया। इन भट्टारकों के विहार के अवसर पर धार्मिक जनता द्वारा इनका अपूर्व स्वागत किया जाता और उन्हे अधिक से अधिक सहयोग देकर उनके महत्व को जनसाधारण के सामने रखा जाता। ये भट्टारक भी जनता के अधिक से अधिक प्रिय बनने का प्रयास करते थे। ये अपने सम्पूर्ण जीवन को समाज एव संस्कृति की सेवा में लगाते और अध्ययन, अध्यापन एव प्रवचनो द्वारा देश मे एक नया उत्साहप्रद वातावरण पैदा करते।

विजयकीर्ति ऐसे ही भट्टारक थे जिनके बारे में अभी बहुत कम लिखा गया है। ये भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और उनके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित भट्टारक गादी पर बैठे थे। इनके समकालीन एव बाद मे होने वाले कितने ही विद्वानो ने अपनी ग्रंथ प्रशस्तियो मे इनका आदरभाव से स्मरण किया है। इनके प्रमुख शिष्य भट्टारक शुभचन्द ने तो इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है और इनके संबंध में कुछ स्वतन्त्र गीत भी लिखे है। विजयकीर्ति अपने समय के समर्थ भट्टारक थे। उनकी प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता काफी अच्छी थी, यही बात है कि ज्ञानभूषण ने उन्हें अपना पट्टाधिकारी स्वीकृत किया और अपने ही समक्ष इन्हे भट्टारक पद देकर स्वय साहित्य सेवा मे लग गये।

विजयकीर्ति के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध मे अभी कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है लेकिन भ० शुभचन्द के विभिन्न गीतों के आधार पर ये शरीर से कामदेव के समान सुन्दर थे। इनके पिता का नाम साह गगा तथा माता का नाम कुंअरि था।

> **साहा गंगा तनये करउ विनये शुद्ध गुरू ।**
> **शुभ वसह जाते कुअरि मातं परमपरं ।**
> **साक्षादि सुबुद्धं जीकीह शुद्धं दलित तमं ।**
> **सुरसेवत पायं मारीत मायं मथित तमं ॥१०॥**
>
> —शुभचन्द्र कृत गुरू छन्द गीतिका ।

बाल्यकाल मे ये अधिक अध्ययन नहीं कर सके थे लेकिन भ० ज्ञानभूषण के संपर्क में आते ही इन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया। गोमट्टसार लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय, काव्य व्याकरण आदि के ग्रथों का भी गहरा अध्ययन किया और समाज मे अपनी विद्वत्ता की अद्भुत छाप जमा दी।

> **लब्धि सु गुमट्टसार सार त्रैलोक्य मनोहर ।**
> **कर्कश तर्क वितर्क काव्य कमलाकर दिणकर ।**
> **श्रीमूलसंघि विख्यात नर विजयकीर्ति वांछित करण ।**
> **जा चांदसूर ता लगि तपो जयह सूरि शुभचंद्र सरण ।**

इन्होंने जब साधु जीवन में प्रवेश किया तो ये अपनी युवावस्था के उत्कर्ष पर थे। सुन्दर तो पहले से ही थे किन्तु यौवन ने उसे और भी निखार दिया। इन्होंने साधु बनते ही अपने जीवन को पूर्णत: संयमित कर लिया। कामनाओं एव षटरस व्यंजनो से दूर हट कर ये साधु जीवन की कठोर साधना में लग गये। और ये अपनी साधना में इतने तल्लीन हो गये कि देश भर में इनके चरित्र की प्रशंसा होने लगी।

भ० शुभचन्द्र ने इनकी सुन्दरता एवं संयम का एक रूपक गीतमें बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। रूपक गीत का संक्षिप्त निम्न प्रकार है।

जब कामदेव को भ० विजयकीर्ति की सुन्दरता एवं कामनाओं पर विजय का पता चला तो वह ईर्ष्या से जल भुन गया और क्रोधित होकर सन्त के संयम को डिगाने का निश्चय किया।

नाद एक वंरि वगि रंगि कोई नावीयो।
मूल संघि पट्ट बंध विविह भावि भावीयो।
तसह भेरी ढोल नाद वाद तेह उपन्नो।
भणि मार तेह नारि कवण आज नीपन्नो।

कामदेव ने तत्काल देवांगनाओं को बुलाया और विजयकीर्ति के संयम को नष्ट करने की आज्ञा दी लेकिन जब देवांगनाओं ने विजयकीर्ति के बारे में सुना तो उन्हे अत्यधिक दुख हुआ और सन्त के पास जाने मे कष्ट अनुभव करने लगी। इस पर कामदेव ने उन्हे निम्न शब्दों से उत्साहित किया।

वयण सुनि नव कामिणी दुख धारिइ महंत।
कही विमासण मझहवी नवि वारयो रहि कंत॥१ ॥
रे रे कामणि म करि तु दुखह।
इंद्र नरेन्द्र मगाव्या भिखह।
हरि हर बभमि कीया रंकह।
लोय सव्व मम वसीहुं निसंकह॥१४॥

इसके पश्चात् क्रोध मान मद एवं मिथ्यात्व की सेना खड़ी की गई। चारो ओर वसन्त ऋतु करदी गई जिसमे कोयल कुहु-कुहु करने लगी और भ्रमर गुजाने लगे। भेरी बजने लगी। इन सब ने सन्त विजयकीर्ति के चारो ओर जो माया जाल बिछाया उसका वर्णन कवि के शब्दो मे पढिए—

बोलंत खेलंत चालत धावत धूणंत।
धूजंत हाक्कंत पूरत मोडत।
तुटंत भंजंत खंजंत मुक्कंत मारत रगेण।
फाडंत जाणंत धालंत फेडंत खग्गेण।
जाणीय मार गमणं रमणं य तीसो।
बोल्यावइ निज वलं सकलं सुधीसो।
सन्नाह बाहु बहु टोप तुषार वंतो।
रायं गणंयता गयो बहु युद्ध कंतो॥१८॥

कामदेव की सेना आपस मे मिल गई। बाजे बजने लगे। कितने ही मनुष्य नाचने लगे। धनुष-बाण चलने लगे और भीषण नाद होने लगा। विषम नाद किये गये। मिथ्यात्व तो देखते ही डर गया और कहने लगा कि इस सन्त ने तो मिथ्यात्व रूपी महान विकार को पहिले ही धो डाला है। इसके पश्चात् कुमति की बारी आया लेकिन उसे भी कार्य मे सफलता नहीं मिली। मोह की सेना भी शीघ्र ही भाग गई अन्त मे स्वयं कामदेव ने उस पर आक्रमण किया। इसका वर्णन पढ़िए—

महा मयण महीयर चडीयो जयवर कम्मह परिकर साथि कियो
मत्सर मद माया व्यसन निकाया पाखंड राया साथि लियो।

उधर विजयकीर्ति ध्यान मे तल्लीन थे। उन्होने शम, दम एवं यम के द्वारा एक भी नही चलने दी जिससे मदन राज को उसी क्षण वहा से भागना पड़ा।

झूंटा झूंट करीय तिहां लग्गा, मयणराय तिहां ततक्षण भग्गा
आपति धो मयणाधिय नासइ,
ज्ञान खडग मुनि अंतिहि प्रकासइ॥२७

इस प्रकार इस गीत में शुभचन्द्र ने विजयकीर्ति के चरित्र की निर्मलता ध्यान की गहनता एवं ज्ञान की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस गीत से उनके महान व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

विजयकीर्ति के महान् व्यक्तित्व की सभी परवर्ती कवियो एवं भट्टारकों ने प्रशंसा की है। ब्र० कामराज ने उन्हे सुप्रचारक के रूप मे स्मरण किया है[1]। भ० सकलभूषण ने यशस्वी, महामना, मोक्षसुखाभिलाषी, आदि विशेषताओं से उनकी कीर्ति का बखान किया है। शुभचन्द्र तो उनके प्रधान शिष्य तो थे ही इसलिए उन्होने अपनी प्रायः सभी कृतियो में उनका उल्लेख किया है[2]। श्रेणिक चरित्र में यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणों से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

जयति विजयकीर्ति पुण्यमूर्तिः सुकीर्तिः
जयतु च यतिराजो भूमिपैः स्पृष्टपादः।

---

१. विजयकीर्तियोऽभवत् भट्टारकपदेशिनः॥७॥
—जयकुमार पुराण

२. भट्टारक श्रीविजयादिकीर्त्तिस्तदीयपट्टे वरलब्धकीर्त्तिः।
महामना मोक्षसुखाभिलाषी बभूव जैनावनियार्च्यपादः॥
—उपदेश रत्नमाला

ग्य-नलिन हिमांशुर्ज्ञानभूषस्य पट्टे,
विविध पर विवादि क्ष्माधरे वज्रपातः ॥२२॥
—श्रेणिक चरित्र।

भ० देवेन्द्रकीर्ति एव लक्ष्मीचन्द चादवाड ने भी अपनी कृतियों में विजयकीर्ति का निम्न शब्दों मे उल्लेख किया है।

विजयकीर्ति तस पटधारी, पगल्या पूरण सुखकार रे।
—प्रद्युम्न प्रबन्ध।

तिन पट विजयकीर्ति जैवंत, गुरू अन्यमती परवत समान।
—श्रेणिक चरित्र।

सांस्कृतिक सेवा

विजयकीर्ति का समाज पर जबरदस्त प्रभाव होने के कारण समाज की गतिविधियों मे उनका प्रमुख हाथ रहता था। इनके भट्टारक काल में कितनी ही प्रतिष्ठाएं हुई। मन्दिरो का निर्माण एव जीर्णोद्धार किये गये। इनके अतिरिक्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों के सम्पादन मे भी इनका विशेष उल्लेखनीय योगदान रहा। सर्वप्रथम इन्होंने सवत् १५५७–१५६० और उसके पश्चात् सवत् १५६१, १५६४, १५६८, १५७० आदि सवतो मे सम्पन्न होने वाली प्रतिष्ठाओं मे भाग लिया और जनता को मार्गदर्शन दिया। इन सवतो में प्रतिष्ठित मूर्तियां डूंगरपुर, उदयपुर आदि नगरों के मन्दिरों में मिलती है। सवत् १५६१ मे इन्होंने सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान एवं सम्यकचारित्र की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए रत्नत्रय की मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया[१]।

स्वर्णकाल : विजयकीर्ति के जीवन का स्वर्ण काल सवत् १५५२ से १५७० तक का माना जा सकता है। इन १८ वर्षों में इन्होने देश को एक नयी सास्कृतिक चेतना दी तथा अपने त्याग एवं तपस्वी जीवन से देश को आगे बढाया। सवत् १५५७ मे इन्हे भट्टारक पद अवश्य मिल गया था। उस समय भट्टारक ज्ञानभूषण जीवित थे क्योकि उन्होने संवत् १५६० मे तत्त्वज्ञान तरगिणी की रचना समाप्त की थी विजयकीर्ति ने सभवत: स्वय ने कोई कृति नही लिखी। वे केवल अपने विहार एव प्रवचन मे ही मार्ग दर्शन देते रहे। प्रचारक की दृष्टि से उनका काफी ऊंचा स्थान बन गया था और बहुत से राजाओ द्वारा भी सम्मानित होते थे। वे शास्त्रार्थ एवं वाद विवाद भी करते थे और अपने अकाट्य तर्कों से अपने विरोधियो से अच्छी टक्कर लेते थे। जब वे बहस करते तो श्रोतागण मत्र मुग्ध हो जाते और उनकी तर्कों को सुनकर उनके ज्ञान की प्रशंसा किया करते। भ० शुभचन्द्र ने अपने एक गीत मे इनके शास्त्रार्थ का निम्न प्रकार वर्णन किया।

वादीय वाद विटंब वादि सिगाल मद गंजन।
वादीय कंद कुदाल वादि श्रावय मन रजन।
वादि तिमिर हर सूरि, वादि नीर सह सुधाकर।
वादि विटबन वीर वादि निगाण गुण सागर।
वादीन विबुध सरसति गछि मूलसंघि दिगंबर रह।
कहि ज्ञानभूषण सो पट्टि श्रीविजयकीर्ति जागो यतिवरह ॥५

इनके चरित्र ज्ञान एव सयम के सम्बन्ध मे इनके शिष्य शुभचन्द्र ने कितने ही पद्य लिखे है उनमें से कुछ का रसास्वादन कीजिए—

सुरनर खग वर चारुचद्र चर्चित चरणद्वय।
समयसार का सार हंस भर चिंतित चिन्मय।
दक्ष पक्ष शुभ मुक्ष लक्ष्य लक्षण पतिनायक।
ज्ञान दान जिनगान अग्र चातक जलदायक।
कमनीय मूर्ति सुन्दर सुकर धर्म्म शर्म कल्याण कर।
जय विजयकीर्त्ति सूरीश वर श्री श्री वर्द्धन सौख्य वर ॥७
विशद विसंवद वादि वरन कुंड गद भेषज।
दुर्नय वनद समीर वीर वंदित पद पंकज।
पुन्य पयोधि सुचंद्र चद्र चामीकर सुन्दर।
स्फूर्ति कीर्ति विख्यात सुमूर्ति सोभित सुभ संकर।
समार सर्प बहु दर्प्प हर नागरमनि चारित्र धर।
श्री विजयकीर्त्ति सूरीय जयवर श्री वर्द्धन पंकहर ॥८॥

इस प्रकार विजयकीर्ति अपने समय के महान् सन्त थे जिनके विषय मे अभी पर्याप्त खोज होना बाकी है।

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १४४

२. यः पूज्यो नृपमल्लिभैरवमहादेवेन्द्र मुख्यैर्नृपैः।
षटतर्कागमशास्त्रकोविदमतिर्जाग्रतयशश्चंद्रमाः॥
भव्यांभोरुहभास्करः शुभकरः संसारविच्छेदकः।
सोव्याच्छ्रीविजयादिकीर्ति मुनिपो भट्टारकाधीश्वरः।
वही पृ० १४४

महाकवि समयसुंदर और उनका दानशील तप भावना संवाद

सत्यनारायण स्वामी एम. ए.

राजस्थान मे एक कहावत है—'समयसुदर रा गीतड़ा, कुंभे राणे रा भींतड़ा' अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुंभा द्वारा बनवाये हुए संपूर्ण मकानों, मदिरों, स्तंभों और शिलालेखों आदि का पार पाना कठिन है उसी प्रकार समयसुदर जी विरचित समस्त गीतों का पता लगा पाना भी दुष्कर कृत्य है; उनके गीत अपरिमित है।

कवि-परिचय

महाकवि समयसुदर १७हवी शताब्दी के लब्धप्रतिष्ठ राजस्थानी जैन कवि हुए हैं। उनका जन्म पोरवाल जातीय पिता श्री रूपसिह और माता लीलादेवी के यहां अनुमानतः सवत् १६१० वि० मे साचोर (सत्यपुर) मे हुआ। बाल्यावस्था में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर क्रमश महोपाध्याय पद प्राप्त किया। मधुर स्वभावी महाकवि अपनी अप्रतिम विद्वत्ता से अपने जीवन-काल में ही प्रशंसित हो चुके थे। उनने भारत के अनेक प्रदेशों का भ्रमण करके अपनी नानाविध रचनाओ और सदुपदेशो द्वारा तत्रस्थ जनसमुदाय को कल्याणपथ की ओर अग्रसर किया। सौभाग्यवश महाकवि ने दीर्घायु प्राप्त की थी। सं० १७०३ में उन्होंने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अहमदाबाद में समाधिपूर्वक नश्वर देह को त्याग कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया। अपनी इस दीर्घायु में महाकवि ने सस्कृत और राजस्थानी की अनेक रचनाएँ कीं। "इनकी योग्यता एव बहुमुखी प्रतिभा के सबध मे विशेष न कह कर यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचद्राचार्य के पश्चात् प्रत्येक विषय मे मौलिक सर्जनकार एवं टीकाकार के रूप मे विपुल साहित्य का निर्माता अन्य कोई शायद ही हुआ हो[1]।" 'सीताराम-चौपाई' नामक वृहत्काय जैन-रामायण कवि की प्रतिनिधि रचना है। उनके अपरिमित फुटकर गीत भी बडे महत्त्वपूर्ण है। महाकवि के संबंध में विस्तृत जानकारी एवं उनकी लघु रचनाओं के रसास्वादन के लिए श्री अगरचद नाहटा और भँवरलाल नाहटा संपादित 'समयसुदर कृति-कुसुमांजली' दृष्टव्य है। यहा प्रस्तुत है उनकी अनेक लघुकृति 'दान शील तप भावना सवाद' का संक्षिप्त अध्ययन।

1. महोपाध्याय विनयसागर: 'समयसुंदर कृति-कुसुमांजलि' गत निबंध 'महोपाध्याय समयसुंदर', पृ० १.

कृति-परिचय

प्रस्तुत कृति की रचना स० १६६२ मे राजस्थान के भूतपूर्व आमेर (जयपुर) राज्य के सागानेर नगर मे हुई[1]। इसके दो अपर नाम श्री अगरचद भँवरलाल नाहटा के अनुसार 'दान शील तप भावना सवाद शतक' और श्री विनयसागर के अनुसार 'दानादि चौढालिया' है यद्यपि स्वय महाकवि ने इसका नाम 'दान शील तप भावना सवाद' ही रखा है—

> दान सील तप भावना रे रास रच्यउ सवादो रे।
> भणतां गुणतां भावसुं रे, रिद्धि समृद्धि सुप्रसादो रे।।
> ।। ढाल ५ छद १० ।।

पाच ढालो में आबद्ध कुल एक सौ एक छदों की इस

---

1. सोलै सै बासठ समै रे, सांगानेर मझार।
   पद्म प्रभू सुपसाउ लै रे, एह थुण्यो अधिकारो रे ।।
   —स. कृ. कु. मे विनयसागरजी का निबंध, पृ० ५६
   [नाहटा-बंधुओं द्वारा प्रकाशित रास मे इसका रचना-संवत् 'सोलह सइ छासठि' छपा है जो सभवतः प्रूफ रीडिंग की भूल रही है, अन्यथा अपने 'सीताराम-चौपाई' की भूमिका मे (पृ० ४०) उन्होंने इसका रचना सं० १६६२ ही लिखा है। श्री देसाई (मोहनलाल दलीचद) ने भी अपने निबंध 'कविवर समयसुंदर' (आनंदकाव्य महोदधि मौ० ७, पृ. ३५) मे इसी संवत् का उल्लेख किया है।]

लघु कृति मे रूपकात्मक ढंग से दान, शील, तप और भावना—धर्म के इन चारो तत्त्वों का परस्पर विवाद प्रदर्शित किया गया है।

प्रारंभ

कृति के प्रारभ में मगलाचरण के रूप मे महाकवि ने प्रथम जिनेश्वर ऋषभदेव भगवान का वदन तथा गुरु-प्रसाद का स्मरण किया है—

प्रथम जिणेसर पय नमी, पामी सुगुरु प्रसाद।
दान सील तप भावना, बोलिसि बहु सवाद ॥ दोहा १॥

रास का सार

रास का सार इस प्रकार है—

एक बार भगवान महावीर राजगृह के उद्यान मे समोसरे (पधारे)। जब वे बारह परिषदों को उपदेश देने वाले थे कि दान ने उनसे कहा—प्रभो! मै बडा हूँ एतदर्थ व्याख्यान मे पहले मेरा माहात्म्य बतलाये१। और उसने बडे दर्प के साथ अपने साथियों से कहा—सब सुन लो, है कोई मेरे समान महान? दीक्षा-प्रसग पर भगवान भी पहले दान देते है। दाता का प्रातःकाल उठते ही नाम स्मरण किया जाता है और उसकी मनोकामना तो सिद्ध होती है२। समस्त संसार को वश मे करना मेरे लिए जरा-सी बात है। मुझ जैसा ऋद्धि-समृद्धि का दाता भी संसार मे कोई नही३।

तत्पश्चात् वह उन महान आत्माओ का नामोल्लेख करता है जिसका कि निस्तार दान के द्वारा हुआ था—सुमुख नामक गाथापति, चक्रवर्ती भरत, शालिभद्र को मेरे ही प्रसाद मे ही सुख मिला। मूलदेव उडद के बालको के दान द्वारा राजा बन गया। भगवान ऋषभदेव को इक्षु रस का पारणा कराने से श्रेयासकुमार भवसागर से तर गया४। श्रेणिक राजा ने गज के भव मे शशक को प्राण-दान दिया जिसके फलस्वरूप उसे मेघकुमार-से पुत्र की प्राप्ति हुई५। इस प्रकार उसने चदनबाला सती का भी उल्लेख किया।

इसी बीच शील ने उसे टोक दिया—अरे, क्यो व्यर्थ का अहकार कर रहा है। याचक के साथ तुम्हारा आठों प्रहर आडबर का व्यवहार रहता है। तुम्हारा आगे बढना क्या अर्थ रखता है? सब कुछ तो मेरे पीछे है। भला सवारी के आगे चलने वाला दास भी कभी राजा हो सकता है६। कोई जिनेन्द्र का नया ही स्वर्ण-मंदिर बनवाये और करोडों का सोना दान दे तब भी वह मेरी समता नही कर सकता७। शील से समस्त सकट टल जाते है, यश और सौभाग्य की प्राप्ति होती है तथा देवताओ का सान्निध्य प्राप्त होता है। यही क्यो, शील-व्रत-धारी को न तो साप छू सकता है, न अग्नि जला सकती है तथा न अन्य भीषण वन्य प्राणी ही भयभीत कर सकते है८।

तत्पश्चात् शील भी दान की तरह डीग हांकते हुए उन समस्त नर-नारियो का जिक्र करता है जिनका उसके द्वारा उद्धार हुआ है। वह कहता है—जगद्विख्यात कलह कराने वाला और भ्रमणशील नारद को मैंने सिद्धि दी९। रावण के घर से आई सीता को अग्नि-परीक्षा मे पावक को पानी बनाकर मैंने ही सफलता दिलाई थी। पांडवों

---

१. बइठी बारह परषदा, सुणिवा जिणवर वाणि।
दान कहइ प्रभु हूँ बडउ, मुझ नइ प्रथम बखाणि॥
प्र० दो० ३

२ प्रथम पहरि दातार नुं, ल्यइ सहु कोई नाम।
दीधां री देवल चडइ, सीझइ वंछित काम॥१।५

३. दान कहइ जणि हुँ बडउ, मुझ सरिखउ नही कोय।
रिद्धि समृद्धि सुख संपदा, दानइ दउलति होय॥१।२

४. प्रथम जिणेसर पारणइ, श्री श्रेयांसकुमार।
सेलडि रस विहरावियउ, पाम्यउ भवनउ पार॥१।७

५. गज भव ससिलउ राखियउ, करुणा कीधी सार।
श्रेणिक नइ घरि अवतर्यउ, अगज मेघकुमार॥१।१०

६. गर्व म कर रे दान तूं, मुझ पूठइ सहु कोय।
चाकर चालइ आगलि, तउ स्यु राजा होइ॥१।३

७. जिन मदिर सोना तणउ, नवउ नीपावइ कोय।
सोवन कोडिको दान द्यइ, सील समउ नहि कोय॥१।४

८. सीलइ सर्प न आभडइ, सीलइ सीतल आगि।
सीलइ अरि करि केसरी, भय जायइ सब भागि॥१।६

९. कलिकारक जगि जाणियइ,
वलि विरति नही पणि काइ रे।
ते नारद मइ सीझव्यउ, मुझ जोवउ ए अधिकाइ रे।२।२

द्वारा हरी गई द्रौपदी की लज्जा एक सौ आठ बार वस्त्र प्रदान कर मैंने ही बचाई थी१। इनके अतिरिक्त वह सती कलावती,सुभद्रा, सुदर्शन सेठ, सनाह मनोरेश्वर; सती-ब्राह्मी, चन्दनबाला, चेटानरेश की सातों पुत्रियों, राजिमती और कुंती इत्यादि की भी इस संबंध मे चर्चा करता है।

शील की बात काटकर तप उससे कड़क कर बोला—तू बढ-बढ कर क्यो बोल रहा है, मेरे सामने तुम्हारी क्या औकात है? तूने स्वादिष्ट भोजन, मधुर तान और शरीर-सज्जा का तो परित्याग कर रखा है। आनंद नाम की तो तुम्हारे पास चीज ही क्या है? नारी से डरने वाला तथा झूठ-कपट द्वारा ज्यों-त्यों करके प्राण बचाने वाला तू कायर क्यो बाते बघार रहा है? तुम्हारा सम्मान तो विरला ही करता है क्योंकि तू यदि नष्ट होता है तो चारों को भी साथ ले बैठता है२। और इधर मैं! मेरा स्पर्श पाकर तो कुष्ट आदि रोग भी हवा हो जाते है। उत्तम तप से अट्ठाईस लब्धियां उत्पन्न होती है३। मैंने जिन्हे तारा है उन्हे जानकर तू आश्चर्यचकित रह जायगा। ले सुन—

सात मनुष्यों को सदैव मौत के घाट उतारने वाले अर्जुनमाली के घोर पापो का पलायन करके मैंने ही उसके कठोर कर्मो को काटा है४। इसी तरह नंदिषेण, हरिकेशी चडाल, विष्णुकुमार, धन्ना अणगार, ढंढण ऋषि और बलभद्र आदि अनेक तपस्वियों का मैंने निस्तार किया है।

इन तीनों का विवाद अभी समाप्त ही नही हुआ कि भाव बीच मे ही कूद पडा—अरे तुम तीनों क्यो झूठा अभिमान करते हो। महान लोग कहते आये है कि धर्म मे भाव ही प्रमुख होता है बाकी सब गौण५। इस बात का साक्षी तो व्याकरणवेत्ता ही दे देगे कि तुम लोग नपुसक हो अत मेरे अभाव में आप से कुछ भी कार्य संपन्न नही हो सकता६। रस के बिना कनक की उत्पत्ति, जल के बिना वृक्षों में वृद्धि और लवण के बिना जैसे भोजन में स्वाद नही आ पाता उसी प्रकार मेरे बिना किसी को सिद्धि भी नही मिल सकती। मंत्र, तंत्र, मणि, औषधि तथा देवता, धर्म और गुरू की सेवा मे यदि भावना का समावेश नही हुआ तो ये कदापि फलदायी नही होते७। तुम लोगो ने अभी जो अपने वृतांत कहे उनमे यदि भाव नहीं होता तो सिद्धि मिलती ही नहीं। और मैंने, मैंने अकेले ही बहुत से नर-नारियों को मुक्ति दिलाई है, जरा सावधान होकर उनके नाम भी सुन लो। और वह नाम सुनाने लगता है जो इस प्रकार है—प्रसन्नचंद्र ऋषि, इलापुत्र करगडू अणगार, कपिल, अतगड केवली, खदकसूरि के शिष्य, चडरुद्र, मगावती, मरुदेवी, दुगता, भरत, आषाढ-भूति, गजसुकमालद, पृथ्वीचद आदि।

भगवान महावीर अब तक इन चारो का विवाद सुन रहे थे। उन्हे धर्म-कर्म के संबध मे झगडते रहना भला नही लगा इसलिए वे चारों को ही परनिंदा से विरत होने का उपदेश देने लगे—निदक जैसा पापी कोई नही होता। चंडाल की तरह होता है वह। उसका मुँह तक कोई नही देखना चाहता। इसलिए आप परनिदा और अहंकार का परित्याग कीजिए। अपने-अपने स्थान पर रहने से ही

१. पहिरण चीर प्रगट कीया, मइ अट्ठोत्तर-मइ वारो रे।
पाडव हारी द्रुपदी, मइ राखी माम उदागे रे ॥२/८

२. सरसा भोजन तइ तज्या, न गमइ मीठी नाद।
देह तणी सोभा तजी, तुझ नइ किस्यउ सवाद ॥२/२
नारि थकी डरतउ रहइ, कायरि किस्यउ बखाण।
कूड कपट बहु केलवी, जिम तिम राखइ प्राण ॥३
को विरलउ तुझे आदरइ, छाडइ सहु संसार।
एक आप तू भाजतउ, बीजा भाजइ च्यार ॥४

३. मुझ कर फरसइ उपसमइ, कुष्टादिक ना रोग।
लबधि अट्ठावीस ऊपजइ, उत्तम तप सयोग ॥२/८

४. सात माणस नित मारतउ, करतउ पाप अघोर हो।
अरजुनमाली मइं ऊधरयो, छेद्या करम कठोर हो।३/३

५. दान सील तप साभलउ, म करउ झूठ गुमान।
लोक सहू बड़े साखि द्यै, धरमइं भाव प्रधान ॥३/४

६. आप नपुसक सहु त्रिण्हे, छइ व्याकरणी साखि।
काम सरइ नही को तुम्हे, भाव भणइ मो पाखि ॥३/५

७. मत्र, तंत्र, मणि औषधि, देव धरम गुरु सेव।
भाव विना ते सवि वृथा, भाव फलइ नितमेव ॥३/७

८. दीक्षा दिन काउसगि रह्याउ, गयसुकमाल मसाणि।
सोमिल सीस प्रजालीउं रे, सिद्धि गयउ सुहभाणि ।४/१७

सारा संसार भला लगता है५। तत्पश्चात् भगवान महावीर अपना चातुर्तत्त्वसमन्वित धर्मोपदेश प्रारभ करते है६।

काव्यत्व

भाव-पक्ष की दृष्टि से तो रचना मे धर्मोपदेश ही की प्रमुखता है। भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म के चारों तत्त्वों पर आचरण करने की प्रेरणा तो प्रस्तुत कृति से मिलती ही है, सहृदयों को शात रस से सराबोर होने का भी सुअवसर मिलता है।

भगवान महावीर ने तो यद्यपि विवाद मिटाने के लिए मध्यम मार्ग निकाल कर दान शील तप और भाव को समान बतलाया है१। किन्तु महाकवि फिर भी निष्कर्ष रूप मे भाव को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, क्योंकि वह अकेला ही सर्वथा समर्थ है, यद्यपि बुरा वे तीनों को भी नहीं बतलाते२।

कला-पक्ष भी कृति का समृद्ध है। सरल और मुहावरेदार चुटीली भाषा मे धर्म-तत्त्वों का सवाद बड़ा ही रोचक है। दोहा और पाच देशी ढालों—१. मधुकर, २ पास जिणंद जुहारीयइ, ३ नणदल(दल), ४. कपूर हुयइ अति ऊजलु रे तथा ५. चेति चेतन करी—मे कृति आबद्ध है। उपमा, उदाहरण, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग विशेषत. हुआ है।

५. को केहनी म करउ तुम्हे, निंदा नइ अहकार।
आप आपणी ठामइ रह्यउ, सहु को भलउ ससार ॥४/५

६. धरम हीयइ धरउ, धरम ना च्यार प्रकारो रे।
भवियण सांभलउ, धरम सुगति सुखकारो रे ॥५/२

१. भगवन हठ भाजण भणी, च्यारे सरिखा गणति।
च्यार करी सुख आपणा, चतुर्विध धरम भणति ॥४/८

२ नउ पणि अधिकउ भाव छइ, एकाकी समरत्थ।
दान सील तप त्रिण भला, पणि भाव बिना अकयत्थ ॥४/६
अजन आखे आजता, अधिको आणि ए रेख।
रज माहे तज कादता, अधिकउ भाव विशेष ॥७

साहित्य-समीक्षा

१. **प्राकृत भाषा**—लेखक डा० प्रबोध बेचरदास पडित, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी। पृ० सख्या ५७ मूल्य डेढ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक प्राकृत भाषा पर सन् १९५३ मे दिये गये प्रबोध पडित के तीन भाषाओं का सकलन है। जिसे उन्होंने सितम्बर के महीने मे बनारस यूनिवर्सिटी के भारती महाविद्यालय में दिये थे। उनमे पहला भाषण प्राकृत भाषा की ऐतिहासिक भूमिका, दूसरा प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग। इस भाषण में प्राकृत सम्बन्धि अनेक बोलियों पर विचार करते हुए व्याकरण की दृष्टि से प्राकृत भाषा के कुछ रूपों पर विचार किया गया है। तीसरा है प्राकृत का उत्तर कालीन विकास। इस निबन्ध मे महावीर और बुद्ध के समय प्रतिष्ठित प्राकृतों का विकास भारतीय आर्य प्रदेश में होता है और अश्वघोष के समय मे प्राकृत साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लेती है। बोलियो के भेद से ही प्राकृत के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते है। नाटकों की प्राकृतो पर भी विचार किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक प्राकृत के छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है।

२. **बौद्ध और जैनागमों में नारी जीवन**—लेखक डा० कोमलचन्द जैन, प्रकाशक सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति अमृतसर। पृ० सख्या २७० मूल्य १५ रुपया।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मे, जिस पर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस से लेखक को पी-एच. डी की डिग्री मिली है। ग्रन्थ के ७ अध्यायों में बौद्ध और जैनागमो मे विहित नारी के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अधिकारों मे विवाहो का कथन करते हुए स्वयंवर विवाह पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। और नायधम्मकहा के अनुसार उसके स्वरूप और विशेषताओ पर विचार किया गया है, और लिखा है कि बौद्धागमो मे स्वयंवर विवाह का कोई उल्लेख नही है जब कि श्वेताम्बर नायधम्मकहा में उस पर विस्तृत विचार किया गया है। स्वयंवर विवाह के सबन्ध मे दिगम्बर ग्रन्थों का कोई उल्लेख नहीं किया गया जबकि दि० कथा-ग्रन्थो मे राजा अकपन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का उल्लेख है जिस में भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति, जयकुमार (भरत सेनापति) और अन्य अनेक राजकुमार पधारे थे। स्वयवर मे सुलोचना ने वरमाला जयकुमार के गले मे डाली थी। इसमें कुछ विरोध हुआ और युद्ध में जयकुमार विजयी हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वयवर का उल्लेख बहुत प्राचीन और महत्वपूर्ण है। दूसरे सीता और द्रौपदी के स्वयवर की घटनाएँ भी उल्लिखित मिलती हैं।

तीसरे प्रकरण मे वैवाहिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है उससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे पत्नी को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। बौद्धागमो में पत्नी के भेद बाह्य परिस्थिति और स्वभाव को लक्ष्य रखकर किये गये है। उन पर से उस काल की पत्नी के प्रकारों का सामान्यबोध हो जाता है। इस तरह यह शोध प्रबन्ध अपने विषय का स्पष्ट विवेचक है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक सस्था दोनो ही धन्यवाद के पात्र है। मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

३. **जीवन-दर्शन**—लेखक गोपीचन्द धाड़ीवाल। संपादक डा० मोहनलाल मेहता, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्था वाराणसी-५। पृ० सख्या ९८ मूल्य तीन रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक मे श्रमण मे प्रकाशित लेखो का चयन किया गया है जो लेखक द्वारा समय-समय पर लिखे गये है। उन्हें आत्मविज्ञान, अध्यात्मवाद, कर्मविज्ञान, अहिंसा और अहिंसा-साधना रूप पांच प्रकरणो मे विभक्त किया गया है। सभी प्रकरण सम्बद्ध और जनसाधारण के हित की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर लिखे गये है। लेखक की विचारधारा सन्तुलित और प्रेरणाप्रद है। पुस्तक उपयोगी है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र है।

४ **मेरा धर्म केन्द्र और परिधि**—लेखक आचार्य तुलसी, प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी प्रबन्धक आदर्श साहित्य सघ चूरू (राजस्थान) पृ० सख्या १२८ मूल्य सजिल्द प्रति का दो रुपया पच्चीस पैसा।

प्रस्तुत पुस्तक में २५ निबन्ध विविध विषयो पर दिये हुए है, जिनमे वस्तुत्व का का विवेचन सरल भाषा मे किया गया है। इनमे से कतिपय निबन्ध आधुनिक दृष्टि से विवेचित है, जैसे लोकतंत्र और चुनाव, विश्वशान्ति और अणुशास्त्र, युद्ध और सन्तुलन, सर्व धर्म समभाव और स्याद्वाद एशिया मे जनतंत्र का भविष्य। आचार्य तुलसी ने जनमानस को वस्तुतत्व का बोध कराने के लिए यह उपक्रम किया है। प्रकाशन सुन्दर है।

परमानन्दजैन शास्त्री

अपनी संभाल

अन्तरङ्ग के परिणामो पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा पर पदार्थों की लिप्सा से निरन्तर दुखी हो रहा है, आना जाना कुछ भी नही। केवल कल्पनाओं के जाल में फसा हुआ अपनी सुध मे बेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही पोष है। एक आगम ही शरण है यही आगम पच परमेष्ठी का स्मरण करा के विभाव से आत्मा की रक्षा करने वाला है। —वर्णी वाणी से

श्रद्धाञ्जलि

ईसरी के सन्त पूज्य वर्णी गणेश प्रसाद जी की ६४वी जन्म जयन्ती आश्विन चतुर्थी २२ सितम्बर को मनाई गई। पूज्य वर्णी जी मानव समाज के आध्यात्मिक सन्त थे। उन जैसा सहृदय व्यक्ति अन्य देखने मे नही आता। जैन धर्म की जितनी दृढ श्रद्धा और समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों का जितना गम्भीर मनन उन्हें था, अन्य को शायद ही हो। उनका हृदय सबके प्रति निर्मल भावनाओं मे ओत-प्रोत था। सब का मगल चाहने वाले, और खासकर विद्वानों के शुभचिन्तक महामना वर्णी जी अब यहा नही है, किन्तु उनकी अमर आत्मा परलोक मे सुख-शान्ति का अनुभव कर रही होगी।

दिल्ली के चातुर्मास मे जो लोग हरिजन मन्दिर प्रवेश के कारण उनके विरोधी थे, उनके प्रति भी उनका वैसा ही धार्मिक भाव बना हुआ था, उसमे रचमात्र भी परिवर्तन नही हुआ और न कभी उनके प्रति अप्रिय शब्द का व्यवहार ही किया। इससे उनकी निर्मल परिणति का सहज ही आभास हो जाता है। उनकी इस सम परिणति के कारण उनके विरोधी भी परोक्ष मे प्रशसा करते थे। उस महान आत्मा के प्रति वीर सेवा मदिर परिवार अपनी श्रद्धाजलि अर्पण करता है। साथ ही समाज से निवेदन करता है कि उनका स्मारक उनकी पवित्र भावनाओं और अभिलाषाओं के अनुरूप होना चाहिये।

—वीर सेवा मन्दिर परिवार

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झाझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, राँची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाडी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकडी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्डया झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम ए, डी लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द १५-००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १- ०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १ ५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... ७५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (६) महावीर पूजा २५

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत २५

(१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. प० परमान्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०-००

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अग्रेजी मे अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक
अक्तूबर १९६७

अनेकान्त

भगवान ऋषभदेव

गर्ढा—(सवाई माधोपुर) में भूगर्भ से प्राप्त स० १३५० की मूर्ति

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत एक अपूर्व ग्रंथ

डा० ए. एन. उपाध्ये

मुनि श्री पुण्यविजय की ज्ञानाराधना से विद्वत्समाज पूर्ण परिचित है। कितने ही प्राचीन ग्रन्थों का जीर्णोद्धार, संशोधन और प्रकाशन उनके शुभ हस्त से हुआ है।

अभी ज्ञानपंचमी के शुभ दिन उनका कृपा पत्र मुझे मिला है। उसमें वे कहते है—

'मैं कुछ कार्य के लिए ईडर का ज्ञानभण्डार को देखने गया था। वहाँ पर ताडपत्र में लिखा हुआ आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत अपूर्व ग्रन्थ देखा। श्री अमृतचन्द्राचार्य की इस कृतिका उल्लेख आपकी प्रस्तावना मे नही मिला। अत. प्रतीत हुआ कि श्री अमृतचन्द्राचार्य की यह कृति अज्ञात ही है। ग्रन्थ का नाम है—

शक्तिमणितकोश अपर नाम **लघुतत्त्वस्फोट**

इसमें पच्ची-पच्चीस पद्यात्मक पच्चीस पच्चीसियाँ है। अर्थात् पञ्चविंशति पञ्चविंशिकायें है। इसकी रचना आलंकारिक एवं प्रासादिक है। थोडे ही समय मे इसकी प्रेसकापी-पाण्डुलिपि हो जायगी। बाद मे विद्यामन्दिर की ओर से प्रकाशित किया जायगा।'

श्रावक और श्राविकाओ मे श्री अमृतचन्द्र का खास स्वाध्यायी बहुत है। इस वार्ता से उनका समाधान होगा—ग्रंथ यथाशीघ्र प्रकाशित किया जायगा। और कई जगह इस ग्रंथकी प्रति किसी को परिचित हो तो सूचना दीजिये।

मुनिश्री पुण्यविजयजी की उमर ७३ वर्ष है, और अभी उनके मोतियाबिंदुका ऑपरेशन होने वाला है। उनसे अभी पत्र व्यवहार करके उन्हे कष्ट देना ठीक नही—यही विनती है।

अनेकान्त को सहायता

बाबू नानालाल जी के० मेहता, एडवोकेट अनेकान्त के बड़े प्रेमी है। शुरू मे अनेकान्त के सदस्य है। आपने इस वर्ष पर्यूषण पर्व मे अनेकान्त के लिये दश १०) रुपया भेजे है। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र है। आशा है अन्य विद्वान भी इसका अनुकरण करेंगे।

व्यवस्थापक **'अनेकान्त'**

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २० किरण ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० सं० २०२४ | अक्तूबर सन् १९६७

शान्तिनाथ-स्तोत्रम्

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं,
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भर्त्सितार्कप्रभं,
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥१॥
देवः सर्वविदेव एव परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमताः ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः,
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥२॥

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—जिस शान्तिनाथ भगवान के एक-एक के ऊपर इन्द्रो के द्वारा धारण किए गए चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हुए निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञान रूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित होते हैं. वह पापरूप कालिमा से रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करे ।।१।। जिसकी भेरी देवों द्वारा ताड़ित होकर मानो यही घोषणा करती है कि तीनो लोकों का स्वामी और सर्वज्ञ यह शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव हैं और दूसरा नही है; तथा समस्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इसी के वचन सज्जनो को अभीष्ट हैं—दूसरे किसी के भी वचन उन्हे अभीष्ट नही हैं; वह पापरूप कालिमा से रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करे ।।२।।

मन्दसोर में जैनधर्म

गोपीलाल 'अमर' एम. ए.

दशपुर मन्दसोर :

प्राचीनकाल में मन्दसोर१ को दशपुर२ कहते थे३। दशपुर एक देश४ का नाम था५, उसकी राजधानी६ भी दशपुर कहलाती थी७। 'मन्दसोर' शब्द 'मढ़द दशउर' का तद्भव रूप प्रतीत होता है जिसका अपभ्रंश 'मढ दसउर' होगा। 'दसउर' का पाणिनीय व्याकरण द्वारा संस्कृतीकृत रूप 'दसोर' होगा९। 'मढ' शब्द का मुखसुख के लिए गढा हुआ रूप 'मण' और फिर 'मन होगा। 'मन दसोर१०' ही 'मन्दसोर' या 'मदसोर' बना होगा११।

संक्षिप्त इतिहास :

रामायणकालीन चन्द्र वंशी राजा रन्तिदेव की राजधानी दशपुर मे थी१२। छठी शती ई० पू० के अवन्ति-

१. मध्यप्रदेश के पश्चिम मे इसी नाम के एक जिले का मुख्यालय।

२. इस नाम की सार्थकता सिद्ध करने वाली एक मनोरजक घटना का उल्लेख आवश्यक सूत्र की चूर्णि, निर्युक्ति और वृत्ति आदि मे इस प्रकार मिलता है .
महाराज उदयन (छठी शती ई० पू०) चण्डप्रद्योत को बन्दी बना कर अपनी राजधानीको ले जा रहा था कि वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने मे वह अपने अधीनस्थ राजाओं के साथ मार्ग में ही ठहर गया। उन राजाओं ने सुरक्षा के लिए दस दस किले बना लिए। चार माह में वहाँ ग्रामवासियों का यातायात और आवास भी प्रारम्भ हो गया। वर्षाकाल के पश्चात् उदयन और वे राजा तो वहा मे चले गए पर जो लोग वहाँ रहने लगे थे वे वही रहते रहे और वहा एक नगर ही बस गया जिस दस पुरो (किलों) के कारण 'दशपुर' ही कहा जाने लगा।

३. कुमारगुप्त के दशपुर अभिलेख (श्लोक ३०) मे इसे 'पश्चिमपुर' भी कहा गया है क्योकि गुप्तकाल मे यह पश्चिम भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

४. 'क्लीब दशपुर देशे पुरगोनदंयोरपि' **विश्वलोचनकोश** (बम्बई, १९१२), रान्तवर्ग, श्लोक २७३, पृ. ३२२

५. प्राचीन जनपदों की परम्परागत सूचियों मे दशपुर का नाम नही मिलता, उसे अवन्ति या मालवा मे अन्तर्गभित किया गया है।

६. काशी देश की राजधानी वाराणसी भी कालान्तर मे 'काशी' ही कही जाने लगी थी।

७ **बृहत्संहिता** (२४, २०) और कुमार गुप्त तथा बन्धुवर्मन् के **पाषाणस्तम्भ** लेख मे इसे एक नगर के रूप मे ही उल्लिखित किया गया है।

८. मढ़ नाम का एक स्थान मन्दसोर के पास आज भी विद्यमान है।

९. 'दस+उर', 'अदेङ् गुण. (**अष्टाध्यायी**, १।१।२)' सूत्र से गुण संज्ञा और 'आद् गुण (वही ६।१।६७)' सूत्र से गुण स्वर सन्धि होने पर 'दसोर' होगा।

१०. मन्दसोर के लिए दसोर शब्द भी प्रयुक्त होता है। देखिए, **ग्वालियर स्टेट गजेटियर**, प्रथम भाग पृ० २६५ और आगे इस क्षेत्र में कुछ समय पूर्व तक पाये जाने वाले दसोरा ब्राह्मण भी यही सिद्ध करते है।

११. कुछ विद्वान् इसे 'मन्दसौर' मान कर कहते है कि यहा चूंकि सौर (सूरस्य इदं सौरम्) अर्थात् सूर्य का तेज मन्द होता है (मन्द सौरं यस्मिन् तत् मन्दसौरं नाम नगरम्) अत. यह मन्दसौर कहा जाता है।

१२. **मेघदूत** (पूर्व मेघ), श्लोक ४५ पर मल्लिनाथ का टीका।

नरेश चण्डप्रद्योत का अधिकार भी दशपुर पर रहा[13]। मौर्य सम्राट् अशोक जब अवन्ति महाजनपद का क्षत्रप था तब उसके पश्चिम प्रान्तीय शासन मे दशपुर भी सम्मिलित रहा होना चाहिए। उसके पश्चात् यहाँ शुङ्ग और शक राजाओं का अधिकार रहा। प्रारम्भिक सातवाहनों ने नासिक, शूर्परिक, भृगुकच्छ और प्रभास के साथ दशपुर को नष्ट-भ्रष्ट किया था[14]। क्षहरात क्षत्रप नहपान के शासनकाल मे उसके दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) ने जन साधारण के उपयोग की बहुत सी चीजे दशपुर लाकर अशोक की कीर्ति से प्रतिस्पर्धा की थी[15]। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी दिग्विजय यात्रा मे वर्मन् राजवश को अपने अधीन करके उन्हे दशपुर का राज्यपाल नियुक्त किया था। विश्ववर्मन्[16] इन राज्यपालो मे से एक था, जो कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल मे भी विद्यमान था। इसके पश्चात् यहा वर्धन, मोरेवरी, मैत्रक और कलचुरी आदि शासकों ने शासन किया[17]।

जैन धर्म :

दशपुर मे जैनधर्म का प्रचार प्राचीनकाल से ही रहा है। उसकी गणना जैन तीर्थों मे की गयी है[18] और आज भी उसकी वन्दना की जाती है[19]। छठी शती ई० पू० मे सिन्धु सौवीर देश[20] के वीतभय पत्तनपुर[21] के राजा उदायन[22] के पास महावीर स्वामी की एक चन्दन की प्रतिमा थी जिसे जीवन्त स्वामी कहा जाता था। इसकी पूजा उदायन और उसकी रानी प्रभावती किया करती थी। प्रभावती की मृत्यु के पश्चात् उसकी दासी देवदत्ता उस मूर्ति की पूजा किया करती थी। उसका उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत से प्रेम हो गया जिसके साथ वह उज्जयिनी भाग गयी। भागते समय वह अपने साथ जीवान्त स्वामी की मूर्ति भी लेती गयी लेकिन उसके स्थान पर एक वैसी ही दूसरी मूर्ति छोड़ गयी। यह सब ज्ञात होते ही उदायन ने चण्डप्रद्योत का पीछा किया और उसे कैद कर लिया। लौटते समय, अतिवृष्टि के कारण उदायन चार माह के लिए शिवना के तट पर रुक गया। एक दिन पर्युषण पर्व मे उसका उपवास था। रसोइए से यह जान कर चण्डप्रद्योत ने भी अपना उपवास घोषित कर दिया। यह सुनकर उदायन समझा कि चण्डप्रद्योत जैनधर्मावलम्बी है अत. उसने उसे ससम्मान मुक्त कर दिया[23]। फिर उसने उस प्रतिमा को लेकर वहाँ से प्रस्थान करना चाहा

१३. **आवश्यक सूत्र** की वृत्ति आदि।

१४. ला, विमलचरण . **हिस्टोरिकल जाग्रफी ऑफ ऐंश्येंट इण्डिया**, पृ० २८१।

१५. वही।

१६. इसके दो अभिलेख मिले है, देखिए : **एपि. इंडिका**, जि. १२, पृ. ३१५, ३२१; वही, जिल्द १४, पृ० ३७१, **जे. बी. ओ. आर. एस.** जिल्द २६, पृ १२७

१७ विस्तार के लिए देखिए : विद्यालङ्कार, जयचन्द्र **इतिहास प्रवेश**, पृ० २५१ और आगे।

१८. चम्पायां चन्द्रमुख्यां गजपुर मथुरा–
पत्तने चोज्जयिन्यां,
कोशाम्ब्या कोशल्यायां कनकपुरवरे–
देवगिर्य्यां च काश्याम्।
नासिक्ये राजगेहे **दशपुरनगरे**–
भद्दिले ताम्रलिप्त्या,
श्रीमत्तीर्थकराणां प्रतिदिवसमहं–
तत्र चैत्यानिवन्दे।
—**जैनतीर्थमालास्तोत्र**।

१९. उपर्युक्त स्तोत्र के रूप मे जिसका पाठ आज भी प्रतिदिन विशेषत. श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मे किया जाता है।

२०. **व्याख्याप्रज्ञप्ति** (१३, ६; पृ० ६२०) मे इसे सिन्धु नदी के आसपास का प्रदेश कहा गया है।

२१. यह सिन्धु सौवीर की राजधानी थी और इसका दूसरा नाम कुम्मारप्रक्षेप (कुमार पक्खेव) था। देखिए **आवश्यकचूर्णि**, २ पृ० ३७। इसके समीकरण के लिए देखिए जैन जगदीशचन्द्र . **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज** पृ० ४८२।

२२ इसका उल्लेख महावीर स्वामी द्वारा दीक्षित आठ राजाओ के साथ हुआ है। देखिए **स्थानाङ्ग** ६, ६२१, **व्याख्याप्रज्ञप्ति**, १३, ६।

२३ **उत्तराध्ययन टीका**, १८, पृ० २५३ आदि। **आवश्यकचूर्णि**, पृ० ४०० आदि। राय चौधरी, एच. सी **पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंश्येंट इण्डिया**, (कलकत्ता १६३२), पृ० ६७, १३२, १६५।

पर वह प्रतिमा वहाँ से हटायी न जा सकी। देववाणी से ज्ञात हुआ कि उसकी राजधानी शीघ्र ही भूमिसात् हो जाने वाली है अतः यह प्रतिमा यहीं रहना चाहिए। अतएव उदायन ने वहीं एक मन्दिर का निर्माण कराया और उसमें वह प्रतिमा स्थापित कर दी[२४]। अपने देश को लौटकर चण्डप्रद्योत ने जीवन्त स्वामी[२५] की पूजा की और उस मन्दिर को १२०० ग्रामों का दान किया।

प्रथम शती ई० पू० मे रचित नन्दीसूत्र मे आर्यरक्षित सूरि की वन्दना की गयी है। इन्होने न केवल चारित्ररूपी सर्वस्वकी रक्षाकी थी बल्कि रत्नोंकी पेटी के सदृश अनुयोग की भी रक्षा की थी[२६]। दशपुर इनके जन्म से ही नही, महत्त्वपूर्ण योगदान से भी सवद्ध रहा है[२७]। दशवैकालिक सूत्र, आवश्यकचूर्णि, उत्तराध्ययन सूत्र, नन्दीसूत्र और विविधतीर्थकल्प आदि मे इनके आख्यान आते है[२८]। आर्यरक्षित सूरि सोमदेव और रुद्रसोमा के पुत्र थे। जो दशों दिशाओं के सारभूत दशपुर में रहते थे[२९]। फल्गुरक्षित इनका अनुज था। उच्चशिक्षा प्राप्त करके जब ये पाटलिपुत्र से दशपुर लौटे तब स्वय राजा ने इनकी अगवानी की थी[३०]। माता के कहने पर ये दृष्टिवाद का अध्ययन करने को आचार्य तोसलीपुत्र के पास गये जिन्होंने इन्हे दीक्षित करके दृष्टिवाद की शिक्षा दी। फिर ये उज्जयिनी मे वज्रगुप्त सूरि के पास आये और वहा से यथासभव ज्ञानार्जन करके वज्रस्वामी से अध्ययन करने लगे। एक बार फल्गुरक्षित को माता ने इन्हे लेने के लिए भेजा। आर्यरक्षित ने उसे भी दीक्षित कर विद्याध्ययन कराया[३१]। एक दिन उन्होंने गुरु से पूछा कि मंने दशम पूर्व की यविकाये तो पढ ली, अब कितना अध्ययन और शेष है? गुरु ने उत्तर दिया कि अभी तो तुम मेरु के सरसों और समुद्र की बूद के बराबर ही पढ़ सके हो[३२]। कुछ समय तक और अध्ययन करके वे दशपुर आये और वहाँ उन्होंने अपने सभी स्वजनो को दीक्षित

२४. प्रद्योतोपि वीतभय प्रतिमायै विशुद्धधी।
शासनेन दशपुर दत्त्वावन्ति पुरीमगात्॥
अन्येद्युर्विदिशा गत्वा भायलस्वामिनामकम्।
देवकीयं पुर चक्रे नान्यथा धरणोदितम्॥
विद्युन्मालीकृतायै तु प्रतिमायै महीपति।
प्रददौ द्वादशग्रामसहस्रं शासनेन स.॥
—हेमचन्द्राचार्य, **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित**, १०।२।६०४–६।

२५. यह वास्तव मे महावीर स्वामी की प्रतिमा थी जिसे महावीर स्वामी के जीवनकाल मे ही निर्मित कराये जाने के कारण जीवन्तस्वामी की प्रतिमा कहा जाता था। परन्तु इस नाम की प्रतिमा की परम्परा लगभग एक हजार वर्ष तक चलती रही। देखिए, शाह उमाकान्त प्रेमानन्द का लेख, **जरनल आफ दी ओरिएण्टल इस्टीट्यूट**, जिल्द १, अक १, पृ० ७२ और आगे तथा जिल्द १, अंक ४, पृ० ३५८ और आगे।

२६. वंदामि अज्जरक्खिय-खवणे, रक्खियचारित्त सव्वस्से।
रयण-करडग-भूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहि॥
—**नन्दीसूत्र** (लुधियाना, १९६६), गाथा ३२।

२७. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, **अभिधान राजेन्द्र कोष** में 'अज्जरक्खिय' शब्द (आगे के उद्धरण वही से लिए गये है)।

२८ देखिए, **श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ** मे श्री मदनलाल जोशी का लेख, पृ० ४५२ और आगे।

२९. आसीत्पुर दशपुर सार दशदिशामिव।
सोमदेवो द्विजस्तत्र रुद्रसोमा च तत्प्रिया॥
—**आवश्यककथा** श्लोक १।

३०. चतुर्दशापि तत्रासौ विद्यास्थानान्यधीतवान्।
अथागच्छद् दशपुर राजागात् तस्य सम्मुखम्॥
—वही श्लोक ७७।

३१ सोम्यधाद् भ्रातरागच्छ व्रतार्थी तेजनोखिल।
स ऊचे सत्यमेतच्चेत् तत्त्वमादौ परिव्रज॥
—वही श्लोक ११३।

३२. यविकर्घूर्णतोऽप्राक्षीत्, शेषमस्य कियत् प्रभो।
स्वाम्यूचे सर्षप मेरोर्बिन्दुमब्धेस्त्वमग्रही॥
—वही, श्लोक ११४।

किया३३। इसके पश्चात् मथुरा आदि का भ्रमण करके३४ ये एक बार पुन: दशपुर आये३५ और शेष जीवन भी उन्होने कदाचित् वहीं व्यतीत किया। इस प्रकार दशपुर, आचार्य आर्यरक्षित सूरि की जन्मभूमि ही नहीं बल्कि कर्मभूमि भी रही३६।

द्वितीय शती ई० मे, जैन दर्शन और आचार के महान् व्याख्याता आचार्य समन्तभद्र ने अपने विहार द्वारा भी दशपुर को पवित्र किया था३७। उन्होने स्वय लिखा है: 'काञ्ची मे मैं नग्न (दिगम्बर साधु के रूप मे) विहार करता था और मेरा शरीर मल से मलिन रहा करता था। (बाद मे भस्मक रोग को शान्त करने की इच्छा से) लाम्बुश आकर मैने शरीर मे भस्म रमा ली (और शैव साधु का वेश धारण कर लिया)। पुण्ड्रोण्ड्र मे मै बौद्ध भिक्षु के रूप मे पहुँचा। दशपुर नगर मे मै परिव्राजक बन बैठा और (वहा के भागवत मठ मे) मिष्टान्न खाने लगा। वाराणसी पहुँच कर मैने चन्द्र-किरणो के समान उज्ज्वल भस्म रमायी और (शैव) साधु का रूप धारण कर लिया। इतने पर भी मैं दिगम्बर जैनधर्म की वकालत करता हूं, हे राजन् (शिवकोटि)! जिसकी हिम्मत हो वह मेरे सामने आये और शास्त्रार्थ कर ले३८।' अपने मालव और विदिशा के विहार के कार्यक्रम३९ मे, सभव है ये पुन: दशपुर आये हों। दशपुर मे जैनधर्म का प्रचार मध्यकाल मे भी अवश्य रहा होगा पर उसके कोई उल्लेखनीय चिह्न नहीं मिलते। '१५वी शताब्दि के माडवगढ के मन्त्री सग्राम सोनी के द्वारा यहा जैन मन्दिर बनाने का उल्लेख प्राप्त है। "जैनतीर्थ सर्व-संग्रह" ग्रन्थ के अनुसार यहा के खलचीपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर की दीवार में लगी हुई द्वारपालो की प्रतिमा गुप्तकालीन है और खानपुरा सदर बाजार के पार्श्वनाथ के घर देरासर (गृह मन्दिर) मे पद्मावती देवी की प्रतिमा भी प्राचीन है। अत इस नगर मे और उसके आसपास जो भी श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन मन्दिर है उन मन्दिरो और मूर्तियो तथा खण्डहरो की खोज की जाना अत्यन्त आवश्यक है। सम्भव है उनमे कोई ऐसा लेख भी मिल जाय जिससे इस नगर के प्राचीन जैन इतिहास पर कुछ प्रकाश पड सके४०। स० १६१८ (१५६१ ई०) मे, इसी नगर मे साण्डेर गच्छ के ईश्वर सूरि ने 'ललिताङ्ग चरित' नामक रासो काव्य की रचना की थी४१। इसका

वाराणस्यामभूव शशधरधवल: पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्ति: स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥
—परम्पराप्राप्त श्लोक

३३. इतश्च रक्षिताचार्यैर्गतैर्दशपुर तत:।
प्रव्राज्य स्वजनान् सर्वान् सौजन्य प्रकटीकृतम्॥
—वही, श्लोक १३९।

३४. अथार्यरक्षिताचार्या मथुरा नगरी गता:।
—वही, श्लोक १७५।

३५. अथान्यदा दशपुर यान्तिस्म गुरव क्रमात्।
—वही, श्लोक १८६।

३६. अपने शिष्य विन्ध्य की प्रार्थना पर इनके द्वारा किया गया अनुयोगों का विभाजन जैन साहित्य के इतिहास मे तीसरी आगमवाचना के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

३७. विस्तृत परिचयके लिए देखिए, मुख्तार आ. श्रीजुगल-किशोर। —स्वामी समन्तभद्र

३८. काञ्च्या नग्नाटकोऽह मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।

३९. पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव सिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽह करहाटक बहुभट विद्योत्कट सकट
वादार्थी विचराम्यह नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥
—श्रवणबेल्गोल-शिलालेख, सख्या ५४।

४०. नाहटा, अगर चन्द **जैन साहित्य में दशपुर**. दशपुर जनपद सस्कृति (सम्पादक. मांगीलाल मेहता, प्रकाशक प्राचार्य, बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, मन्दसोर), पृ० १२०-२१।

४१ 'महि महति मालवदेस,
धण कणय लच्छि निवेस।
तहँ नयर मण्डव दुग्ग,
अहिनवउ जाण हि सग्ग॥
तिहँ अतुलबल गुणवन्त,
श्रीग्यास सुत जयवन्त॥

महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं अपितु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी बहुत है।

इस प्रकार, दशपुर अर्थात् मन्दसोर में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार भगवान् महावीर के समय से रहा सिद्ध होता है। वहां आज भी जैन समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समरथ सहस धीर, श्री पातसाह निसीर।
तसु रज्जि सकल प्रधान, गुरु रूक रयण निधान।
हिन्दुआ राय बजीर, श्रीपुंज मयणह धीर॥
सिरिमाल वंश वयंश, मानिनी मानस हंस।
सोनराय जीवन पुत्त, बहु पुत्त परिवार जुत्त॥
सिरिमालिक माफरपट्टि, हय गय सुहड बहु चट्टि।
दसपुरह नयर मझारि, सिरिसंघ तणई अधारि॥
सिरि शान्तिसूरि सुपसाई, दुह दुरिय दूरि पलाई।
ज किमवि अलियम सार, गुरु लहिय वर्ण विचार॥
कवि कविउ ईश्वरसूरि, तं खमउ बहुगुण भूरि।
शशि रसु विक्रम काल, ए चरिय रचिउ रसाल॥
ज ध्रुव रवि ससि मेर, तं जयउ गच्छ संडेर।'

—प्रशस्ति।

तृष्णा की विचित्रता

जिस समय दीनताई थी उस समय जमीमारी पाने की इच्छा हुई, जब जमीदारी मिली तो सेठाई प्राप्त करने की इच्छा हुई। जब सेठाई प्राप्त हो गई तब मंत्री होने की इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बनने की इच्छा हुई। जब राज्य मिला, तब देव बनने की इच्छा हुई, देव हुआ तब महादेव होने की इच्छा हुई। अहो रायचन्द्र वह यदि महादेव भी हो जाय तो भी तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है मरती नही, ऐसा मानो।

मुंह पर झुर्रियां पड गई, गाल पिचक गए, काली केश की पट्टियां सफेद पड़ गई, सूंघने, सुनने और देखने की शक्तियां जाती रही और दांतो की पंक्तिया खिर गई अथवा घिस गई, कमर टेढ़ी हो गई, हाड-मांस सूख गए, शरीर का रंग उड़ गया, उठने-बैठने की शक्ति जाती रही, और चलने मे हाथ मे लकड़ी का सहारा लेना पड़ गया। अरे! रायचन्द्र, इस तरह युवावस्था से हाथ धो बैठे, परन्तु फिर भी मन से यह रांड ममता नही मरी।

करोड़ों के कर्ज का सिर पर डंका बज रहा है, शरीर सूख कर रोग रुंध गया है। राजा भी पीड़ा देने के लिए मौका तक रहा है और पेट भी पूरी तरह से नहीं भरा जाता। उस पर माता पिता और स्त्री अनेक प्रकार की उपाधि मचा रहे हैं। दुःखदायी पुत्र और पुत्री खाऊ खाऊं कर रहे है। अरे रायचन्द्र! तो भी यह जीव उधेड बुन किया ही करता है और इससे तृष्णा को छोड़कर जंजाल नही छोडा जाता।

नाड़ी क्षीण पड़ गई, अवाचक की तरह पड रहा, और जीवन-दीपक निस्तेज पड गया। एक भाई ने इसे अन्तिम अवस्था मे पडा देखकर यह कहा, कि अब इस बिचारे की मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है। इतने पर उस बुड्ढे ने खीजकर हाथ को हिलाकर इशारे से कहा, कि हे मूर्ख चुप रह, तेरी चतुराई पर आग लगे। अरे रायचन्द्र! देखो, देखो, यह आशा का पाश कैसा है! मरते-मरते भी बुड्ढे की ममता नही मरी।

(श्री मद्राजचन्द्र से साभार)

गत किरण ३ पृ. १२५ से आगे—

सागारधर्मामृत पर इतर श्रावकाचारों का प्रभाव

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

इस उपासकाध्ययन में चर्चित श्रावकाचार का प्रभाव प्रस्तुत सागारधर्मामृत पर बहुत अधिक दिखता है१। यह उपासकाध्ययन पं० आशाधर के समक्ष रहा है व उन्होंने सागारधर्मामृत की रचना में उसका बहुत कुछ उपयोग भी किया है। उदाहरण के रूप में उक्त दोनों ग्रन्थों के कुछ ऐसे स्थलों को यहां प्रस्तुत किया जाता है जिनमें बहुत कुछ समानता देखी जाती है।

१ उपासकाध्ययन के अन्तर्गत भव्यसेन मुनि के परीक्षा-प्रकरण (पृ० ६२–६६) में मौन से सम्बद्ध एक श्लोक (१८०) आया है, जो ग्रन्थान्तर का प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—

अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च।
ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिषु कर्मसु॥

इसका मिलान सा. ध. के निम्न श्लोक (४–३५) से कीजिये—

अभिमानावने गृद्धिरोधाद् वर्धयते तपः२।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात्॥

---

१. पं० आशाधर ने सोमदेव सूरि और उनके इस उपासकाध्ययनका उल्लेख भी जहां-तहां स्वयं किया है—

क—'मन्त्रभेद. परीवाद.· ··' (उपास० ३८१) इति यशस्तिलके अतिचारान्तरवचन तत्परेऽप्यूह्यास्त-दात्यया इत्यनेन संगृहीत प्रतिपत्तव्यम्। (सा ध स्वो. टीका ४–४५)

ख—सोमदेवपण्डितस्तु मानन्यूनाधिकत्वे द्वावतीचारौ मन्यमान इदमाह—मानवन्न्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रह। विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तका॥ (उपास. ३७०—उपा में मानवन्न्यू' के स्थान पर 'पौतवन्यू' और सा ध. में 'स्तेनकर्म' के स्थान पर 'तेन कर्म' व 'विग्रहे' के स्थान पर 'विग्रहो' पाठ है। सा ध. स्वो टीका ४–५०।

ग—तदाह सोमदेवपण्डित.—वधू-वित्तस्त्रियो मुक्त्वा···॥ (उपा. ४०५) सा. ध. स्वो. टीका ४-५२

घ—सोमदेवपण्डितस्त्विदमाह—कृतप्रमाणो लोभेन धनाद्यधिकसंग्रहः। पञ्चमाणुव्रतज्यानीं करोति गृहमेधिनाम्॥ (उपा. ४४४—मुद्रित उपासकाध्ययन में 'कृतप्रमाणाल्लो' और 'धमादधिक' पाठ मुद्रित हुए है, इनकी अपेक्षा सा. ध. की टीका में जो पाठ उपलब्ध है उनकी सम्भावना अधिक है)। सा. ध. स्वो. टीका ४–६४

ङ—तदुक्तमेऽपि श्रीसोमदेवबुधाभिमताः—दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य·· ···॥ (उपा. ३६३) सा. ध. स्वो. टीका ५–२०

श्लोक ७–१९ और २० की स्वो. टीका में 'उपासकाध्ययन' का नामोल्लेख हुआ है। पर उससे जैसा कि मूल में (सप्तमे अङ्गे—७-२०) निर्दिष्ट है, सातवां उपासकाध्ययन अंग ही विवक्षित है, न कि प्रस्तुत उपासकाध्ययन। दूसरे, वह प्रकरण प्रस्तुत उपासकाध्ययन में उपलब्ध भी नहीं होता।

२ मौन से चूंकि गृद्धिका निरोध होता है—लोलुपता को छोड़ना पड़ता है, अत उस मौन से इच्छानिरोध रूप तप की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त उसके आश्रय से मनःसिद्धि—मन के ऊपर नियन्त्रण—और वचनकी सिद्धि—सरस्वती की प्रसन्नता (श्लोक ३६)—भी होती है। यह कथन भी यहां उपासकाध्ययनगत निम्न श्लोकों के आधार से किया गया है—

लौल्यत्यागात् तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम्।
ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये॥
श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात् समाश्रय.।
ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती॥

उपा. ८३५–३६

उपर्युक्त उपासकाध्ययन के श्लोक मे मौन के लिए दो कारण—अभिमानरक्षा और श्रुतप्रतीक्षा (श्रुतविनय)—निहित है। वे दोनो कारण सा. ध. के इस श्लोक मे भी गर्भित है। 'अभिमानस्य रक्षार्थं' और 'अभिमानावने' मे शाब्दिक समानता भी है। चूंकि सा. ध. मे यहा प्रकरण ही मौन का रहा है, अतः उसका वर्णन वहा कुछ विशेष रूप में—३४-३८ श्लोको मे—उपलब्ध है।

२. उपासकाध्ययन मे सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव की सामग्री का निर्देश करते हुए 'उक्तं च' कहकर ग्रन्थान्तर से यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

आसन्नभव्यता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च[1] ॥२२४

इससे मिलता जुलता सा. ध. में निम्न श्लोक पाया जाता है—

आसन्नभव्यता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥१-६

इसका पूर्वार्ध तो प्रायः उपर्युक्त श्लोक का ही है। उत्तरार्ध में भी पूर्व श्लोक मे जैसे सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य हेतुभूत उपदेश का उल्लेख किया गया है वैसे ही सा. ध. मे भी उक्त श्लोक के उत्तरार्ध मे उसका (उपदेश—देशना का) निर्देश किया गया है।

३. *उपासकाध्ययन मे मद्य, मांस और मधु के त्याग* के साथ पाच उदुम्बर फलों के त्याग स्वरूप आठ मूलगुण निर्दिष्ट किये गये है[2]।

प० आशाधर ने इन्हीं को मान्यता देकर अपने सा. ध. मे उन्हे प्रथम स्थान देते हुए तत्पश्चात् आ. समन्तभद्र और जिनसेन के तद्विषयक अभिमत को सूचित किया है[3]।

४. उपासकाध्ययन के इसी प्रकरण मे मद्यदोषो का उल्लेख करते हुए सोमदेव सूरि ने कहा है (२७५) कि यदि मद्य की एक बूंद मे सम्भव समस्त जीवराशि फैल जाय तो वह समस्त लोक को व्याप्त कर सकती है। यही बात प० आशाधर के द्वारा सा. ध. (२-४) मे भी कही गई है।

५. उपासकाध्ययन मे (पृ. १३०-३३) मद्यपायी एकपात् परिव्राजक और उसका व्रत रखने वाले धूर्तिल चोर की कथा पृथक्-पृथक् कही गई है। इन्ही नामो का निर्देश सा. ध. मे उदाहरण के रूप मे किया गया है[4]।

६. उपासकाध्ययन मे कहा गया है कि जो भोजनादि के समय—पक्तिभोजनादि मे—अव्रतियो—मद्य-मासादि का सेवन करने वालो—के साथ ससर्ग करता है वह इस लोक मे निन्दा को प्राप्त करता है तथा परलोक उसका निष्फल जाता है। साथ ही वहा चर्मपात्र मे रखे हुए पानी व तेल आदि के परित्याग के साथ व्रत से विमुख—मद्यादिका सेवन करने वाली—स्त्रियो के परित्याग की भी प्रेरणा की गई है[5]।

पिछले श्लोक मे प्रयुक्त 'एतान्' पद को स्पष्ट करते हुए उसकी स्वोपज्ञ टीका मे प्रस्तुत उपासकाध्ययन का नामोल्लेख भी इस प्रकार किया गया है—किंविशिष्टान्? एतान्—उपासकाध्ययनादिशास्त्रानुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयतयोपदिष्टान्।
सा. ध. स्वो. टीका २, २-३

1. अनगारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका (१-१) मे इसे स्वय प० आशाधर ने उद्धृत भी किया है।
2. मद्य-मांस-मधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥२७०
3. तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्य-मांस-मधून्युज्झेत् पञ्च क्षीरफलानि च ॥
अष्टैतान् गृहिणा मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेत् द्यूत मधुस्थान इहैव वा ॥
सा. ध. २, २-३
4. सा. ध. मे इसी प्रकार से अन्यत्र भी जो जहा-तहा उदाहरण के रूप मे कितने ही नामो का उल्लेख किया गया है उनमे से अधिकाश की कथाये प्रस्तुत उपासकाध्ययन मे यथास्थान पायी जाती है। यथा—मांसभोजी सौरसेन (उपा. पृ. १४०-४१; सा. ध. २-६) और उसका व्रत रखने वाला चण्ड नामक चाण्डाल (उपा. पृ. १४२-४३; सा. ध. २-६) इत्यादि।
5. कुर्वन्नव्रतिभिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु।
प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥
दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥
उपा २९८-९९

इसी का अनुसरण करके पं० आशाधर ने सा. ध. में यह कहा है—

भजन् मद्यादिभाज स्त्रीस्तादृशैः सह संसृजन् ।
भुक्त्यादौ चैति साकीर्ति मद्यादिविरतिक्षतिम् ॥३–१०
चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च ।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥३–१२

७. अन्तरायो के टालने की प्रेरणा जैसे उपासकाध्ययन में की गई है वैसे ही सा. ध. मे भी की गई है। दोनों का अर्थसाम्य व शब्दसाम्य दर्शनीय है—

अतिप्रसगहानाय तपसः परिवृद्धये ।
अन्तरायाः स्मृताः सद्भिर्व्रत-बीजविनिक्रियाः ॥
उपा. ३२४

अतिप्रसंगमसितुं परिवर्धयितुं तपः ।
व्रत-बीजवृतीभुंक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥
सा. ध. ४–३०

८. रात्रिभोजन के परित्याग के सम्बन्ध मे भी उक्त दोनों ग्रन्थों के श्लोक देखिये—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
निशायां वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥
उपा. ३२५

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्तं भुक्ति चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥

९. उपासकाध्ययन मे श्रावक के उत्तरगुणो का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥:१४

सा. ध मे ये ही १२ उत्तरगुण निर्दिष्ट किये गये है। वहा उनसे सम्बद्ध श्लोक का चतुर्थ चरण उपर्युक्त उपासकाध्ययन के उक्त श्लोक का ही है—गुणा. स्युर्द्वादशोत्तरे (४–४)।

१०. उपासकाध्ययन मे जो साकल्पिक हिंसा के लिए धीवर का और आरम्भज हिंसा के लिए कर्षक (किसान) का उदाहरण दिया गया है वही उदाहरण सा. ध. मे दिया गया है१।

११. सागारधर्मामृत मे सत्याणुव्रत के प्रसंग मे वचन के जो सत्यसत्य आदि चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं वे उपासकाध्ययन मे वर्णित उन वचनभेदों से पूर्णतया प्रभावित है२। उक्त भेदो मे चौथा भेद असत्यासत्य है। व्यवहार का विरोधी होने से उसे दोनों ही ग्रन्थो मे समान रूप से हेय बतलाया गया है३।

१२. उपासकाध्ययन मे बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओ मे 'ममेद' इस प्रकारका जो सकल्प हुआ करता है उसे परिग्रह कहा गया है४। इसी प्रकार सागारधर्मामृत मे भी चेतन, अचेतन और मिश्र (चेतन-अचेतन) वस्तुओ मे जो 'ममेद' इस प्रकारका संकल्प होता है उसे ही परिग्रह कहा गया है५।

१३ सोमदेव सूरि के समय में मुनियो मे आचार-विषयक शिथिलता देखने मे आने लगी थी, जिससे उन्हे उनकी मान्यता मे कमी का अनुभव होने लगा था। इसीसे उन्हे उपासकाध्ययन मे यह कहना पड़ा—

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः ॥७:७

इसी अभिप्राय को पं० आशाधर ने सागारधर्मामृत (२–६४) मे इन शब्दों मे व्यक्त किया है—

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत् ।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥
सा. २–८२

१ अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवर-कर्षकौ ॥ उ. ३४१

२ देखिए उपास. पृ. १७५–७६ का गद्यभाग और सा. ध. श्लोक ४, ४१–४३ (उन वचनभेदो के नाम भी दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान हैं)।

३ तुरीय वर्जयेन्नित्य लोकयात्रा त्रये स्थिता। उ. ३८४
लोकयात्रानुरोधित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रयम् ।
ब्रूयादसत्यासत्य तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥
यत् स्वस्य नास्ति तत् कल्ये दास्यामीत्यादिसंविदा।
व्यवहारं विरुन्धान नासत्यासत्यमालपेत् ॥
सा. ध. ४–४० व ४–४३

४ ममेदमिति सकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु ।
परिग्रहो मतः ××× ॥ उपा. ४३२

५ ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु ।
ग्रन्थः ××× ॥ सा. ध. ४–५९ ।

विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥

१४ सोमदेव सूरि ने पुण्योदय से प्राप्त धन का उपयोग जैनधर्मानुयायी के लिए करने की इस प्रकार से प्रेरणा की है—

दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते ।
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥८२१

यही प्रेरणा सा. ध. (२–६३) में इस प्रकार से की गई है—

दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः सहावश्यं विनाशि च ।
बहुधा विनियुञ्जानः सुधीः समयिकान् क्षिपेत् ॥

१५ उपासकाध्ययन मे लक्षणनिर्देशपूर्वक दान के तीन भेद कहे गये हैं—राजस, तामस और सात्त्विक। इनमें सात्त्विक दान को उत्तम, राजस को मध्यम और तामस को सर्वजघन्य दान बतलाया है१।

पं० आशाधर ने अतिथिसंविभाग के प्रकरण मे श्लोक ५–४७ में दाता का स्वरूप बतलाते हुए उसकी स्वोपज्ञ टीका में कहा है कि चूंकि दाता सत्त्वादि गुणो से युक्त होता है, अतः उसके द्वारा दिया जाने वाला दान भी सात्त्विक आदि के भेद से तीन प्रकार का है२।

४. वसुनन्दि-श्रावकाचार और सागारधर्मामृत

वसुनन्दि-श्रावकाचार के रचयिता आ. वसुनन्दी हैं। उन्ही के नाम पर यह ग्रन्थ 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसमें दर्शन-व्रत आदि ग्यारह स्थानो (प्रतिमाओं) के आश्रय से श्रावकधर्म का वर्णन किया गया है३। साथ ही वहां श्रावकों के द्वारा और भी जो यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश व पूजन-विधान अनुष्ठेय हैं उनका भी कथन किया गया है४। चूंकि उपर्युक्त ग्यारह पद सम्यक्त्व से विरहित जीव के सम्भव नहीं हैं, अतः सर्वप्रथम वहां आठ अगों सहित सम्यक्त्व और उसके विषयभूत जीवादि तत्त्वों का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् यह निर्देश करते हुए कि दर्शनश्रावक वह होता है जो सम्यक्त्व से विभूषित होकर पांच उदुम्बर फलों के साथ सातों व्यसनों को छोड़ देता है५। इन द्यूतादि सात व्यसनो की यहां विस्तार से प्ररूपणा की गई है६।

प० आशाधर ने सागारधर्मामृत के अन्तर्गत कितने ही विषयों के वर्णन में उक्त वसुनन्दि-श्रावकाचार का आश्रय लिया है७। उनमे उदाहरण स्वरूप कुछ इस

१ उपा. ८२८–३१।

२. किं च—सत्त्वादिगुणवातृक दानमपि सात्त्विकादि-भेदात् त्रिविधमिष्यते। तदुक्तम्—इतना कह कर आगे उपासकाध्ययन के उपर्युक्त चार श्लोकों को उद्धृत भी कर दिया है। सा. ध. ५–४७

३ यह वर्णन प्रारम्भ की ३१३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है।

४ विणओ विज्जाविच्च कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं। सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ॥३१९

आगे यथाक्रम से इस गाथा मे निर्दिष्ट विनयादि का वर्णन किया गया है। उसमे भी प्रमुखता से पूजनविधान का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

५ पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दसणसावओ भणिओ ॥५७॥

६ गा० ६०–१३३।

७ स्वयं पं० आशाधर ने सा. ध. की स्वो. टीका मे आ. वसुनन्दी के नामोल्लेखपूर्वक वसु.श्रा. की गाथाओ को भी उद्धृत किया है। यथा—

क—'अथ–पंचुंबरसहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥ व. ५७ इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमते'। सा. ध. स्वो. टीका ३-१६

ख—यस्तु 'पचुंबरसहियाइं···॥५७' इति वसुनन्दिसैद्धान्ति-मतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येद तन्मतेनैव व्रत-प्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रत स्यात्। तद्यथा—"पव्वेसु इत्थिसेवा······॥" (व. श्रा. २१२) सा. ध. स्वो. टीका ४-५२

ग—इनके अतिरिक्त अनगारधर्मामृत की स्वो. टीका (८-८८)में भी जो 'एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धान्त[न्ति]-देवपादैराचारटीकाया "दुओणद जहाजाद" इत्यादिसूत्रे (मूला.७-१०४) व्याख्यात द्रष्टव्यम्। (मूला. वृत्ति के कर्ता के रूप मे यहा भी जिस ढंग से उनके नाम का उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वसुनन्दि-श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दी और उक्त आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी दोनों एक ही है।)

प्रकार हैं—

१ व. श्रा. में सात व्यसनों का वर्णन करते हुए प्रकरण के अन्त में १-१ गाथा द्वारा उक्त व्यसनों का सेवन करके जो दुर्गति को प्राप्त हुए है उनका उदाहरण दिया गया है१। तदनुसार सा. ध. मे भी उक्त व्यसनों का सेवन करने वालों में उन्हीं का नामोल्लेख किया है जो व. श्रा. में उदाहृत हैं२।

२ व. श्रा. में प्रथमत मेधावी—तीव्रबुद्धि जीवों को लक्ष्य करके दान के फल की प्ररूपणा की गई है३। तत्पश्चात् मन्दबुद्धि जनों को लक्ष्य करके जो दानफल की वहां प्ररूपणा की गई है४ उसका अनुसरण कर पं० आशाधर ने सा. ध. मे उक्त दानफल का वर्णन किया है५।

३ प्रोषधोपवास के प्रसग मे प० आशाधर ने सा. ध. मे प्रोषधविधान के उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद बतलाये है। उनमें पर्वदिनों मे १६ पहर के लिए—सप्तमी व त्रयोदशीके दोपहर से नौवी व अमावस्या (या पूर्णमासी) के दोपहर तक—पूर्ण रूप से चारो प्रकार के आहार का परित्याग कर धर्मध्यानपूर्वक एकान्त स्थान में समय विताने को उत्तम, जल के अतिरिक्त अन्य चारों प्रकार के आहार के त्याग को मध्यम और आचाम्ल-निर्विकृति आदि को रखकर शेष भोजन के परित्याग को जघन्य प्रोषधविधान कहा है६।

इसका आधार वसुनन्दि-श्रावकाचार का तद्विषयक वर्णन रहा है। वहां उसके इसी प्रकार से तीन भेद व उनके लक्षण निर्दिष्ट किये गये है। यथा—

उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं ॥२८०

इस प्रकरण सम्बन्धी उभय ग्रन्थगत कुछ पद-वाक्यों की समानता देखिए—

व. श्रा.—सत्तमि-तेरसिदिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि भुंजणिज्जं भोत्तूण—२८१ (सा. ध.—पर्वपूर्वदिनस्यार्धे प्रतिथ्यशितोत्तरं भुक्त्वा—५-३६);

व. श्रा.—वायण-कहाणुपेहण - सिक्खावण-चिंतणोवओगेहि दिवससेसं णेऊण, अवराण्हियवंदणं किच्चा—२८४ (सा. ध.—धर्मध्यानपरो दिनं नीत्वा, आपराह्णिकं कृत्वा—५-३७);

व. श्रा.—रयणिसमयम्हि काउसग्गेण ठिच्चा × × × संथारं दाऊण × × × जिणालये णियघरे वा, अहवा सयलं रत्ति काउस्सग्गेण णेऊण—२८५-८६ (सा.—यतिवद्विविक्तवसतिं श्रितः—४-३६, स्वाध्यायरत प्रासुकसंस्तरे त्रियामां नयेत्—४-३७);

व.श्रा.—पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता—२८७ (सा.—ततः प्राभातिकं कुर्यात्—५-३८);

व. श्रा.—जिण-सुय-साहूण दव्व-भावपुज्जं काऊण—२८७ (सा.—पूज्यान् भावमय्यैव प्रासुकद्रव्यमय्या वा पूजया पूजयेत्—५-३९)

आयंबिल-णिव्वियडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा।
जं कीरइ त णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥ व. २९२

तत्राचाम्लमसंस्कृतसौवीरमिश्रौदनभोजनम्, निर्विकृति—विक्रियेते जिह्वा-मनसी येनेति विकृतिः × × विकृतेर्निष्क्रान्त भोजन निर्विकृति। आदिशब्देनैकस्थानैकभक्त-रसत्यागादि। सा. ध. स्वो. टीका ५-३५

४ सा. ध. में उद्दिष्टविरत—अन्तिम श्रावक—की जो प्ररूपणा की गई है वह इस व. श्रा. की प्रकृत प्ररूपणा के ही आधार से की गई है। वहां उत्कृष्ट श्रावक के जैसे दो भेद किये गये हैं वैसे ही सा. ध. में उसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। यथा—

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ ॥ व. ३०१
धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ॥३०२

---

१ वसु. श्रा. १२५—३१

२ सा. ध. ३—१७

३ व. श्रा. २४०—४३

४ व. श्रा. २४४—४८

५ सा. ध. २—६७

६ एवमुत्तमं प्रोषधविधानमुक्त्वा (५—३४) मध्यमं जघन्यं च तदुपदेष्टुमाह—
उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः।
आचाम्ल-निर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तप ॥
सा. ५—३५

स द्वधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् ।
सितकौपीन संव्यान. कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥ सा. ७-३८
स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः । ३९ पू.
तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ।
कौपीनमात्रयुग् धत्ते यतिवत् प्रतिलेखनम्१ ॥७-४८

दोनो ही ग्रन्थो मे उत्कृष्ट श्रावक के लिए उपवास की अनिवार्यता समान रूप से बतलायी गई है—

उववास पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥ व. ३०३
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥ सा. ७-३९

इसी प्रकार दोनो ग्रन्थो मे उक्त श्रावक के लिए बैठकर हाथो मे अथवा वर्तन मे भोजन करने का निर्देश किया गया है—

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो । व. ३०२
स्वय समुपविष्टोऽद्यात् पाणिपात्रेऽथ भाजने । सा. ७-४०

भिक्षा याचना की विधि दोनो ग्रन्थो मे निम्न प्रकार कही गई है—

पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा ।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्ख सयं चेव ॥
सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ ।
अण्णम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा ॥

व. श्रा. ३०४-५

स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा ।
मौनेन दर्शयित्वांग लाभालाभे समोऽचिरात् ॥
निर्गत्यान्यद् गृह गच्छेद्·········॥ सा. ७, ४०-४२

भिक्षा के लिए जाते हुए यदि कोई अधबीच मे भोजन करने के लिए प्रार्थना करता है तो क्या करे, इसके लिए दोनो ही ग्रन्थों मे यह कहा गया है—

जइ अद्धवहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयण कुणह ।
भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं ॥

व. श्रा. ३०६

·······················भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद् भिक्षितं मनाक् ॥

सा. ७, ४१-४२

यदि इस प्रकार से मार्ग में कोई नही रोकता है तो क्या करे, इसके लिए दोनों ग्रन्थो मे कहा गया है—

अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाण ।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिल ॥
जं कि पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण ।
पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ॥

व. श्रा. ३०७-८

प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत् स्वोदरपूरणीम् ।
लभेत् प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥
आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसयमो महान् ॥

सा. ध. ७, ४३-४४

तत्पश्चात् दोनो ग्रन्थो मे समान रूप से यह कहा गया है कि पश्चात् गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक चार प्रकार के प्रत्याख्यान को ग्रहण करते हुए सबकी आलोचना करे । यथा—

गतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विह विहिणा ।
गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ॥ व. ३१०
ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृह्णीयाद् विधिवत् सर्वं गुरोश्चालोचयेत् पुरः ॥

सा. ७-४५

साथ ही दोनों ग्रन्थो मे यह भी कहा गया है कि जिसको यह भिक्षाभोजनविधि रुचिकर नही है व जिसके एक-भिक्षा का ही नियम है वह मुनि के आहार ग्रहण कर लेने पर किसी श्रावक के घर जाकर भोजन करे । पर यदि विधिपूर्वक वहा भोजन नही प्राप्त होता है तो फिर उसे उपवास ही करना चाहिए । यथा—

जइ एव ण रएज्जो काउरिस (?) गिहम्मि चरियाए ।
पविसत्ति (?) एयभिक्ख पवित्तिणियमणं ता कुज्जा ॥

व. ·०९

यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥७-४६

५. वसुनन्दि-श्रावकाचार मे इसी प्रसग मे यह कहा गया है कि देशव्रती श्रावक को दिनप्रतिमा, वीरचर्या, त्रिकालयोग और सिद्धान्तरहस्यों के पढने का अधिकार नही है । यथा—

---

१ एमेव होइ बिइओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण ।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥ व. ३११

दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंतरहस्साण वि अज्झयणे देसविरदाणं ।। व ३१२

यही बात सागारधर्मामृत मे भी इसी प्रकार से कही गई है—

श्रावको वीरचर्याऽहःप्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।।७-५०

५. योगशास्त्र व सागारधर्मामृत

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित योगशास्त्र१ मे प्रमुखता से योग (ध्यान) का वर्णन है। पर प्रसगवश वहा चारित्र के वर्णन मे श्रावकाचार की भी प्ररूपणा की गई है। प्रस्तुत सागारधर्मामृत की रचना मे प० आशाधर ने इस योगशास्त्र का भी बहुत कुछ उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त व्रतातिचारो की प्ररूपणा मे तो उन्होने अन्य भी श्वेताम्बर ग्रन्थो का सहारा लिया है२। इस योगशास्त्र का सागारधर्मामृत पर कितना प्रभाव है, यह देखने के लिए यहा इन दोनो ग्रन्थो के कुछ श्लोको का मिलान किया जाता है।

यहां यह स्मरणीय है कि उक्त सागारधर्मामृत धर्मामृत ग्रन्थ का उत्तर भाग है, पूर्व भाग उसका अनगारधर्मामृत है। इन दोनो ही भागो पर प० आशाधर विरचित स्वोपज्ञ टीका भी है। इसी प्रकार हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्र पर भी विस्तृत स्वोपज्ञ विवरण उपलब्ध है।

१ सागारधर्मामृत का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

अथ नत्वाऽर्हतोऽक्षणचरणान् श्रमणानपि ।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ।।

प० आशाधर अनगारधर्मामृत मे मुनिधर्म का निरूपण कर चुकने के पश्चात् यहा गृहस्थधर्म का वर्णन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा करते है कि अब आगे उस मुनिधर्म मे अनुराग रखने वाले गृहस्थो के धर्म का निरूपण किया जाता है।

इसका मिलान योगशास्त्र के इस श्लोक से कीजिए—

सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम् ।
यतिधर्मानुरक्तानां देशतः स्यादगारिणाम् ।।
योगशास्त्र १-४६

आचार्य हेमचन्द्र भी इसके पूर्व १८-४५ श्लोकों मे मुनिधर्म का निरूपण कर चुकने पर यहा यह कहते है कि सर्व सावद्य के त्यागरूप यह मुनियो का धर्म कहा जा चुका है। इस मुनिधर्म मे अनुरक्त गृहस्थों का वह चारित्र सर्वात्मना—सर्वविरतिरूप—न होकर देशत.—एकदेशविरतिरूप—ही होता है।

यहा सागारधर्मामृत के उक्त श्लोकगत 'तद्धर्मरागिणा' और 'सागाराणा' तथा योगशास्त्र के इस श्लोक मे प्रयुक्त 'यतिधर्मानुरक्ताना' और 'अगारिणा' पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

२ सागारधर्मामृत के प्रथम अध्याय मे श्लोक ११ के द्वारा कैसा गृहस्थ गृहस्थधर्म के आचरण के योग्य होता है, यह बतलाने के लिए वहा 'न्यायोपात्तधनः' आदि १४ विशेषण दिये गये है। गृहस्थ की इस विशेषता का वर्णन योगशास्त्र मे प्रथम प्रकाश के अन्तर्गत श्लोक ४७-५६ मे विस्तार से उपलब्ध होता है। वहा गृहस्थ की इस विशेषता को व्यक्त करने के लिए जो ३५ विशेषण दिये गये है उनमे सा ध के वे १४ विशेषण समाविष्ट है। यथा—

१ न्यायोपात्तधन ३ (न्यायसम्पन्नविभव.—योगशा. १-४७), २ गुणगुरून् यजन्४ (मातापित्रोश्च पूजक –

१ इसका ग्रन्थपरिचय अनेकान्त वर्ष २०, किरण १ (अप्रेल १९६७) पृ० १९-२१ पर देखिये।

२ यथा—आवश्यकचूर्णि और श्रावकप्रज्ञप्ति आदि।

१ दोनो ग्रन्थो की स्वोपज्ञ टीका मे 'न्यायोपात्तधन: (न्यायसम्पन्नविभव:)' का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

सा. ध —स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह विश्वसितवञ्चन-चौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्व-स्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेनोपात्तमुपार्जितमात्मसात्कृत धन विभवो येन स तथोक्त। (यो शा. पृ. १४५ —स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह-विश्वसितवञ्चन-चौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्व-स्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायस्तेन सम्पन्न उत्पन्नो विभवः सम्पद्यस्य स तथा।)

२ तथा गुरवो माता-पितरावाचार्यश्च, तानपि पूजयन्—त्रिसन्ध्यप्रणामकरणादिनोपचरन्, तथा गुणैर्ज्ञानसयमादिभिर्गुरवो महान्तो गुणगुरवस्तानपि यजन् —सेवाञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिकरणगणेन मानयन्। (सा. ध. स्वो. टीका)

५०, व्रतस्थज्ञानवृद्धानां पूजकाः—५४) ३. सद्गीः१ (अवर्णवादी न क्वापि—४८), ४ अन्योन्यगुणं त्रिवर्गं भजन् (अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्—५२), ५ तदर्हगृहिणी-स्थानालयः (कुल-शीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः–४७, अनतिव्यक्त-गुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके। अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः॥४६॥, उपप्लुतस्थानं त्यजन्—५०), ६ ह्रीमयः (सलज्जः—५५), ७ युक्ताहार-विहारः (अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यत २—५२, अदेश-कालयोश्चर्यां त्यजन्—५४), ८ आर्यसमितिः (कृतसंगः सदाचारैः—५०), ९ प्राज्ञः (बलाबल जानन्—५४), दीर्घदर्शी विशेषज्ञः—५५), १० कृतज्ञः (कृतज्ञः—५५), ११ वशी (वशीकृतेन्द्रियग्राम.—५६), १२ धर्मविधि शृण्वन् (शृण्वानो धर्ममन्वहम्—५१), १३ दयालु (सदय—५५), १४ अघभी. (पापभीरुः—४८)।

३ आगे (२-१०) प्राणी का अंग होने से मूग-उड़द आदि अन्न के समान मांस का भी भक्षण करना अनुचित नहीं है, इस आशंका के परिहार मे प० आशाधर ने पत्नी और माता का उदाहरण देकर मास भक्षण के अनौचित्य को सिद्ध किया है।

.........व्रतस्थाश्च ते ज्ञानवृद्धाश्च, तेषां पूजकः। पूजा च सेवाञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिलक्षणा। (यो. शा. स्वो. टीका पृ. १५७)।

१ सद्गी—सती प्रशस्ता परावर्णवाद-पारुष्यादिदोषरहिता गीर्वाग् यस्यासौ सद्गी.। (सा.ध. स्वो. टीका)

२ योगशास्त्र में इस श्लोक (१-५२) के स्वो. विवरण मे 'पानाहारादयो······' इत्यादि श्लोक द्वारा 'सात्म्य' का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। वह श्लोक पं० आशाधर के द्वारा भी सा. ध. के छठे अध्यायगत २४वें श्लोक की स्वो. टीका में उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त सा. ध. मे इस श्लोक की स्वोपज्ञ टीका के नीचे जो 'सर्वत्र शुचयो', 'लोकापवादभीरुत्वं'; 'यस्य त्रिवर्गशून्यानि'; 'पादमायान्निधिं कुर्यात्'; आयार्धं च नियुञ्जीत' और 'यदि सत्सगनिरतो' इत्यादि श्लोक दिये गये हैं वे योगशास्त्र के स्वो. विवरण में क्रमसे पृ. १४६, १४६, १५४, १५१, १५१ और १५० पर उपलब्ध होते हैं।

यह समाधान योगशास्त्र में श्लोक ३–३३ की स्वोपज्ञ वृत्ति में निम्न श्लोक के द्वारा किया गया है—

यस्तु प्राण्यङ्गमात्रत्वात् प्राह मांसौदने समे।
स्त्रीत्वमात्रान्मातृ-पत्न्योः स किं साम्यं न कल्पयेत्॥
पृ० ४७६–१२

४ उक्त दोनों ग्रन्थों में पांच उदुम्बर फलों के नाम इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये है—

पिप्पल, उदुम्बर, प्लक्ष, वट और फलगु (फलगुरत्र काकोदुम्बरिका—स्वो. टीका)। सा. ध. २-१३

उदुम्बर, वट, प्लक्ष, काकोदुम्बरिका और पिप्पल। यो. शा. ३-४२।

५ रात्रिभोजन प्रकरण में पं० आशाधर ने जिस वनमाला का उदाहरण दिया है (४–२६) वह योगशास्त्र के निम्न श्लोक में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः।
निशाभोजनशपथं कारितो वनमालया॥३-६८

यहां सा. ध. में योगशास्त्र के 'अन्यशपथान्' और 'कारितो' पद जैसे के तैसे लिए गये है।

६ इसी प्रकरण मे प० आशाधर ने रात्रिभोजन को जलोदरादि रोगों का उत्पादक और प्रेतादि के द्वारा उच्छिष्ट बतलाया है (४-२५)। इस श्लोक की स्वो. टीका में वे उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं—

तत्र यूका भोजनेन सह भुक्ता जलोदरं करोति, कौलिका कुष्ठम्, मक्षिका छर्दिम्, मद्गिका मेदा [मेधा]-हानिम्, व्यञ्जनान्त पतितो वृश्चिकस्तालुव्यथाम्, कण्टकः काष्ठखण्डं वा गलव्यथाम्, बालश्च गले लग्नः स्वरभङ्गम्। इत्यादयो दृष्टदोषा सर्वेषां प्रतीतिकरा.।

इस स्पष्टीकरण के आधारभूत योगशास्त्र के निम्न श्लोक रहे है—

मेधां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्ति कुष्ठरोगं च कोलिकः॥
कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः॥
विलग्नश्च गले वालः स्वरभङ्गाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने॥
यो. शा. ३, ५०-५२

उक्त रात्रिभोजन को प्रेतादि से उच्छिष्ट निम्न श्लोक में कहा है—

अन्नं प्रेत-पिशाचाद्यैः संचरद्भिर्निरंकुशैः।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र तत्र नाद्याद्दिनात्यये ।। यो.शा. ३-४८

७ पं० आशाधर ने दिनके प्रारम्भ के दो और अन्त के दो अन्तर्मुहूर्तों को छोड़कर दिन में भोजन का विधान किया है (४-२९)। इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने दिन के प्रारम्भ की दो और अन्त की दो घटिकाओं को छोड़कर दिन में भोजन का विधान किया है (३-६३)। दोनों ही ग्रन्थों में उक्त प्रकार से रात्रिभोजन का परित्याग करने वाले गृहस्थ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह इस प्रकार से अपने जीवन के अर्ध भाग को तो उपवास के साथ विता देता है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तमुहूर्तौ रात्रिवत् सदा।
स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्धं नयन् कियत् ।। सा.ध. ४-२९
करोति विरतिं धन्यो यः सदा निशि भोजनात्।
सोऽर्धं पुरुषायुषस्य स्यादवश्यमुपोषितः ।। यो.शा. ३-६९

८ सा. ध. में भोगोपभोगपरिमाणव्रत के प्रसंग मे भोग और उपभोग वस्तुओं के प्रमाण के अतिरिक्त मांस, मद्य, मधु, त्रसघातजनक, बहुघातजनक, प्रमादजनक, अनिष्ट और अनुपसेव्य वस्तुओं का भी त्याग कराया गया है। इस वर्णन के आधारभूत यद्यपि प्रमुखता से रत्नकरण्डगत ८५-८६ श्लोक रहे हैं, फिर भी तद्विषयक विशेष वर्णन में योगशास्त्र का भी सहारा लिया गया है। इस प्रसंग में वहां प्रथमतः निम्न दो (३, ६-७) श्लोक उपलब्ध होते हैं—

मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ।।
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत् ।।

इन श्लोकों में निर्दिष्ट क्रम से वहां आगे मद्य का वर्णन ८-१७, मांस का वर्णन १८-३३, नवनीत का ३४-३५, मधु का ३६-४१, उदुम्बर फलों का ४२-४३, अनन्तकायका ४४-४६, अज्ञात फल का ४७, रात्रिभोजन का ४८-७० तथा आमगोरससंपृक्त द्विदल, पुष्पित ओदन व दो दिन बाद के दही का वर्णन ७१-७२ श्लोकों मे किया गया है।

इन सबका वर्णन सा. ध. में भी यत्र तत्र किया गया है, जो यथाक्रम से इन श्लोकों में देखा जा सकता है[1]—२, ४-५ व ३-११; २, ६-१० व ३-१२; २-१२; २-११ व ३-१३; २-१३ व ३-१४, ५-१७; ३-१४; २, १४-१५ तथा ४, २४-२९, व ३-१५; ५-१८ व ३-११।

९ योगशास्त्र में व्रतातिचारो के वर्णन के प्रसंग में श्लोक ३-९८ के द्वारा भोजन के आश्रय से भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पांच अतिचारों[2] का निर्देश करके तत्पश्चात् श्लोक ३, १००-१०१ के द्वारा उक्त भोगोपभोगपरिमाणव्रत के कर्माश्रित १५ अतिचारों का—खरकर्मो का—नामोल्लेख किया गया है। इससे पूर्व के श्लोक ३-९९ के स्वोपज्ञ विवरण में भोगोपभोगपरिमाण का लक्षणान्तर इस प्रकार किया गया है—

भोगोपभोगमानस्य च व्याख्यानान्तरम्—भोगोपभोगसाधन यद् द्रव्यं तदुपार्जनाय यत् कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते, कारणे कार्योपचारात्। ततश्च कर्मतः कर्माश्रित्य, खर कठोर प्राणिबाधक यत् कर्म कोट्टपालन-गुप्तिपालन-वीतपालनादिरूपं तत् त्याज्यम्, तस्मिन् खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते पञ्चदश मलानतिचारान् संत्येजेत्। (पृ. ५९९)

सागारधर्मामृत मे आचार्य हेमचन्द्र के उपर्युक्त कथन

---

१ इनमें द्विदल से सम्बद्ध उभय ग्रन्थगत श्लोकों में बहुत कुछ शब्दसाम्य भी है। यथा—
आमगोरससपृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितयातीत कुथितान्नं च वर्जयेत् ।। यो. ३-७
आमगोरससपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्।
वर्षास्वदलित चात्र पत्रशाक च नाहरेत् ।। सा. ५-१८
पुष्पितौदन और दिनद्वयातीत दही का परित्याग सा. ध. (३-११) में निम्न श्लोक द्वारा कराया गया है—
सन्धानकं त्यजेत् सर्वं दधि-तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ।।

२ उभय ग्रन्थगत वे अतिचारविषयक श्लोक भी बहुत कुछ समानता रखते हैं। यथा—
सचित्तस्तेन सम्बद्धः सन्मिश्रोऽभिषवस्तथा।
दुष्पक्वाहार इत्येते भोगोपभोगमानगाः ।। यो. ३-९८
सचित्तं तेन सम्बद्धं सम्मिश्रं तेन भोजनम्।
दुष्पक्वमप्यभिषव भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम् ।।सा. ५-२०

का सीधा उल्लेख न करके पं० आशाधर ने श्लोक ५-२० की स्वोपज्ञ टीका मे सिताम्बराचार्य की शका के रूप मे प्राय. उन्ही के शब्दो मे उसे उपस्थित करते हुए अचार बतलाया है। यथा—

अत्राह सिताम्बराचार्य —भोगोपभोगसाधन यद् द्रव्यं तदुपार्जनाय यत् कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते, कारणे कार्योपचारात्। ततः कोट्टपालादिखरकर्मापि त्याज्यम्। तत्र खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते अङ्गारजीविकादीन् पञ्चदशातिचारांस्त्यजेत्। तदचारु।

इस प्रकार उक्त खरकर्मो के परित्याग को अचारु बतलाकर भी प० आशाधर ने अतिजडबुद्धि जनो के प्रति उनके परित्याग को भी स्वीकार कर लिया है[१]।

१० योगशास्त्र में श्रावक के १२ व्रतों का वर्णन करके तत्पश्चात् यह कहा गया है कि इस प्रकार उन व्रतों में स्थित होकर जो पुरुष भक्तिपूर्वक सात क्षेत्रो मे धन का परित्याग करता है तथा दीन जनों के लिए भी दयार्द्र होकर दान देता है वह महाश्रावक कहलाता है[२]।

इसी प्रकार सा. ध. मे भी कहा गया है कि जो गृहस्थ उक्त व्रतों का परिपालन करता हुआ गुणवानो की वैयावृत्ति करता है, दीन जनों का उद्धार करता है, और इस (आगे छठे अध्याय में वर्णित) दिनचर्या का आचरण करता है; वह महाश्रावक होता है[३]।

११ तत्पश्चात् दोनों ही ग्रन्थों मे जो श्रावक की दिनचर्या का वर्णन किया गया है वह बहुत कुछ समानता रखता है। इस प्रसंग में योगशास्त्र मे सर्वप्रथम यह श्लोक उपलब्ध होता है—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठिस्तुतिं पठन्।
किंधर्मः किंकुलश्चास्मि किंव्रतोऽस्मीति च स्मरन्॥
यो. शा. ३-१२२

उधर सा. ध. में भी इस प्रकरण के प्रारम्भ मे इसी आशय का प्रथम श्लोक इस प्रकार प्राप्त होता है—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत्॥ सा.ध. ६-१

१२ तदनन्तर योगशास्त्र (३-१२३) में कहा गया है कि पश्चात् स्नानादि से पवित्र होता हुआ घर पर पुष्प, नैवेद्य और स्तुति के द्वारा जिन देव की पूजा करके शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और तत्पश्चात् देवालय को जाय।

यही बात सा. ध. में भी (६, ३-५) कही गई है।

इस प्रकरण में सा. ध. के निम्न श्लोक योगशास्त्र के इन श्लोकों से काफी प्रभावित हैं—

प्रविश्य विधिना तत्र त्रिः प्रदक्षिणयेज्जिनम्।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य स्तवनैरुत्तमैः स्तुयात्॥ यो. ३-१२४
क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः।
त्रिः प्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन्॥ सा. ६-६

\+ + +

ततो गुरूणामभ्यर्णे प्रतिपत्तिपुरःसरम्।
विदधीत विशुद्धात्मा प्रत्याख्यानप्रकाशनम्॥ यो ३-१२५
अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाभ्यर्च्य जिनेश्वरम्।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत्॥ सा ६-११

\+ + +

विलास-हास निष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-दुष्कथा।
जिने द्रभवनस्यान्तराहारं च चतुर्विधम्॥ यो. ३-८१
मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम्।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत्॥ सा. ६-१४

\+ + +

ततः प्रतिनिवृत्तः सन् स्थानं गत्वा यथोचितम्।
सुधीर्धर्माविरोधेन विदधीतार्थचिन्तनम्॥ यो. ३-१२८
ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः।
अधितिष्ठेद् व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविराधतः॥ सा. ६-१५

\+ + +

ततो माध्याह्निकीं पूजां कुर्यात् कृत्वा च भोजनम्।
तद्विद्भिः सह शास्त्रार्थरहस्यानि विचारयेत्॥ यो. ३-१२९
विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभिः सह।

---

१ इसी से उन्होंने श्लोक ५, २१-२२ में उक्त १५ खरकर्मों को नामनिर्देशपूर्वक संगृहीत कर लिया है। योगशास्त्र में इन खरकर्मों का पृथक्-पृथक् निरूपण नामनिर्देशपूर्वक श्लोक १००-११४ में किया गया है।

२ एवं व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्यां धन वपन्।
दयया चातिदीनेषु महाश्रावक उच्यते॥ यो. ३-१२०

३ एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला-
न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः।
वैयावृत्त्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरं-
श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः॥
सा. ध. ५-५५

जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥ सा. ६-२६
+ + +
ततश्च संध्यासमये कृत्वा देवार्चनं पुनः ।
कृतावश्यककर्मा च कुर्यात् स्वाध्यायमुत्तमम् ॥
न्याय्ये काले ततो देव-गुरुस्मृतिपवित्रितः ।
निद्रामल्पामुपासीत प्रायेणाब्रह्मवर्जकः ॥
निद्राच्छेदे योषिदङ्गसतत्त्वं परिचिन्तयेत् ।
स्थूलभद्रादिसाधूनां तन्निवृत्ति परामृशन् ॥ यो.शा.३,१३०-३२
सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेव-गुरुस्मृतिः ।
न्याय्येकालेऽल्पशः स्वप्याच्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥
निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत् ।
सम्यग्भावितनिर्वेदः सद्योनिर्वाति चेतनः ॥ सा.ध. ६,२७-२८
+ + +
त्यक्तसंगो जीर्णवासा मलक्लिन्नकलेवरः ।
भजन् माधुकरीं वृत्ति मुनिचर्यां कदा श्रये ॥ यो. ३-१४२
कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन् ।
यथालाभेन सन्तुष्टः उत्तिष्ठेत् तनुस्थितौ ॥ सा. ६-१७
+ + +
शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा ॥ यो. ३-१४६
पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे ।
जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधीः कदा ॥ सा. ६-४१

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही श्लोक है जो अर्थ और शब्दों से भी समानता रखते है।

उपसहार

पण्डितप्रवर आशाधर सस्कृत और प्राकृत उभय भाषाओं के असाधारण विद्वान् होते हुए सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, काव्य और आयुर्वेद आदि अनेक विषयो मे पारंगत थे१। उन्होने अपने समय में उपलब्ध इन विषयो के प्रचुर ग्रन्थों का परिशीलन किया था। उनके द्वारा जैसे अनेक मौलिक ग्रन्थो की रचना हुई है वैसे ही अनेक ग्रन्थों पर टीका भी की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ सागारधर्मामृत—जो धर्मामृत ग्रन्थ का पूर्व भाग है—इसी कारण से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन सका है। श्रावक के द्वारा अनुष्ठेय प्रायः सभी क्रियाओ का इसके मूल भाग मे या उसकी स्वोपज्ञ भव्य-कुमुद-चन्द्रिका टीका मे समावेश हुआ है। कुछ विषयविवेचन या किसी विषय का विस्तार यहां ऐसा भी उपलब्ध होता है जो प्रायः अप्रामाणिक या आम्नायविरुद्ध माना जाता है२। पर उसका भी वर्णन पं० आशाधर ने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से नही किया है, किन्तु जैसा कि आप ऊपर देख चुके है पूर्व ग्रन्थो का—चाहे वे दिगम्बर रहे हो या श्वेताम्बर—आश्रय लेकर उन्होने उनका वर्णन किया है। बिना ग्रन्थाधार के उन्होने स्वतन्त्रता से कुछ भी नही लिखा, ऐसा मुझे अब तक के अध्ययन से प्रतीत होता है। कुछ भी हो, श्रावकाचार विषयक यह विस्तृत ग्रन्थ विवेकी पाठको के लिए उपयोगी ही सिद्ध हुआ है।

---

१ उन्होंने कितने ही शिष्यों को व्याकरण, न्याय और काव्य आदि विषयों को पढ़ाकर गणनीय विद्वान् बनाया था। यथा—

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान् न कान्
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यत. प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
चेरुः केऽस्खलित न येन जिनवाग्-दीप पथि ग्राहिताः
पीत्वा काव्य-सुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठा न के ॥
अन. ध. प्रशस्ति ६

२ क—जैसे भाड़ा देकर कुछ काल के लिए वेश्या को स्वस्त्री मान उसके सेवन मे ब्रह्मचर्याणुव्रत को भग न मानकर अतिचार मानना (४-५८ की स्वोपज्ञ टीका)। इसके लिए आधारभूत हेमचन्द्र सूरि के योगशास्त्र का स्वोपज्ञ विवरण रहा है (३-९४)। प्रायः उसी के शब्दों मे प० आशाधर ने उक्त अतिचार का विशदीकरण किया है। उसका इस प्रकार का स्पष्टीकरण आवश्यकचूर्णि और श्रावकप्रज्ञप्ति आदि अन्य भी श्वे. ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

ख—नीराजनाविधि मे गोमय आदि के विधान का उल्लेख (६-२२)। इसका आधार उपासकाध्ययन का निम्न श्लोक रहा है—

देहेऽस्मिन् विहितार्चने निनदति प्रारब्धगीतध्वना—
वातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे।
मृत्स्ना-गोमय-भूति-पिण्ड-हरितादर्भ-प्रसूनाक्षतै—
रम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजानां प्रस्तुवे ॥
उपा. ५३६, पृ० २३६

आत्म-विद्या क्षत्रियों की देन

मुनि श्री नथमल

आत्म-विद्या की परम्परा

ब्रह्म विद्या या आत्म-विद्या अवैदिक शब्द है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। वह विश्व का कर्त्ता और भुवन का पालक था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूत ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने अंगिर को, अंगिर ने भारद्वाज-सत्यवह को, भारद्वाज सत्यवह ने अपने से कनिष्ठ ऋषि को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार गुरु-शिष्य के क्रम से वह विद्या अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई[1]।

बृहदारण्यक में दो बार ब्रह्म-विद्या की वंश-परम्परा बताई गई है[2]। उसके अनुसार पौतिमाष्य ने गोपवन से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। गुरु-शिष्य का क्रम चलते-चलते अन्त में बताया गया है कि परमेष्ठी ने वह विद्या ब्रह्मा से प्राप्त की। ब्रह्मा स्वयंभू हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है। उससे आगे आचार्य-परम्परा नहीं है, क्योंकि वह स्वयंभू हैं[3]।

मुण्डक और बृहदारण्यक का क्रम एक नहीं है। मुण्डक के अनुसार ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति ब्रह्मा से अथर्वा को होती है और बृहदारण्यक के अनुसार वह ब्रह्मा से परमेष्ठी को होती है। ब्रह्मा स्वयंभू है इस विषय मे दोनों एक मत हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्म-विद्या के प्रथम प्रवर्तक भगवान् ऋषभ हैं। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन (अर्हत्), प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, और प्रथम धर्म-चक्रवर्ती थे[4]। उनके प्रथम जिन होने की बात इतनी विश्रुत हुई कि आगे चलकर प्रथम जिन उनका एक नाम बन गया[5]। श्रीमद् भागवत से भी इसी मत की पुष्टि होती है। वहा बताया गया है कि वासुदेव ने आठवां अवतार नाभि और मरुदेवी के वहां धारण किया। वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया[6]। इसलिए ऋषभ को मोक्ष-धर्म की विवक्षा से वासुदेवांश कहा गया[7]।

ऋषभ के सौ पुत्र थे। वे सबके सब ब्रह्म-विद्या के पारगामी थे[8]। उनके नौ पुत्रों को आत्म-विद्या-विशारद भी कहा गया है[9]। उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१; १।२

२. बृहदारण्यकोपनिषद् २।६।१; ४।६।१–३

३. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, २।३।६, पृ० ६१८
परमेष्ठी विराट् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् ततः परं आचार्य परम्परा नास्ति।

४. श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सू० ३०
उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

५. कल्पसूत्र १९४
उसभेणं कोसलिए कासवगुत्ते णं तस्स ण पच नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा—उसभे इ वा पढमराया इ वा पढमभिक्खाचरे इ वा पढमजिणे इ वा

६. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अध्याय ३, श्लोक १३
अष्टमे मेरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्मधीराणां सर्वाश्रम नमस्कृतम्॥

७. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २, श्लोक १६
तमाहुर्वासुदेवाश, मोक्षधर्मविवक्षया।

८. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० २, श्लोक १६
अवतीर्णं सुतशतं, तस्यासीद्, ब्रह्मपारगम्॥

९. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० २, श्लोक २०
नवाभवम् महाभागाः, मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशनाः, आत्म-विद्या विशारदाः॥

था१।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र और श्रीमद् भागवत के संदर्भ में हम आत्म-विद्या का प्रथम पुरुष भगवान ऋषभ को पाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उपनिषद्कारों ने ऋषभ को ही ब्रह्मा कहा हो।

ब्रह्मा का दूसरा नाम हिरण्यगर्भ है। महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग का पुरातन विद्वान है, कोई दूसरा नहीं२। श्रीमद्भागवत् में ऋषभ को योगेश्वर कहा है३। उन्होंने नाना योग-चर्याओं का चरण किया था४। हठयोग प्रदीपिका में भगवान ऋषभ को हठयोग-विद्या के उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया गया है५। जैन आचार्य भी उन्हें योग-विद्या के प्रणेता मानते है६। इस दृष्टि से भगवान् ऋषभ आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा—इन नामों से अभिहित हुए हैं।

ऋग्वेद७ के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत जगत् का एक मात्र पति है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी? शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् मे ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—किन्ही विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वान् कहते है कि वह ससारी है८। यह सन्देह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है९। आत्म-विद्या, सन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ ऋषभ ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ मे थे तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया१०।

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या—ये दो धाराएं प्रारम्भ से ही विभक्त रही हैं। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र है। ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी है। इन्हें ब्रह्मा द्वारा प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। यह कर्म-परायण पुरुषों के लिए शाश्वत मार्ग प्रकट हुआ११।

सन, सनत्, सुजात, सनक, सनंदन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्मा के मानस पुत्र है। इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति धर्मावलम्बी है। ये प्रमुख योग-वेत्ता, सांख्य-ज्ञान-विशारद, धर्म-शास्त्रों के आचार्य और मोक्षधर्म के प्रवर्तक हैं१२।

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अ० ४।९
येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ., श्रेष्ठ गुण: आसीत्।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४९।६५
हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्यः पुरातनः।

३. स्कन्ध ५, अ० ४।३
भगवान् ऋषभ देवो योगेश्वर।

४. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अ० ५।३५
नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभः।

५. हठयोग प्रदीपिका
श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या?

६. ज्ञानार्णव १।२
योगिकल्पतरुं नौमि, देव-देवं वृषध्वजम्।

७. ऋग्वेद सहिता, मण्डल १०, अ० १०, सूत्र १२१, मत्र १
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

८. बृहदारण्यकोपनिषद्, भाष्य १।४।६, पृ० १८५
अत्र विप्रतिपद्यन्ते पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

९. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक ६२ सा. भाष्य।

१०. महापुराण, पर्व १२, श्लोक ९५
सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्व मिव बोधयितु जगत्॥

११. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४०।६९-७१
मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये प्रतिष्ठिताः॥
अय क्रियावता पन्थथ व्यक्तीभूत: सनातन.।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः॥

१२. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४०।७२-७४
सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः।
सनत्कुमारः कपिल. सप्तमश्च सनातन।
सप्तैते मानसा प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मण. सुताः।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्ति धर्ममास्थित.॥

सप्तति शतस्थान में बतलाया गया है कि जैन, शैव और सांख्य—ये तीन धर्म-दर्शन भगवान् ऋषभ के तीर्थ में प्रवृत्त हुए थे। इससे महाभारत के उक्त तथ्यांश का समर्थन होता है१।

श्रीमद्भागवत मे लिखा है—भगवान् ऋषभ के कुशावर्त आदि नौ पुत्र नौ अधिपति बने, कवि आदि नौ पुत्र आत्म-विद्या-विशारद श्रमण बने और भरत को छोड़ कर शेष ८१ पुत्र महाश्रोत्रिय, यज्ञशील और कर्म-शुद्ध ब्राह्मण बने। उन्होंने कर्म-तंत्र का प्रणयन किया२।

भगवान ऋषभ ने आत्म-तंत्र का प्रवर्तन किया और उनके ८१ पुत्र कर्म-तंत्र के प्रवर्तक हुए। ये दोनों धाराएं लगभग एक साथ ही प्रवृत्त हुईं। यज्ञ का अर्थ यदि आत्म-यज्ञ किया जाए तो थोड़ी भेद रेखाओं के साथ उक्त विवरण का सवादक प्रमाण जैन-साहित्य में भी मिलता है३ और यदि यज्ञ का अर्थ वेद-विहित यज्ञ किया जाए तो यह कहना होगा कि भागवतकार ने ऋषभ के पुत्रों को यज्ञशील बता यज्ञ को जैन-परम्परा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है।

आत्म-विद्या भगवान् ऋषभ द्वारा परिवर्तित हुई। उनके पुत्रों—वातरशन श्रमणों—द्वारा वह परम्परा के रूप में प्रचलित रही। श्रमण और वैदिक धारा का सगम हुआ तब प्रवृत्तिवादी वैदिक आर्य उससे प्रभावित नहीं हुए। किन्तु श्रमण परम्परा के अनुयायी असुरों की धृति आत्म-लीनता और अशोकभाव को देखा और भौतिक समृद्धि की तुलना में आत्मिक समृद्धि को अधिक उन्नत देखा तो वे उससे सहसा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

वेदोत्तर युग में आत्म-विद्या और उसके परिपार्श्व में विकसित होने वाले अहिंसा, मोक्ष आदि तत्त्व दोनो धाराओं के संगम स्थल हो गए।

वैदिक साहित्य मे श्रमण-सस्कृति के और श्रमण-साहित्य मे वैदिक-सस्कृति के अनेक संगम-स्थल हैं। यहां हम मुख्यत: आत्म-विद्या और उसके परिपार्श्व में अहिंसा की चर्चा करेंगे।

आत्म-विद्या और वेद

महाभारत का एक प्रसंग है—महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से पूछा—भगवन्! जो इस जगत का कारण है, जिसके लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ज्ञान का अन्तिम फल बतलाते है तथा वेद के मन्त्र-वाक्यों द्वारा जिसका तत्त्व पूर्ण रूप से प्रकाश मे नही आता, उस नित्य वस्तु का आप मेरे लिए यथार्थ वर्णन करें४।

श्रमण परम्परा और क्षत्रिय

श्रमण परम्परा में क्षत्रियों की प्रमुखता रही है और वैदिक परम्परा में ब्राह्मणों की। भगवान् महावीर का देवानन्द की कोख से त्रिसला क्षत्रियाणी की कोख में संक्रमण किया गया, यह तथ्य श्रमण परम्परा सम्मत क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता का सूचक है। महात्मा बुद्ध ने कहा था—वाशिष्ठ! ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी गाथा कही है—

गोत्र लेकर चलने वाले जनों मे क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं।

जो विद्या और आचरण से युक्त है, वह देव मनुष्यों में श्रेष्ठ है। वाशिष्ठ! यह गाथा ब्रह्मा सनत्कुमार ने ठीक ही कही है, बेठीक नहीं कही। सार्थक कही, अनर्थक नहीं। इसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ।

क्षत्रिय की उत्कृष्टता का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलता है। वह इतिहास की उस भूमिका पर अंकित हुआ जान पड़ता है, जब क्षत्रिय और ब्राह्मण एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो रहे थे। वहा लिखा है—आरम्भ मे यह एक ब्रह्म ही था। अकेले होने के कारण वह विभूति-युक्त कर्म करने मे समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की अर्थात्

एते योगविदो मुख्या: सांख्यज्ञानविशारदा:।
आचार्या धर्मशास्त्रेणु मोक्षधर्मप्रवर्तका:॥

१. सप्तति शतस्थान ३४०, ३४१
जइणं सइवं संखं, वेमंतिय नाहिआण बुद्धाणं।
वइसेसियाण वि मयं, इमाइं सग दरिसणाइं कम॥
तिन्नि उसहस्स तित्थे, जायाइं सीयलस्स ते दुन्नि।
दरिसण मेगं पासस्स, सत्तमं वीरतित्थंमि॥

२. श्रीमद्भागवत्, स्कन्ध ५, अ० ४।६-१३

३. आवश्यक निर्युक्ति, पृ० २३५,२३६

४. महाभारत, शान्तिपर्व, २०१।४

देवताओं में जो क्षत्रिय, इन्द्र. वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशान् आदि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अत: क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नही है। इसी से राजसूय यज्ञ मे ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है, वह क्षत्रिय मे ही अपने यश को स्थापित करता है।

आत्म-विद्या के लिए ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की उपासना

क्षत्रियों की श्रेष्ठता उनकी रचनात्मक शक्ति के कारण नहीं, किन्तु आत्म-विद्या की उपलब्धि के कारण थी। यह आश्चर्यपूर्ण नहीं, किन्तु बहुत यथार्थ बात है कि ब्राह्मणों को आत्म-विद्या क्षत्रियों से प्राप्त हुई है।

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पंचालदेशीय लोगों की सभा मे आया।

प्रवाहण ने कहा—कुमार! क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है?

श्वेतकेतु—हां भगवन्!

प्रवाहण—क्या तुझे मालूम है कि इस लोक से (जाने पर) प्रजा कहां जाती है?

श्वेतकेतु—भगवन्! नहीं।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोक मे कैसे आती है?

श्वेतकेतु—नहीं। भगवन्।

प्रवाहण—देवयान और पितृयाण—इन दोनों मार्गों का एक दूसरे से विलग होने का स्थान तुझे मालूम है?

श्वेतकेतु—नहीं भगवन्!

प्रवाहण—तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नही है?

श्वेतकेतु—भगवन्! नही।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि पाचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोमघृतादि रस) पुरुष सज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं?

श्वेतकेतु—भगवन्! नहीं।

'तो फिर तू अपने को' मुझे शिक्षा दी गई है, ऐसा क्यों बोलता था? जो इन बातों को नहीं जानता वह अपने को शिक्षित कैसे कह सकता है?

तब वह त्रस्त होकर अपने पिता के स्थान पर आया और उससे बोला—श्रीमान् ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है।

उस क्षत्रिय बन्धु ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे थे, किन्तु मैं उनमें से एक का भी विवेचन नही कर सका। उसने कहा—तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाए है, उनमे से मैं एक को भी नही जानता। यदि मैं उन्हे जानता तो तुम्हे क्यों नहीं बतलाता?

तब वह गौतम राजा के स्थान पर आया और उसने अपनी जिज्ञासाएं राजा के सामने प्रस्तुत कीं।

राजा ने उसे चिरकाल तक अपने पास रहने का अनुरोध किया और कहा—गौतम! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है, पूर्वकाल मे तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसीसे सम्पूर्ण लोको मे क्षत्रियों का ही (शिष्यों के प्रति) अनुशासन होता रहा है[1]।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी राजा प्रवाहण आरुणि से कहता है—इससे पूर्व यह विद्या (अध्यात्म विद्या) किसी ब्राह्मणों के पास नही रही। वह मैं तुम्हें बताऊंगा[2]।

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, मल्लविके का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्करक्षा का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल—ये महा गृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और हम क्या हैं?

उसने निश्चय किया कि अरुण का पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्मा को जानता है। अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उसके पास आए।

उसने निश्चय किया कि ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझसे प्रश्न करेंगे, किन्तु मैं इन्हें पूरी तरह से बतला नहीं सकूंगा। अत: मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दू।

उसने उनसे कहा—इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानर संज्ञक आत्मा को अच्छी तरह जानता है।

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।३।१–७, पृ० ४७२–४७६
२. बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।८—
यथेय विद्येत: पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वह तुभ्यं वक्ष्यामि।

आइए हम उसी के पास चलें। ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये।

उन्होने केकयकुमार अश्वपति से कहा—इस समय आप वैश्वानर आत्मा को अच्छी तरह से जानते हैं, इसलिए उसका ज्ञान हमें दें।

दूसरे दिन केकयपति अश्वकुमार ने उन्हें आत्म-विद्या का उपदेश दिया[१]। ब्राह्मणों के ब्रह्मगत्व पर तीखा व्यग कराते हुए अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा था—ब्राह्मण क्षत्रियों की शरण इस आशा से आए कि यह मुझे इस ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है, तो भी मैं तुम्हें उसका ज्ञान कराऊँगा ही[२]।

प्राय: सभी मैथिल नरेश आत्म-विद्या को आश्रय देते थे[३]।

एम-विंटरनित्स ने इस विषय पर बहुत विशद विवेचना की है। उन्होंने लिखा है—भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों मे खोजना उचित न होगा, क्योंकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढांचा देने मे दिलोजान से लगे हुए थे जबकि इन दार्शनिको का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मण यज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते हैं, उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले ले जो इन्द्र तक की सत्ता मे विश्वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियां देना जिसे व्यर्थ नजर आए, बुद्धि नही मानती। सो अधिक संभव नही प्रतीत होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्ही लोगों का क्षेत्र था, जिन्होंने वेदो मे पुरोहितो का शत्रु अर्थात् अरि, कजूस, 'ब्राह्मणो का दक्षिणा देने से जी चुराने वाला' कहा गया है।

उपनिषदों में तो, और कभी-कभी ब्राह्मणों मे भी ऐसे कितने ही स्थल आते है जहा दर्शन-अनुचिन्तन के उस युग प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वत: सिद्ध हो जाती है।

कौशीतकी ब्राह्मण (२६।५) में प्राचीन भारत की साहित्यिक गतिविधि की निदर्शक एक कथा, राजा प्रतर्दन के सम्बन्ध मे आती है कि किस प्रकार वह मानी ब्राह्मणों से यज्ञ विद्या के विषय में जूझता है। शतपथ की ११वीं कण्डिका मे राजा जनक सभी पुरोहितों का मुंह बन्द कर देते है और तो और ब्राह्मणों को जनक के प्रश्न समझ में ही नही आए? एक और प्रसग मे श्वेतकेतु-सोमशुष्य और याज्ञवल्क्य सरीखे माने हुए ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि अग्निहोत्र करने का सच्चा तरीका क्या है और किसी से इसका सन्तोषजनक उत्तर नही बन पाता। यज्ञ की दक्षिणा अर्थात् सौ गाए, याज्ञवल्क्य के हाथ लगती है, किन्तु जनक साफ-साफ कहे जाता है कि अग्निहोत्र की भावना अभी स्वयं याज्ञवल्क्य को भी स्पष्ट नही हुई और सत्र के अनन्तर जब महाराज अन्दर चले जाते है तो ब्राह्मणो मे कानाफूसी चल पडती है कि यह क्षत्रिय होकर हमारी ऐसी की तैसी कर गया खैर हम भी तो इसे सबक दे सकते हैं—ब्रह्मोद्य (के विवाद) मे इसे नीचा दिखा सकते है? तब याज्ञवल्क्य उन्हे मना करता है—देखो, हम ब्राह्मण है और वह सिर्फ एक क्षत्रिय है, हम उसे जीत भी ले तो हमारा उससे कुछ बढ़ नहीं जाता और अगर उसने हमे हरा दिया तो लोग हमारी मखौल उड़ाएँगे। देखो? एक छोटे से क्षत्रिय ने ही इनका अभिमान चूर्ण कर डाला। और उनमे (अपने साथियों से) छुट्टी पाकर याज्ञवल्क्य स्वय जनक के चरणो में हाजिर होता है, भगवन्! मुझे भी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी अपने स्वानुभव का कुछ प्रसाद दीजिए[१] और भी ऐसे अनेक प्रसग मिलते है, जिनसे आत्म विद्या पर क्षत्रियो का प्रभुत्व प्रमाणित होता है।

आत्म-विद्या के पुरस्कर्ता

एम० विन्टरनित्ज ने लिखा है—जहां ब्राह्मण यज्ञ-याग आदि की नीरस प्रक्रिया से लिपटे हुए थे, अध्यात्म-विद्या के चरम प्रश्नों पर और लोग स्वतंत्र चिन्तन कर रहे थे। इन्ही ब्राह्मणेतर मण्डलों से ऐसे वानप्रस्थों तथा रमते परिव्राजकों का सम्प्रदाय उठा—जिन्होंने न केवल ससार और सासारिक सुख वैभव से अपितु यज्ञादि की

१. छान्दोग्योपनिषद ५।११।१–७, पृ० ५३६–५४३
२. बृहदारण्यकोपनिषद २।१।१५, पृ० ४२२
३. श्रीविष्णु पुराण ४।५।३४, पृ० ३१०
प्रायेणैते आत्म-विद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति।

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८३।

नीरसता से भी अपना सब नाता तोड़ लिया था। आगे चलकर बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण-विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतन्त्र चिन्तकों तथाकथित नास्तिकों—की बदौलत ही सम्भव हो सका, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है, प्राचीन यज्ञादि सिद्धान्तों के भस्मशेष से इन स्वतत्र विचारों की परम्परा वही—यह भी एक (और) ऐतिहासिक तथ्य है। याज्ञिको मे 'जिद' कुछ घर कर जाती और न यह नई दृष्टि कुछ सभव हो सकती।

इन सबका यह मतलब न समझा जाए कि ब्राह्मणों का उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में कोई भाग था ही नही, क्योंकि प्राचीन गुरुकुलों मे एक ही आचार्य की छत्र-छाया मे ब्राह्मण-पुत्रों, क्षत्रिय-पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का तब प्रबन्ध था और यह सब स्वभाविक ही प्रतीत होता है कि विभिन्न समस्याओं पर समय-समय पर उन दिनों विचार विनिमय भी बिना किसी भेदभाव के हुआ करते हो[१]।

"बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतंत्र चिन्तकों-तथाकथित नास्तिको की बदौलत ही सम्भव हो सका।" इस वाक्य की अपेक्षा यह वाक्य अधिक उपयुक्त हो सकता है कि बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरो का विकास आत्म-वेत्ता क्षत्रियों की बदौलत ही सम्भव हो सका। क्योंकि अध्यात्म-विद्या की परंपरा बहुत प्राचीन रही है, सम्भवतः वेद-रचना से पहले भी रही है। उसके पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे। ब्राह्मण पुराण भी इस बात का समर्थन करते हैं कि भगवान ऋषभ क्षत्रियों के पूर्वज हैं[२]। उन्होने सुदूर अतीत में अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया था।

ब्राह्मणों की उदारता

ब्राह्मणों ने भगवान ऋषभ और उनकी अध्यात्म-विद्या को जिस प्रकार अपनाया, वह उनकी अपूर्व उदारता का ज्वलन्त उदाहरण है। एम. विन्टरनिट्ज के शब्दों में हम यह भी न भूल जाए कि (भारत के इतिहास में) ब्राह्मणों में ही प्रतिभा पाई जाती है कि वे अपनी घिसी-पिटी उपेक्षित विद्या में भी नये विरोधी भी क्यों न हो—विचारो की संगति बिठा सकते हैं, आश्रम-व्यवस्था को, इसी विशिष्टता के साथ, चुपचाप उन्होंने अपने (ब्राह्मण) धर्म का अंग बना लिया—वानप्रस्थ और संन्यासी लोग भी उन्हीं की प्राचीन व्यवस्था में समा गए[३]।

आरण्यकों और उपनिषदों मे विकसित होने वाली अध्यात्म विद्या को विचार सगम की सज्ञा देकर हम अतीत के प्रति अन्याय नहीं करते। डा० भगवत शरण उपाध्याय का मत है कि ऋग्वैदिककाल के बाद, जब उपनिषदों का समय आया तब तक क्षत्रिय ब्राह्मण संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गए थे जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक-काल से किए आ रहे थे[४]। पार्जिटर का अभिमत इससे भिन्न है। उन्होने लिखा है—राजाओ व ऋषियो की परम्पराए भिन्न-भिन्न रही। सुदूर अतीत मे दो भिन्न परम्पराएँ थीं—क्षत्रिय परम्रा और ब्राह्मण परम्परा। यह मानना विचारपूर्ण नहीं कि विशुद्ध क्षत्रिय-परम्परा पूर्णत: विलीन हो गई थी या अत्यधिक भ्रष्ट हो गई या जो वर्तमान में है, वह मौलिक नहीं। ब्राह्मण अपने धार्मिक व्याख्याओं को सुरक्षित रख सके व उनका पालन कर सके हैं तो क्षत्रियों के सम्बन्ध में इससे विपरीत मानना अविचार पूर्ण है। क्षत्रिय परम्परा मे भी ऐसे व्यक्ति थे, जिनका मुख्य कार्य ही परम्परा को सुरक्षित रखना था।

···क्षत्रिय व ब्राह्मण परम्परा का अन्तर महत्वपूर्ण है और स्वभाविक भी। यदि क्षत्रिय परम्परा का अस्तित्व नहीं होता तो वह आश्चर्यजनक स्थिति होती······ ब्राम्हण व क्षत्रिय परम्परा की भिन्नता प्राचीनतम काल से

---

१ प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ० १८६

२. (क) वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० ३३, श्लोक ५०
नाभिस्त्व जनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युति:।
ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
(ख) ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्द्ध अनुषगपाद अ० १४।६०
ऋषभ पार्थिवं श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतोजज्ञे, वीर: पुत्रशताग्रज: ॥

३. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८६।

४. सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०

पुराणों से संकलन व पौराणिक ब्राम्हणों का उन पर अधिकार होने तक रही[१]।

वस्तुतः क्षत्रिय परम्परा ऋग्वेदकाल से पूर्ववर्ती है। उपनिषद्काल में क्षत्रिय ब्राम्हणो का पद छीन लेने को उद्यत नही थे प्रत्युत ब्राम्हणों को आत्म-विद्या का ज्ञान दे रहे थे। जैसा कि डा० उपाध्याय ने लिखा है—ब्राम्हणों के यज्ञानुष्ठान आदि के विरुद्ध क्रान्तिकर क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राम्हणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल-प्रसार काफी लम्बा रहा जो अन्ततः द्वितीय शती ई० पूर्व में ब्राम्हणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमें एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुष्यमित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति, कैकेय, प्रवाहण, जैबलि—अजातशत्रु, कौशेय, जनक, विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और बृहद्रथ की[२]।

आत्म-विद्या और अहिंसा

अहिंसा का आधार आत्म-विद्या है। उसके बिना अहिंसा कोरी नैतिक बन जाती है, उसका आध्यात्मिक मूल्य नहीं रहता।

अहिंसा और हिंसा कभी ब्राम्हण और क्षत्रिय परंपरा की विभाजन रेखा थी। अहिंसा-प्रिय होने के कारण क्षत्रिय जाति बहुत जन-प्रिय हो गई थी। जैसा कि दिनकरजी ने लिखा है—अवतारों मे वामन और परशुराम, ये दो ही है, जिनका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था। बाकी सभी अवतार क्षत्रियो के वश मे हुए है। यह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञों पर चलने के कारण ब्राम्हण इतने हिसाप्रिय हो गए थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा और ब्राम्हणों का पद उसने क्षत्रियों को दे दिया। प्रतिक्रिया केवल ब्राम्हण धर्म (यज्ञ) ही नहीं, ब्राम्हणों के गढ कुरु पंचाल के खिलाफ भी जगी और वैदिक सभ्यता के बाद वह समय आ गया। जब इज्जत कुरु-पचाल की नही, बल्कि मगध और विदेह की होने लगी। कपिलवस्तु में जन्म लेने के ठीक पूर्व, जब तथागत स्वर्ग मे देवयोनि मे विराज रहे थे, तब की कथा है कि देवताओं ने उनसे कहा कि अब आपका अवतार होना चाहिए। अतएव आप सोच लीजिए कि किस देश और किस कुल मे जन्म ग्रहण कीजिएगा। तथागत ने सोच समझकर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगध देश और क्षत्रिय वश ही हो सकता है। इसी प्रकार महावीर, वर्धमान भी पहले एक ब्राम्हणी के गर्भ मे आए थे। लेकिन इन्द्र ने सोचा कि इतने बड़े महापुरुष का जन्म ब्राम्हण वंश मे कैसे हो सकता है? अतएव उसने ब्राम्हणी का गर्भ चुराकर उसे एक क्षत्राणी की कुक्षी में डाल दिया। इन कहानियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों यह अनुभव किया जाता था कि अहिंसा धर्म का महाप्रचारक ब्राम्हण नही हो सकता, इसीलिए बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय वंश मे उत्पन्न होने की कल्पना लोगों को बहुत अच्छी लगने लगी[३]।

उक्त अवतरणो व अभिमतो से ये निष्कर्ष हमें सहज उपलब्ध होते हैं—

१ आत्म-विद्या के आदि स्रोत तीर्थंकर ऋषभ थे।

२. वे क्षत्रिय थे।

३. उनकी परपरा क्षत्रियों में बराबर समादृत रही।

४. अहिंसा का विकास भी आत्म-विद्या के आधार पर हुआ।

५. यज्ञ संस्था के समर्थक ब्राम्हणों ने वैदिककाल में, आगम-काल मे, आत्म-विद्या को प्रमुखता नही दी।

६. आरण्यक व उपनिषद्काल मे वे आत्म-विद्या की ओर आकृष्ट हुए।

७. क्षत्रियों के द्वारा उन्हे वह (आत्म-विद्या) प्राप्त हुई। ★

---

१. Ancient India Historical tradition by F.E. Pargiter Page 5-6.

२. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०

३. वही, पृ० १०६, ११०

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ वस्ती मंदिर

तथा मूलनायक मूर्ति—शिरपुर

पं० नेमचंद धन्नूसा जैन न्यायतीर्थ

शिरपुर के अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ का मन्दिर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है यह भली भांति स्पष्ट है। अनेकान्त वर्ष २० किरण ३ मे शिरपुर के पवली मन्दिर के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत लेख मे वहा के वस्ती मन्दिर और मूल नायक मूर्ति के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञातव्य इतिवृत्त दिया जा रहा है। आशा है पाठकगण उस पर विचार करेगे।

"ऐसा बताया जाता है कि, यहां का पुराना मन्दिर भी ४० साल पहले बनवाया गया था। अब वह खाली है। यहा के पुजारी लाड या जैन है।"

ई० सं० १८६८ में अकोला जिले के एक सरकारी आदमी ने शिरपुर के श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ दिगंबर जैन मन्दिर को भेट दी थी। और वहां के वृद्ध लोगो से मिलकर क्षेत्र के बारे मे कुछ जानकारी प्राप्त की थी। वह उसकी रिपोर्ट में ऊपर के मजकूर के साथ और भी लिखता है—

"इस नये मन्दिर का भी निर्माण अदाजा चालीस साल पहले ही हुआ है। उसके बाद उस पुराने मन्दिर से इस नये मन्दिर मे मूर्ति का स्थानांतर किया गया। वह प्रसंग यहा के वृद्धो को अच्छी तरह याद है।

"उस महामगल उत्सव के मुखिया थे खामगाव निवासी सेठ ओंकारदासजी श्रावगी तथा उनके पिताजी। उन्होने ही यहा की बडी न० १ की धर्मशाला बनवायी है। तथा उनके द्वारा यहा के महाद्वार का काम अभी अधूरा ही था। [जिसे उनके पुत्र सेठ दुलीचद जी ने पूरा किया है।]

"यहां का आनदरथी (हेमाडपथी) मन्दिर बहुत पुराना है। वह आज तक कभी भी पूरा नही हुआ। दो दफे चूना, विटो से मरम्मत की गई। लेकिन आज भी वह अधूरा ही है। यहा के पुजारी कहते है कि इस मन्दिर मे अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति ने आज तक प्रवेश ही नही किया।" आदि[1]

इस रिपोर्ट की घटनाओ का समय आज मे करीबन १५० साल पहले का यानी ई० स० १८२० से २८ तक का है। इस रिपोर्ट से हम इस बात मे निशक हो गये कि, यद्यपि हेमाडपंथी पवली दिगंबर जैन मन्दिर श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा के लिये बनाया गया था, तथापि उस मन्दिर मे यह प्रतिमा आज तक विराजमान नही हुई।

अब रही बात इस रिपोर्ट के प्रारम्भ मे जो उल्लेख आया है—पुराना मन्दिर भी ४० साल पहले बनवाया गया, इसका अर्थ इसी लेख मे विस्तार के साथ आगे आयेगा ही।

तथा इस नये वस्ती मन्दिर के कर्तृत्व के बारे में स्पष्ट उल्लेख है कि खामगाव जि० बुलढाणा के श्रावगी कुलोत्पन्न दिगबर जैन श्रावकों ने यह मन्दिर तथा धर्मशाला का निर्माण किया। इससे भी यही स्पष्ट हुआ कि यह मन्दिर—मन्दिर की मूर्ति तथा सबधित धर्मशालाए दिगबर जैन समाज की ही देन है। पवली मन्दिर का वास्तु, शिल्प और कला देखकर यह ही निर्णय हुआ है। इसकी चर्चा २-३ अकों मे की गई है। उस पर से भी इस मन्दिर के साथ मूलनायक की मूर्ति का स्वरूप दिगबर ही सिद्ध होता है।

तथापि इस मन्दिर की अधिक जानकारी के लिये यहा की रचना का तथा रचनाकारो का इतिहास आपके सामने रखता हूँ।

यह है वह महाद्वार, जिसका काम पूरा होने ही सेठ दुलीचद जी ओंकारदास जी श्रावगी ने ई० स० १८८५ मे चार कुड की पूजा की थी। इस समय तक यहा हर

---

१ अधिक स्पष्टी करण के लिए अकोला के इनाम बुक के इनाम सार्टिफिकेट देखिये।

यात्री पर दर डोई चार आना कर लेकर सरकार की ओर से नंदादीप के लिए घी मिलता था। अतः इसके संबंधित अधिकारी फेरी कमल साहेब को इस महोत्सव में बुलाया गया तथा हर यात्री को कर मुक्त करने की अर्जी उनके सामने रखी गई। तब विचार विमर्ष होने पर उन्होंने घी बन्द कर यात्री कर उठाने की घोषणा की थी। किन्तु दिगंबर जैन समाज ने उस समय उनका यथोचित सत्कार किया था, उससे प्रेरित होकर इस मन्दिर के उत्पन्न (आय) के लिये मेरे यह गाव (याने यहां के उत्पन्न) इनाम देने की इच्छा प्रगट की थी। किन्तु समाज ने उनका केवल आभार मानकर ही उसे स्वीकार नही किया था।

इस महाद्वार से अन्दर जाते ही आवार के मध्य मे मन्दिर की बड़ी इमारत दिखती है। इसका ऊपर का ईंटो से और नीचे का काम पत्थरों से किया गया है। ऊपर एक छोटा सा गुमटाकार शिखर है। सामने, एक समय एक ही आदमी प्रवेश कर सके, ऐसा छोटा दरवाजा दिखता है, बस यह ही श्री अ० पा० दिगबर जैन बस्ती मन्दिर है। इसीके एक भोयरे मे देवाधिदेव, त्रिलोकीनाथ श्री अतरिक्ष प्रभु विराजमान है।

इस छोटे दरवाजे से अन्दर प्रवेश करने पर चौक मिलता है। उसके चारों ओर चार फीट ऊचा चबूतरा है। उसके ऊपर तीन बाजू मे दिगंबरी पेढ़ी का सामान बैठक, पेटी, कपाटे आदि है तथा पश्चिम बाजू मे भट्टारक श्री जिनसेन के स्मृति रूप सेनगन का मन्दिर है। आओ यहा जल से हाथ पांव धोकर चन्दन लगाएँ और अन्दर चलें।

सुनिये ये सामने की घड़ी[१] क्या कहती है—"टन् टन् टन्। ई० स० १८७७ फाल्गुन वदी ७मी से यहां हूँ। मैं हर यात्रे करू से गर्ज कर कहती हूँ कि मेरा मालिक था दिगंबर जैन, निरमल (यह गाव हैद्राबाद के पास है) का रहने वाला नाम है उसका—व्यकोबा काशीबा कोठारी बोगार। टन्, टन्, टन्।"

मन्दिर जी मे प्रवेश करते ही सामने एक वेदी पर २०-२५ दिगंबर जैन मूर्ति तथा पीतल की एक पद्मावती देवी नजर आती है। वह निराभरण स्वरूप, दिगबर मुद्रा, वीतराग छवी तथा नासाग्रदृष्टि रूप प्रसन्न मुख देखते ही सहज ही भक्तिभाव से दोनों हाथ जुड़ जाते है। हर यात्री यहां नत मस्तक होकर भगवान के सामने साष्टाग प्रणिपात करता है।

दिगबर जैन धाकड़ समाज ने यह मन्दिर भट्टारक श्री जिनसेन के स्मृति निमित्त निर्माण किया था। अतः इस मन्दिर मे बायी ओर उनका गुरूपीठ है। उस पर अभी १०८ श्री कुदकुदाचार्य जी का तथा वीरसेन भट्टारकजी (जिनसेन के परपरागत अन्तिम शिष्य[२] का फोटो विराजमान है।

यहा से नीचे भोयरे मे उतरने के लिए सीधे हाथ से एक अरुद मार्ग है। आइये अब नीचे चलेगे।

भोयरे में—

यहां जो बीच मे ३॥ फुट ऊँची, कृष्ण वर्ण तथा सर्पफणालकृत मूर्ति दिखती है वह है श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान। इसकी प्राप्ति होने पर श्रीपाल ईल राजा इसे एलिचपुर ले जाना चाहता था, मगर यह यहा ही आकाश मे स्थिर हो गई[३]। कहा जाता है कि उस समय यह प्रतिमा ७ से ८ फीट ऊँचाई पर स्थित थी। इसके नीचे मे पनिहारी स्त्री सिर पर घडा रखकर सहज जा सकती[४] थी। यह भी कहा जाता[५] है कि इस प्रतिमा जी के नीचे से एक घोड़े का सवार भी निकल सकता था। किसी किसी का यह भी कहना है[६] यह मूर्ति इसी भोयरे मे वि० सं० ५५५ मे भी विराजमान थी। यह मूर्ति यहा कब से विराजमान है। इस विवाद के विषय को छोड भी दिया तो भी दसवीं सदी मे इस मूर्ति की, ऊपर जैसी स्थिति थी यह सुनिश्चित है। किन्तु आज यह मूर्ति सिर्फ एक अगुल भर ही अधर है। मूर्ति का एक भाग जमीन का सहारा ले रहा है। चौदहवी सदी मे मूर्ति इतनी ही अधर थी इसके अनेक उल्लेख मिलते है।

---

१. घण्टा के ऊपर के लेख के आधार से।

२. देखो सेनगण भट्टारक परपरा यह हमारा लेख, अने.।

३. भट्टारक श्री महिचद्रकृत अ पा. विनंति देखो।

४. सोमधर्मगणी रचित इतिहास देखो।

५. महिचद्र तथा लावण्य समय।

६. अकोला डि. गजेटिअर ई. स. १९११।

मूर्ति अधर कैसी है—इस चमत्कार का चक्षुर्वै सत्यम् अनुभव के लिए (१) वहा का पुजारी मूर्ति के नीचे से एक वस्त्र डालकर पीछे से निकालकर बताता है। (२) तथा भोयरे का विद्युतप्रकाश बन्द कर दो निरांजनी (दीप) मूर्ति के पीछे रखकर मूर्ति की स्थिति स्वयं अजमाने को कहता है, देखो मूर्ति के नीचे से पीछे का प्रकाश दिखता है।

चमत्कार—मूर्ति का जमीन से अन्तर देखने के लिए यात्री स्वयं नत मस्तक हो जाता है। क्या यह कम चमत्कार है ? सिर्फ मूर्ति का चमत्कार देखने के लिए यहा आने वाले और अपना शिर न झुकाने वाले का शिर खुद ही झुक जाना, इसमे ही प्रभु का प्रभुत्व है।

कैसा प्रभुत्व है—

आत्म गुण मण्डिते, पार्श्वनाथ वदना ॥
अलंकार छडिके, क्षातिसखी सेवना।
आत्मरूप ध्यान है, वीतराग कारणे।
द्वय निर्ग्रन्थ पद, आत्मधर्म साधने ॥१॥
हम सम तव नाही, राग बाह्य द्रियोमें।
विषमय रूप मानें, प्रेम वा बासनो में ॥
सहजहि तव वे थे, प्राप्त दिव्यान्न वस्त्र।
अंबर तव दिशा ही, अन्य माने तूं भस्म ॥ २॥

देखिये, जहां पेड का एक पत्ता आकाश मे बिना आधार क्षण भर भी स्थिर नही रह सकता वहा करीब एक सहस्र वर्षों से ३॥ फीट ऊँची, मजबूत पत्थरो की अनेक (गुणरत्नो से) परिपूर्ण प्रतिमा यहा अतरिक्ष स्थित है। यह यहा शिरपुर मे आकर देखने पर किसके मन को चकित न करेगी ? हरेक के मन को हरने वाले श्री देवाधिदेव पार्श्वप्रभु के दिगबर जैन शासन का दुनिया मे जय जय कार हो। बोलिये—श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान की जय[८]।

इस तरह प्रभु के गुण गौरव करने के भाव सहज ही निर्माण होते हैं। बाद मे दाहिनी ओर के श्री १००८ महावीर भगवान के वेदी पर स्थित सभी दिगंबर मूर्ति के सामने भक्ति से यात्री कहता है[९]—हे महावीर प्रभो, अनेक गुणों से तथा विभूति से विभूषित आत्मिक गुणों से परिपूर्ण, कीर्ति सपन्न ऐसे आप समवशरण मे जब थे, तब चद्रमा के समान आकाश मे (अधर ही) विहार करते या स्थिर थे। अत. आपके धवल रूप को शत शत प्रणाम। बोलिये श्री महावीर भगवान की जय।

बाई ओर यह श्री १००८ आदि प्रभु की दिगंबरी वेदी है। इसमे आदि प्रभु की मूर्ति की स्थापना भट्टारक श्रीसोमसेन ने श्रीपुर मे ही शके १६६१ (ई० स० १६३९) मे की थी। इस वेदी पर स्थित सभी दिगबर मूर्ति, यत्र, पादुका आदि की भक्ति वंदना कर आगे भगवान पार्श्वनाथ को शासन देवता पद्मावती माता का विनय करने का भाव सहज ही पैदा होता है। इसके शिला पर उत्कीर्ण अन्य दिगंबर मूर्ति की भक्ति करते समय याद आती है कि, इस मातृछत्र की स्थापना अन्य एक पार्श्व प्रभु की मूर्ति के साथ वि. स. १९३० कार्तिक सुदी १३ (ई. स. १८७४) के दिन हुई थी। जिसके संस्थापक 'बालसा' दि० जैन कासार है।

इसके नजदीक ही बालात्कारगण के भट्टारकों का गुरुपीठ है। उस पर श्री १०८ कुदकुदाचार्य का तथा भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति जी का फोटो है। बीच में एक चांदी की कवली (शास्त्री जी रखने का आसन) है। उस पर दि० जैन शास्त्र रहते है।

इसी तरह आगे के दालान में चार दिगंबरी वेदिया है। अतिम भाग मे रखी हुई ३ फीट ऊँची पत्थर की प्राचीन प्रतिमा पर दृष्टि केन्द्रित होती है। हा, यह गुडघों के पास खडित होने पर भी अखण्ड है। यह प्रतिमा एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करती है।

(क्रमश)

---

८. पत्र यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातु क्षण न क्षम।
तत्रास्ते गुणरत्न रोहणगिरिर्यो देवदेवो महान् ॥
चित्र नात्र करोति कस्य मनसो दृष्ट. पुरे श्रीपुरे।
स श्रीपार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥३

९ कीर्त्या भुवि भासितया वीर, त्व गुण समुत्यया भासितया।
भासोडुसभासितया, सोम इव व्योम्नि कुदशोभासितया ॥

कवि देवीदास का परमानन्द विलास

डा० भागचन्द जैन एम. ए. पी-एच. डी.

श्री दि० जैन परिवार मन्दिर, इतवारा, नागपुर के हस्तलिखित ग्रन्थों का अवलोकन करते समय कवि देवीदास द्वारा रचित कुछ ग्रन्थों के देखने का अवसर मिला। उनमें परमानन्द विलास, पदपकत और वर्तमान चौबीसी विधान पूजा मुख्य है। प्रथम दो ग्रन्थ एक साथ लिखे गये है और अन्तिम ग्रन्थ पृथक् है जिसकी अनेक प्रतियां उपलब्ध है। परमानन्द विलास की प्रति ७×१५ इन्च है। पत्र सख्या ४८ है १॥ इन्च का चारो तरफ हासिया छूटा हुआ है। लिपिकार ने उसका उपयोग जहा कही अशुद्धि होने पर पाठ को शुद्ध करने के लिए किया है। प्रत्येक पत्र के पृष्ठ पर ११ पक्तिया है और प्रत्येक पक्ति मे प्राय: ४५ अक्षर है। सर्वत्र काली स्याही का उपयोग किया गया है। परन्तु शीर्षक, छन्द नाम और पद्य सख्या लिखते समय लिपिकार ने लाल स्याही का भी उपयोग किया है। अक्षर सुपाठ्य है। कागज भी अच्छा है।

स्थितिकाल और जीवनदर्शन

कवि ने परमानन्द विलास मे कोई ऐसी प्रशस्ति नही दी है जिसके आधार पर उनका स्थितिकाल और अवसान काल निश्चित रूप से जाना जा सके। ग्रन्थ के मध्य मे बुद्धि-बावनी के अन्त्य पद्य मे यह अवश्य निर्देश मिलता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ स. १८१२ मे चैत्र वदी परमा (एवम्) गुरुवार को समाप्त हुआ। कवि दुगोडा ग्राम के निवासी थे जो ओरछा स्टेट मे था। के मूल निवासी रहे है—

संवत् साल अठारह सै पुन द्वादस और धरो अधिकारे।
चैत्रवदी परमा गुरुवार कवित्त सवै इकठे करि धारे॥
गंगह रूप गुपाल कहै कमलापति सीख सिखावन वारे।
कैलगवां पुनि ग्राम दुगोडह के सब ही वस वासन हारे॥

वर्तमान चौबीसी विधानपूजा मे दी गई प्रशस्ति के अनुसार भी ये दुगोड़ह-कैलगवां के ही मूल निवासी रहे है। बाद में ये कैलगुवां मे आकर बसे। ललितपुर में रह कर ही शायद वर्तमान चौबीसी विधान पूजा ग्रन्थ रचा गया है। इसका रचना काल सं० १८२१ है। शायद यह अन्तिम रचना हो। कवि की एक रचना प्रवचनसार का पद्यानुवाद भी है कवि का वश गोलालारे और गोत्र कासिल्ल (कौशिल) था। इनके पुत्र का नाम गोपाल था। वह भी कवित्त कला का धनी कहा गया है।

कवि ने, लगता है, किसी स्कूल मे शिक्षा नही प्राप्त की। यह बात उन्होने परमानन्द विलास मे अनेक बार दुहरायी है। शायद लघुता प्रदर्शन के निमित्त उक्त पद्य मे कमलापति का नाम अवश्य दिया है—कमलापति सीख सिखावन वारे। सभव है वे ग्रन्थ समाज मे प्रेरक बने हो। आगे भी उन्होने गुरु के रूप मे किसी का नामोल्लेख नही किया है—

भाषा कवि मतिमन्द अति होत महा असमर्थ।
बुद्धिवत धरि लीजियो जहं अनर्थ करि अर्थ॥
गुरु मुख ग्रन्थ सुन्यौ नही मन्यौ जथावत जास।
निरविकलप समझाइनो निज पर देवीदास॥

देवीदास ने अनेक छन्दों मे जैनधर्म के प्रति अत्यधिक अनुराग, वात्सल्य और दृढ़ता प्रदर्शित की है। परमार्थ पथ को जान लेने के बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई है—

आदि जिनेश्वर आदि अन्त महावीर बखानो।
जिनको जुग चरनारविंद नित प्रति उर आनौ॥
परगट समवरसन सुपंथ निजकर सुखकारन।
ज्ञानावरणादिक सुभ्र दुरबन्ध निवारन॥
तसु पढ़त सुनत अहलाद अदि परमारथ पथ को विदित।
समझै सुसंत गुनवंत अति भाषा करि बनो कवित॥

कवि ने भले ही स्कूली शिक्षा प्राप्त न की हो, परन्तु वह निश्चितरूप से एक विद्वान कवि रहा है। और उसने जैन शास्त्रों का अभ्यास निःसन्देह गभीरतापूर्वक

किया है। कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में चौपाई, छप्पय, सोरठा, गीतिका, तेईसा, अडिल्ल, कवित्त, सवैया, तोटक, कुण्डलिया, चर्चरी, मरहठा, पद्धरी, नराच, गगोदक आदि छन्दो का उपयोग किया है। साथ ही चित्रबन्ध, चक्रबन्ध, कमलबन्ध, धनकबन्ध, कडारबन्ध आदि का भी प्रयोग किया है। भाषा अलंकारिक और मिष्ट है। यह कवि की विनम्रता है कि वह अपने को मतिमन्द और छन्द-अर्थ ज्ञानहीन बतलाता है—

ग्रन्थ उक्त देखी प्रगट कहि भाषी जिहि ठौर।
कान मात पद अरथ घट घर लीजो बुध और।।
ग्रन्थ अरथ छवि छन्द की मूरति कला न पास।
सैली दिन सैली भई गति मति देवियदास।।

तीन मूढ़ अडतीमी—३८

परमानन्द विलास के अन्त में भी कवि ने यही विनम्रता अभिव्यक्त की है। यथार्थ वस्तु जानने की अभिलाषा से ही इस ग्रन्थ की उन्होंने रचना की है। गुरु की बिना सहायता से जो कुछ भी ज्ञान क्रम-क्रम से प्राप्त किया जा सका, कवि ने ग्रन्थो के रूप में जन समक्ष प्रस्तुत किया है। साथ ही अपने आपको अल्पज्ञ कहकर ग्रन्थ के अन्त मे कविने विधिहीन कथन को सुधार कर पढ़ने के लिए भी निवेदन किया है।

पोथी जिन तनकी विषै लिखी तारता सोई।
भाषा छन्द मझार वा धरी वचनिका कोई।।
धरी वचनका कोई करी जाकी हम भाषा।
मोहि जथारथ वस्तु जानवे की अभिलाषा।।
गाथा अर असलोक समझिवे को मति थोथी।
भाषा की भाषा बनाइ इह लिखी सु हम पोथी।।१।।

आनंदकारी बात है भाषा ग्रन्थ मझार।
अर्थ धरें सुन चाहिए समझै सब संसार।।

समझै सब ससार लिखो देखी हम तैसी।
विन गुर मुख सर दही कही भाषा करि जैसी।।
गैर विधि जहँ होइ सोधि लीजो बुधवारी।
परमानन्द विलास यह सु अति आनंदकारी।।२।।
पंडित विना सु कौन पै पढे पढैया होहि।
मिलो यहां अवलोक हू नहीं पढैया मोहि।।
नही पढैया मोहि मैं सुमति सो निज जोरी।
भाषा करि इतनी पुजी सु क्रम-क्रम करि जोरी।।
तातै भयो न मैं निदान करिकै मति मंडित।
मति विसेष वारो इहा न कोई पुनि पंडित।। ।।
हिये मझार सुमति नही वैरी को वस वास।
माफिक अपनी सवित कवि वरनै देवीदास।।

परमानन्दविलास का विषय

परमानन्द विलास के कवि ने ग्रन्थ में लगभग २८ विषयों पर कवित्त लिखे हैं। सर्व प्रथम परमानन्द स्तोत्र लिखा है। और उसके बाद है जीव चतुर्भेदादि बत्तीसी, जिनांतराउली, धर्म पंचविंशती काय, पचपदपच्चीसी, दसधा सम्यक्त्व त्रयोदसी, पुकारपच्चीसी, वीतरागपच्चीसी, दरसनछत्तीसी, बुद्धिबाउनी, तीन मूढ़ अडतीसी, देवशास्त्र गुरुपूजा, सीलाग चतुर्दसी, सप्तविसन, विवेक बत्तीसी, स्वायोग गच्छरो मालोचभावांतरावली, पचवरन के कवित्त, योग पच्चीसी, तुवकसरो व्यवहार कथन उपदेश, द्वादश बावनी, उपदेश पच्चीसी, जिन स्तुति ढार हर दौर की, हित उपदेशकी जवरी, सीतलाष्टक, सरधान-पच्चीसी, कषायावलोकन चौबीसी, पचमकाल की विपरीत रीति। इन सभी पर पृथक्-पृथक् विवेचन इस अल्पकाय निबन्ध मे सम्भव नही। इसलिए कुछ मुख्य विषयो की ओर हम चले।

परमानन्द स्तोत्र—

इसमे कवि ने आत्मा-परमात्मा के विषय में बड़े ही सुलझे ढग से अपने विचार प्रस्तुत किये है। आत्मा का निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों नयो के आधार पर विवेचन किया है। आत्मा के विविध रूपों का वर्णन करने के बाद कह दिया है—

भिन्न भिन्न को कहि सकै ब्रह्म रूप गुन भाम।
अल्प बुद्धि कर अल्प गुन वरनै देवीदास।। ।।

देह और आत्मा के बीच जो सम्बन्ध है उसे उन्होने सुन्दर उदाहरण देते हुए समझाया है। दूध अथवा दही मे घी और काष्ठ मे अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर मे आत्मा रहता है। ये दोनों उसी प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न भी हो जाते हैं जैसे तिली के मध्य रहने वाला तेल, तिल

से पृथक हो जाता है—

पाहन मै जैसे कनिक वही दूध में घीऊ।
काठ माहि जिमि अगिनि है त्यौं सरीर में जीऊ ॥२५॥
तेल तिलो के मध्य है पर गट नहीं दिखाय।
जतन जुगत से भिन्नता खरो तेल हो जाय ॥२६

जीवचतुर्भेदादि बत्तीसी—

जीव के चार भेद है—सत्ता, भूत, प्राण और जीव। सत्ता के चार भेद है—पृथ्वी, जल, पावक और पवन। वनस्पति के जीव को भूत की श्रेणि मे गिनाया है। विकलत्रयों को प्रानवान् कहा है तथा पचेन्द्रियवान् को जीव की सज्ञा दी है।

इसके बाद किस जीव का घात करने से कितना पाप लगता है यह बताया है। असंख्यात सत्ता का घात करने पर एक भूत के वध के बराबर, असंख्यात वृक्षों का विनाश करने पर दो इन्द्रिय जीव के वध के बराबर, एक लाख दो इन्द्रिय जीवो का वध करने पर तीन इन्द्रिय जीव के वध बराबर, हजार तीन इन्द्रिय जीव के घात करने पर एक चतुरिन्द्रिय जीव के वध बराबर, सौ चतुरिन्द्रिय जीवो का वध करने पर एक पचेन्द्रिय जीव के वध बराबर और एक पचेन्द्रिय जीव के वध की समानता सुदर्शन मेरु से दी है—

हेम सुदर्शन मेर समान धर पुन कोट रतन परधान।
ऐसो दर्व करे जो पुन्न एक जीव घातत् सब सुन्न॥

इसके बाद पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कायिक जीवो की तथा विकलत्रयो की स्थिति और आयु का सांगोपाग विवेचन दिया है। तदनन्तर स्वयम्भूरमण मच्छ, लिग, नारकी, निगोद आदि जीवो का व्याख्यान किया है। अन्त मे यह कह दिया है—"जीव दरव की कथा अनन्त। जाको कहत न आवै अन्त" ॥३१॥

जिनातराउली—

इसमें चौबीस तीर्थकरों के बीच हुए अन्तराल का वर्णन किया गया है। उसके बाद हुई मुनि परम्परा और पचम तथा षष्ठम काल के विषय में भी व्याख्यान है। मुनियों में उत्पन्न हुई आचार शिथिलता के विषय में कहा है—

दिन दिन पुनि विपरीत कुभिग, अती अती करि बर्क कुलिंग।
पहरे वसन भोगविधि चहै, तिन सो मुगद मुनीस्वर कहै ॥२६

धर्म पंचविंशति—

सांसारिक दशा का वर्णन करते हुए श्रावक के लिए समस्त भ्रमजाल छोड़कर धर्म धारण करनेकी सलाह दी गई है—तजहु सकल भ्रम जाल रे भाई, तू इह धर्म विचार। उसे जैन रसायन पीने को कहा गया है। अनेक उदाहरण देकर धर्म की उपयोगिता बताई—

ज्यों निस ससि विनऊ नहै जी। नारि पुरुष विन ते न
जैसे गज दन्त बिना जी॥ धर्म बिना नर जे मरे भाई॥११
जैसे फूल विवासु को जी जल विन सरवर जेह।
जैसे ग्रह संपति विना जी धर्म विना नर देह रे भाई ॥१३

पंचपद पच्चीसी—

कवि ने पच परमेष्ठी की भक्ति वशात् २५ कवित्त लिखे है जो भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं—

उदधि ज्ञान गंभीर मोह मद विषय विहंडित।
हारक सम गुन विमल सुद्ध जिय अखय अखंडित॥
केवल पद परगास भयौ भववीर विभंजन।
सकल तत्त्व वक्तव्य देव ध्रुव परम निरंजन॥
मति हि बोध परगट अवध हरन तिमिर जन मन मरन।
चाहत सुख जिनदेव थुति बहु प्रकार मंगल करन॥५॥

दसधा सम्यक्त्व त्रयोदशी—

इसमे सम्यक्त्व का दस प्रकार से भिन्न-भिन्न छन्दों में वर्णन किया गया है। छन्दो में प्रमुख हैं—छप्पय, सोरठा, गीतिका, तेईसा, अडिल्ल, कवित्त आदि सम्यक्त्व के दस प्रकार ये हैं—

आज्ञा प्रथम सुभाव द्वितीय मारग सुख दायक।
तृतीय नाम उपदेस सूत्र चौथो बुध लायक॥
वीर्यमा पंचमौ षष्ठ सक्षेप भनिज्जइ।
सप्तम विधि विस्तार अर्थ अष्टम गुन लिज्जइ॥
परमावगाढ नवमो कथन अर अवगाढ विचारचित।
इह भिन्न-भिन्न दस भांति कहि
समकित निज हित सुनहु मित ॥२॥

पुकार पच्चोसो—

भक्तिरस से ओत-प्रोत पुकार पच्चीसी मे "वेर ही वेर पुकारत हो जनकी विनती सुनिये जिन राई' पद प्रत्येक पद के अन्त में आया है। कवि अपने इष्ट देव से प्रार्थना कर रहा है—

देरि करो मति श्रीकरुनानिधि जू पति राखन हार निकाई।
जोग जुरे क्रमसों प्रभ जू यह न्याय हजूर भई तुम आई ॥
आनि रह्यौ सरनागति हों तुमरी सुनि कं तिहु लोक बड़ाई।
वेर हो वेर पुकारत हो जन की विनतो सुनिये जिनराई ॥२२

वीतराग पच्चीसो—

द्रव्य के त्रिविध रूपों का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के आधार पर बड़े ही सरस और मन लुभावने पद्यों मे किया है—

जैसे और धातु को मिलाय वर्न हीन हेम
कसत कसौटी सौं सु दीसं पराधीनता।
जो पं पीठी पत्रक रचे दीजे आंच नाना भांति
विगर सलौनी जाकी घटं न मलीनता ॥
जंसे क्रिया कोटि करं प्रानी जो विवेक बिना
धरं व्रत मौन रहे देह करं क्षीया।
जानं जो प्रमान भली भांति अगम के जीव
निरजीव आदि नवतत्त्व-दरसी ॥
भरम विदारी धीरधरम जनपवारी
विगत विभाव साग संजमी समरसी।
सुख दुख एक ही प्रमान जान जगतं
राग दोष मोह दसा डारी है विसरसी ॥
ऐसौ सुद्ध परम विवेकी मुनिराज
जाकं सुद्ध उपयोग धन घटा घट वरसी ॥८॥

दरसन छत्तीसी—

दर्शन पाहुड के आधार पर कवि ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विभिन्न छन्दों मे, सरम भाषा मे वर्णन किया है। सम्यक्दर्शन हीन व्यक्ति को मोक्ष नही मिल सकता।

दरसन करि कं हीन न सोहै जगमाहीं।
दरसन करकं हीन ताहि अव्यय पद नाही ॥
जो चरित्र करि हीन होइ जो दरसन धारी।
क्रम क्रम सेती तो न पुरुष पावं सिव नारी ॥
अब देख्यौ पद संसार महि बिन दरसन जे नर रहै।
सो संत पुरुष इह जानक बल सबउ तिनि सौ कहै ॥

बुद्धि बावनी—

इसमें तेईसा' गुरू उत्तर सवैया, गतागत आदि के माध्यम से कवि ने सासारिक दशाका वर्णन करते हुए पच परमेष्ठी की स्तुति की है। पचपरमेष्टीकी स्तुति करते समय इष्टदेव को करुणासागर और स्व पर प्रकाशक-ज्ञानवान् कहा है—

जाके घट बसं जिनवानी सो पुनीत प्रानो।
जाकं उभं मातकी दया समस्त हियं है।
जाको मति पैनी भेद स्व-पर प्रकाशिवे को।
भिन्न भिन्न करे छैनी को स्वभाव लीयं है ॥
परसो ममत्व डारकं सुधरं निज भाव।
परमउ छाउ सुध सरधान कीयं है।
जाकं भ्रम नाही पर्यो निज ग्यान मांही सो।
तो गुन को अथाही सत्य ही सौ चित दियं है ॥१३॥

धर्म अनेक प्रकार का है परन्तु स्याद्वाद दृष्टि बिना वह निराधार है। सुधर्म स्वामी को कवि ने धर्म रक्षक मान कर प्रणाम किया है और बाद मे "धर्म बिना जन्म निष्फल" ऐसा विचार अभिव्यक्त किया है—

ज्यौं जुवतिय बिन कंत रैन विन चद जोत भर।
ज्यौं सरिताइन होइ वर्षविन ऊन सून पर।
ज्यौं गजराज प्रवीन हीन दंतन नहि सोहत।
मुकताफल विन पान ताहि गुनवत नगोहत ॥
ज्यौं सेना नरपति हीन कहि परम लता बिन पहु पहुवे।
ज्यौं पा नरभव निरफल कहो जिन जिनके नहि धर्मधुव ॥२८

इसी प्रकार बुद्धिबाउनी मे ५२ छन्द हैं। सभी एक से एक बढकर है। अलकारो का उनमे स्वाभाविक प्रयोग है। भाषा मे भक्ति रस का प्रवाह है।

इसके बाद तीन मूढताओ का वर्णन ३८ कवित्तो मे किया गया है। तीनो मूढताओ के सात सात भेद किये है। तदनन्तर प्रसिद्ध कवि द्यानतरायकृत देवशास्त्र गुरु पूजा उद्धृत है। यह या तो प्रक्षिप्ताश है अथवा कवि की अत्यन्त प्रिय पूजन रही है। द्यानतराय वि स. १८वी शती के कवि हैं। कवि देवीदास से वे किसी प्रकार से सम्बन्धित रहे होगे।

शीलांग चतुर्दशी में शील के १८०० भेद गिनाये हैं। गीत ४ मन, वचन, काय=३=१२×३ कृत कारित, अनुमोदन=३६×५ इन्द्रिय=१८० संस्कार, शृङ्गार, राग, क्रीडाहास, ससर्ग, सकल्प, तननिरीक्षण, तनमड, भोग, मन चिंता=१०×१०=१००×१८०=१८०० । यहा काम की दश अवस्थाओ का भी वर्णन है। बाद मे पापियो की मानसिक अवस्था का सुन्दर विवेचन है।

विवेक बत्तीसी मे भेदविज्ञान का आख्यान है। भाषा, भाव और अलंकार की दृष्टि से विवेक बत्तीसी अधिक सुन्दर बन पड़ी है। अनुप्रास की छटा देखिये—

सरस दरस सारस पुरस धीर समर सनिवास।
परस दरस पारस सरस पौरस सुजस विलास ।।

पचवरन के कवित्त मे देवीदास की काव्य-शक्ति और भी निखरी-सी दिखाई देती है—

सिंहासन सेत पर समूह सेत बारज है,
जापं सेत दड की प्रभा उतंग चली है।
जापं सेत छत्र धरं हीरा नग सेत जरे,
मनो सेत भान अर निकरी रक्ष पाली है ।।
सेत जग मगं जोत सेत फूल विष्ट होत,
सेत ध्यान धरं सेत सेत धरं मुक्ति गली है।
सेत संख लछन विराजे जे जिनेस जापं,
मनो सेत पंकज पं करं कलोल अली है ।।

ग्रन्थ के अन्त मे पञ्चम काल की विपरीत रीति के विषय मे कहते हुए कवि ने साधुओ के आचार-विचार की कटु आलोचना की है—

जाके परमानू सो परिग्रहा सु जती नाहीं,
जती हो समस्त संग राखं आदि पालकी।
सिष्य साखा तिनके सु घोरे चढ़ें आगे चले,
उर माहि राखं सो को तरवार ढाल की।।
राई मेर के समान फेर की सुबात यहै,
ग्रन्थ विषं नाहि मैं बिलोकी कहि हाल की।
तिनं गुर मानं जैन मती जे कहावं सबै,
देखो विपरीत ऐसो पचमं सुकाल की ।।

जहाँ जैन साधुओं की पालकी आदि विषयक आलोचना की है वहां उनके धन विषयक प्रेम की भी भर्त्सना की है। इस विपरीत रीति को देखकर कवि को इतना दुख हुआ कि उसने विपरीत आचरण करने वाले मुनि वेषधारियो को शठ (मूर्ख) कह दिया है—

भेष धरं न मुनीस्वरं को सुविशेष न रंच हिये महि आनं।
जोरत दाम कहावत नाम जती विपरीत महा अति ठानं ।।
अंबर छोड़ि दिगबर होत सुअबर फेर गहै तजि आनं।
जे सठि आप करं सठ औरन जे सठ लोग तिनं गुर मानं ।।

अन्तमे कवि इस विपरीत आचार-विचार को देखकर दुःखित होता है और कहता है कि जो निर्ग्रन्थो को छोड़ कर ऐसे यात्रियो को अपना गुरु स्वीकार करते है वे वस्तुत. कल्पवृक्ष काटकर धतूरे का वृक्ष लगाते है—

सेवत जे सर ग्रथ गुर निरग्रंथन को छोड़ि।
कल्पवृक्ष ज्यों काटि कं ठवत धतूरो गोड़ि ।।
मिथ्याती दुरजन जिनं उपदेसत जे कूर।
जंसे स्वान कु भक्षनी के मुख देत कपूर ।।

इस प्रकार समूचा ग्रन्थ कवि की काव्य-शक्ति का द्योतक है। उन्होने अपना अध्यन और विचार सरल भाषा और छन्दों के माध्यम मे उपस्थित किया है। भाषा मे जहा सरलता है वहां उसमें अर्थगांभीर्य और माधुर्य भी है। प्रवाह की सरसता मनोहारिणी है इसलिए ग्रन्थ प्रकाशन के योग्य है। ★

विवेक की महत्ता

अविवेकी मानो जीव अपनी रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए दूसरे जीवो की निन्दा करता है उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता रहता है। उसका अपकार करने का भी यत्न करता है। पर विवेकी जीव अपनी निर्मल परिणति से जगत का यह राग रग देखता हुआ भी उस ओर प्रवृत्त नही होता, वह तो आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने दोषो को दूर करने और मान को निर्मूल करने मे ही अपनी शक्ति का व्यय करता है। और विवेक से अहकार को जीतता है। यही उसकी महत्ता है।

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द जैन शास्त्री

जगजीवन ने सं० १७०१ में बनारसी विलास का संकलन किया था। आपके अनेक पद उपलब्ध होते हैं। आपने हीरानन्द जी के साथ एकीभाव स्तोत्र आदि का पद्यानुवाद किया था। आपके पद बड़े सुन्दर और भावपूर्ण हैं। यहां उनका एक पद पाठकों के ज्ञापनार्थ दिया जाता है जिसमें जगत और जीवन की अनित्यता का वर्णन है।

जगत सब दीसत घन की छाया।
पुत्रकलत्र मित्र तन संपति, उदय पुद्गल जुरि आया।
भव-परिनति वरषागम सोहै, आस्रव-पवन बहाया।।१।।
इन्द्रिय विषय लहरि तड़िता है, देखत जाय बिलाया।
राग दोष बगु पकति दीर्घति, मोह गहल घर राया।।
निजसंपति रत्न त्रय गहिकर, मुनिजन नर मन भाया।
सहज अनंत चतुष्टय मंदिर, जगजीवन सुख पाया।।

जगजीवन द्वारा हीरकवि के साथ एकीभाव स्तोत्र तथा 'चतुर्विशतिका' का पद्यानुवाद भी मिलकर बनाया हुआ उपलब्ध है। यदि आगरा और आस-पास के शास्त्र-भडारो का अन्वेषण किया जाय तो सभव है आपके सम्बन्ध मे अनेक ज्ञातव्य प्राप्त हो सकेंगे।

जीवन-परिचय

बारहवें कवि द्यानतराय है[१] यह आगरा के निवासी थे। आपके पूर्वज लायलपुर से आकर आगरा मे बस गये थे। आपका कुल अग्रवाल और गोत्र गोयल था। कवि के पितामह (दादा) का नाम वीरदास था और पिता का नाम श्यामदास। कवि का जन्म संवत् १७३३ मे हुआ था। आपका पालन-पोषण बड़े यत्न से किया गया और प्रारंभिक शिक्षा भी मिली। उस समय जैनधर्म को जानते हुएभी आपकी उस ओर रुचि नहीं थी। इस कारण आपने पिता और कुटुम्बियो द्वारा अनुपालित धर्म का ही आचरण करते थे।

दैवयोग से आपके पिता का सं० १७४२ में आपकी लघुवय मे अचानक देवलोक हो गया। उस समय आपकी अवस्था नौ वर्ष की थी, पिता के आकस्मिक वियोग का आपके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा। और गृहस्थी का सब कार्य-भारस्वरूप प्रतीत होने लगा। परन्तु फिर भी आत्मीय जनों और दूसरे धर्मात्मा सज्जनों के सहयोग से कुछ अपना कार्य करते हुए भी शिक्षा की ओर अग्रसर होते रहे। स० १७४६ मे पं० विहारीदास और मानसिंह के उपदेश से कवि का झुकाव जैनधर्म की ओर हुआ और उनकी आस्था जैनधर्म पर जम गई।

सवत् १७४८ में १५ वर्ष की अवस्था में द्यानतराय जी का विवाह हो गया। और गृहस्थ जीवन की सुदृढ सांकलों से वे आबद्ध हो गये। कवि के सात पुत्र और तीन पुत्री थी। १९ वर्ष की अवस्था तक कवि का झुकाव विषय-भोगों की ओर रहा, किन्तु सत्समागम का परित्याग नही किया, परिणाम स्वरूप कवि जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान बन गये। वे जैनधर्म के सिद्धान्तों को सरल एव सुबोध भाषामें समझाते थे। कवि ने सं. १७५२ मे १७८३ तक लगभग एक सौ रचनाएं रची हैं। और ३२३ भक्तिपूर्ण, उपदेशक, आध्यात्मिक गीतों (पदो) की रचना की है। कवि ने लिखा है कि संवत् १७७५ मे मेरी माता ने शील बुद्धि ठीक की। और सं० १७७७ मे वे सम्मेद शिखर की यात्रार्थ गई और वहीं पर परलोकवासिनी हुई। कवि ने सं० १७८३ के कार्तिक महीने की शुक्ला चतुर्दशी को देवलोक प्राप्त किया[२]।

---

१. विशेष परिचय के लिये देखें अने. वर्ष ११ कि. ४-५

२ सत्रह सय तेतीस जन्म ब्याले पिता मर्न।
अठताले व्याह सात सुत सुता तीन जी।

कवि ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का मनन कर और आत्म-सौन्दर्य के अनुभव को ससार के सामने इस ढंग से रखा है, जिससे आन्तरिक वैभव का परिज्ञान सहज ही हो जाता है। कवि की कृतियां मानव हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों की संकीर्णता से ऊपर उठाकर लोक कल्याण की भावभूमि पर ले जाती हैं, उससे मनोविकारों का परिष्कार हो जाता है—चित्त शुद्धि हो जाती है। इन्द्रिय विषय-विकारों का विश्लेषण कवि की प्रतिभा का द्योतक है। मानव-हृदय के रहस्यों मे प्रवेश करने की उनमे अतुल क्षमता विद्यमान थी। कवि ने उपदेशशतक मे मिथ्यात्व-सम्यक्त्व की महिमा, गृहवास का दुख, इन्द्रियों को दासता नरक-निगोद के दुख, पुण्य-पाप की महत्ता, धर्म का महत्व, ज्ञानी-अज्ञानी का चिन्तन और आत्मानुभूति की विशेषता आदि विषयों का सरस विवेचन किया है।

आशा की नूतन राशिया अज्ञानी के मानस क्षितिज पर उदित हो रही हैं। उससे उसका संतुलन बिगड़ गया है, वह चिता से सतप्त हुआ कि कर्तव्य विमूढ़ हो रहा है। कवि उसे सान्त्वना देता हुआ सोच एवं चिन्ता छोड़ने का उपदेश दे रहा है।

काहे कों सोच करै मन मूरख, सोच करै कछु हाथ न ऐहै,
पूरव कर्म सुभासुभ संचित, सो निहचै अपनो रस दैहैं।
ताहि निवारन को बलवंत, तिहूं जगमांहि न कोउ लसैहै,
तातैंहि सोच तजो समतागहि, ज्यों सुख होइ जिनंद कहैहै।६३

यह ठीक है कि जीव अपनी आजीविका या रुजगार के लिए निरन्तर चिन्तावान रहता है, उसके अभाव में परिताप से उसका मानस विकृत हो जाता है परेशानी में जीवन बिताना पड़ता है—उसे कोई नही पूछता। और उसे धर्म-कर्म भी नही रुचता। कवि कहता है कि वह रुजगार एक धर्म करने से पूरा हो जाता है :—

रोजगार बिना यार यारसौं न करै प्यार,
रोजगार बिना नार नाहर ज्यों घूरै है।
रोजगार बिना सब गुण तो विलाय जायं,
एक रोजगार सब औगुन कौं चूरै है।
रोजगार बिना कछू बात बनि आवै नांहि,
बिना दाम आठों जाम बैठो धाम झूरै है।
रोजगार बनै नांहि रोज रोज गारी खांहि,
ऐसो रोजगार एक धर्म किये पूरै है ॥६४

जब तक जीव अपनी भ्रम दशा का परित्याग नहीं करता, तब तक उसकी ममता पर पदार्थ से नही हटती—उसमें ही चिपकी रहती है। तब स्व-पर के भेद विज्ञान में उसका मन नही लगता, वह राग-द्वेष के भ्रमजाल में ही उलझा रहता है। भवकूप से निकलने की सामर्थ्य भी उसमे व्यक्त नही हो पाती। कवि कहता है कि मिथ्या-तिमिर का अवसान होने पर ही बोध-भानु प्रकट होता है तभी मोह की दौड धूप से जीव को छुटकारा मिल सकता है। और तब आपको आप और पर को पर मानता है और आत्मरस में विभोर हो शिवभूप से स्नेह करता है, और शाश्वत सुख का पात्र बनता है।

स्व-पर न भेद पायो पर ही सौं मन लायो,
मन न लगायो निज आतम सरूप सौं।
राग-दोषमांहि सूता विभ्रम अनेक गूता,
भयो नांहि बूता जो निकसौं भवकूप सौं ॥
अब मिथ्यातम सान प्रगटो प्रबोध-भान,
महासुख दान आन मोह दौर धूप सौं।
आप आपरूप जान्यौ पर हो कौ पर मान्यौ,
आपरस सान्यौ ठान्यौ नेह शिव भूप सौं ॥७७

कवि ने अपनी रचनाओ मे अनेक सुभाषित भी दिये है : उनका नमूना इस प्रकार है :—

"मैं मधु जोरयो नहि दियो, हाथ मलै पछिताय।
धन मति संचो दान दो माखो कहै सुनाय॥

छयाले मिले सुगुरु बिहारीदास मानसिंघ।
तिनौं जैन मारग का सरधानी कीन जी।
पचत्तर माता मेरी सील बुद्धि ठीक करी।
सतत्तरि सिखर समेद देह खीन जी।
कछु आगरे में कछु दिल्ली माहि जोर करी।
असी माहि पोथी कीनी परवीन जी ॥३८

× × ×

सवत विक्रम नृपत के, गुण वसु शैल सितश।
कतिक सुकल चतुरदशी, द्यानत सुर गंतुश ॥

—धर्मविलास प्रशस्ति

चिता चिता दुहू विषै, चिंता अधिक सदीव।
चिन्ता चेतनिको दहै, चिता दहै निरजीव॥
पूरन घट बोलै नहीं, अरध भए छलकंत।
गुनी गुमान करै नहीं, निरगुन मान करंत॥"

रचनाओं के नाम

१. उपदेश शतक (सं० १८५८) १२१ पद्य, २. छहढाला (सं० १७५८), ३. सुखबोध पंचासिका ५२ प०, ४. धर्मपच्चीसी २७ प०, ५. तत्त्वसार भाषा ७९ प०, ६. दर्शन दशक ११ प०, ७. ज्ञानदशक ११ प०, ८. द्रव्यादि चौबोल पच्चीसी २५ प०, ९. व्यसनत्याग षोडस १६ प०, १०. सरधा चालीसी ४० प०, ११. सुख बत्तीसी ३२ प०, १२. विवेकवीसी २० प०, १३. भक्ति दशक सवैया ३१ सा. १० २ प०, १४. धर्मरहस्यबावनी (तेइसा सवैया) ५२ प०, १५. चारसौ जीव समास ३२ प०, १६. दशस्थान चौबीसी ३० प०, १७ व्योहार पच्चीसी २६ प०, १८. आरती दशक, १९. दशबोल पच्चीसी २५ प०, २०. जिनगुण माल सप्तमी ३१ सा, २१. समाधिमरण १० प०, २२. आलोचना पाठ ६ प०, २३. एकीभावोस्त्र भाषा २६. प०, २४. स्वयभूस्तोत्र भाषा २५ प०, २५. पार्श्वनाथ स्तवन १० प०, २६. तिथि षोडशी १८ प०, २७. स्तुति बारसी १२ प०, २८ यति भवनाष्टक ९ प०, २९. सज्जनगुणदशक ११-३१ सा., ३०. वर्तमानवीसीदशक १० प०, ३१. अध्यात्म पचासिका ५० प०, ३२. अक्षरबावनी १५ प०, ३३. नेमिनाथ बहत्तरी ७२ प०, ३४. वज्रदन्तकथा ११ प०, ३५. आठ गणछन्द ११ प०, ३६. धर्मचाहुगीत ८ प०, ३७. आदिनाथ स्तुति ३६ प०, शिक्षा पचासिका ५० प०, ३८. जुगल आरती २० प०, ३९. वैराग्यछत्तीसी ३६ प०, ४०. वाणी सख्या ११२ पद्य, ४१. पल्लपच्चीसी २५ प०, ४२. षट्गुणी हानि वृद्धिवीसी २० प०, ४३. पूरण पचासिका ५५ प०, ये सब रचनाए 'धर्मविलास' मे प्रकाशित हो चुकी है। ४४. चर्चाशतक हिन्दी की महत्वपूर्ण कृति है जिसमे सैद्धान्तिक चर्चाओ को पद्यों मे अंकित किया हुआ है। जो कण्ठ करने योग्य है। इससे गूढ विषयो का भी सक्षेप मे परिचय मिल जाता है। इसमे गागर मे सागर भर देने की नीति चरितार्थ होती है। ४५वी रचना पद संग्रह है, जिसमे ३२३ भक्तिपूर्ण, औपदेशिक और आध्यात्मिक सरस एव सरल गीतो मे वस्तु तत्त्व का विवेचन है।

आगम विलास में भी अनेक रचनाओं का संकलन है जिनमें से मुख्य ये है .—१. आगम शतक मे १५२ सवैया हैं। अन्य कुटकर रचनाएं। २. प्रतिमा बहत्तरी दिल्ली मे रची गई ४६ प०, (स० १७८१), ३ विद्युत चोरकथा ४० प०, ४. सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा ४७ प०, ५ दोहा ५०, ६ ओंकारादिक ५२ प०, ७ वर्णद्वादशांग ८. ज्ञान पच्चीसी, ९. जिनपूजाष्टक, १०. गणधर आरती ११. कालाष्टक, १२, ४६, गुणजयमाला, १३. सघपच्चीसी, १४ सहज सिद्ध अष्टक, १५. देवशास्त्र गुरु की आरती, और अन्य स्फुट रचनाएं।

दशलक्षण पूजा, सोलहकारण पूजा, नन्दीश्वर पूजा, पंचमेरु, देव शास्त्र-गुरुपूजा, सिद्धपूजा, वीस विरहमान पूजा और रत्नत्रय पूजा आदि। पूजाएं प्राय: प्रकाशित हो चुकी है। किन्तु आगम विलास की अन्य सभी रचनाएं अभी अप्रकाशित है। इस ग्रथतालिका पर से सहज ही जाना जा सकता है कि कविवर द्यानतराय ने हिन्दी भाषा की कितनी अधिक सेवा की है। रचनाओ को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। भक्तिपूर्ण औपदेशिक आध्यात्मिक और कथा जीवन चरितात्मक। गीतो या पदो को तीनो विभागो में रखा जा सकता है।

तेरहवें कवि दरिगहमल्ल है। जो वत्स देशान्तर्गत सहजादपुर के निवासी थे, जो गंगा के तट पर बसा हुआ था[1], इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र 'गर्ग' था। यह काष्ठासघ माथुरगच्छ पुष्करगण के भट्टारक कुमारसेन की आम्नाय के विद्वान थे, और सेठ सुदर्शन के समान दृढ व्रती थे। इनके पुत्र का नाम विनोदीलाल था। कवि दरिगह मल के बनाये हुए अनेक पद और जकड़ी आदि हैं, जो स्व-पर-सम्बोधक हैं। जकड़ी मे अपनेको सम्बोधित

---

१ प्रस्तुत सहजादपुर प्रयाग या इलाहाबाद के पास गगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहा अग्रवाल श्रावकों के अनेक घर थे, जिन मन्दिर था। १७वी शताब्दी के कवि भगवतीदास अग्रवाल ने वहा ठहर कर अनेक रचना रचीएँ थी।

करता हुआ कवि कहता है कि—हे जियरा ! तू सुन, सुन, तू तो तीन लोक का राजा है तू घर बार को छोड़ कर अपने सहज स्वभाव का विचार कर, तू पर में क्यों राग कर रहा है, तूने अनादि काल से आत्मा को पर समझा है और पर को आत्मा। इसी कारण दुख का पात्र बन रहा है। अब तू एक उपाय कर, अब सुगुणों का आवलम्बन कर, जिससे कर्म छीज जाय—विनष्ट हो जांय। तू दर्शन ज्ञान चारित्रमय है, और त्रिभुवन का राव है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

सुन सुन जियरा रे, तू त्रिभुवन का राव रे
तू तजि पर भाव रे चेतसि सहज सुभाव रे।
चेतसि सहज सुभाव रे जियरा, परसों मिलि क्या राच रहे,
अप्पा परजान्या पर अप्पाणा, चउगइ दुःख अणाइ सहे।
अब सो गुन कीजे कर्महि छीजे, सुणहु न एक उपाव रे।
दंसण णाण चरण मय रे जिय, तू त्रिभुवन का राव रे ॥१॥

इससे पता चलता है कि कवि दरगहमल की कविता धार्मिक होते हुए भी सरस भाव पूर्ण और स्व-पर-सम्बोधक है। अन्य एक जकडी के पद्य मे कहा है कि हे मूढ तू मानव जनम को व्यथ न गमा, इसी से तू शाश्वत सुख को नही ढूढ़ पा रहा है।

तू यह मणुयतन, काहे मूढ गमावै;
सासय सुखदायक, सो तू ढूंढ़ि न पावै।
ढूंढ़ न पावै पासि तुम ही, आप आप समावए।
गुन रतन मूठीमाहिं तेरी, काइं दहदिसि धावए।
वह राज अविचल करहिं शिवपुर, फिर संसार न आवए।
यो कहै दरिगह यह मणुयतण, काहे मूढ़ गमावए ॥२

कवि का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

चौदहवे कवि हेमराज है, जो अग्रवाल और गर्गगोत्री थे। और आगरा के रहने वाले थे। आप अपने समय के अच्छे विद्वान टीकाकार और कवि थे। कवि ने अपनी पुत्री 'जैनुलदे' को, जो रूपवान, गुणशीलवान थी खूब विद्या पढ़ाई थी। हेमराज ने उसका विवाह नन्दलाल के साथ कर दिया था। नन्दलाल भी उस समय आगरा में ही रहते थे। आपने कुवरपाल ज्ञाता की प्रेरणा से कुन्द-कुन्दाचार्य के प्रवचनसार की बालबोध टीका शाहजहां के राज्यकाल मे सं० १७०९ मे पूर्ण की थी१। परमात्म-प्रकाश की भाषाटीका स० १७१७ में पांडे रूपचन्द जी के प्रसाद से बनाई थी। कर्म प्रकृति की टीका भी सं० १७१७ मे बनाई थी। पाडे हेमराज अध्यात्म साहित्य के अच्छे विद्वान थे। आप की कविता बड़ी भावपूर्ण है। कवि ने अध्यात्मी कुंवरपाल की प्रेरणा से 'सितपट चौरासी बोल' की रचना भी रचना की थी, जिसका आदि मगल पद्य इस प्रकार है :—

सुनयपोष हतदोष, मोषसुख शिवपद दायक।
गुनमनिकोष सुपोष, रोषहर तोष विधायक।
एक अनंत स्वरूप संत वंदित अभिनदित।
निज स्वभाव परभाव भावि भासेइ अमदित।
अविदित चारित्र विलसित अमित,
सर्व मिलित अविलिप्त तन।
अविचलित कलित निजरस ललित,
जय जिन दलित सुकलिल धन।

भक्तामर स्तोत्र के पद्यानुवाद का जैन समाज मे पर्याप्त प्रचार है। कवि की अन्य क्या कृतिया है? उनका अन्वेपण होना चाहिए। कवि के जीवन का अन्त कब हुआ यह भी विचारणीय है।

पन्द्रहवे कवि बिहारीदास है, जो आगरा के निवासी थे और वहा की अध्यात्म शैली मे प्रमुख थे। कवि द्यानतराय ने इन्हे अपना गुरु माना है। द्यानतराय मान-

---

१ नगर आगरेमे हितकारी, कँवरपाल ज्ञाना अविकारी।
तिन विचार जियमे यह कीनी, जो भाषा यह होइ नवीनी।
अल्प बुद्धिभी अरथ बखानै, अगम अगोचर पद पहिचानै।
यह विचार मन मे तिन राखी, पाडे हेमराज सो भाखी।

× × ×

अवनीपति वदहि चरण, सुवण कमल विहसत।
साहजिहा दिनकर-उदै, अरिगण-तिमिर-नसत ॥

× × ×

हेमराज हिय आनि, भविक जीव के हित भणी।
जिनवर-आण-प्रमानि, भाषा प्रवचन की कही।
सत्रह सै नव उतरै, माघ मास सित पाख।
पंचमि आदित वार को, पूरन कीनी भाख ॥

—प्रवचनसार प्रशस्ति

सिंह और बिहारीदास के सत्समागम से ही जैनधर्म के रहस्य को पाकर विद्वान बने थे। बिहारीदास के नाम से अनेक पद उपलब्ध होते है। संभवत: वे इन्ही के हो। यह द्यानतराय के समकालीन है।

सोलहवें कवि मानसिंह है। संभवत: यह आगरा मे जोहरी थे। बड़े ही सरल हृदय, विद्वान और अध्यात्म चर्चा में रस लेते थे। इन्होंने भी द्यानतराय को जैन सिद्धान्त का परिज्ञान कराया था। और भगवतीदास ओसवाल के साथ-साथ द्रव्य संग्रह का भी पद्यानुवाद किया था। जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है।
इहि विधि ग्रंथ रच्यो सुविकाम, मानसिंह व भगोतीदास
यह पद्यानुवाद माघ सुदी दशमी को किया गया है[१]। कवि मानसिंह का यह आध्यात्मिक पद (गीत) कितना सरस और भावपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नही है।

जगत गुरु कब निज आतम ध्याऊं ।।
नग्न दिगम्बर मुद्रा धरिकें, कब निज आतम ध्याऊं।
ऐसी लब्धि होइ कब मोकों, हौं वा छिन को पाऊ ।।१
कब घर त्याग होऊं वनवासी, परम पुरुष लौ लाऊ ।।
रहो अडोल जोड़ पदमासन करम कलंक खपाऊ ।।२
केवलज्ञान प्रगट कर अपनो, लोकालोक लखाऊ।
जन्म-जरा-दुख देय जलांजलि, हों कब सिद्ध कहाऊं ।।३
सुख अनंत विलसौं तिह थानक, काल अनंत गमाऊ।
'मानसिंह' महिमा निज प्रगटै, बहुरि न भव में आऊं ।।४

मानसिंह रत्नपरीक्षक जौहरी थे, और अध्यात्म चर्चा मे विशेष रस लेते थे। वे अच्छे कवि भी थे। कवि की अन्य रचनाओ का अन्वेषण करना चाहिए।

सत्रहवे कवि विनोदीलाल है। इनके परदादा का नाम 'मंडन' और दादा का नाम 'पारस' था। और पिता का नाम 'दरिगह मल्ल' था। विनोदीलाल जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और कवि थे। कवि ने अपने विषय मे लिखा है कि—"द्वै पन आयु वृथा मुझ गई, तीजे पन कछु शुभ मति भई।" इससे स्पष्ट है कि आयु के दो भाग बीत जाने पर कवि जैनधर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। और तभी ग्रन्थ रचना की ओर भी चित्त लगाया था। आपकी निम्न रचनाएं अवलोकन में आई है उनके नामादि निम्न प्रकार है :—

१. भक्तामर कथा स० १७३६, २. सम्यक्त्व कौमुदी स० १७४६, ३. श्रीपाल विनोद (सिद्धचक्र कथा) स० १७५० औरगजेब के राज्यकाल मे बनाकर समाप्त किया है। यद्यपि यह संस्कृत रचना का पद्यानुवाद मात्र है, फिर भी सरस है। और दोहा, चौपाई, सोरठा, अडिल्ल आदि अनेक छन्दो के १३५४ पद्यो में रचा गया है, कवि ने उसकी प्रशस्ति मे अपना निम्न परिचय दिया है :—

"नाम कथा श्रीपाल विनोद, पढत सुनत मन होय प्रमोद।
जाति वानिया अग्गरवार, गोत्र अठारह मे सिरदार।
गर्ग गोत्र जदुवश प्रधान, अनलचून मुझ अलिल महान।
परदादे को मडन नाम, कुलमडन हूवो सो धाम।
दादो पारस तासु समान, यथा नाम जैसे गुणजान।
दरिगहमल्ल तात मुझ तनौं शील सुमेरु सुदर्शन मनो।
ताको अनुज विनोदीलाल, मै यह रचना रची विशाल।

× × ×

सवत सत्रह सै पचास, दूंज उजारी अगहन मास।
रवि वासर पाई शुभघरी, ता दिन कथा सपूरन भई।"

४. चौथी रचना राजुल पच्चीसी है, जिसमे नेमिनाथ और राजमति का वर्णन है। पाचवी रचना नेमिनाथ व्याहला—यह कवि की छोटी सी सरस रचना है, इसमें नेमिनाथ की बारातका चित्रण किया गया है। पशुपक्षियों को बाड़े मे बन्द देखकर और उनकी करुण पुकार सुनकर हिंसा से भयभीत हो वैराग्य ग्रहण किया, और भौतिक सुखों का परित्याग कर मानव कल्याण के लिए उनका तपस्या के लिए चला जाना सच्चा पुरुषार्थ है। कवि ने वर की वेष-भूषा का वर्णन निम्न पद्य मे किया है :—

मौर धरो सिर दूलह के कर ककण बांध दई कस डोरी।
कुंडल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजति रोरी।
मोतिन की लड़ शोभित है छवि देखि लजं वनिता सब गोरी।
लाल विनोदीके साहिब के सुख देखनको दुनियाँ उठ दोरी ।।

नेमिनाथ की विरक्ति का चित्रण निम्न पद्य में किया है—

१ संवत सत्रह सै इकतीस, माघ सुदी दशमी शुभदीस।
मंगल करण परम सुखधाम, द्रव्य संग्रह प्रति करहु प्रणाम।।७

नेम उदास भये जबसे कर जोडके सिद्ध का नाम लियो है।
अम्बर भूषण डार दिये शिर मौर उतार के डार दियो है।
रूप धरो मुनिका जबही तबहीं चढ़ि के गिरिनारि गयो है।
'लाल विनोदी' के साहिब ने तहां पंच महाव्रत योगलयो है।

छठवीं रचना फूलमाला पच्चीसी और ७वीं नेमिनाथ बारहमासा है। अनेक पद भी आपके बनाये हुये है। सभी रचनाये सम्बोधक और सुरुचिपूर्ण है। कवि की अन्य रचनाए अन्वेषणीय है।

अठरहवें कवि 'जगतराय' हैं, जो पानीपत के पास गोहाना नगर के निवासी थे। और वहा से आगरा में रहने लगे थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र सिंगल था माईदास श्रावक के दो पुत्र थे, रामचन्द्र और नन्दलाल। उनमें जगतराय रामचन्द्र के पुत्र थे१। और जगतराय के पुत्र टेकचन्द थे।

जगतराय आगरा के ताजगज मे राय से बाग मे रहते थे। उच्चकोटि के कवि और विद्वान थे। आप वहा की अध्यात्म शैली के उन्नायक थे। आपकी इस समय तीन कृतियां अवलोकन मे आई है। पद्मनन्दि पच्चीसी, सम्यक्त्व कौमुदी और छन्द रत्नावली। इनके सिवाय संवत् १७८४ में इन्होंने कविवर द्यानतराय की फुटकर कविताओं का संकलन कर मैनपुरी मे उसे आगम विलास नाम दिया था२। पद्मनन्दि पच्चीसी कवि ने सवत १७२२ के फाल्गुण शुक्ला दशमी मगलवार को समाप्त की थी। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है —

"संवत सतरासै बावीस, फागुण मासि सुदि पक्ष जगीस।
तिथि दशमी पुष्प मगलवार, ग्रन्थ समाप्तभयो जयकार।।"

यहां यह बात विचारणीय है कि डा० ज्योतिप्रसाद जी ने सम्यक्त्व कौमुदी का रचयिता कासीप्रसाद नाम के किसी कवि को बतलाया है, जो जगतराय के आश्रित थे। हो सकता है कि कवि ने उनके लिए रची हो। किन्तु ग्रन्थ की पुष्पकाओं मे—"इति श्री मन्महाराज श्रीजगतराय जी विरचतायां सम्यक्त्व कौमुदी कथाया अष्टं कथानक संपूर्ण ।। यह संभव है कि जगतराय को उस समय अवकाश न हो, और कवि कासीदास से उसे बनवाया हो। पर कासीदास का अन्य कोई ग्रन्थ या परिचय नही मिला। अस्तु ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७२२ सुनिश्चित है, किन्तु राजस्थान की सूचीवाला संवत चिन्तनीय है।१

सम्यक्त्व कौमुदीकी रचनाभी सं० १७२२ में हुई है१। कविने छन्दरत्नावली हिम्मतखां के अनुरोध से स० १७३० मे बनाकर समाप्त की थी। ग्रन्थ मे कवि ने हिम्मतखान के यश और वीरत्व की प्रशंसा भी की है। जैसाकि उस के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

जगतराय सों यह कह्यो, हिम्मतखान बुलाइ।
पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि बनाइ।।
दान मान गुनवनान सुजान, दिन-दिन बाढो हिम्मतखान।
जगतराय कवि यह जस गायो, पढत सुनत सबही मन भायो।।
हिम्मतखां सो अरि कपत, भाजत ले ले जीय।
अरि रि हमें हूँ सग ले, बोलत तिनकी तीय।

+ + +

संवत सहस सात सतीस, कातिक मास शुक्ल पख दीस।
भयो ग्रथ पूरन शुभ थान, नगर आगरो महा प्रधान।।

यहा यह बात खास तौर से उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वान जगतराय, जगतराम, जगराम को एक ही व्यक्ति मानकर उल्लेख करते है। पर विचार करने पर जगतराय और जगतराम भिन्न-भिन्न व्यक्ति ज्ञात होते है। उनकी

---

१ पानीपथ सुभदेश सहर गुहानो जानिये।
कबही न दुख को लेश, सुखकर तं जहा सर्वदा।।
रामचन्द्र सुत जगत अनूप, जगतराय ज्ञायक गुणभूप।
तिन यह कथा ज्ञान के काज, वर्णी आठो समकित साज।
—सम्यक्त्व कौमुदी

२ सवत सतरह सै चौरासी माघ सुदी चतुरदशी भासी।
तब यह लिखत समाप्त कीनी, मैनपुरीके माहि नवीनी।।

१ विक्रम सवत ते जान, सत्रह सै बाईस बखान।
माधवमास उजियारो सही, तिथि तेरस भूसुतसो लही।
—अने० वर्ष १०, कि० १० पृ. ३७४

राजस्थान ग्रन्थ भण्डार की सूची न० ४ पृ. २५२ पर सम्यक्त्व कौमुदी कथा भाषा जगतराय पत्र स० १५१ र० काल १७७२ फाल्गुण सुदी १३, बेठन न० ७५३ दिया है। अत: ग्रथ का रचनाकाल विवादस्थ हो जाता है। अत: उसकी जाच हो जाना चाहिए कि दोनो मे रचनाकाल कौनसा सही है।

जाति भी भिन्न-भिन्न है। जगतराम खडेलवाल जातिके थे और उनका गोत्र था 'गोदिका'। यह गोत्र खडेलवालो मे ही होता है अग्रवालों में नही। राजस्थान के ग्रथभण्डारो की सूची भाग ४ के पृष्ठ ५८१ मे 'प्रातभयो सुमरि देव पुण्य-काल जात रे' पद का कर्ता जगतराम गोदिका बतलाया है। जगतराम के अनेक पद मिलते है उनमे से कुछ पदो मे 'जगराम' नाम भी पाया जाता है। अतएव जगतराम और जगराम दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते है। किन्तु ऊपर जिन जगतराय कवि का परिचय दिया गया है वे अग्रवाल हैं। वे जगतराम से भिन्न है। कवि जगतराम ने सं० १८४६ में 'वृहत् निर्वाण विधान' नाम का ग्रन्थ बनाया है, उसमे यत्र-तत्र त्रिलोकसार की गाथाये उद्धृत है। वे वही हैं या दूसरे, यह विचारणीय है।

डा० प्रेमसागर जी ने हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि के पृष्ठ २५५ मे जगतराय को जगतराम बतला कर जगतराम की रचना को जगतराय की रचना बतलाई है। डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल भी दोनो को एक मान रहे है। किन्तु ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जगतराय और जगतराम दोनो ही विद्वान जुदे-जुदे हैं। एक नही है।

जगराज और जगरूप नाम के दो विद्वानों का और भी उल्लेख मिलता है, जो संभवत. भिन्न भिन्न है। जगराज ने सकलकीर्ति की सुभाषितावली का पद्यानुवाद सं० १७०९ मे बनाकर समाप्त किया है। और जगरूप ने श्वेताम्बर चौरासी बोल की रचना सं० १८११ म बनाकर समाप्त की थी, यह रचना दिल्ली के नया मन्दिर धर्मपुरा के शास्त्र भण्डार मे सुरक्षित है।

उन्नीसवें कवि पृथ्वी पाल है, जो अग्रवाल गर्ग गोत्रीय श्रावक थे, और तेजपुर के रहने वाले थे। वे पानीपत (पणिपद) आये और वहां उन्होने भ० सहस्रकीर्ति के चरण कमलो को नमस्कार कर स. १६६२ के माघ महीने की कृष्णा पंचमीके दिन 'श्रुत पचमी रास' बनाकर समाप्त किया था। जैसा कि उसके निम्न अन्तिम प्रशस्ति पद्यो से प्रकट है :—

सहस कीर्ति गुरुचरण कमल नमि रास कियो बुद्धि।
पंडित जन मति हास करो, थोड़ी मेरी बुद्धि।
नव सतसं नव दोइ अधिक सवत तुम जाणौ।
माघ मास दिन पंचमि तम नर रिषि सुणि आणौं।
गरग गोत है अग्रवाल, श्रावक व्रत पालै।
वेश मलूकइ भोजराज सुत है पृथिवी पालं।
नगर तेजपुर सुत के सो आयो पाणीपथ।
श्रुतपंचमी को रास कियो, पंडित तुलसी कथ।
नर नारि जे रास सुर्णाहि, मन वच रुचि गार्वाहि।
सुख सपति आनद लहै वांछित फल पार्वाहि॥

बीसवे कवि भाऊ है। जो तहनगढ़ या त्रिभुवनगिरि के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र 'गर्ग' था। भाऊ के पिता का नाम मनुसाहु और माता का नाम कुअरि या कुमारी था[1]। इनकी इस समय तक चार रचनाओं का पता चला है—१. आदित्यवार कथा, २. नेमिनाथरास, ३ पार्श्वनाथ कथा, जो जयपुर के तेरापंथी मन्दिर के गुच्छक नम्बर १ ३ मे दर्ज है लिपि सं० १७०४ है। ग्रथ सूची भा० २ पृ. ३५५। ४थी रचना पुष्पदन्त पूजा है। कवि ने अपनी रचनाओ मे रचनाकाल नहीं दिया। इस कारण उनका समय निश्चित बतलाना संभव नही है। फिर भी इनका समय वि की १६वी शताब्दी जान पडता है। डा. कस्तूरचन्द जी कासलीवाल को आदित्यवार कथा की प्रति स. १६२६ की लिखी हुई मिली है। इससे भी कवि का समय १६वी तथा सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है।

इक्कीसवे कवि बूलचन्द या बुलाकीदास है। इनका जन्म आगरा मे हुआ था। यह गोयल गोत्रीय अग्रवाल

---

१ अग्रवाल यह कियो बखान,
कुंअरि जननि तिहुवण गिरि थान।
गरगहि गोत मनू को पूत,
भयो कविजन भगति सजूत।
कारण कथा करण मति भई,
त्यो यह धर्म कथा अरठई।
मन धरि भाव सुनै जो कोई,
सो नर सुरग देवता होई।
भाऊ भणे सु द्वै कर जोडि,
जिन पडित मोहि लावहु खोडि।

—आदित्यव्रत कथा

श्रावक थे। इनके पूर्वज बयाना (श्रीपथ-भरतपुर) में रहते थे। इनके पितामह श्रवणदास कारणवश बयाना छोड़कर आगरे मे बस गये थे। श्रवणदास के पुत्र नन्दलाल को सुयोग्य जानकर पंडित हेमराज ने अपनी विदुषी पुत्री जैनुलदे का विवाह कर दिया था। बुलाकीदास इन्हीं के पुत्र थे। माता का अपने पुत्र पर विशेष अनुराग था। कवि ने भी माता की विशेष प्रशंसा की है। कवि के गुरु अरुणमणि थे१। जो भ० श्रुतकीर्ति के प्रशिष्य और बुधराघव के शिष्य तथा कान्हरसिंह के पुत्र थे। इन्होंने अपना अजितपुराण सं. १७१३ में जहानाबादजयसिंहपुरा (नई दिल्ली) के पार्श्वनाथमन्दिरमें बनाया था२। अरुणमणि ने कवि को प्रेम से विद्या पढ़ाई थी, कवि ने अपनी माता की प्रेरणा से प्रश्नोत्तर श्रावकाचार सं० १७४७ मे समाप्त किया था, इस श्रावकाचार के तीन हिस्से जहानाबाद मे और चौथा पानीपत मे समाप्त हुआ था३। और पाण्डवपुराण स. १७५४ में बनाया था। कवि की अन्य क्या कृतिया है यह कुछ ज्ञात नही हो सका।

बाईसवे कवि वृन्दावन हैं। जो अग्रवाल गोयल गोत्री थे४। आप का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक गांव में गंगा नदी के किनारे संवत १८४८ में माघ शुक्ला १४ सोमवार को पुष्य नक्षत्र, कन्यालग्न भानु अंश २७ के शुभ मुहूर्त में हुआ था। आपके वंशधर बारा छोड़कर काशी मे आकर रहने लगे थे। कवि के पिता का नाम धर्मचन्द्र था। धर्मचन्द्र बड़े धर्मात्मा और गण्यमानपुरुष थे। वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट और निर्मम थे। और छोटे भाई का नाम था महावीरप्रसाद। संवत १८६७ में १२ वर्ष की वय मे वृन्दावन अपने पिता के साथ काशी आये थे और काशी मे बाबर शहीद की गली में रहते थे५। आपके वंशधर पहले काशी में रहते थे। पश्चात् वे बारा चले गये थे और फिर बारा से काशी मे रहने लगे थे। वृन्दावन अपने पिता के समान पद्मावतीदेवी के भक्त थे और मंत्र-तन्त्रादि में भी इनका विश्वास था।

कवि की माता का नाम सिताबी और पत्नी का नाम रुक्मणी था। इनकी पत्नी बडी धर्मात्मा और पतिव्रता थी६। आपके दो पुत्र थे, अजितदास और शिखर चन्द्र।

---

१ अरुन-रतन पंडित महा, शास्त्र कला परवीन।
बूलचन्द तिनपै पढ्यो, ग्यान अंश तहा लीन ॥१६
बहुत हेतकरि अरुन नै, दयो ज्ञान को भेद।
तब सुबुद्धि घट मे जगी, करि कुबुद्धि तम छेद ॥२०
ऐसे सुत पै अधिक ही, करै जु माता प्रीति।
सब चिन्ता सुत की हरै, यहै माय की रीति ॥२१
—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

२ रस-वृष-यति-चन्द्रे ख्यात सवत्सरे (१७१३) स्मिन्।
नियमित सित वारे वैजयंती-दशम्या।
रचितममलवाग्मि, रत्न रत्नेन तेन ॥४०॥
मुद्गले भूभुनां श्रेष्ठे राज्येऽवरंगसाहि के।
जहानाबाद नगरे पार्श्वनाथजिनालये ॥४१॥
—अजितपुराण प्रशस्ति

३ "सत्रह सै सैतालमें, दूज सुदी वैशाख।
बुद्धवार भै रोहिनी, भयो समापत भाख ॥
तीन हिस्से या ग्रंथ के, भये जहानाबाद।
चौथाई जलपथ विषै, वीतराग परसाद ॥
—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार प्रशस्ति

४ अगरवाल कुल गोल गोत्र वृन्दावन धरमी।
धरमचन्द जसु पिता, शिताबो माता मरमी ॥
—प्रवचनसार प्रशस्ति

५ वाराणसी आरा ताके बीच बसै बारा,
सुरसरि के किनारा तहा जनम हमारा है।
ठारै अडताल माघ सेत चौदै सोम पुष्य,
कन्या लग्न भानु अंश सत्ताईस धारा है।
साठ माहि काशी आये तहा सत्संग पाये,
जैनधर्म मर्म लहि भर्म सब डारा है।
सैली सुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहा,
अध्यातम वानी की अखंड वहै धारा है।
—प्रवचनसार प्रश० पृ. ११०।

६ कवि ने छन्द शतक मे अपनी गुणवती पत्नी का आदर्श सामने रखकर मंजुभाषिणी छन्द का उदाहरण बनाया जान पड़ता है :—
'प्रमदा प्रवीन व्रतलीन पावनी,
दिढ शील पालि कुलरीति राखिनी।
जल अन्न शोधि मुनि दान दायिनी,
वह धन्य नारि मृदुमंजु भाषिनी ॥
—छन्द शतक, वृन्दा. पृ. ८५

इनमें अजितदास भी अपने पिता के ही समान कवि थे। इन्होंने अपने पिता की आज्ञा से हिन्दी में जैन रामायण की रचना ७१ सर्ग तक कर पाई थी, कि असमय मे देवलोक हो गया। आपकी यह रामायण बाबू हरिदासजी आरा वालों के पास थी। कवि की ससुराल काशी में ठठेरी बाजार में थी। इनके ससुर बड़े धनिक व्यक्ति थे। उनके यहां उस समय टकसाल का काम होता था। एक दिन किरानी अंग्रेज इनके ससुर की टकसाल देखने के लिए आया, तब उसने कहा कि हम तुम्हारा कारखाना देखना चाहते हैं कि उसमें सिक्के कैसे तैयार होते हैं। वृन्दावन ने उसे टकसाल नहीं दिखाई, इससे वह नाराज होकर चला गया। दैवयोग से वही अंग्रेज कुछ दिनों बाद काशी का कलैक्टर होकर आया। उस समय वृन्दावन सरकारी खजांची के पद पर आसीन थे। साहब बहादुर ने प्रथम साक्षात्कार के समय ही इन्हे पहिचान लिया, और बदला लेने का विचार किया। यद्यपि कविवर अपना सब कार्य बड़ी ईमानदारी से करते थे, पर जब अफसर ही विरोधी हो, तब वह कितने दिन बच सकता है। आखिर साहब ने एक जाल बनाकर कवि को तीन वर्ष की जेल की सजा दे दी। कवि ने उसके अत्याचारों को शान्ति से सहा, कुछ दिन के बाद कवि—"हो दीनबंधु श्रीपति करुणा निधान जी। अब मेरी व्यथा क्यो न हरो वार क्या लगी।" आदि स्तुति बना कर गा रहे थे। उस समय उस अंग्रेज ने उनकी तन्मय दशा को देखा, और पूछा कि तुम क्या गा रहा था। तब उन्होने कहा कि मैं परमात्मा की स्तुति कर रहा था। और उन्हें बाद मे उसने रिहा कर दिया। तब से वह स्तवन 'सकटमोचन स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उक्त घटना के संसूचक अनेक उल्लेख मिलते हैं, पाठकों की जानकारी के लिए एक दो का उदाहरण निम्न प्रकार है :—

१ **अब मोपर क्यों न कृपा करते, यह क्या अंधेर जमाना है।**
इन्साफ करो मत देर करो सुखवृन्द भरो भगवाना है।
वृ. वि. पृ. २

२ **वृन्दावन्द, नन्दवृन्द को, उपसर्ग निवारो।** वृ. वि. पृ. २०

जान पड़ता है कवि ने जेल में अनेक स्तवन बनाये हैं, उनसे उनकी अन्तर्व्यथा की स्पष्ट झलक मिलती है।

कवि वृन्दावन आशु कवि थे, उनमें काव्य रचने की स्वाभाविक प्रतिभा थी। कविता में स्वाभाविकता और सरलता है।

आपकी निम्न छह रचनाएं है—१ प्रवचनसार २ चतुर्विंशति जिनपूजा, तीस चोबीसी पाठ, छन्द शतक, अर्हत्पाशा केवली और वृन्दावन विलास। वह कवि की अनेक फुटकर रचनाओ का संग्रह है। कवि की ये सभी कृतियां महत्वपूर्ण हैं। पूजा-पाठ अति सुन्दर बन पड़े हैं। उनमें यमकालंकार आदि का चित्रण है, कविता सुन्दर और मनमोहक है। इनमें छन्द शतक महत्व का ग्रंथ है, इसमें हिन्दी के सौ छन्दोके बनाने की विधि सोदाहरण दी हुई है। उनके उदाहरण उसी छन्द में अंकित है। छन्दशतक कवि ने स. १८९८ मे अठारह दिन मे अपने ज्येष्ठ पुत्र अजितदास के पढने के लिए बनाई है, जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति पद्यो से प्रकट है :—

अजितदास निज सुअन के पठन हेत अभिनंद।
श्रीजिनिंद सुखवृन्द को रच्यो छंद यह वृन्द ॥११५
पोषकृष्ण चौदस सुदिन, तादिन कियो अरंभ।
अट्ठारह दिन में भयो, पूरन शब्द थंभ ॥११६

\+ \+ \+

अट्ठारह सौ ठानवें, संवत विक्रम भूप।
दोज माघ कलि को भयो, पूरन छंद अनूप ॥११८

प्रवचनसार कवि की सुन्दर और भावपूर्ण कृति है, उसे कवि ने तीसरी बार मे स. १९०५ मे उदयराज के उपकार से बनाकर समाप्त किया है। चतुर्विंशति जिन पूजा का समय प्रेमी जी ने वृन्दावन की प्रति पर से स. १८७५ कार्तिक कृष्ण अमावस्या गुरु बतलाया है[1]। तीस चोबीसी पूजा पाठ स. १८७६ माघ शुक्ला पचमीको पूर्ण हुआ है :—**वरय तत्त्व गुण केवल सु, सवत विक्रमवान।**
माघ धवल पांचे नवल, पूरण परम निधान ॥

अर्हत्पासाकेवली का रचनाकाल सं. १८९१ होता है जैसा कि निम्न दोहे से प्रकट है :—
संवत्सर विक्रम विगत, चन्द्र रध्र विनचन्द।
माघ कृष्ण आठें गुरु, पूरन जयति जिनन्द ॥

१ देखो, वृन्दावन विलास की प्रस्तावना।

इसमें 'रन्ध्र' शब्द से ९ लिए गये हैं। क्योंकि मल द्वार छिद्र ९ होते हैं। जैसा 'नव द्वार वहैं घिनकारी' वाक्य से प्रकट है।

कवि का अन्तिम जीवन कैसा बीता, और देहोत्सर्ग कब हुआ यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ।

तेवीसवें कवि जोगीदास है। यह सलेमगढ़ के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल थी। इनकी एकमात्र कृति 'अष्टमी कथा' पंचायती मन्दिर खजूर मस्जिद दिल्ली में मौजूद है, जिसका अन्त निम्न प्रकार है :—

"सब साहन प्रति गढ़मलसाह, तातन सागर कियो भवलाह।
पोहकरणदास ता तनों, नन्दो जब लग ससि-सूरज तनों।
गुरु उपदेश करी यह कथा, जीवो चिर·········सदा।
अग्रवाल रहै गढ़ सलेम, जिनवाणी यह है नित नेम।
सुणि कहा मुणि पुब्वह आस, कथा कही पंडित जोगीदास॥"

चौबीसवें विद्वान निहालचन्द अग्रवाल हैं। इन्होंने सं. १८६७ में 'नयचक्र' की भाव प्रकाशिनी बनाई थी१।

पच्चीसवें विद्वान पं० परमेष्ठी सहाय हैं, जो आरा के निवासी और श्रावक कीरतचन्द्र के पुत्र थे। इन्होने अपने पिता के पास जैन सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय ये आरा मे अच्छे विद्वान समझे जाते थे। सं० १८६४ में परमेष्ठी सहाय आरा से काशी आये थे, उस समय वहां जैनधर्म के ज्ञाताओं की अच्छी शैली थी। आरा में आपकी धार्मिक चर्चा बाबू सीमधरदास जी से हुआ करती थी। इसका उल्लेख कवि वृन्दावनजी ने किया है२। इन्होंने साधर्मी भाई जगमोहनदास की तत्त्वार्थ-विषय के जानने की विशेष रुचि को देखकर स्व-पर-हित के लिए गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र की 'अर्थ प्रकाशिका' नाम की टीका पांच हजार श्लोकों के परिमाण में बना कर पं० सदासुख जी के पास जयपुर भेजी थी। तब सदासुख जी ने उसे ग्यारह हजार श्लोक प्रमाण बनाकर वापिस उन्हीं के पास आरा भेज दी थी। जैसा कि उसके प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है।

पूरब में गगातट धाम, अति सुन्दर आरा तिस नाम।
तामैं जिन चैत्यालय लसैं, अग्रवाल जैनी बहु बसैं॥१३
बहु ज्ञाता तिनमै जु रहाय, नाम तासु परमेष्ठि सहाय।
जैन ग्रन्थमें रुचि बहु करै, मिथ्या धरम न चित में धरै॥१४
सो तत्त्वारथ सूत्र की, रची वचनिका सार।
नाम जु अर्थ प्रकाशिका, गिणती पांच हजार॥१५
सो भेजी जयपुर विषै, नाम सदासुख जास।
सो पूरण ग्यारह सहस, करि भेजी तिन पास॥१६
अग्रवाल कुल कीरतिचंद, जु आरे मांहि सुवास।
परमेष्ठीसहाय तिनके सुत, पिता निकटकरि शास्त्राभ्यास।१७
कियो ग्रन्थ अधिगम सु सदासुख रास चहुँ दिश अर्थ प्रकाश।
—अर्थ प्रकाशिका प्रस्तावना

छब्बीसवे गद्य भाषा के टीकाकार नन्दराम अग्रवाल हैं, जो गोयलगोत्री थे। इन्होने आगरा मे स. १६०४ में योगसार की टीका बनाई थी। टीकाकार ने आगरा के ताजगंज के पार्श्वनाथ मन्दिर मे स्थित भगवान पार्श्वनाथ की श्यामवर्ण की प्रतिमा की अपूर्व महिमा का भी उल्लेख किया है। और वहां के अच्छे शास्त्र भण्डार का भी उल्लेख किया है। नन्दराम जी ने टीका को उम्मेदी लाल के सहयोग से पूर्ण किया था।

संवत उनिस शतक ऊपरं, अंक धरो तुम चार सुधार।
फागुन सेत पुनीत नवौमी चन्द्रवार तीसरा पहार (?)
शुभ नक्षत्र विषै पूरणकर राजा प्रजा सबै सुखकार।
चन्द्रसूर जबलौं तबलौं इह ग्रंथ रह्यो बुधको दातार॥

(क्रमशः)

---

१ देखो, बाबा दुलीचन्द का ग्रन्थ भण्डार ग्रंथसूची भा० ४ पृ. १३४।

२ संवत चौरानूमें सुआय, आरे तैं परमेष्ठी सहाय।
अध्यातमरंग पगे प्रवीन, कवितामें मन निशिदिवस लीन।
सज्जनता गुन गरुवे गंभीर। कुल अग्रवाल सुविशालधीर।
ते मम उपगारी प्रथमवर्म, सांचे सरधानी विगत भर्म।१७५
—प्रवचनसार प्रशस्ति

भगवान महावीर और बुद्ध का परिनिर्वाण

अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराज

महावीर का परिनिर्वाण पावा में और बुद्ध का परिनिर्वाण कुसिनारा में हुआ। दोनों क्षेत्रों की दूरी के विषय में दीघ-निकाय-अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी) बताती है—"पावानगरतो तीणि गावुतानि कुसिनारानगरं" अर्थात् पावानगर से तीन गव्यूत (तीन कोस) कुसिनारा था। बुद्ध पावा के माध्याह्न मे विहार कर सायंकाल कुसिनारा पहुँचते हैं। वे रुग्ण थे, असक्त थे, विश्राम ले-लेकर वहाँ पहुँचे। इससे भी प्रतीत होता है कि पावा से कुसिनारा बहुत ही निकट था। कपिलवस्तु (लुम्बिनी) और वैशाली (क्षत्रियकुण्डपुर) के बीच २५० मील की दूरी मानी जाती है[१]। जन्म की २५० मील की क्षेत्रीय दूरी निर्वाण मे केवल ६ मील की ही दूरी रह गई। कहना चाहिए, साधना से जो निकट थे, वे क्षेत्र से भी निकट हो गये।

दोनो की ही अन्त्येष्टि मल्ल-क्षत्रियो द्वारा सम्पन्न होती है। महावीर के निर्वाण-प्रसंग पर नव मल्लकी, नव लिच्छवी, अठारह काशी-कोशल के गणराजा पौषधव्रत मे होते है और प्रातः काल अन्त्येष्टिक्रिया मे लग जाते है। बुद्ध के निर्वाण-प्रसग पर आनन्द कुसिनारा मे जाकर सस्थागार मे एकत्रित मल्लो को निर्वाण की सूचना देते हैं। आनन्द ने बुद्ध के निर्वाण के लिए कुसिनारा को उपयुक्त भी नही समझा था; इससे प्रतीत होता है कि मल्ल बुद्ध की अपेक्षा महावीर से अधिक निकट रहे हो।

इन्द्र व देव-गण दोनों ही प्रसंगों पर प्रमुखता से भाग लेते हैं। महावीर की चिता को अग्निकुमार देवता प्रज्वलित करते हैं और मेघकुमार देवता उसे शान्त करते हैं; बुद्ध की चिता को भी मेघकुमार देवता शान्त करते हैं। दोनों के ही दाढ़ा आदि अवशेष ऊर्ध्वलोक और पाताललोक के इन्द्र ले जाते है। दोनों ही प्रसंगों पर इन्द्र व देवता शोकातुर होते है। इतना अन्तर अवश्य है कि महावीर की अन्त्येष्टि में देवता ही प्रमुख होते है, मनुष्य गौण। बुद्ध की अन्त्येष्टि में दीखते रूप में सब कुछ मनुष्य ही करते है, देवता अदृष्ट रहकर योगभूत होते हैं; देवता क्या चाहते है; यह अर्हत् भिक्षु मल्लों को बताते रहते हैं। देवताओं के सम्बन्ध मे बौद्धों की उक्ति परिष्कारक लगती है।

अन्तिम वर्ष का विहार दोनों का ही राजगृह से होता है। महावीर पावा वर्षावास करते है और कार्तिक अमावस्या की शेष रात मे वहीं निर्वाण प्राप्त करते है। पावा और राजगृह के बीच का कोई घटनात्मक विवरण नही मिलता और न कोई महावीर की रुग्णता का भी उल्लेख मिलता है। बुद्ध का राजगृह से कुसिनारा तक का विवरण विस्तृत रूप से मिलता है। उनका शरीरान्त भी सुकर-मद्दव से उद्भूत व्याधि से होता है। उनकी निर्वाण-तिथि वैशाखी पूर्णिमा मुख्यतः मानी गई है, पर सर्वास्तिवाद-परम्परा के अनुसार तो उनकी निर्वाण-तिथि कार्तिक पूर्णिमा है[१]।

निर्वाण से पूर्व दोनो ही विशेष प्रवचन करते है। महावीर का प्रवचन दीर्घकालिक होता है और बुद्ध का स्वल्पकालिक। प्रश्नोत्तर चर्चा दोनों की विस्तृत होती है। अनेक प्रश्न शिष्यों द्वारा पूछे जाते हैं और दोनों द्वारा यथोचित उत्तर दिये जाते हैं। दोनों ही परम्पराओं के कुछ प्रश्न ऐसे लगते हैं कि वे मौलिक न होकर पीछे से जुड़े हुए हैं। लगता है, जिन बातो को मान्यता देनी थी, वे बातें महावीर और बुद्ध के मुह से कहलाई गई। अन्तिम रात मे दोनो ही क्रमशः राजा हस्तिपाल और सुभद्र परिव्राजक को दीक्षा प्रदान करते है।

निर्वाण-गमन जानकर महावीर के अन्तेवासी गणधर

---

१. राहुल सांकृत्यायन, सूत्रकृतांग सूत्र की भूमिका पृ० १

१. E J. Thomas, Life of Buddha, P. 158.

गौतम मोहगत होते है, रुदन करते है; बुद्ध के उपस्थाक आनन्द मोहगत होते हैं और रुदन करते है। गौतम इस मोह-प्रसंग के अनन्तर ही केवली हो जाते हैं; आनन्द कुछ काल पश्चात् अर्हत् हो जाते हैं।

आयुष्य-बल के विषय मे महावीर और बुद्ध; सर्वथा दोनों पृथक् बात कहते है। महावीर कहते हैं—"आयुष्य-बल बढ़ाया जा सके, न कभी ऐसा हुआ है और न कभी ऐसा हो सकेगा।" बुद्ध कहते हैं—"तथागत चाहें तो कल्प भर जी सकते है।"

महावीर का निर्वाण-प्रसंग मूलतः कल्पसूत्र मे उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र से ही वह टीका, चूर्णि, व चरित्र-ग्रन्थों में पल्लवित होता रहा है। कल्पसूत्र महावीर के सप्तम पट्टधर आचार्य भद्रबाहु द्वारा सकलित माना जाता है। वैसे कल्पसूत्र मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक कुछ सयोजन होता रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। देवर्द्धि क्षमाश्रमण का समय ईस्वी सन् ४५३ माना गया है; पर इसमे तनिक भी सन्देह नही कि महावीर का निर्वाण-प्रसग उस सूत्र का मूलभूत अग ही है। भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३७१–३५७ का माना गया है।

बुद्ध की निर्वाण-चर्चा दीघनिकाय के महापरिनिब्बान-सुत्त में मिलती है। इससे ऐसा लगता है कि यह भी संगृहीत प्रकरण है। दीघनिकाय मूल त्रिपिटक-साहित्य का अग है, पर महापरिनिब्बानसुत्तके विषय मे राईस डेविड्स१ ई० जे० थोमस२ विंटरनित्ज३ का भी अभिमत है कि वह कुछ काल पश्चात् सयोजित हुआ है। इसका अर्थ यह भी नही कि महापरिनिब्बान सुत्त बहुत अर्वाचीन है। दोनो प्रकरणो की भाव, भाषा और शैली से भी उनकी काल-विषयक निकटता व्यक्त होती है। आलंकारिकता और अतिशयोक्तिवाद भी दोनो मे बहुत कुछ समान है।

महावीर का निर्वाण-प्रसंग बहुत संक्षिप्त व कहीं-कही अक्रमिक-सा प्रतीत होता है। कुछ घटनाएं काल-क्रम की शृंखला में जुड़ी हुई-सी प्रतीत नहीं होती। बहुत सारी घटनाएं केवल यह कह कर बता दी गई है—"उस रात को ऐसा हुआ।" बुद्ध का निर्वाण-प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक सुयोजित लगता है। वह विस्तृत भी है।

प्रस्तुत प्रकरण मे महावीर और बुद्ध; दोनों के निर्वाण-प्रसंग क्रमशः दिये जाते हैं। मूल प्रकरणों को सक्षिप्त तो मुझे करना ही पड़ा है। साथ-साथ यह भी ध्यान रखा गया है कि प्रकरण अधिक से अधिक मूलानुरूपी रहे। महावीर के निर्वाण-प्रसंग में कल्पसूत्र के अतिरिक्त भगवतीसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, महावीर चरियं आदि ग्रन्थों का भी आधार लेना पड़ा है। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग में महापरिनिब्बान सुत्त ही मूलभूत आधार रहा है। महत्त्वपूर्ण उक्तियों के मूल पाठ भी दोनों प्रसगों के टिप्पण मे दे दिये गये है।

महावीर

अन्तिम वर्षावास

राजगृह से विहार कर महावीर अपापा (पावापुरी)१ आये। समवशरण लगा। भगवान् ने अपनी देशना मे बताया—"तीर्थकरो की वर्तमानता मे यह भारतवर्ष धन-धान्य से परिपूर्ण, गावो और नगरों से व्याप्त स्वर्ग-सदृश होता है। उस समय गाव नगर जैसे, नगर देवलोक जैसे, कौटुम्बिक राजा जैसे और राजा कुबेर जैसे समृद्ध होते है। उस समय आचार्य इन्द्र समान, माता-पिता देव समान, सास माता समान और श्वसुर पिता समान होते हैं। जनता धर्माधर्म के विवेक से युक्त, विनीत, सत्य-सम्पन्न, देव और गुरु के प्रति समर्पित, सदाचार-युक्त होती है। विज्ञजनो का आदर होता है। कुल, शील तथा विद्या का अंकन होता है। ईति, उपद्रव आदि नही होते। राजा जिन-धर्मी होते है।

"अब जब तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि अतीत हो जायेंगे, कैवल्य और मनः पर्ययज्ञान का भी विलोप हो जायेगा। तब भारतवर्ष की स्थिति क्रमशः प्रतिकूल ही होती जायेगी। मनुष्य में क्रोध आदि बढ़ेगे; विवेक घटेगा। मर्यादाएं छिन्न-भिन्न होंगी; स्वैराचार बढ़ेगा, धर्म घटेगा, अधर्म बढ़ेगा। गाव श्मान जैसे, नगर प्रेत-

१. Phys Davids, Dialogues of Buddha, Vol.II, P. 72.

२. E J. Thomas, Life of Buddha, P. 156.

३. Indian Literature, Vol. II, Pp. 37-42.

१. यह कौन-सी पावा थी, कहां थी, आदि वर्णन देखे,"

लोक जैसे, सज्जन दास जैसे व दुर्जन राजा जैसे होने लगेंगे। मत्स्य-न्याय से सबल दुर्बल को सताता रहेगा। भारतवर्ष बिना पतवार की नाव के समान डावाडोल स्थिति में होगा। चोर अधिक चोरी करेंगे, राजा अधिक कर लेगा व न्यायाधीश अधिक रिश्वत लेंगे। मनुष्य धन-धान्य मे अधिक आसक्त होगा।

"गुरुकुलवास की मर्यादा मिट जायेगी। गुरु शिष्य को शास्त्रज्ञान नहीं देंगे। शिष्य गुरुजनो की सेवा नही करेंगे। पृथ्वी पर क्षुद्र जीव-जन्तुओं का विस्तार होगा। देवता पृथ्वी से अगोचर होते जायेंगे। पुत्र माता-पिता की सेवा नही करेंगे, कुल-वधुएं आचार-हीन होंगी। दान, शील तप और भावनाकी हानि होगी। भिक्षु-भिक्षुणियो मे पारस्परिक कलह होंगे। झूठे तोल-मापका प्रचलन होगा। मंत्र, तंत्र, औषधि, मणि, पुष्प, फल, रस, रूप, आयुष्य, ऋद्धि, आकृति, ऊंचाई; इन सब उत्तम बातोमे ह्रास होगा।

"आगे चलकर दु:षम-सुषमा नामक छठे आरे मे तो इन सबकी अत्यन्त हानि होगी। पंचम दु:षम आरे के अन्त मे दु.प्रसव नामक आचार्य होंगे, फल्गुश्री साध्वी होंगी, नागिल श्रावक होगा, सत्यश्री श्राविका होगी। इन चार मनुष्यो का ही चतुर्विध संघ होगा। उस समय मनुष्य का शरीर दो हाथ परिमाण और आयुष्य बीस वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन प्रात:काल चारित्र-धर्म, मध्याह्न राज धर्म और अपराह्न मे अग्नि का विच्छेद होगा।

"२१०० वर्ष के पंचम दुःषम आरे के व्यतीत होने पर इतने ही वर्षो का छठा दु:षम-दुःषमा आरा आयेगा। धर्म, समाज, राज-व्यवस्था आदि समाप्त हो जायेंगे। पिता-पुत्र के व्यवहार भी लुप्त-प्राय: होंगे। इस काल के आरम्भ मे प्रचण्ड वायु चलेगी तथा प्रलयकारी मेघ[1] बरसेंगे। इससे मानव और पशु बीज-मात्र ही शेष रह जायेंगे। वे गंगा और सिन्धु[2] के तट-विवरो मे निवास करेंगे। मांस और मछलियो के आधार पर वे अपना जीवन-निर्वाह करेंगे।

'इस छठे आरे के पश्चात् उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध का प्रथम आरा आयेगा। यह ठीक वैसा ही होगा, जैसा अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध का छठा आरा था। इसका दूसरा आरा उसके पंचम आरे के समान होगा। इसमें शुभ का आरम्भ होगा। इसके आरम्भ मे पुष्कर संवर्तक मेघ बरसेगा, जिससे भूमि की उष्मा दूर होगी। फिर क्षीर-मेघ बरसेगा, जिससे धान्य का उद्भव होगा। तीसरा घृत-मेघ बरसेगा, जो पदार्थों मे स्निग्धता पैदा करेगा। चौथा अमृत-मेघ बरसेगा, इससे नानागुणोपेत औषधिया उत्पन्न होंगी। पांचवा रस-मेघ बरसेगा, जिससे पृथ्वी मे सरसता बढेगी। ये पांचो ही मेघ सात-सात दिन तक निरन्तर बरसने वाले होंगे[3]।

"वातावरण फिर अनुकूल बनेगा। मनुष्य उन तट विवरो से निकल कर मैदान मे बसने लगेंगे। क्रमश: उनमे रूप, बुद्धि, आयुष्य आदि की वृद्धि होगी। दु:षम-सुषमा नामक तृतीय आरे मे ग्राम, नगर आदि की रचना होगी। एक-एक कर तीर्थंकर होने लगेंगे। इस उत्सर्पिणी काल के चौथे आरे मे यौगलिक-धर्म का उदय हो जायेगा। मनुष्य युगल रूप मे पैदा होंगे, युगल रूप मे मरेंगे। उनके बड़े-बड़े शरीर और बड़े-बड़े आयुष्य होंगे। कल्प-वृक्ष उनकी आशापूर्ति करेंगे। आयुष्य और अवगाहना से बढता हुआ पाचवा और छठा आरा आयेगा। इस प्रकार यह उत्सर्पिणी काल समाप्त होगा। एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी काल का एक काल-चक्र होगा। ऐसे काल-चक्र अतीत मे होते रहे है और अनागत मे होते रहेंगे जो मनुष्य धर्म की वास्तविक आराधना करते हैं, वे इस काल-चक्र को तोडकर मोक्ष प्राप्त करेंगे, आत्म-स्वरूप में लीन होंगे[4]।"

---

१. भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ६ मे इन मेघों को अरसमेघ, विरसमेघ, क्षारमेघ, खट्टमेघ, अग्निमेघ, विज्जुमेघ, विषमेघ, असनिमेघ आदि नामो से बताया है।

२. उस समय गंगा और सिंधु का प्रवाह रथ-मार्ग जितना ही विस्तृत रह जायेगा। —भग०सूत्र शतक ७, उद्देशक ६

३. क्रमश: दो मेघों के बाद सात दिनो का 'उघाड़' होगा। इस प्रकार तीसरे और चौथे मेघ के पश्चात् फिर सात दिनो का 'उघाड' होगा। कुल मिला कर पाचों मेघो का यह ४९ दिनो का क्रम होगा।

—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र, वक्ष. २, काल अधिकार

४. नेमिचन्द्रसूरि कृत महावीर चरिय के आधार से।

महवीर ने यह अपना अन्तिम वर्षावास भी पावा-पुरी में ही किया वहा हस्तिपाल नामक राजा था। उसकी रज्जुक सभा (लेख-शाला१) में वे स्थिरवास से रहे। कार्तिक अमावस्या का दिन निकट आया। अन्तिम देशना के लिए अन्तिम समवशरण की रचना हुई। शक्र ने खड़े होकर भगवान् की स्तुति की। तदनन्तर राजा हस्तिपाल ने खड़े होकर स्तुति की।

अन्तिम देशना व निर्वाण

भगवान् ने अपनी अन्तिम देशना प्रारम्भ की। उस देशना में ५५ अध्ययन पुण्य-फल विपाक के और ५५ अध्ययन पाप-फल विपाक के कहे२; वर्तमान मे जो सुख विपाक और दुःख विपाक नाम से आगमरूप है। ३६ अध्ययन अपृष्ठ व्याकरण के कहे३, जो वर्तमान मे उत्तराध्ययन-आगम कहा प्रधान नामक मरुदेवी माता का अध्ययन कहते-कहते भगवान् पर्यंकासन४ (पद्मासन) मे स्थिर हुए। तब भगवान् ने क्रमशः बादर काययोग मे स्थित रह, बादर मनोयोग और वचनयोग को रोका। सूक्ष्म काययोग मे स्थित रह बादर काय योग को रोका; वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान का "सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति" नामक तृतीय चरण प्राप्त किया। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग को रोककर "समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति" नामक शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त किया। फिर अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण-काल जितनी शैलेशी-अवस्था को पारकर और चतुर्विध अघाती कर्म-दल का क्षयकर भगवान् महावीर सिद्ध बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए५।

वह वर्षावास का चतुर्थ मास था, कृष्ण पक्ष था, पन्द्रहवां दिवस था, पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी। एक युग के पाच संवत्सर होते हैं, 'चन्द्र' नामक वह दूसरा संवत्सर था। एक वर्ष के बारह मास होते हैं, उनमें वह 'प्रीतिवर्द्धन' नाम का चौथा मास था। एक मास में दो पक्ष होते है, वह 'नन्दीवर्द्धन' नाम का पक्ष था। एक पक्ष में पन्द्रह दिन होते हैं, उनमें 'अग्निवेश्य' नामक वह पन्द्रहवां दिन था, जो 'उपशम' नाम से भी कहा जाता है। पक्ष में पन्द्रह रातें होती है, वह 'देवानन्दा' नामक पन्द्रहवी रात थी, जो 'निरति' नाम से भी कही जाती है। उस समय अर्च नाम का लव था, मुहूर्त नाम का प्राण था, सिद्ध नाम का स्तोक था६, नाग नाम का कारण था७। एक अहोरात्र में तीस मुहूर्त होते है, वह सर्वार्द्ध

---

१. इसका शुक्ल शाला भी अर्थ किया जाता है।

२. समवायाग सूत्र, सम० ५५, कल्पसूत्र, सू० १४७

३. कल्पसूत्र, सू० १४७, उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३; उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तिम अध्ययन की अन्तिम गाथा भी इस बात को स्पष्ट करती है—

इह पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धि य सम्मए॥

यह विशेष उल्लेखनीय है कि यहाँ महावीर को 'बुद्ध' भी कहा गया है।

४. संपलियंकनिसण्णे—सम्यक पद्मासनेनोपविष्ट·
—कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र १२३

५. तेण कालेणं तेणं समयेणं······वावत्तखिसाइं सव्वाउय पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगुत्ते, इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए समाए बहुविइक्कंताए, तिहिं वासेहि अद्धनवमेहिं व मासेहिं सेसेहिं, पाव ए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रण्णो रज्जुगसभाए, एगे अबीए, छट्ठेण भत्तेण अपाणएणं, साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पच्चूसकाल समयसि, सपलियकनिसण्णे, पणपन्न अज्झयणाइ कल्लाणफलविवागाइ पणपन्न अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं च अपुट्ठ-वागरणाइं वागरित्ता, पहाणं नाम अज्झयण विभावेमाणे कालगए विइक्कते समुज्जाए छिन्न-जाइ-जरा-मरण-बंधणे सिद्धे, बुद्धे मुत्ते अतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।
—कल्पसूत्र, सू० १४७

६. ७ प्राण=१ स्तोक
७ स्तोक=१ लव
७७ लव=१ मुहूर्त
—भगवती सूत्र, शतक ६, उद्देशक ७

७. शकुन्यादि करण चतुष्के तृतीयमिदम्। अमावास्योत्तरार्द्धेऽवश्यं भवत्येतद्।
—कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११२

सिद्धि नामक उनतीसवां मुहूर्त[1] था। उस समय स्वाति नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था।

प्रश्न चर्चाएं

भगवान् महावीर की यह अन्तिम देशना सोलह प्रहर की थी[2]। भगवान् छट्ठ-भक्त से उपोसित थे[3]। देशना के अन्तर्गत अनेक प्रश्न-चर्चाएँ हुई। राजा पुण्यपाल ने अपने ८ स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर सुनकर संसार से विरक्त हुआ और दीक्षित हुआ[4]। हस्तिपाल राजा भी प्रतिबोध पाकर दीक्षित हुआ।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—"भगवन्! आपके परिनिर्वाण के पश्चात् पांचवा आरा कब लगेगा?" भगवान् ने उत्तर दिया—"तीन वर्ष साढ़े आठ मास बीतने पर।" गौतम के प्रश्न पर आगामी उत्सर्पिणी काल मे होने वाले तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव, कुलकर आदि का भी नाम-ग्राह भगवान् ने परिचय दिया।

गणधर सुधर्मा ने पूछा—"भगवन्! कैवल्य-रूप सूर्य कब तक अस्तंगत होगा?" भगवान् ने कहा—"मेरे से बारह वर्ष पश्चात् गौतम सिद्ध-गति को प्राप्त होगा, मेरे से बीस वर्ष पश्चात् तुम सिद्ध-गति प्राप्त करोगे, मेरे से चौसठ वर्ष पश्चात् दूसरा शिष्य जम्बू अनगार सिद्ध-गति को प्राप्त करेगा। वही अन्तिम केवली होगा। जम्बू के पश्चात् क्रमश: प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सभूति विजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र चतुर्दश पूर्वधर होंगे। इनमे से शय्यम्भव पूर्व-ज्ञान के आधार पर दशवैकालिक आगम की रचना करेगा[5]।"

शक्र द्वारा आयु-वृद्धि की प्रार्थना

जब महावीर के परिनिर्वाण का अन्तिम समय निकट आया, इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। देवो के परिवार से वह वहा आया। उसने अश्रुपूरित नेत्रो से महावीर को निवेदन किया—"भगवन्! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और कैवल्यज्ञान मे हस्तोत्तरा नक्षत्र था। इस समय उसमें भस्म-ग्रह सक्रान्त होने वाला है। आपके जन्म-नक्षत्र में आकर वह ग्रह दो सहस्र वर्षों तक आपके संघीय प्रभाव के उत्तरोत्तर विकास मे बहुत बाधक होगा दो सहस्र वर्षों के पश्चात् जब वह आपके जन्म-नक्षत्र से पृथक् होगा, तब श्रमणों का, निर्ग्रन्थो का उत्तरोत्तर पूजा-सत्कार बढ़ेगा। अत: जब तक वह आपके जन्म-नक्षत्र मे सक्रमण कर रहा है, तब तक आप अपने आयुष्य बल को स्थित रखे। आपके साक्षात् प्रभाव से वह सर्वथा निष्फल हो जायेगा।" इस अनुरोध पर भगवान् ने कहा—'शक्र! आयुष्य कभी बढाया नही जा सकता। ऐसा न कभी हुआ है, न कभी होगा। दुषमा काल के प्रभाव से मेरे शासन मे बाधा तो होगी[6]।"

गौतम को कैवल्य

उसी दिन भगवान् महावीर ने अपने प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया। अपने अन्तेवासी शिष्य को दूर भेजने का कारण यह था कि मृत्यु के समय वह अधिक स्नेह-विह्वल न हो। इन्द्रभूति ने देवशर्मा को प्रतिबोध

---

१. संवत्सर, मास, पक्ष, दिन, रात्रि, मुहूर्त्त! इनके समग्र नामों के लिए देखें; कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११३। टीकाकार ने इन समग्र नामो को 'जैन-शैली' कहकर अभिहित किया है।

२. षोडश प्रहरान् यावद् देशनां दत्तवान्
—सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा सग्रह, पत्र १००;
ख. सोलस प्रहराइ देसणं करेइ
—विविधतीर्थकल्प, पृ० ३६

३. कल्पसूत्र; १४७; नेमिचन्द्रकृत महावीर चरित्र, पत्र, ६६

४. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००-१०२

५. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा सग्रह, पत्र १०६; इस ग्रन्थ के रचयिता ने महावीर की इस भविष्यवाणी को क्रमश. हेमचन्द्राचार्य तक पहुँचा दिया है।

६. "जिनेश! तव जन्मर्क्ष गन्ता भस्मकदुर्ग्रहः।
बाधिष्यते स वर्षाणा, सहस्रे द्वे तु शासनम्॥
तस्य सङ्क्रामणं यावदिवलम्बस्व ततः प्रभो।
भवत्प्रभाप्रभावेण, स यथा विफलो भवेत्॥
स्वाम्यूचे शक्र! केनाऽपि नायु सन्धीयते क्वचित्॥
दुषमाभावतो बाधा, भाविनी मम शासने॥
—कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र १२१

दिया। उन्हें भगवान् के परिनिर्वाण का सम्वाद मिला। इन्द्रभूति के श्रद्धा-विभोर हृदय पर वज्राघात-सा लगा। अपने आप बोलने लगे—"भगवन्! यह क्या किया? इस अवसर पर मुझे दूर किया। क्या मैं बालक की तरह आपका अंचल पकड़कर आपको मोक्ष जाने से रोकता? क्या मेरे स्नेह को आपने कृत्रिम माना? मैं साथ हो जाता, तो क्या सिद्ध-शिला पर संकीर्णता हो जाती? क्या मैं आपके लिए भार हो जाता? मैं अब किसके चरणों में प्रणाम करूँगा? किससे अपने जगत् और मोक्ष-विषयक प्रश्न करूँगा? किसे मैं "भदन्त" कहूँगा? मुझे अब कौन गौतम! गौतम!" कहेगा?"

इस भाव-विह्वलता में बहते-बहते इन्द्रभूति ने अपने आपको सम्हाला। सोचने लगा—"अरे! यह मेरा कैसा मोह? वीतरागों के स्नेह कैसा? यह सब मेरा एक पाक्षिक मोह-मात्र है। बस! अब मैं इसे छोड़ता हूँ। मैं तो स्वयं एक हूँ। न मैं किसी का हूँ। न मेरा यहाँ कुछ भी है। राग और द्वेष विकार-मात्र है। समता है। समता ही आत्मा का आलम्बन है।" इस प्रकार आत्म-रमण करते हुए इन्द्रभूति ने तत्काल कैवल्य प्राप्त किया[१]।

जिस रात को भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उस रात को नव मल्लकी, नव लिच्छवी, अठारह काशी-कौशल के गणराजा पौषध व्रत मे थे[२]।

निर्वाण-कल्याणक

भगवान की अन्त्येष्टि के लिए सुरो के, असुरो के सभी इन्द्र अपने-अपने परिवार से वहाँ पहुँचे। सब की आँखों में आंसू थे। उनको लगता था—हम अनाथ हो गये है। शक्र आदेश से देवता नन्दन-वन आदि से गोशीर्ष चंदन लाये। क्षीर-सागर से जल लाये। इन्द्र ने भगवान् के शरीर को क्षीरोदक से स्नान कराया विलेपन आदि किये, दिव्य वस्त्र ओढ़ाये। तदनन्तर भगवान् के शरीर को दिव्य शिविका में रखा।

इन्द्रों ने वह शिविका उठाई। देवों ने जय-जय ध्वनि के साथ पुष्प-वृष्टि की। मार्ग में कुछ देवांगनाएं और देव नृत्य करते चलते थे, कुछ देवमणि रत्न आदि से भगवान् की अर्चा कर रहे थे। श्रावक-श्राविकाएं भी शोक-विह्वल होकर साथ-साथ चल रहे थे। यथास्थान पहुच कर शिविका नीचे रखी गई। भगवान् के शरीर को गोशीर्ष चन्दन की चिता पर रखा गया। अग्निकुमार देवों ने अग्नि प्रकट की। वायुकुमार देवों ने वायु प्रचालित की। अन्य देवों ने घृत और मधु के घट चिता पर उंडेले। जब प्रभु का शरीर भस्मसात् हो गया, तो मेघकुमार देवों ने क्षीरसागर के जल से चिता शान्त की। शक्रेन्द्र तथा ईशानेन्द्र ने ऊपर की दायी और बांयी दाढ़ों का संग्रह किया। चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ो का सग्रह किया। अन्य देवो ने अन्य दात और अस्थि-खण्डो का संग्रह किया। मनुष्यो ने भस्म लेकर सन्तोष माना। अन्त में चिता-स्थान पर देवताओं ने रत्नमय स्तूप की सघटना की[३]।

दीपमालोत्सव

जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, देव और देवियो के गमनागमन से भू-मण्डल आलोकित हुआ[४]। मनुष्यो ने भी दीप सजोये। इस प्रकार दीप-माला पर्व का का प्रचलन हुआ[५]।

जिस रात को भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, उस रात को सूक्ष्म कुंथु जाति का उद्भव हुआ। यह इस बात का सकेत था कि भविष्य में सूक्ष्म जीव-जन्तु बढते जायेगे और संयम दुराराध्य होता जायेगा। अनेक भिक्षु-भिक्षुणियों ने इस स्थिति को समझकर उस समय आमरण अनशन किया[६]।

(अगले अंक मे समाप्त)

१. कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र १६४

२. जं रयणि च ण समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, त रयणि च ण नव मल्लई नव लेच्छई काशी-कोसलगा अट्ठारस-वि गणरायाणो अमावासाए पाराभोय पोसहोववासं पट्ठविंसु।
—कल्पसूत्र, सू० १३२

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३ के आधार से

४ कल्पसूत्र, सूत्र १३०-१३१

५ सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००-११०

६. कल्याणसूत्र, सूत्र १३६-३७

श्री बा. नानालाल के. मेहता एडवोकेट का महत्वपूर्ण पत्र

श्रीमान्, समय की गति बदल रही है, बम्बई भारत का विशाल नगर है, यहाँ पर मैं देखता हूँ, हर शख्स सुख प्राप्ति के लिये शुभ समग्री प्राप्त करने को दौड़ता है, परन्तु इतने पर भी वह सुख प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि सुख कहा है, कैसा है, व कैसे प्राप्त हो सकता है यह वह समझता ही नही है क्योंकि उसे विद्वानो द्वारा ऐसा उत्तम साहित्य और उपदेश प्राप्त नहीं होता है, अभी दीपावली के शुभ अवसर पर मैंने एक क्रिश्चियन को उसके धर्म का साहित्य मुफ्त आम बाजार में बाटते हुए देखा और उसने मुझे भी दिया, परन्तु जो जैन समाज गौरव के साथ दीवाली भगवान श्री महावीर के निर्वाण का पवित्र त्योहार मनाती है, वह भगवान के सदेश का जो कि जन समाज के सुख का कारण बन सकता है, जन समाज के नजदीक पहुँचाना ही नहीं चाहती,

इस युग में अपने व आम लोगों के हित के लिये जैन साहित्य का प्रचार होना बहुत ही आवश्यक है अतः आप से निवेदन है कि आप इस विषय मे—अपने "अनेकान्त" पत्र मे कुछ सामग्री प्रकाशित करने की कृपा करेंगे।

"अनेकान्त" पूरे जैन समाज का एक बहुत ही उच्चकोटि का पत्र है जो हमारे सामने बड़ी मेहनत और परिश्रम के साथ साहित्य सामग्री प्रस्तुत करता है ऐसे श्रेष्ठ व उत्तम पत्रको हर शख्सने मगाकर इसे उन्नति पर पहुँचाना चाहिए।

मैं इस नये वीर सवत् २४६४ के उपलक्ष मे प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह हम सबको सद्बुद्धि प्रदान करते हुए हमारे "अनेकान्त" पत्र के प्रचार की खूब खूब वृद्धि करे।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५·००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८·००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २·००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १·५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १·५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... ७५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३·००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ... ... ४·००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४·००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १·२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (६) महावीर पूजा २५

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत (समाप्त) ·२५

(१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १·००

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२·००

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५·००

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। ... ... २०·००

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६·००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

दिसम्बर १९६७

अनेकान्त

कुण्डलपुर में— सन्मति सागर के किनारे पर जैन मन्दिर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

अनेकान्त को सहायता

५) ला० विमलचन्द जी गोटे वाले लखनऊ की सुपुत्री सौ० किरण के विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से डा० ज्योति प्रसाद जी लखनऊ की मार्फत ५) रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

विलम्ब का कारण

अनेकान्त की यह किरण प्रेस में नये टाइपों की व्यवस्था के कारण विलम्ब से प्रकाशित हो रही है। इसके लिए हमें खेद है। आगे की किरण यथा सम्भव शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जायगा।

व्यवस्थापक
'अनेकान्त'

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन ग्राहक महानुभावों ने अपना वार्षिक शुल्क नहीं भेजा है, उन्हें अपना वार्षिक शुल्क ६) रुपया मनी आर्डर से शीघ्र भेज देना चाहिए। कारण कि २०वां वर्ष समाप्त हो रहा है। आशा ही नहीं विश्वास है कि ग्राहक महानुभाव २०वें वर्ष का अपना वार्षिक मूल्य शीघ्र भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक
'अनेकान्त'
वीरसेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पै०

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २०	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६	दिसम्बर
किरण ५	वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० सं० २०२४	सन् १९६७

पद्मप्रभ-जिन-स्तुतिः

(अर्द्धभ्रमः)

अपापापदमेयश्रीपादपद्म प्रभोऽर्दय ।
पापमप्रतिमाभो मे पद्मप्रभ मतिप्रदः ॥२७॥

—समंतभद्राचार्य

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चरणकमल पूर्वसंचित पापकर्म से रहित हैं, आपत्तियों से शून्य है, और अपरिमित लक्ष्मी के शोभा के-आधार है । तथा आप स्वयं भी अनुपम आभा से—तेज से सहित है । हे सम्यग्ज्ञान देने वाले पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! मेरे भी पापकर्म नष्ट कीजिये ।

भावार्थ—भगवन् ! आपके निष्पाप—पवित्र चरणकमलों के आश्रय से मनुष्य को वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह अपने समस्त पापकर्म तथा उनके फल स्वरूप प्राप्त हुई आपत्तियों को नष्ट कर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित हो जाता है और तब उसकी आत्मा अनन्त तेज से प्रभासित हो उठती है ॥२७॥

—:o:—

श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि,

कुण्डलपुर

श्रीजगन्मोहनलाल जी शास्त्री

[मध्यप्रदेश का प्रसिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिये तो विख्यात है ही, वहाँ स्थापित बड़े बाबा की अद्वितीय विशाल और अतिशय सौम्य प्रतिमा के लिए भी यह क्षेत्र उल्लेखनीय है।

अंतिम केवली श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि होने के कारण यही कुण्डलपुर क्षेत्र "सिद्ध क्षेत्र" भी है ऐसी स्थापना इस लेख के विद्वान लेखक श्रीमान् पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने इस लेख में की है। लेखक द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय प्रमाण और उनका विवेचन तथा लेखक की नवीन शोधजन्य धारणाएं विचारणीय है। —सम्पादक]

अंतिम केवली श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि का नामोल्लेख तिलोयपण्णत्ति, निर्वाण काण्ड, आदि मे आया है। इन्ही के आधार पर उक्त निर्वाण भूमि का निर्णय करने का प्रयास कुछ विद्वानो द्वारा पिछले बीस-बाइस वर्षो मे किया गया है। इस संबंध के प्राय सभी शास्त्रीय उल्लेखों को दृष्टि मे रखकर तत्संबंधी उपलब्ध लेखो का मनन करके तथा कुछ नवीन उद्घाटित प्रमाणो पर विचार करते हुए इस लेख मे भगवान श्रीधर स्वामी के निर्वाण स्थल पर विचार करते हुए मध्यप्रदेश के दमोह जिले मे स्थित प्रसिद्ध और मनोरम क्षेत्र कुण्डलपुर को उनकी सिद्धभूमि मानने के कारण और साक्ष्य प्रस्तुत करने का मे प्रयास कर रहा हूँ। इस लेख का प्रारम्भ शास्त्रोक्त प्रमाणों से करते हुए सर्वप्रथम हम तिलोयपण्णत्ति की संदर्भित गाथा पर विचार करेगे।

श्रीतिलोयपण्णत्ति ग्रंथ यतिवृषभाचार्य द्वारा रचित है जो श्रीजीवराज ग्रंथमाला द्वारा वि. सं. २००० मे प्रकाशित हुआ है। यह त्रिलोक संबंधी वर्णन करने वाला प्राचीन ग्रंथ प्राकृत भाषा मे है। ग्रंथ के स्वाध्याय काल म गाथा सख्या १४७९ पढ़ने मे इस प्रकार आई—

कुण्डल गिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।

अर्थात् चरम केवली श्रीधर कुण्डलगिरि से सिद्ध हुए। इस गाथा के पढ़ने के बाद अनेक प्रश्न खड़े हुए। ये श्रीधर केवली कब हुए? अन्तिम केवली तो जम्बू स्वामी कहे गये है, फिर ये चरम केवली कैसे हुए? कुण्डलगिरि कौन सा स्थान है? इत्यादि। ग्रंथ के आलोकन से यह जाना जाता है कि केवली तो अनेक के प्रकार होते है पर प्रत्येक तीर्थंकर के समय दो तरह के केवली मुख्यतया कहे गये है। १. अनुसंधान या अनुबद्ध केवली, और २. अननुबंध या अननुबद्ध केवली।

अनुबद्ध केवली वे है जो भगवान तीर्थंकर के समवशरण मे स्थित अनेक शिष्यों में भगवान के पश्चात् मुख्य उपदेष्टा परम्परा में केवल ज्ञानी होकर हुए। इस तरह जो परिपाटी क्रम से हुए वे अनुबद्ध केवली है।

तथा जो परिपाटी क्रम मे नही हुए किन्तु केवली हुए वे अनुबद्ध केवली कहलाते है। इनकी सख्या प्रत्येक तीर्थंकर के समय अलग-अलग बताई गई है। जैसे—

भगवान ऋषभदेव के समवशरण मे केवली संख्या २०००० पर अनुबद्ध केवली केवल ८४। श्री अजितनाथ के समवशरण मे सम्पूर्ण केवलज्ञानियों की सख्या २०००० पर अनुबद्ध केवली केवल ८४। इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के अनुबद्ध और अननुबद्ध केवली की सख्याएं भिन्न है। श्रीमहावीर तीर्थंकर के समवशरण मे केवलज्ञानी ७०० थे और अनुबद्ध केवली केवल ३ थे।

इसका यह अर्थ है कि भगवान महावीरके पट्टशिष्य श्री गौतम गणधर थे यद्यपि गणधर ११ थे पर मुख्य गणधर श्री

गौतम थे। भगवान महावीरके पश्चात् कार्तिक कृष्ण १५ को ही श्री गौतम केवली हुए उनके पट्ट पर रहने वाले सुधर्माचार्य थे जो गणधर तो भगवान महावीर के थे पर उनको पट्ट श्री गौतम स्वामी के बाद प्राप्त हुआ। और सुधर्माचार्य भी केवली हुए इनके बाद इनके पट्ट पर श्री जम्बूस्वामी हुए जो केवली हुए। जम्बूस्वामी के पट्ट पर श्री विष्णुनन्दि तथा विष्णुनन्दि के पट्ट पर श्री नन्दिमित्र, नन्दिमित्र के पट्ट पर अपराजित फिर गोवर्धन और उनके पट्ट पर श्रीभद्रबाहु (प्रथम) हुये पर ये सब श्रुतकेवली हुये केवली नही हुए। इनसे शिष्य प्रशिष्य परम्परा आगे चली जो भूतबली आचार्य तक ६८३ वर्ष प्रमाण चली।

यद्यपि आचार्य परम्परा आगे भी चली परन्तु यहाँ तक अंगज्ञान रहा इसके बाद अंगधारी नही हुये। आज के महान ग्रंथ खट्खण्डागम श्रीपुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य द्वारा रचित हैं।

इस प्रकार पट्टधर शिष्यो की परम्परा में ३ केवली हुए जिनका उल्लेख कर आये है वे भगवान महावीर के अनुबद्ध केवली थे। इनके सिवाय जो ७०० केवली समवशरण मे थे वे अननुबद्ध केवली थे उनमे सभी केवली अपनी-अपनी आयु के अन्त मे सिद्धपद को प्राप्त हुए होंगे। यद्यपि इनका समयोल्लेख नही है तथापि पचम काल की आयु १२० वर्ष कही है तब इनकी आयु भी अधिक से अधिक इतनी अथवा चतुर्थकाल मे इनका जन्म होने से कुछ वर्ष अधिक भी रही हो तो भी भगवान के मुक्तिगमन काल के बाद प्रथम शताब्दी मे ही इनका मुक्तिगमन सिद्ध है।

इन ७०० केवली भगवानों मे अन्तिम केवली श्री श्रीधर स्वामी थे जिनका तिलोयपण्णत्ति मे कुण्डलगिरि से मुक्तिगमन बताया गया है।

ग्रंथ में उक्त उल्लेख पढ़ने पर मेरा ध्यान सर्वप्रथम दमोह (म० प्र०) के निकट स्थित कुण्डलपुर पर गया यह पर्वत कुण्डलाकार (गोल) है अतः कुण्डलगिरि हो सकता है। अन्यत्र ऐसा पर्वत नही है और न ऐसे ग्राम की ही प्रसिद्धि है।

कुण्डलपुर के पर्वत पर मुख्य मन्दिर में जो वृहत् पद्मासन १२ फुट उत्तुग मूर्ति विराजमान है वे बड़े बाबा श्री महावीर स्वामी हैं। ऐसा कहा जाता आ रहा है। सं० १७५७ माह सुदी १५ सोमवार का एक शिलालेख श्री मन्दिर जी मे है। उसमें भी इन्हें महावीर स्वामी लिखा है। पर मूर्ति के अधोभाग में जहाँ सिंहासन के सिह बने है उनके मध्य जो चिन्ह बनाने का स्थान है वहाँ कोई चिन्ह नही है। जो चिन्ह है वे सिंहासन के रूप में है और ऐसे चिन्ह कुण्डलपुर के उसी मन्दिर मे संस्थापित श्री नेमिनाथ, संभवनाथ आदि सभी तीर्थंकर मूर्तियो मे बने है। पर वे मात्र सिहासन के प्रतीक है तीर्थंकर का चिन्ह तो दो सिहों के मध्य मे है। इस मूल प्रतिमा में चिन्ह के स्थान पर कोई चिन्ह नही है।

प्रतिमा के आसन के पाषाण मे दोनों चरणों के पास दो कमल बने है। ये चिन्ह नही है, यदि चिन्ह होते तो एक बनाया जाता, और वह भी मध्य में न कि दोनो चरणों के नीचे एक-एक। इसके सिवाय मस्तक के आसपास दोनो तरफ देवो की उडती हुई मुद्रा मे बनाया जाना आदि लक्षणो से मुझे ऐसा अनुमान हुआ कि क्या यह सामान्य केवली की मूर्ति है? और "चरण कमल तल कमल है" "नभ ते जय जय वानि" की उक्ति के अनुसार तो इनके चरणों के पास कमल दोनों ओर बनाए गये और जयकार बोलते हुए आकाश में देवता दिखाए गये है।

इस कल्पना के आने पर मैंने कुछ ऐसा ही निर्णय कर एक लेख ७८ वर्ष पूर्व जैन सदेश मे प्रकाशित किया था। इस लेख के खडन मे २ लेख आये थे। प्रथम लेख श्री 'नीरज' सतना का था कि मूर्ति के आसन के दोनों ओर गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी की मूर्ति है साथ ही जटाओं के चिन्ह मूर्ति पर है। अत. मूर्ति श्री आदि तीर्थंकर की होनी चाहिए भले ही चिन्ह के स्थान पर चिन्ह न हो अतः श्रीधर केवली की मूर्ति उसे मानना प्रमाणित नही होता।

मैंने स्थान का पुनः निरीक्षण किया और मुझे नीरज जी का कथन[1] सर्वथा उपयुक्त जचा और यह निश्चित किया कि मुख्य मूर्ति भगवान आदिनाथ की है। १७५७ में ब्र. नेमिसागर ने मूल मे चिन्ह न देखकर केवल सिहासन

१. अनेकान्त अप्रेल १९६४ पृ० ४३.

के सिहों के आधार पर उन्हे भगवान महावीर घोषित किया।

चूंकि कुण्डलपुर भगवान महावीर का जन्मस्थान प्रसिद्ध है। और यह स्थान कुण्डलपुर कहलाता है फलतः इस साम्य के कारण भी उनका ध्यान भगवान श्री महावीर की ओर गया हो और इन्हे भगवान महावीर मान लिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दूसरा लेख श्री पं० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य का था[1]। उन्होंने अपने लेख मे प्रतिपादित किया था कि कुण्डलगिरि स्थान यह नही है जो दमोह (म०प्र०) के पास है। बल्कि राजगृह की पंचपहाड़ियो मे किसी पहाड़ी का नाम कुण्डलगिरि था। और वही सिद्ध स्थान श्री श्रीधर केवली का हो सकता है। प्रमाण स्वरूप उन्होने पूज्यपाद स्वामी, जो पाँचवी या छठवी शताब्दी के विद्वान आचार्य हैं, उनकी दशभक्ति का दिया था। उसमे निर्वाण भक्ति में पंचपहाडियों के साथ कुण्डल शब्द पड़ा है। कोठिया जी के निर्णय से हम सहमत नही हो सके और आज भी सहमत नही है इसके कारण निम्न प्रकार है।

(१) दशभक्ति मे जो निर्वाण भक्ति का प्रकरण है उसमें निर्वाण क्षेत्रो के नामो की गणना है। उसमे केवल पच पहाड़ियो के नाम है बल्कि ऋष्याद्रि-मेढ़क-कुण्डल-द्रोणीमति-विध्य-पोदनपुर आदि अनेक निर्वाण भूमियो के नाम है। इनमे पच पहाड़ियो मे सभी के नाम नही है। केवल उनके नाम है जो सिद्धि स्थान है। वे है वैभार-विपुलाचल-ऋष्याद्रिक। कुण्डल शब्द के साथ मेढ़क शब्द उसके पूर्व पड़ा है और उसके बाद भी पचपहाड़ियो मे उसका नाम है। इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार मेढ़क मेढगिरि के लिए अलग से आया है इसी प्रकार कुण्डल शब्द कुण्डलगिरि के लिए अलग से आया है फलतः मेढ़-गिरि की तरह कुण्डलगिरि स्वतन्त्र निर्वाणभूमि है। अन्यथा निर्वाण भूमि मे उसका उल्लेख न पाया जाता। निर्वाण भूमियो में उसका नाम आना उस स्थान को सिद्ध भूमि मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

श्लोक निम्न प्रकार है—

द्रोणीमति प्रबल कुण्डल मेढ़के च
वैभार पर्वत तले वर सिद्धकूटे
ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रि बलाहृके च
विंध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च ॥६॥

—संस्कृत निर्वाण भक्ति

निर्वाण भक्ति में इसके पूर्व के श्लोको मे तीर्थंकरों की निर्वाण भूमियो के नाम देकर ८वे श्लोक के पूर्व उत्थानिका भी है जो इस प्रकार है—

इदानीं तीर्थंकरेभ्योऽन्येषां निर्वाणभूमिम् स्तोतु माह— अर्थात् तीर्थंकरों के बाद अन्य केवलियों की निर्वाणभूमि की स्तुति करते है। आठवें श्लोक मे शत्रुंजय–तुगीगिरि–का नामोल्लेख है। तदनन्तर इस श्लोक का अर्थ होता है।

द्रोणीमिति (द्रोणगिरि) प्रबलकुण्डल, प्रबलमेढ़क ये दोनों, वैभार पर्वत का तलभाग, सिद्धकूट, ऋष्याद्रिक, विपुलाद्रि, बलाहक, विंध्य, पोदनपुर वृषदीपक।

इसके बाद दसवे श्लोक में—सह्याचल, हिमवत्, लम्बायमान गजपथ आदि पवित्र पृथिवियो मे जो साधुजन कर्म नाश कर मुक्ति पधारे वे स्थान जगत् में प्रसिद्ध हुए। आगे के श्लोको मे इन स्थानो की पवित्रता का वर्णन कर स्तुति की है।

प्रस्तुत प्रसंग में कुण्डल शब्द पर विचार है। टीका मे कुण्डल और मेढ़क को "प्रबल कुण्डले प्रवल मेढ़के च" ऐसा लिखा गया है जिसका अर्थ स्वतन्त्रता से श्रेष्ठ कुण्डल-गिरि और श्रेष्ठ मेढगिरि होता है। पाँच पहाड़ियो मे केवल ३ नाम आए हैं। ऋष्याद्रिक इसे टीकाकार ने श्रमणगिरि लिखा है। यह कोई सही तर्क न होगा कि ४ पहाड़ियो के नाम उसमें है तो एक नाम शेष मे से हम पाचवी पहाडी को मान ले। पाच पहाड़ियो के नाम—(१) रत्नागिरि (ऋषिगिरि (२) वैभारगिरि (३) विपु-लाचल (४) बलाहक (५) पाण्डु ये पाच है। बौद्ध ग्रथो मे पांच पहाडियो के नाम इस प्रकार है—(१) वेपुल्स (२) वेभार (छिन्न) (श्रमणगिरि) (३) पाण्डव (४) इसगिलि (उदयगिरि) (ऋषिगिरि) और (५) गिज्झ-कूट। धवला टीका मे इनके नाम है (१) ऋषिगिरि (२) वैभार (३) विपुलगिरि (४) छिन्न (बलाहक) (५) पाण्डु। उक्त तीनों नामावली से सिद्ध है कि

---

१. अनेकान्त वर्ष ८ पृ० ११५

पाँचों पहाड़ियों में कुण्डलगिरि किसी का भी नाम नही था और न आज भी है। तब पच पहाड़ियो में उसकी कल्पना का कोई आधार नहीं रह जाता फलत: कुण्डलगिरि स्वतंत्र निर्वाण भूमि है यह सिद्ध होता है नीचे लिखा प्राकृत निर्वाण भक्ति का उल्लेख भी इसे सिद्ध करता है।

अग्गल देवं वंदमि वरणयरे निवण कुण्डली वंदे।
पासं सिरपुरि वंदमि लोहगिरि संख दीवम्मि।

वरनगर मे अर्गलदेव (आदिनाथ) की तथा निर्वाणकुण्डली क्षेत्र को श्रीपुर मे श्री पार्श्वनाथ को तथा लोहागिरि शखद्वीप मे श्री पार्श्वनाथ की मे वंदना करता हूँ।

इस निर्वाण भक्ति मे कुण्डली के साथ निर्वाण शब्द भी लगा है। इससे भी यह निर्वाण क्षेत्र सिद्ध है। पंचपहाड़ियों के नाम इस श्लोक मे नही है ताकि उसे उनमे से एक पहाडी मान लिया जाय।

प्रस्तुत प्रमाणों से "कुण्डलगिरि कोई निर्वाण क्षेत्र है" यह सिद्ध हो गया। प्रश्न अब यह है कि वह स्थान कहां है कुण्डलपुर (विहार) कुण्डल (औध रियासत) तथा कुण्डलपुर (दमोह) म० प्र० ये तीन स्थान कुण्डल नाम से है। ये तीनो भारत में स्थित है। चौथा कुण्डलगिरि जिसका उल्लेख मगलाष्टक मे आता है वह मनुष्य लोक के बाहिर कुण्डलगिरि द्वीप में, वह तो निर्वाण भूमि नही हो सकता। अतः तीन का ही विकल्प शेष रहता है। इन पर आगे विचार किया जाता है।

(१) बिहार प्रदेश का कुडलपुर भगवान महावीर का जन्म स्थान माना गया है न कि निर्वाण भूमि। आज कल तो यह भी नही माना जाता बल्कि वैशाली कुडपुर उनकी जन्मभूमि सिद्ध हो चुका है।

(२) औध रियासत में कुण्डल रेलवे स्टेशन से २ मील है जहां दो मन्दिर है पर वे भगवान पार्श्वनाथ के है। किन्तु यह निर्वाणभूमि नही माना जाता।

(३) कुण्डलपुर (म० प्र०) यह दमोह से २० मील है। कुण्डलाकार (गोलाकार) पर्वत है और मूल मन्दिर में (प्रख्यात नाम) श्री महावीर तीर्थंकर की तथा यथार्थ आदिनाथ भगवान की मूर्ति है।

यह स्थान निर्वाणभूमि श्री श्रीधर स्वामी की है ऐसा मेरा वर्षों से मत चला आ रहा है जबकि अन्य स्थान सिद्ध नही होते।

यह कहा जाता है कि यह अतिशय क्षेत्र है कारण प्रसिद्ध अत्याचारी शासक औरंगजेब ने मूर्तिखडन करने का यहाँ प्रयास किया था पर उसके सेवकों पर तत्काल मधुमक्खियो का ऐसा आक्रमण हुआ कि वे सब भाग खड़े हुए। इस अतिशय के कारण यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है। निर्वाणभूमि अभी तक नही माना जाता।

यहाँ एक प्रश्न है कि औरंगजेब के काल में यह अतिशय हुआ और तब से यह अतिशय क्षेत्र माना जाय पर क्षेत्र तो औरंगजेब से बहुत पूर्व का है। छठवी शताब्दी की कला का अनुमान है। जैनेतर मदिर भी जिन्हे ब्रह्म मदिर कहने है छठी शताब्दी से वहां है ऐसा कहा जाता है। तब छठी शताब्दी से औरगजेब काल तक १००० वर्ष तक यह कौन सा क्षेत्र था।

कुण्डलाकार यह पर्वत ऐसा स्थान नही है जहाँ किसी राजा का किला या गढी है। जिससे यह माना जाय कि उसने मन्दिर और मूर्ति बनवाई होगी। कोई प्राचीन विशाल नगर भी वहाँ नही है कि किन्हीं सेठों ने या समाज ने मंदिर निर्माण कराया हो। तब ऐसी कौन सी बात है जिसके कारण यहाँ इतना विशाल मंदिर और मूर्ति बनाई गई। तर्क से यह सिद्ध है कि यह सिद्ध भूमि ही थी जिसके कारण इस निर्जन जंगल मे किसी ने यह मंदिर बनाया तथा अन्य ५८ जिनालय भी समय-समय पर यहाँ बनाये गये जो आज भी सुशोभित हैं। ये जिनालय वि० सं० ११०० से १६०० तक के पाए जाते है। सन् सवत लेख रहित भी बीसों जिन बिम्ब खडित वहाँ स्थित है। वहाँ १७५७ का जो शिलालेख है वह मदिर के निर्माण का नही बल्कि जीर्णोद्धार का है। लेख सस्कृत भाषा में है जिसमे यह उल्लेख है कि—

श्री कुन्द कुन्दाचार्य के अन्वय में यश: कीर्ति नामा मुनीश्वर हुए उनके शिष्य श्री ललितकीर्ति तदनंतर धर्मकीर्ति पश्चात् पद्मकीर्ति पश्चात् सुरेन्द्रकीर्ति हुए। उनके शिष्य सुचन्द्रगण हुए जिन्होंने इस स्थान को जीर्ण-शीर्ण देखकर भिक्षावृत्ति से एकत्रित धन से इसका जीर्णोद्धार कराया अचानक उनका देहावसान हो गया तब उनके

शिष्य ब्र० नेमिसागर ने वि. सं. १७५७ माघ सुदी १५ सोमवार को सब छतों का काम पूरा किया।

ऐसी किंवदन्ती भी आ रही है कि चन्द्रकीर्ति (सुचउ-गण) नामक कोई भट्टारक भ्रमण करते-करते यहाँ आए उनको दर्शन करके ही भोजन का नियम था। किन्तु कोई मंदिर पास न होने से वे निराहार रहे तब मनुष्य के छद्म-वेश में किसी देवता ने उन्हें कुण्डलगिरि पर ले जाकर स्थान का निर्देश किया। वे वहाँ पर गए और इस विशाल काय प्रतिमा का दर्शन किया। तथा इन्होंने ही इस मदिर का जीर्णोद्धार कराया। किंवदन्ती शिलालेख के लेख से मेल खाती है अतः सत्य है। यह जीर्णोद्धार प्रसिद्ध बुन्देल-खण्ड केसरी महाराजा छत्रसाल के राज्यकाल मे हुआ। कहते हैं अपने आपत्तिकाल मे महाराजा छत्रसाल इस स्थान में कुछ दिन प्रच्छन्न रहे हैं और पुनः राज्य भार प्राप्त करने पर उनके तरफ से ही तालाब सीढियाँ आदि का निर्माण भक्तिवश कराया गया है।

इन सब प्रमाणों के होते हुए भी लोग संदेह करते थे कि वस्तुतः यही स्थान श्रीधर केवली की निर्वाणभूमि है इसका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नही है। अभी इसी वर्ष मैं कुण्डलगिरि गया था, वीर निर्वाण महोत्सव पर। वहाँ बड़े मंदिर के चौक में एक प्राचीन छतरी बनी है और उसके मध्य ६ इच लम्बे चरणयुगल हैं। अनेकों बार दर्शन किए इन चरणो के। ये भट्टारकों के चरणचिह्न होंगे ऐसा मानते रहे। कारण चरणचिह्न तो सिद्धभूमि में स्थापित होने का नियम है यह तो अतिशय क्षेत्र है। सिद्ध भूमि नही है। अतः यहाँ चरणों का पाया जाना यह बताता है कि किन्हीं 'भट्टारकों' ने अपने या अपने गुरू के चरण स्थापित किये होंगे।

पर इस बार हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब पुजारी ने हमें बताया कि चरणो के नीचे की पट्टी पर कुछ लेख है हमने तत्काल उसे ले जाकर जमीन में सिर रखकर उसे बारीकी से पढा तो घिसे अक्षरों मे कुछ स्पष्ट पढने में नही आया तब जल से स्वच्छ कर कपड़े से प्रक्षाल कर उसे पढा तो उन चरणों के पाषाण के सामने की पट्टी पर लिखा है—

"कुण्डलगिरौ श्री श्रीधर स्वामी"

इस लेख को पढ अपनी बरषों की धारणा सफल प्रमाणित हो गई और इस प्रमाण की समुपलब्धि में कोई संदेह नहीं रह गया। यह सूर्य की तरह सप्रमाण सिद्ध है कि—ये चरण श्री श्रीधर स्वामी के है और यह क्षेत्र श्री कुण्डलगिरि है।

कुण्डलगिरि के नाम के कारण नीचे बसे छोटे से ग्राम का नाम कुण्डलपुर पडा हो इसके पूर्व इस ग्राम को "मंदिरटीला" नाम से कहते थे शिलालेख मे इसे इसी नाम से उल्लिखित किया गया है। संभवतः ब्र. नेमिसागर जी का ध्यान भी चरणो के उस छोटे से लेख पर नही गया जैसे कि पचासों बरसों से उनके दर्शन करने वाले हजारो व्यक्तियों का नही गया। यह लेख इसके बाद क्षेत्र के अध्ययन श्री राजारामजी बजाज सि. बाबूलाल जी कटनी तथा वहाँ के एक मंदिर निर्माणकर्त्ता ऊँचा के सिंघई तथा अन्य कई लोगों ने पढ़ा है।

क्षेत्र कमेटी के प्रबंधकों से मैंने प्रत्यक्ष मे भी निवेदन किया है तथा इस लेख द्वारा भी निवेदन करता हूँ कि उस स्थान को सुरक्षित करावें ताकि उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री नष्ट न हो।

चौक मे छतरी प्रारम्भ से तो है नवीन नही है। उससे चौक में स्थान की कमी आ जाती है पर प्राचीन होने से अभी तक सुरक्षित चली आई है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि यह श्रीधर केवली का मुक्ति स्थान ही है कारण छतरी बिना प्रयोजन नही बनाई जाती। १५०१ के संवत् की एक जीर्ण प्रतिमा में उस स्थान का नाम निषधिका (नसियाँ) भी लिखा है।

उक्त प्रमाणों के प्रकाश मे यह बिलकुल स्पष्ट है कि "कुण्डलगिरि" (दमोह म. प्र.) ही श्री श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि है।

—:०:—

राजस्थान के इतिहास निर्माण में

जैन ग्रन्थ संग्रहालयों का महत्त्व*

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

भारतीय इतिहास मे राजस्थान का महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास के सैकडो पृष्ठ इस प्रदेश के निवासियों की वीरता एवं पराक्रम की कहानियो से भरे पडे है। वास्तव मे यहाँ के शासको एवं शासितो ने देश के इतिहास को कितनी ही बार मोड दिया था। यहाँ के रणथम्भौर, चित्तौर, भरतपुर, जोधपुर, जैसलमेर जैसे दुर्ग वीरता शोध एवं शक्ति के आधर स्तम्भ रहे थे किन्तु वीरता के साथ साथ यहाँ भारतीय साहित्य एव सस्कृति के गौरव-स्थल भी पर्याप्त सख्या मे मिलते है। यदि राजस्थानी वीर योद्धाओ ने जननी जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हंसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले आचार्यों, मुनियों, सन्तों एव विद्वानो ने भी अपनी कृतियो द्वारा जनता में देश भक्ति नैतिकता एव सास्कृतिक जागरुकता का प्रचार किया। उन्होने नागौर, बीकानेर, अजमेर, जैसलमेर, जयपुर आदि कितने ही नगरों मे ग्रथ भडारो के रूप में साहित्यिक दुर्ग स्थापित किये जहाँ भारतीय साहित्य एव सस्कृति की सुरक्षा एव उसके विकास के उपाय सोचे गये तथा सारे प्रदेश में ग्रथों की प्रतिलिपियाँ करवाने, उनके पठन पाठन का प्रचार करने का अर्थ व्यवस्थित रूप से किया गया और राजनैतिक उथल-पुथल एवं सामाजिक झगड़ो से इन शास्त्र भंडारों को दूर रखा गया। वास्तव मे साहित्य की सुरक्षा एवं उसकी श्रीवृद्धि में सबसे अधिक जन सहयोग जैन ग्रथ संग्रहालयो का रहा यही कारण है कि जैन ग्रथ संग्रहालय राजस्थान के छोटे-छोटे गाँवों तक में मिलते है। इन शास्त्र भडारों ने राजस्थान के इतिहास के कितने ही महत्वपूर्ण तथ्यों को संजोया और उसे सदा ही नष्ट होने से बचाया। यदि हम इन ग्रंथ भंडारों के संबध मे कुछ गम्भीरता से विचार करें तो हमे मालूम होगा कि राजस्थान मे जैन ग्रंथ सग्रहालय सबसे अधिक संख्या मे मिलते है। ये ग्रथ संग्रहालय छोटे-छोटे गाँवों से लेकर बडे २ नगरो तक मे स्थापित किये हुए है। इन सग्रहालयों की निश्चित संख्या एवं उनमे सग्रहीत पाण्डुलिपियों की संख्या बतलाना तो कठिन है लेकिन अब तक की खोज के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या १॥ लाख से कम नही होगो। जयपुर, बीकानेर, अजमेर, जैसलमेर, बूदी जैसे नगरो मे एक से अधिक ग्रथ सग्रहालय है। अकेले जयपुर नगर मे ऐसे २५ ग्रथ भडार है जिनमें सभी मे हस्तलिखित पाण्डुलिपियो का अच्छा सग्रह है। इनमे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के हजारो ग्रथों की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित है। ताडपत्र पर सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि सन् १०६० की है जो जैसलमेर के वृहद ज्ञान भडार मे सग्रहीत है इसी तरह कागज पर संवत् १३२९ सन् १२७२ : पाण्डुलिपि जयपुर के श्री दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपंथियों के शास्त्र भंडार के संग्रह मे है। कागज वाली पाण्डुलिपि मे देहली का नाम योगिनीपुर एवं तत्कालीन सम्राट् का नाम गयासुद्दीन तुगलक के नाम का उल्लेख है। इन भंडारों मे तेरहवी, १४वी शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक लिखे गये ग्रंथों का विशाल सग्रह है जिनमे भारतीय विद्या एवं सस्कृति के अमूल्य तत्व छिपे पड़े है। यहाँ किसी एक विषय पर अथवा एक ही भाषा में ये पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत नही है किन्तु धर्म, दर्शन, पुराण, कथा, काव्य एव चरित के अतिरिक्त इतिहास, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद सगीत जैसे लौकिक विषयों पर अच्छी से अच्छी कृतियों की पाण्डु-लिपियाँ उपलब्ध होती हैं। यहाँ मैं यह बतलाना चाहूँगा

* जोधपूर मे आयोजित राजस्थान इतिहास कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन पर दिया गया एक भाषण

कि जैनाचार्यों एव विद्वानों ने भाषा विशेष से कभी मोह नही रखा किन्तु जनता की मॉग के अनुसार इन्होंने अपनी कृतियों का निर्माण एवं उनका सग्रह किया। इसीलिए आज इन भंडारों मे प्राकृत एवं संस्कृत की कृतियो के अतिरिक्त अपभ्रश हिन्दी एवं राजस्थानी कृतिया भी पर्याप्त संख्या मे मिलती है। इसलिए ये प्राचीन साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन करने के लिये प्रामाणिक केन्द्र है।

लेकिन राजस्थान के इन जैन ग्रंथ संग्रहालयों की महत्ता की ओर विद्वानो का सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान कर्नल जेम्स टाड को है जिन्होने अपनी पुस्तक (Travels in Westero India) मे जैसलमेर के जैन ग्रन्थ सग्रहालयो का बहुत ही सुन्दर एव रोचक वर्णन किया। टाड के ४५ वर्ष पश्चात् डा० व्हूलर एव डा० जैकोबी जैसे विद्वानों ने जैसलमेर के ग्रथ भंडारों का निरीक्षण किया और यहाँ की साहित्य समृद्धि की ओर विद्वानो को स्मरण कराया। इन तीन पाश्चात्य विद्वानों के महत्वपूर्ण एव खोजपूर्ण लेखों के कारण भारतीय विद्वानों का भी उनकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। सन् १६०४ मे भारतीय विद्वानो में सर्वप्रथम श्रीधर भण्डारकर जैसलमेर गये और अपनी इस यात्रा का वर्णन सन् १६०६ की खोज रिपोर्ट मे प्रकाशित कराया इसके पश्चात् कितने ही विद्वान यहाँ के भण्डारो को देखने के लिए जाते रहे जिनमें प० हीरालाल, हसराज, सी. डी. दलाल, मुनि पुन्यविजय जी एवं मुनि जिनविजय जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैसलमेर के ग्रथ भडारों के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य शास्त्र भंडारों की ओर विद्वानों का विशेष ध्यान होते हुए भी कुछ वर्ष पूर्व तक किसी भी भारतीय विद्वानों ने उन्हें व्यवस्थित रूप से नहीं देखा और साहित्य की अमूल्य निधिया उनमे ऐसे ही बन्द पड़ी रही। बीकानेर, चूरू सरदार शहर आदि कुछ नगरों में स्थित ग्रथ भंडारो की सूचियां तो अवश्य बनायी गई तथा श्री अगरचंद जी नाहटा जुगलकिशोर जी मुख्तार एवं पं. परमानंद जी शास्त्री ने अपने लेखों में किसी किसी भडार पर प्रकाश भी डाला। लेकिन विद्वानों के समक्ष उनके सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत करने का कभी व्यवस्थित कार्य नही किया जा सका।

राजस्थान के इन भण्डारों को छानबीन के लिये प्रेरणा देने का सबसे अधिक श्रेय पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ जयपुर को है। इस दिशा मे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का साहित्य शोध विभाग की सेवाएँ उल्लेखनीय है इसका मुख्य उद्देश्य राजस्थान के जैन शास्त्र भडारों की ग्रंथ सूचियाँ तैयार करने एवं उनमें अप्रकाशित साहित्य को प्रकाश मे लाने का है। क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से इन भंडारों की ग्रंथ सूचियो के चार भाग छप चुके है जिनमे करीब २०,००० ग्रंथों की सूचियाँ है। मैने अपना शोध प्रबन्ध भी 'जैन ग्रथ भडार इन राजस्थान' पर ही लिखा है। जिसमें राजस्थान के १०० ग्रंथ भडारों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम बार लिखने का अवसर मिला। मेने अपने शोध निबन्ध मे उनकी साहित्यिक समृद्धि एव विशाल सग्रह के सम्बन्ध मे व्यवस्थित रूप से प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

राजस्थान के इन ग्रथ भण्डारों में ताडपत्र की पाण्डुलिपियो की दृष्टि से जैसलमेर का वृहद ज्ञान भण्डार अत्यधिक महत्वपूर्ण है किन्तु कागज पर लिखित पाण्डुलिपियो की दृष्टि से नागौर, बीकानेर, जयपुर एवं अजमेर के शास्त्र भण्डार उल्लेखनीय है। अकेले नागौर के भट्टारकीय शास्त्र भण्डार मे १२००० हस्तलिखित ग्रंथ एव २००० गुटको का सग्रह है। गुटकों मे संग्रहीत ग्रंथों की सख्या की जावे तो वह भी १००० से कम नही होगी। इसी तरह जयपुर मे २५ से भी अधिक ग्रथ सग्रहालय हैं जिनमे आमेर शास्त्र भण्डार, बडा दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपंथियों का शास्त्र भंडार, पाटोदियो के मन्दिर का शास्त्र भडार आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन भंडारों मे अपभ्रंश एवं हिन्दी ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। इन शास्त्र भंडारों में जैन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त जैनेतर विद्वानों द्वारा निबद्ध ग्रंथों की भी प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का संग्रह मिलता है। इनमें महापण्डित मम्मट विरचित काव्य प्रकाश, राजशेखर कृत काव्यमीमांसा, कुत्तककवि कृत वक्रोक्तिजीवित,

आचार्य धर्मकीर्ति कृत न्यायविन्दु, श्रीधर भट्टकृत न्याय-कदली आदि की पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। नाटक साहित्य में विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नाटक, भट्ट नारायण कृत वेणीसहार, मुरारी कृत अनघराघव नाटक एवं कृष्णमिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, सुबन्धु कृत वासव-दत्ता नाटक एव अन्य सैकडों कृतियां भी इन भंडारो में सब मिलती है। हिन्दी राजस्थानी ग्रंथों की भी इन भंडारों मे भारी संख्या मे पाण्डुलिपिया मिलती है। अभी हाल मे हिन्दी की एक प्राचीनतम कृति जिणदत्त चरित की एक पाण्डुलिपि उपलब्ध थी। इस काव्य का रचना काल संवत् १३५४ है। हिन्दी भाषा की सवतोल्लेख वाली कृति प्रथम बार प्राप्त हुई है। जो डा० माताप्रसाद जी गुप्त एवं मेरे द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित भी हो चुकी है। इसी तरह १४वी एव १५वी शताब्दियों में रचित ग्रथ भी यहाँ कितनी ही सख्या में मिलते है। इन्ही भडारों में पृथ्वीराज रासो, कृष्णरुक्मिणी वेलि, मधुमालती कथा सिंहासनबत्तीसी, रसिकप्रिया एव विहारी सतसई की भी प्राचीनतम प्रतियां भी उपलब्ध हुई है।

अब मैं इतिहास की दृष्टि से इन शास्त्र भडारों के महत्व पर प्रकाश डालना चाहूँगा। इन भडारों मे ऐतिहासिक कृतियो के अतिरिक्त जो अन्य पाण्डुलिपियाँ है उनमें जो प्रशस्तियां होती है वे इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ये प्रशस्ति ११वी शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक की है। वैसे प्रशस्तियाँ दो प्रकार की है एक स्वयं लेखक द्वारा लिखी हुई तथा दूसरी लिपि-कारों द्वारा लिखी हुई होती हैं। ये दोनो ही प्रामाणिक होती हैं और जिनकी प्रामाणिकता मे कभी शका नही की जा सकती। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन ग्रंथकारो एवं लिपिकारों ने इतिहास के महत्त्व को बहुत पहिले ही समझ लिया था और इसीलिए ग्रंथ लिखवाने वाले श्रावकों का, उनकी गुरूपरम्परा तथा तत्कालीन सम्राट् अथवा शासक के नामोल्लेख के साथ-साथ उनके नगर का भी उल्लेख किया जाता था। राजस्थान के इन जैन भडारो मे संग्रहीत प्रतियों के मुख्य केन्द्र देहली, अजमेर, जैसलमेर, नागौर तक्षकगढ़ : टोडारायसिंह : चम्पावती : चाकसू : डूगरपुर, सागवाड़ा, चित्तौड़, उदयपुर, आमेर, बूदी, बीका-नेर आदि है। इसलिए इनके शासकों एवं राजस्थान के नगरो एवं कस्बों के नाम खूब मिलते हैं जिनके आधार पर यहाँ के ग्राम और नगरों का इतिहास पर भी अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है।

लेखक प्रशस्यों के समान ही जो ग्रथ प्रशस्तियाँ होती है वे और भी महत्त्वपूर्ण होती है उनमें लेखक, अथवा ग्रंथकार अपने इतिहास के साथ-साथ अपने ग्राम नगर का भी अच्छा वर्णन करता है। अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी ग्रथो मे इस तरह के वर्णन मिलते है। १७वी शताब्दी मे होने वाले एक कवि ने अपनी यशोधर चौपाई में बूदी एव उसके शासक का निम्न शब्दो मे वर्णन किया है।

बूंदी इन्द्रपुरी जलिपुरी कि कुबेरपुरी,
रिद्धि सिद्धि भरी द्वारिका सी घटी घर में।
धोलहर धाम घर घर में विचित्र वाम,
नर कामदेव जैसे सेवे सुखसर में।
वागो वाग वारूण बाजार वीथी विद्या वेर,
विवुध विनोद वानी वोले सुखि नर में।
तहां करे राज राव भावस्यंघ महाराज,
हिन्दु धर्म लाज पातिसाहि वाज कर में।

इसी तरह १८वी शताब्दी में होने वाले कवि दिलाराम ने अपने 'दिलाराम विलास मे बूदी नगर का वर्णन किया है जो उक्त वर्णन के ही समान है। सन १७६८ मे कवि श्रुतसागर ने भरतपुर नगर एव उसके संस्थापक महाराजा सूरजमल का निम्न प्रकार वर्णन किया है।

देस काठहड़ विरजि में, वदनस्यंघ राजान,
ताके पुत्र हैं भलौ, सूरिजमल गुणधाम।
तेजपुंज रवि है मनो न्यायनीति गुणवान
ताको सुजस है जगत में नयो दूसरो भान
तिनहु जु नगर बसाइयो नाम भरतपुर तास
ता राजा समर्दिष्टि है पर विचार उपवास।

१७वी शताब्दी में कविवर बनारसीदास हिन्दी के अच्छे कवि थे वे आध्यात्मिक कवि तो थे ही किन्तु वे पहिले कवि है जिन्होंने अपना स्वयं का आत्मचरित लिखा था और जिसका नाम अर्द्धकथानक है। कवि ने देहली पर तीन बादशाहो का शासन काल देखा था। बादशाह अकबर की मृत्यु के समाचार जब कवि को मिले तो

उन्होंने उसका इस प्रकार वर्णन किया है—

संवत् सोलहसै बासठा आयौ कातिक पावस नठा।
छत्रपति अकबर साहि जलाल नगर आगरे कीनो काल।२४६
आई खबर जोनपुर माँह प्रजा अनाथ भई बिनु नाह।
पुरजन लोग भए भयभीत हिरदै व्याकुलता मुख पीत।२४७

जयपुर नगर की १५वी, १६वी शताब्दी मे रचित काव्यों मे अच्छा वर्णन मिलता है। इनमे दो काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक बुद्धि विलास जिसमे जयपुर नगर की स्थापना का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह अत्यधिक सुन्दर एवं प्रामाणिक है। बुद्धिविलास एक जैन विद्वान बख्तराम की कृति है जिसे उसने सवत् १८२७ मे समाप्त किया था जिसका प्रकाशन कुछ वर्षों पूर्व राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर जोधपुर से हो चुका है। इसमे जयपुर नगर की स्थापना के अतिरिक्त वहाँ के राजवश का भी अच्छा वर्णन किया गया है। इतिहास प्रेमी विद्वानो को इस ग्रथ को अवश्य पढना चाहिये।

इसी तरह जयपुर के ही एक शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत एक पट्टावाली म जयपुर राजवश का बिस्तृत वर्णन मिलता है। राजस्थान के शासको के अतिरिक्त देहली के शासकों के सम्बन्ध मे भी कितनी ही पट्टावलियां मिलती है जिनमे बादशाहो के राज्यकाल का घड़ी एवं पल तक का समय लिखा हुआ है। जयपुर के ही दिगम्बर जैन तेरहपथी मंदिर के शास्त्र भन्डार में एक सस्कृत की "राजवंश वर्णन" कृति है जिसमे पाण्डवों से लेकर बादशाह औरंगजेब तक होने वाले शासको का पूरा समय लिखा हुआ है। हिन्दी मे लिखित "पातिसाहि का व्यौरा" नामक कृति मे पृथ्वीराज के सबध मे जो वर्णन किया गया है उसका भी एक अश निम्न प्रकार है।

तब राजा पृथ्वीराज संजोगता परणी। जहि राजा कैसा कुल सौला १६ सूरी का १०० हुआ। त्याके भरोसे परणी त्याओ। लड़ाई सावता कही। पणी रावा जैचंद पूंगलो पूज्यो नही। सजोगता सरूप हुई। तहि के बसी राजा हुओ। सौ म्हैला हौ न रहो। महीना पंदरा वारा ने नीसरयो नहीं।

इसी तरह इन शास्त्र भन्डारों में बीकानेर, जोधपुर, कोटा, अलवर करौली चेदिराजवंशी का जहां तहां अच्छा वर्णन मिलता है। और जिसके समुचित अध्ययन की आवश्यकता है। उदयपुर, डूगरपुर, सागवाड़ा के ग्रथ भडारो मे उदयपुर के शासको का जो उल्लेख मिलता है उनसे कितनी ही इतिहास की विस्तृत कड़ियों को जोडा जा सकता है।

जैसलमेर के शास्त्र भंडार मे जो सन् ११५६ में लिखित उपदेश पद प्रकरण की जो पाण्डुलिपि मिली है उसकी प्रशस्ति मे अजमेर नगर एवं उसके शासक का निम्न प्रकार उल्लेख मिलता है।

संवत् १२१२ चैत्र सुदि १३ गुरौ अद्येह श्री अजयमेरूदुर्गे समस्तराजावलि विराजित परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री विग्रहदेव विजयराजे उपदेश टीका लेखीति।

राजस्थान के शासकों के अतिरिक्त यहां के नगरों का इतिहास, व्यापार का उतार चढाव, विभिन्न जातियों की उत्पत्ति, यहां की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन एव विभिन्न मान्यतायो के संबंध मे भी यहा प्रभूत साहित्य मिलता है। वास्तव मे ये ज्ञान की विभिन्न धाराओ के भंडार है। ये भडार ज्ञान के समुद्र है जिसके मन्थन से विभिन्न रत्न प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए मुझे पूर्ण विश्वास है कि राजस्थान का इतिहास विशारद राजस्थान के इन ज्ञान भंडारों का उपयोग करेंगे और उनमे से राजस्थान के विस्तृत इतिहास के कण कण एकत्रित कर सकेंगे।

—:o:—

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ वस्ती मंदिर तथा मूलनायक मूर्ति

श्री पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन

(गतांक अक्टूबर १९६७ से आगे)

[यह पंच परमेष्ठी की प्रचीन प्रतिमा खंडित होने पर भी अखंड है। यह प्रतिमा एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करने वाली है।]

इस प्राचीन मूर्ति का ऐतिहासिक महत्वः—

कहते है कि जब बादशाह औरगजेब सवारी के लिए दक्षिण में आया था, तब उसका सरदार श्री देवाधिदेव अतरिक्षपार्श्वनाथ की कीर्ति सुन कर उसे नष्ट भ्रष्ट करने आया। इस गंध वार्ता को सुन कर यहा के कर्मचारियों ने उस मूर्ति का भोयरा बद कर ऊपर यह पंच-परमेष्ठी की प्राचीन प्रतिमा रख दी।

नियत समय पर सरदार वहां आया और उसने वह खंडित कर दी। बडे संतोष से वह वापिस जा रहा था, तो फितुरो को इस बात का पता चला। उन्होने सच बात सरदार को सुनाई। इससे यह सरदार द्वेष से बेभान बनकर फिर मदिर मे आया। उसको मालूम कर दिया गया था कि मूर्तिके ऊपर नाग का बडा व काला फणाकार है। इस लिये वह सोचने लगा कि मूर्तिके पहले मैं नाग को ही नष्ट कर दूगा, बाद मे मूर्तिको भ्रष्ट करूगा नही तो...। बस इस द्विविध विचार से उसका भान चला गया। नगी तलवार हाथ में थी।

उसका वह रौद्र स्वरूप देख कर असली भोयरे का मार्ग खोला गया। वहां के अंधेरा के कारण मशालची पहले उतरा। बेभान रहने से या नागफणा को देखने से भोयरे मे उतरते समय सरदार का चोला चला गया कोई कहते है किसी भुजंग ने उसी समय उस पर फुन्कार करने से सरदार घबराया, और वह गिरने वाला था कि वहां के मशालची ने उसे सम्हाला और ऊपर लाया। नही तो उसकी तलवार का वह ही शिकार बन जाता। उसकी धामाधूम अवस्था घबड़ाया हुवा मुख देख कर साथी दारों ने उसे पूछा, "क्यों क्या हुआ ? "

तब सरदार ने जवाब दिया, "नंगे से खुदा डरे।"

तात्पर्य यह मूर्ति नगी याने नग्न दिगबर है यह सुस्पष्ट है। ऊपर की ऐतिहासिक घटना स्मृति देने वाली और मूल नायक मूर्ति को बचाने के लिये उसके आघात का स्वयं स्वीकार करने वाली दिगबर जैन यह प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य से युक्त है।

यहां यह बात ध्यान में लाने योग्य है कि, यह मंदिर अगर प्रारम्भ से ही दिगबरों का न होता तो, उस समय यह दिगबरी मूर्ति वहा पर कैसे रखी जाती ? इस मूर्ति की नग्नता और वीतरागता मूल नायक मूर्ति के याने श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के मूर्ति के दिगंबर स्वरूप को ही सिद्ध करती है। आखे होने पर भी यह न देखने वालों के लिये और क्या लिखा जा सकता है। तथा यहा आने वाले यात्रियों से भीख मागने वाले भिखारी भी जोर-जोर से चिल्लाते है कि, "नगे बाबा के नाम पर कुछ दान करो बाबा।" यह दीन गरीबों की पुकार भी जो सुन नही सकते, उनके लिये अधिक कहना कहां तक ठीक होगा ?

तो आईये, इस दालान के पांचों वेदियो तथा समवसरणस्थिति सब दिगंबरीप्रतिमाओं का दर्शन पूजन कर, आगे बढिये। इस हालत के अंत मे यह दिगबर पेढी को ऊपर जाने का रास्ता है। तथा सामने यह प्राचीन भोयरे मे उतरने के लिये व चौक मे जाने के लिये स्वतत्र मार्ग है। यह भोयरा तथा धर्मशाला नं० ३ गांव मे के प्राचीन मदिर का अवशेष भाग है। इसमें ही पहले श्री अतरिक्षपार्श्वनाथ प्रभू की प्रसिद्ध मूर्ति विराजित थी।

दसवीं सदी मे जहा मूर्ति स्थिर हो गयी थी, और मूर्ति पर ही जहां श्रावक लोगों ने जो मंदिर बंधवाया था वह यह ही स्थान है यह भोयरा जैसा आज दिखता है इससे

भी बड़ा व ऊंचा था।

श्वेतांबर लोग इसी अपूर्ण भोयरों को संपूर्ण प्राचीन मंदिर बताते है और उसमें स्थित क्षेत्रपाल की एक वेदी पर श्री अंतरिक्षपार्श्व प्रभू पश्चिमाभिमुख विराजमान थे, ऐसा कहते है। यह उनका कथन झूठा और काल्पनिक है इसके तीन कारण है—

(१) श्रीपाल एक राजा मूर्ति को एलिचपूर ले जा रहा था, याने इस मूर्ति का मुख पूरब के तरफ ही होगा। (२) मूर्ति जगह से नही हटी यानी मूर्ति पर ही मन्दिर बाँधा गया। (३) तब मूर्ति के नीचे से अश्व सवार जाता था इतनी वह ऊँची थी। यानी जमीन से ऊपर का छत कम से कम (जमीन से मूर्ति की ऊचाई ८'+ मूर्ति की ऊँचाई ३॥'+ मूर्ति से छत की ऊँचाई ३॥'=१६') १६ फिट ऊँचा होना ही चाहिए। आज इस भोयरे की ऊंचाई सिर्फ ७ फुट ही है। इतने बडे और सातिशय प्रतिमा के लिए आज है इतना ही छोटा (भोयरा) मन्दिर निर्माण करना उचित नही लगता।

अतः यह स्थान अधिक ऊँचा तथा बडा ही होगा। इसके पश्चिम दिशा मे अधिक जगह होगी। वहा त्रिलोकी नाथ के लिये निदान ८ फुट ऊंचाई पर पूर्वाभिमुख वेदी बनाई गयी होगी। अथवा प्रतिमा के दोनो बाजू ८ फुट ऊचाई पर ऐसे स्थान बनाये होगे जहा खडे होकर भगवान का अभिषेक पूजन कर सके। वेदी की ऊंचाई ८ फुट बताने का कारण यह है कि १४वी सदी से ऐसे साहित्य मे उल्लेख मिलते है कि—'मूर्ति उस समय सिर्फ एक अगुल ही अधर थी। इसका कारण कलियुग है।' तबसे यह मूर्ति आज तक एक अगुल ही अधर है। और ८ फुट ऊंची वेदी पर खडा होने के लिए छत निदान ७ फुट ऊँचा रखना पड़ता ही है।

इसी कारण से आज है उतना ही पूरा मन्दिर पहले से होगा इस मत का समर्थन नही होता।

तब यह नया मंदिर कब और कैसा हुआ ?—

पुराने मन्दिर से नया मन्दिर क्यो बना इसके प्राय: दो कारण जान पड़ते है—(१) मन्दिर पुराना यानी जीर्ण होना तथा (२) जब औरंगजेब का सरदार यहाँ आया था तब उसने जैसा पच परमेष्ठी के मूर्ति को भ्रष्ट किया वैसा मन्दिर के भी सुनहरी शिखर व कुछ भाग को नष्ट किया होगा[1]। इसी कारण इस नये मन्दिर का निर्माण हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि यह कार्य कब बना ?

ऊपर के विवेचन से इतना तो स्पष्ट हुआ कि इस नये मन्दिर का पुनर्गठन औरंगजेब की सवारी के बाद ही हुआ है। औरगजेब की मृत्यु ई० सन् १७०७ में हुई। अतः इसके पहले इस मन्दिर का निर्माण नही हो सकता।

श्वेताम्बर लोग वि. स. १७१५ यानी ई. सन् १६५८-५६ मे इस मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा बताते है। ऊपर के विवेचन से यह काल निश्चित ही भ्रामक सिद्ध होता है। सच तो यह है कि उनके जिस साहित्य मे इसका उल्लेख है वह साहित्य ही पूरा काल्पनिक है। और किसी आधुनिक अनभिज्ञ व्यक्ति ने बनाकर प्राचीन भाव-विजय के नाम पर प्रकाशित किया है।

दूसरा कारण ऐसा है कि पवली मन्दिर के बाहरी खुदाई मे शिलालेख-स्तम्भ प्राप्त हुआ है उससे यह स्पष्ट हुआ कि, विक्रम सवत् १८११ ई. स. १७५४-५५ में उस मन्दिर का जीर्णोद्धार हो गया था। इसके कुछ साल बाद फिर इस पर आक्रमण हुआ, जिसमे—यह शील स्तम्भ जहाँ लगा हुआ था वह सामने का सभामडप यानी मन्दिर का दर्शनी भाग नष्ट किया गया। शायद इस समय मे ही बस्ती मन्दिर पर भी कुछ आघात हुआ होगा। जिस कारण यह प्राचीन मन्दिर नष्ट किया गया उस पर चक्र का भव नष्ट होने मे या राज्य मे स्थिरता शाति आने मे ४०-५० साल और भी निकल सकते है। क्योकि ऐसे समय पर तो लोगो द्वारा मूर्ति कूप मे डालने का या जमीन मे रख देनेके अनेक उल्लेख मिलते है। खुद यहाँ के पवली मन्दिर मे ई. सन् १७५५ की प्रतिष्ठित मूर्ति हाल ही मे जमीन की खुदाई मे प्राप्त हुई है। अतः ऐसे स्थान पर निदान ई० सन् १७५५ के पहले इस नये मन्दिर का निर्माण कदापि शक्य नही है।

१. ई० सन् १९६४ मे जब मन्दिर के चौक के नीचे का भाग अन्दर से खोदकर देखा गया तब वह जगह पोकल जान पड़ी तथा इस जगह दिगम्बर जैन प्रतिमा के खंडित अवशेष प्राप्त हुए थे।

अतः ई. स. १८०० के बाद ही इस नये मन्दिर का निर्माण शक्य है। अकोला जिले के ईनाम सार्टिफिकेट बुक मे इस नये मन्दिर की बाबत जो उल्लेख है उसकी जानकारी इस लेख मे प्रारम्भ मे ही दी गई है। उसके आधार से इतना तो निश्चित है कि इस नये मन्दिर का निर्माण ई सन् १८२५ के पहले ही हुआ है तब इसमे मूल-नायक मूर्ति का स्थानातर किया गया था। ई. स. १८६८ मे शिरपुर मे जो वृद्ध लोग थे उनको इतना स्पष्ट स्मरण था कि, मूर्ति का जूने मन्दिर से नये मन्दिर मे स्थानातर उनके ही आखों के सामने हुआ था तथा जो पुराना मन्दिर खाली था उसका भी जीर्णोद्धार (ई. स. १८६८ से) कम से कम ४० साल पहले हुआ था। निश्चित तथा तिथि, प्रतिष्ठाकार या प्रतिष्ठापक इनका स्मरण न रहना स्पष्ट करता है कि ४० साल से भी ज्यादा यानी उनके बचपन के समय की वह घटना होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि ई स. १८०० के दरम्यान ही इस नये मन्दिर का निर्माण हुआ है।

इस समय मन्दिर के सरक्षण के लिये कुछ मराठा लोगो को (जिनको आज पौलकर कहते है) मन्दिर के आवास मे ही रहने के लिए जगह दी तथा उनका भी यह श्रद्धास्थान बने इस लिए मन्दिर के बाहर पश्चिम के कोने मे शिवपिंड स्थापन कर दी गई। मतलब यह था कि मन्दिर का सरक्षण यानी शिवपिंड का सरक्षण ऐसा ये लोग मानेंगे।

इसके साथ मन्दिर के पश्चिम मे बडी धर्मशाला भी निर्माण की गई। इस कार्य में भट्टारक पद्मनंदी का (ई. स. १८२०) बहुत योगदान था। इनको पौलकर लोग मालिक मानते थे। इनका गुरु पीठ भी इस मन्दिर मे है। इस नये मन्दिर व धर्मशाला के निर्माण मे कारंजा के सेनगण परम्परा के भट्टारकों ने भी तन-मन-धन से पूरा सहयोग दिया। भट्टारक जिनसेन ने (ई. स. १६५५ से १७५४) अपने जीवन के अंतिम ४०-५० साल यहाँ रह कर यानी औरंगजेब की सवारी के बाद यहा रहकर घब-राये श्रावकों को दिलासा दिया था। उनकी, उनके शिष्य की भी समाधि यहां हुई है। इन सेनगण भट्टारको के स्मृति हेतु इस नये मन्दिर के ऊपर के (दर्शनी) मजिल में सेनगण की वेदी और गुरुपीठ भी निर्माण कराया है। इसमे लक्ष्मीसेन भट्टारक बहुत सक्रिय थे।

इस कार्य के समाप्त होते ही मन्दिर के दक्षिण बाजू मे धरमशाला बँधाने का कार्य श्री पद्मनंदि के शिष्य देवेंद्रकीर्ति ने किया। यह समय ई. स. १८४०-४५ होगा। इस धरमशाला में चार कमरे बनाये गये थे, उसमे से २ मे बरतन तथा पूजा की भाडी आदि साहित्य रहता था। और दो मे श्री पद्मावती माता के तथा इंद्रों के आभूषण आदि रहते थे। इनको भडार के कमरे भी कहते थे। इन भण्डार की जाच ई. स १८५७-५८ मे भट्टारक लक्ष्मीसेन ने स्वय की थी। उनके निजी बही खाते मे उन सब चीजों की याद मौजूद है।

इसके बाद मन्दिर का कपाउड वॉल तथा गेट (महा-द्वार) बनाने का कार्य चालू हुआ जो ई. स. १८६८ में चल रहा था। वह पूर्ण होते ही फिर दक्षिण की धर्म-शाला न० २ की गच्ची पर तथा मन्दिर के गर्भागार मे चूने का गिलावा डलवाकर ई. स. १८८० मे भट्टारक देवेंद्रकीर्ति जी ने ही मरम्मत करवाई थी।

इस नए मंदिर की रचना और शिल्प—कारंजा के बालात्कारगण जैन मन्दिर की रचना और इस मन्दिर की रचना मे बहुत साम्य है। छोटा प्रवेश द्वार, भगवान से कम ऊँचाई पर अलग जगह क्षेत्रपालों की रचना आदि बातें एक ही वैशिष्टय या एक ही शिल्पकार की देन मालूम पडती है। यहा के और वहां के शिल्प में भी खड़ी तथा बैठी नग्न प्रतिमाए उत्कीर्ण या अकित की गई है। कारंजा के इस मन्दिर के भट्टारक और पंच ही इस मन्दिर के मालिक या पंच रहे हैं।

स्मरण रहे कि जैसा इस मन्दिर में दिगम्बर जैन भट्टारको के गुरुपीठ है और प्राचीन दि० मूर्ति तथा फोटो है उसी तरह यहां एक भी श्वेताबरी गुरुपीठ नहीं हैं या श्वेताम्बरी कोई स्वतंत्र वेदी नही है।

इस प्रकार यह मन्दिर की भूमि और इस गांव की जनता चाहे वह जैन हो या अजैन, बाल हो या वृद्ध—कहती है कि यह तीर्थ सम्पूर्णतया दि० जैनों का ही है।

फिर भी इस मन्दिर की बाबत या यहाँ के ऐतिहासिक धार्मिक जानकारी के लिए यहाँ प्रतिष्ठित और स्थापित

दिगम्बर जैन मूर्ति-यंत्र आदि लेखसंग्रह देखिए। वह अनेकान्त के पिछले अंकों में प्रकाशित हैं।

मूलनायक मूर्ति बाबत लोकमत—देवाधिदेव १००८ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति श्रीपाल एल (ईल) राजा को कहां से प्राप्त हुई इस बाबत दिगम्बर जैन साहित्य में पवली मन्दिर के नजदीक का कुवां ही बताया जाता है। तो भी श्वेताम्बर व अन्य साहित्य मे इस बाबत भिन्न-भिन्न दो मत नजर आते हैं :—

(१) पहला मत—१४वी सदी के श्वेताम्बर मुनि जिनप्रभसूरि अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प मे लिखते है कि 'राजा को यह रत्नमयी प्रतिमा जहां प्राप्त हुई वहां ही उसने मन्दिर बनवा कर अपने नाम का उल्लेख करने वाला नगर बसाया'[१]। यानी मूर्ति प्राप्त होने का और राजा के मन्दिर बनवाने का एक ही स्थान है।

(२) दूसरा मत यह है कि—मूलनायक मूर्ति एल राजा को एलोरा के एक झरे मे मिली, जहा उसका कुष्ट रोग गया। वहा राजा ने कुड बनवाया और यह प्रतिमा एलिचपुर से जाने को उद्यत हुई। लेकिन शिरपुर के स्थान पर राजा ने शकित भाव से पीछे देखा तो, प्रतिमा वहां ही रुक गई। देखो—(१) श्वेताम्बर मुनि जिनचंद्र सूरि (वि. स. १८३९ ता० ३१ मार्च १७९९) सिद्धपुर पट्टण में जब थे तब उन्होंने एक काव्य रचा था। उसमे वे बताते हैं, "अतरिक्ष प्रभु मेरे हृदय मे वास करते है। ये त्रिलोकीनाथ है। यह मूर्ति खरदूषण राजा की पूजा के लिए बनायी गई थी। बाद मे यह मूर्ति जल मे ११ लाख साल रहकर प्रगट हुई।

जब एलिचपुर के एक राजा को कुष्ट रोग हुआ था तब जहाँ यह मूर्ति थी वहाँ के जल से स्नान करने से राजा का रोग दूर हो गया था। राजा का शरीर सुवर्ण समान कातिमान हुआ था। वह स्थान एलोरा है। राजा यह मूर्ति एलोरा से आकाश में से एलिचपुर ले जा रहा था। लेकिन मूर्ति रास्ते मे शिरपुर की जगह रुक गई। यह भगवान पार्श्वनाथ सबके लिए आकर्षण है।" आदि।

(२) मि. फर्ग्युसन साहेब; 'दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन अँड इस्टर्न आर्चिटेक्टर।' इस किताब में एलोरा के जैन लेणी के बारे में लिखते हैं—'यहाँ के चैत्यालय और अन्य भी एलिचपुर के राजा एडु (एल) ने निर्माण की है। उसने एलोरा यह गाँव देणगी खातिर निर्माण किया था। क्योंकि यहां के एक झरे के जल से उसका रोग दूर हो गया था।

(३) श्री यादव माधव काले, 'वहाडचा इतिहास' इस मराठी किताब में लिखते है—पृ० ४६० पर 'शिरपुर —यहाँ जैनों के दो प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर हैं। मुक्तागिरि जैसे ये भी जैनों के गतवैभव की साक्षी देते है। इस जगह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति इस तरह बिठाई है कि आकाश मे ही है, जमीन का स्पर्श भी नही ऐसा मानने मे आता है। इसलिए अंतरिक्ष कहते है। यह प्रतिमा राजा एल ने एलोरा से लाई और वह इसको एलिचपुर ले जा रहा था। मगर भगवान की आज्ञा के खिलाफ राजा ने पीछे देखा, इसलिए रास्ते मे शिरपुर की जगह वह रुक गई। राजा ने वहा ही मन्दिर बनवाया।

वही किताब पृ० ४६४ पर लिखा है—'अतरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर का मन्दिर जैनों के गत वैभव की साक्षी देते है। राजा एल ने यह प्रतिमा एलोरा से लायी थी और वह इसको एलिचपुर ले जा रहा था। आदि।"

इस तरह अनेक उल्लेख दिये जा सकते है। मुक्तागिरि यह स्थान दिगम्बर जैन सस्कृति का और इतिहास का जैसा स्थान है वैसा ही एलोरा यह दिगम्बर जैन सस्कृति का केन्द्र स्थान है। खुद श्वेताम्बर मुनि जयसिह सूरि (शके ९१५) लिखते है—'एलउर मे (एलोरा मे) दिगम्बर बसही है[१]।'

जिस ईल (एल) राजा ने अनंत द्रव्य खर्चा कर एलोरा में दिगंबर जैन संस्कृति सम्पन्न मन्दिर निर्माण किया, उसी श्रीपाल एल राजा द्वारा यहाँ स्थापना की हुई यह प्रतिमा दिगबर ही है, यहां और कहने की आवश्यकता नही।

सन् १९०८ मे श्वेताम्बरी लोगो ने इस मूर्ति को लेप

---

१. रन्ना पडिमा अदठ्ठूण अधिईए गते तत्थेव सिरीपुरं नाम नयरं निअनामो वलक्खिअं निवेशिअं।

१. इस मूर्ति के कारण एलोरा से एल राज्य का सम्बन्ध नहीं तो, वहां मूल लेण्या (गुफा) निर्माण करने से वहां का नाम एल उर पड़ा है।

करने की दिगंबरों से सम्मति ली, और लेप करते समय कारीगरों के हाथ से लेप में कटिसूत्र तथा लगोट के चिह्न बनाने की कोशिस की। यह नजर मे आते ही दिगंबरियो ने काम बन्द कराया। तो भी उन्होने चोरी से लेप का काम कर लिया। ४।१९१० के केस मे उन्होंने मूर्ति का मूल स्वरूप कोर्ट के सामने नही आने दिया। लेप मे बताये चिह्न के अनुसार कोर्ट को 'कटिसूत्र तथा लंगोट' की मान्यता देनी पडी। लेकिन हाल ही १९५९ मे जब उन्होने मूर्ति पर का लेप उतार दिया था और इस स्वयभू प्रतिष्ठित मूर्ति पर टांकी के घाव देकर कटिसूत्र निकालना प्रारम्भ किया। यह कृष्ण कृत्य प्रगट होने में देर नही लगी। स्थानीय अधिकारी तथा पुरातत्त्व विभाग को इसकी सूचना तुरन्त दी गयी। उस समय के पचनामा तथा स्पॉट इन्सपेक्शन से स्पष्ट घोषित हुआ कि मूर्ति मजबूत पाषाण की है तथा मूर्ति पर कटिसूत्र या लगोटे के कोई चिह्न नही है। यानी मूर्ति मूलतः दिगबरी है।

यह मूर्ति ऊपर के साहित्य में बताये मुताबिक मान भी लिया जाय कि, एलोरा से लाई है तो भी रास्ते मे जो देवगिरि स्थान आता है, उस समय वहाँ होने वाले १०८ श्री मलधारी पद्मप्रभ देव को इस मूर्ति की प्रतिष्ठा में एलिचपुर पधारने का आमंत्रण दिया होगा। एलिचपुर की जगह इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा शिरपुर में ही हो गई। राजा के मन्दिर मे मूर्ति ने प्रवेश न करने से बाद में गुरु को बुलाया गया, यह बात बराबर नही लगती। स्वाभाविक तो यह है कि ऐसे मंगल प्रसंग में चतुः संघ को पहले से ही निमंत्रित किया जाता है। इसी कारण मूर्ति यहाँ ही निकलकर दो फर्लांग के अन्तर पर रुकने मे एलोरा से आकर यहां रुकने में तथा उसकी प्रतिष्ठा में चतु. सघ उपस्थित रहने में बाधा नही आती। अतः यह पद्मप्रभदेवाचार्य यहां तब उपस्थित थे और उनके तत्त्वावधान मे गाँव मे ही मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठित महोत्सव हुआ था।

आइये, जाते समय बाहर से इस मन्दिर को और एक दफे देख लें। मन्दिर के ऊपर हवा मे लहराने वाला झंडा सदेश दे रहा है :—

"झंडा यह केशरिया करे पुकार,
दिगंबर जैन धर्म का जय जयकार।"

—:o:—

भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा संबंधी ज्ञातव्य

अगरचन्द नाहटा

जैनधर्म मे स्तूप, आयागपट्ट, मूर्तियों, मन्दिरो के निर्माण की प्राचीन एव उल्लेखनीय परम्परा रही है जैन मन्दिरों एव मूर्तियो के सम्बन्ध मे मध्यकालीन वास्तु शास्त्र सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थो मे ज्ञातव्य विवरण मिलता है यद्यपि उपलब्ध जैन मूर्तियो की विविधता का समावेश इन विवरणों मे पूर्ण रूप से नही हो पाता। शिल्पियों ने अपनी परम्परागत जानकारी को लिपिबद्ध नही करके वश परम्परागत रखा। वैसे सभी शिल्पी शिक्षित भी नही होते। अपनी वंश परम्परा से अपनी आजीविकागत विषयों की जानकारी तो उनके पास होती है पर वे न तो स्वयं किसी ग्रन्थ को पढ़ते है और न अपनी जानकारी लिपिबद्ध ही करते है। थोडे से शिल्पी ऐसे जरूर हुये है जिन्होने वास्तुशास्त्र संबधी ग्रन्थ बनाये है।

जैनधर्म में मूर्ति पूजा जितनी प्राचीन है इस संबंधि ग्रन्थ उतने प्राचीन नही मिलते। प्राचीन जैन आगमों के अनुसार तो जैन मूर्तियों की पूजा अनादिकाल से देवलोक आदि में परम्परागत चली आ रही है। नंदीश्वर द्वीपादि के मन्दिर व जैन मूर्तियों को भी शाश्वत माना गया है।

उपलब्ध जैन मूर्ति तो मौर्यकाल से पहले की नही मिलती यद्यपि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा की खुदाई में जैन तीर्थकरों जैसी ध्यानावस्थित मूर्तियां प्राप्त हुई है। पर वे जैन तीर्थकरों की ही है, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, सम्भावना अवश्य है। मथुरा का जैन स्तूप तो बहुत ही प्राचीन है। विविध तीर्थ कल्प आदि ग्रन्थों के अनुसार वह सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ का स्तूप है जिन्हे जैन मान्यता के अनुसार तो करोडो वर्ष हो गये। पाश्चात्य विद्वानो ने उस देवनिर्मित स्तूप के सबध मे यह अनुमान किया है कि जिस समय इसके सबध मे उसके देव-निर्मित होने की बात कही गई उस समय वह इतना पुराना अवश्य था कि लोग उसके निर्माता के संबंध मे कुछ भी जानकारी नही रखते थे ! अर्थात् काफी पुराने समय मे वह बना था।

भारतीय वास्तुशास्त्र के संबंध मे इतने अधिक ग्रन्थ लिखे गये कि उनकी विवरणात्मक सूची प्रकाशित की जाय तो भी एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जायगा। कई वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में मैने एक वास्तुशास्त्र सबधि ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की थी। उसमे शताधिक ग्रन्थ थे पर उसके बाद पूना से प्रकाशित शिल्प ससार नामक पत्रिका में शिल्प संबंधी ग्रन्थो की सूची देखने को मिली जिसमे ७५० के करीब ग्रन्थो के नाम थे। वास्तुशास्त्र संबंधी ग्रन्थों मे कई बहुत छोटे से है और कई बहुत बडे। कईयों में मूर्ति निर्माण या लक्षण संबंधी ही सक्षिप्त विवरण है तो कइयो मे मन्दिर आदि संबधी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। अभी तक वास्तु शिल्प सबंधी बहुत थोडे से ग्रन्थ प्रकाशित हुये है। प्राचीन ग्रन्थों के साथ साथ कई ऐसे ग्रन्थ भी निकले हैं जो अनेक ग्रन्थों के आधार से तैयार किये गये हैं। हिन्दी भाषा मे लिखे गये इस विषय के ग्रन्थों मे डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल का भारतीय वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ पांच भागों मे प्रकाशित करने की योजना डा० शुक्ल ने बनाई यथा—

(१) वास्तु विद्या एवं पुरनिवेश (२) भवन वास्तु (३) प्रासाद (४) प्रतिमा विज्ञान (५) चित्रकला, यंत्र कला और वास्तुकोष। इसमें से प्रथम और चतुर्थ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। द्वितीय और पंचम को सन् १९५६ में प्रकाशार्थ लिखा गया अत सम्भव है अब प्रकाशित हो गये हों। तदनतर तृतीय भाग के प्रकाशन की योजना थी पता नही उसकी क्या स्थिति अग्रेजी मे Hindu Science of Architecture के नाम ग्रन्थ तैयार होने और शीघ्र प्रकाशित होने की सूचना सन् १९५६ मे चतुर्थ भाग में दी गई थी। अर्थात् डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल की वर्षों की साधना तथा विशाल और गम्भीर अध्ययन इस भारतीय वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है डा० शुक्ल लखनऊ विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग में है एम. ए. पी-एच. डी. के साथ साहित्यरत्न और काव्यतीर्थ जैसी उच्चत्तम उपाधिया उन्हे प्राप्त है।

भारतीय वास्तुशास्त्र के चतुर्थ भाग का नाम है प्रतिमा विज्ञान। इसमें ब्राह्मण बौद्ध और जैन प्रतिमा के लक्षण आदि की महत्वपूर्ण चर्चा है। प्रारम्भ मे पूजा परम्परा पर प्रकाश डालते हुये ग्रन्थ के पृष्ठ १३८ से १४० के बीच मे जैनधर्म—जिन पूजा सबधी विवरण दिया है फिर स्थापत्यात्मक-मदिर नामक प्रकरण मे जैन मदिर के संबध में सक्षेप मे लिखा गया है जिसमे आबू, पालिताना, गिरनार, मैसूर, मथुरा, एलोरा, खजुराहो, देवगड, का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ मे लिखा है कि "गुहा मदिरो का निर्माण परम्परा इस देश मे इतनी वृद्धिगत हुई कि समस्त देश में १२०० गुहा मदिर बने जिनमें ९०० बौद्ध, २०० जैन और १०० हिन्दू हैं।"

ग्रन्थ के उत्तर पीठिका नामक भाग मे जैन प्रतिमा लक्षण पृष्ठ ३१३ से ३१८ में दिया गया है। परिशिष्ट में अपराजित पृच्छा से उद्धृत जैन प्रतिमा लक्षण सम्बन्धी संस्कृत श्लोक पृ० ३३३ से ३३६ में दिये गये हैं जिनकी सख्या ५५ है।

ब्राह्मण और बौद्ध की पूजा, परम्परा और प्रतिमा लक्षण के सबध में जितना अधिक प्रकाश डाला गया है उसे देखते हुये जैन सबंधी विवरण बहुत सक्षिप्त मालूम देता है। पर इसका एक मुख्य कारण तो यही है कि इस सबंध में सामग्री भी बहुत कम मिलती है और वह इतनी सुलभ भी नहीं है

'अनेकान्त' के अगस्त अंक में रायपुर म्युजियम के

क्यूरेटर श्री बालचन्द जैन का एक लेख 'जैन प्रतिमा लक्षण' नामक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकाशित हुआ है। उसके बाद महाराणा कुभा के शिल्पी मडल रचित रूप मन्डन ग्रन्थ मे इस सबधी जो ज्ञातव्य विवरण था वह मैने 'अनेकान्त' मे प्रकाशनार्थ भेज दिया और अब उसी सिलसिले म डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल के 'प्रतिमा विज्ञान' ग्रन्थ मे जैन सबधी जो विवरण है उसे प्रकाशित किया जा रहा है

जैन वास्तुशास्त्र सबधी ग्रन्थ मे ठक्कुर फेरू का प्राकृत भाषा का वास्तुसार ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो गुजराती और हिन्दी अनुवाद और विवेचन के साथ प. भगवानदास जैन, जयपुर ने प्रकाशित किया है उन्होने हाल ही मे मंथल रचित 'प्रासादमडन' का सानुवाद और सयन्त्र विशेष सस्करण प्रकाशित किया है दूसरे महत्वपूर्ण वास्तुशास्त्र सबधी ग्रन्थ मुनि कल्याण विजयजी रचित 'कल्याण कलिका' दो भागो मे जालोर से प्रकाशित हो चुका है। जैन शिल्प के मुनि कल्याण विजयजी एव भगवानदास जैन विशेष अभ्यासी व जानकार है कतिपय अन्य जैनाचार्य, मुनि और पडित भी इस विषय की अच्छी जानकारी रखते है पर अभी तक उसका कोई ग्रन्थ प्रकाशित हुआ देखने मे नही आया।

डा० द्विजेन्द्रनाथशुक्ल के प्रतिमा विज्ञान ग्रन्थ से जैन सबधी विवरण नीचे दिया जा रहा है

जैन-धर्म —जिन-पूजा

जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म का समकालिक अथवा उससे कुछ ही प्रचीनतर मनना सगत नही नवीन गवेषणाओ एव अनुसन्धान से (दे० ज्योति-प्रसाद जैन Jainism the oldest Living Religion) जैन-धर्म कालक्रम से बहुत प्राचीन है। भले ही श्रीयुक्त ज्योति प्रसाद जी के जैन धर्म के प्रचीनता-विषयक अनेक आकूत न भी मान्य हो तब भी वह निर्विवाद है कि जैनों के २४ तीर्थङ्करो मे केवल महावीर ही ऐतिहासिक महापुरुष नही थे उनके पहले के भी कतिपय तीर्थङ्कर ऐतिहासिक है जो ख्रीष्टपूर्व एक हजार वर्ष से भी प्राचीनतर है पार्श्वनाथ (ई० पू०९वी शताब्दी] के पूर्व के तीर्थङ्करों मे भगवान् नेमिनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे म. भा. अनु पर्व अ १४८ श्लो० ५०,८०-में नेमिनाथ को जिनेश्वर कहा गया है ज्योतिप्रसाद जी ने नेमिनाथ के सम्बन्ध में एक बडा ही अद्भुत संकेत ऋग्वेद से भी निकाला है :—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ऋ० १-१-१६, यजु० २५०१९, सा० ३०८।

अस्तु, जैन-धर्म की प्राचीनता के प्रबल अथवा निर्बल प्रमाणो की अवतारणा यहाँ अभिप्रेत नही है इस विषय की विशद समीक्षा उपर्युक्त प्रबन्ध मे द्रष्टव्य है हा इतना हमारा भी आकूत है कि इस धर्म का नाम 'जैन-धर्म' वर्धमान महावीर से भी पहले प्रचलित था यह सन्दिग्ध है इस धर्म की प्राचीनतम सज्ञा सम्भवत 'श्रामण धर्म' थी जो कर्मकाण्डमय ब्राह्मण धर्म का विरोधी था इस श्रामण धर्म के प्रचारक 'अर्हत' थे जो सर्वज्ञ रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्य-विजयी सिद्ध पुरुष थे अतएव इसकी दूसरी सज्ञा 'अर्हत-धर्म' भी थी, दीर्घनिकाय मे जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर का उल्लेख तत्कालीन विख्यात-नामा ६ तीर्थङ्करो के साथ निगण्ठनातपुत्त के नाम से किया गया है निगण्ठ अर्थात् 'निर्ग्रन्थ' यह उपाधि महावीर को उनकी भव-बधन की ग्रथियो के खुल जाने के कारण दी गई थी रागद्वेष-रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वर्धमान 'जिन' के नाम भी विख्यात हुए, अतएव वर्धमान महावीर के द्वारा प्रचारित यह धर्म जैन-धर्म कहलाया।

जैन-धर्म मे ईश्वर की कोई आस्था नही धर्म प्रचारक तीर्थङ्कर ही उनके आराध्य है 'तीर्थङ्कर' का अर्थ'मार्गस्रष्टा' तथा संघ व्यापक भी है

महावीर के पहले पार्श्वनाथ जी ने इस धर्म का विपुल प्रचार किया उनके मूल सिद्धात थे अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह जो ब्राह्मण-योगियो (दे० योग-सूत्र) की ही सनातन दिव्य दृष्टि थी। पार्श्वनाथ ने इसको चार महाव्रतो के नाम से पुकारा है। महावीर ने इन चारो मे पाचवा महाव्रत ब्रह्मचर्य जोडा है पार्श्वनाथ जी वस्त्र धारण के पक्षपाती थे[1] परन्तु महावीर ने अपरिग्रह-व्रत की पूर्णता सम्पादनार्थ वस्त्र परिधान[2] को भी त्याज्य समझा

१-२. श्वेताम्बरी मान्यता है।

इस प्रकार जैनियों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का भेद अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

जैनियों का भी बड़ा ही पृथुल धार्मिक साहित्य है बौद्धों ने पाली और जैनियों ने प्राकृत अपनाई। महावीर ने भी तत्कालीन-लोक भाषा अर्धमागधी या आर्ष-प्राकृत मे अपना उपदेश दिया था। महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) गौतम इन्द्रभूति ने उनके उपदेशों को १२ 'अंग' तथा १४ 'पूर्व' के रूप में निबद्ध किया इनको जैनी लोग 'आगम' के नाम से पुकारते है। श्वेताम्बरों का सम्पूर्ण जैनागम ६ भागो मे विभाजित है। अंग, उपाग, प्रकीर्णक, छेदसूत्र, सूत्र तथा मूलसूत्र-जिसके पृथक्-पृथक् अनेक ग्रन्थ है। दिगम्बरों के आगम षट्खण्डागम एव कसाय-पाहुड विशेष उल्लेख्य है। जैनियो के पुराण है जिनमें २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९प्रतिवासुदेव के वर्णन है। इन सब की सख्या ६३ है जो 'शलाका-पुरुष' के नाम से उल्लेखित किये गये है।

जैन-धर्म की भी अपनी दर्शन-ज्योति है परन्तु इस धर्म की मौलिक भित्ति आचार है। आचार-प्रधान इस धर्म मे परम्परागत उन सभी आचारों (आचार. प्रथमो धर्म:) का अनुगमन है जिससे जीवन सरल, सच्चा और साधु बन सके।

जैन-धर्म यतियो एवं श्रावको दोनो के लिए सामान्य एवं विशिष्ट आदेश देता है। अतएव भाव-पूजा एवं उपचार-पूजा दोनों का ही इस धर्म मे स्थान है। प्रतीक-पूजा मानव-सभ्यता का एक अभिन्न अंग होने के कारण सभी धर्मों एव संस्कृतियों ने अपनाया, अतः जैनियो मे भी यह परम्परा प्रचलित थी।

उपचारात्मक पूजा-प्रणाली के लिए मन्दिर-निर्माण एवं प्रतिमा-प्रतिष्ठा अनिवार्य है। अतएव जैनियों ने भी श्रावको के लिए दैनिक मन्दिराभिगमन एवं देव-दर्शन अनिवार्य बताया। समस्त धार्मिक कृत्यो एव उपासनाओं के लिए मन्दिर ही जैनियो के केन्द्र है। देव-पूजा के उपचारों में जल-पूजा, चन्दन-पूजा, अक्षत-पूजा, आरातिक और सामायिक (पाठ) आदि विशेष विहित है। प्रतीक-पूजा का सर्वप्रबल निदर्शन जैनियो की सिद्ध-चक्र-पूजा है जो तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ-साथ मन्दिर मे महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की पूजा-प्रणाली मे भेद है—श्वेताम्बर पुष्पादि द्रव्यों का प्रयोग करते है, दिगम्बर उनके स्थान पर अक्षत आदि ही चढाते है। दूसरे दिगम्बर प्रचुर जल का (मूर्तियो के स्नान मे) प्रयोग करते है; परन्तु श्वेताम्बर बहुत थोड़े जल से काम निकालते है। तीसरे दिगम्बर रात्रि मे मूर्ति-पूजा कर सकते है परन्तु श्वेताम्बर तो अपने मन्दिरों मे दीपक भी नहीं जलाते—सम्भवत: हिंसा न हो जाये।

जिस प्रकार ब्राह्मणों के शाक्त-धर्म मे शक्ति-पूजा (देवी-पूजा) का देव-पूजा मे प्रमुख स्थान है। बौद्धो ने भी एक विलक्षण शक्ति-पूजा अपनाई उसी प्रकार जैनियो मे भी शक्ति-पूजा की मान्यता स्वीकार हुई। जैन-धर्म तीर्थंकर-वादी है, ईश्वरवादी नही है यह हम पहले ही कह आये है। जैनियो के मन्दिर एव तीर्थ-स्थानो मे देवी-स्थान प्रमुख स्थान रखता है। जैन-शासन की पूर्णता शाक्त-शासन पर है। जैन-यति तान्त्रिक उपासना के पक्ष-पाती थे। ककाली, काची आदि तान्त्रिक देवियो का जैन ग्रन्थो मे महत्वपूर्ण प्रतिष्टा एवं सकीर्तन है। श्वेताम्बरों ने महायान बौद्धो के सदृश तान्त्रिक-परम्परा पल्लवित की। जैन-शासन मे तीर्थंकर-विषयक ध्यानयोग का विधान है। इस योग के धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान दो मुख्य विभाग है। धर्म-ध्यान के ध्येय स्वरूप के पुन: चार विभाग है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूप-वर्जित। इनमें मन्त्र-विद्या का सयोग स्वाभाविक था—हेमचन्द्र के योग-शास्त्र मे ऐसा प्रतिपादन किया है। इस मन्त्र-विद्या के कालान्तर पाकर दो स्वरूप विकसित हुए—मलिन-विद्या और शुद्ध-विद्या जैसा कि ब्राह्मण धर्म मे वामाचार और दक्षिणाचार की गाथा है। शुद्ध-विद्या की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती की पूजा जैनियो मे विशेष मान्य है। सरस्वती-पूजा के अतिरिक्त जैन-धर्म मे प्रत्येक तीर्थंकर का एक-एक शासन देवता का भी यही रहस्य है। श्वेताम्बरमतानुसार ये चौबीस देवता आगे जैन-प्रतिमा लक्षण मे चौबीस तीर्थंकर के साथ-साथ सज्ञापित किये जायेगे। सरस्वती के षोडश विद्या-व्यूहो का हम आगे ही उसी अवसर पर सकीर्तन करेगे। इस प्रकार जैनधर्म मे

प्रसाद-देवता, कुल-देवता और सम्प्रदाय-देवता इन तीनो देव-वर्गों का अभ्युदय हुआ। इन सभी मे हिन्दुओ के देवो और देवियो का ही विशेष प्रभाव है। बौद्धो की अपेक्षा जैन हिन्दू-धर्म के विशेष निकट है। जैन-देव वृन्द के इस सकेत मे यक्षो को नही भुलाया जा सकता। तीर्थकरो के प्रतिमा-लक्षण मे देवी साहचर्य के साथ-साथ यक्ष-साहचर्य भी एक अभिन्न अग है। प्राचीन हिन्दू-साहित्य मे यक्षो की परम्परा, उनका स्थान एक उनके गौरव और मर्यादा के विपुल सकेत मिलते है। जैन-धर्म मे यक्षो का तीर्थकर साहचर्य तथा जैन-शासन मे यक्षो और यक्षणियो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान का क्या मर्म है? यक्षाधिप कुबेर देवो के धनाधिप सकीर्तित है। यक्षो का भोग एव ऐश्वर्य सनातन से प्रसिद्ध है। जैन-धर्म का सरक्षण सम्पन्न श्रेष्ठि-कुलो एव ऐश्वर्यशाली वणिक-वृन्द मे विशेष रूप से पाया गया है। अतएव यक्ष और यक्षिणी प्राचीन समृद्ध जैन-धर्मानुयायी श्रावकगणो का प्रतिनिधित्व करते है, ऐसा भट्टाचार्य जी का (See Jain Econography) आकूत है। हमारी समझ मे यक्ष और यक्षिणी तात्रिक-विद्या तन्त्र-मत्रसमन्विता रहस्यात्मिका शक्ति-उपासना का प्रतिनिधित्व करते है। हिन्दुओ के दिग्पाल और नवग्रह-देवो को भी जैनियो ने अपनाया। क्षेत्रपाल, श्री (लक्ष्मी) शान्ति देवी और ६४ योगिनियो का विपुल वृन्द जैन-देव वृन्द मे सम्मलित है। अन्त मे जैन तीर्थो पर थोडा सकेत आवश्यक है। जैन-तीर्थकरो की जन्म-भूमि अथवा कार्य कैवल्य भूमि जैन-तीर्थ कहलाये। लिखा भी है —

जन्म-निष्क्रमणस्थान-ज्ञान-निर्वाण भूमिषु।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च॥
ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च।
अन्येषु वा मनोज्ञेषु करायेज्जिनमन्दिरम्॥

जैन प्रतिमा-लक्षरा

जैन प्रतिमाओं का आविर्भाव—जैन प्रतिमाओ का आविर्भाव जैनो के तीर्थकरो से हुआ। तीर्थकरो की प्रतिमाओं का प्रयोजन जिज्ञासु जैनो मे न केवल तीर्थकरो के पावन-जीवन, धर्म-प्रचार और कैवल्य-प्राप्ति की स्मृति ही दिलाना था, वरन् तीर्थकरों के द्वारा परिवर्तित पथ के पथिक बनने की प्रेरणा भी। जिनपूजा मे कल्याण-पाठ (जिनो के कल्याणमय कार्य एव काल की गाथाओं) का भी तो यही रहस्य है। तीर्थङ्करो के अतिरिक्त जैनों के जिन-जिन देवो की कल्पना परम्परित हुई उसका सकेत पीछे भी कर चुके है (दे० जैनधर्म-जिनपूजा) तथा कुछ चर्चा आगे भी होगी।

जैनियो की प्रतिमा-पूजा परम्परा की प्राचीनता पर हम सकेत कर चुके है। इस परम्परा के पोषक साहित्यिक एव स्थापत्यात्मक प्रमाणो मे एक दो तथ्यो पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। हाथी गुम्फा—अभिलेख से जैन प्रतिमा पूजा शिशुनाग और नन्द राजाओ के काल म विद्यमान थी—ऐसा प्रमाणित किया जाता है। श्रीयुत वृन्दावन भट्टाचार्य (See Jain Econography P. 33) ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे निर्दिष्ट जयन्त वैजयन्त, अपराजित आदि जिन-देवो को जैन देवता माना है वह ठीक नही। हाँ जैन साहित्य की एक प्राचीन कृति—'अन्तगड-दासो' मे 'हरिनेगमेशि' का जो सकेत, उन्होने उल्लिखित किया है, उससे जिन-पूजा परम्परा ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व तो प्रमाणित अवश्य होती है। मथुरा के पुरातत्वान्वेषणो से भी यही निष्कर्ष दृढ होता है। जैनो के ७वे तीर्थकर की जिससे प्रतीकोपासना एव प्रतिमा-पूजा दोनो की प्राचीनता सिद्ध होती है।

जैन प्रतिमाओं की विशेषताएं—

(अ) प्रतीक-लाञ्छन—जैन-प्रतिमाएँ ही क्या अखिल भारतीय प्रतिमाएं—प्रतीकवाद (Symbolism) से अनुप्राणित है। भारतीय स्थापत्य की प्रमुख विशेषता प्रतीकत्व है। इस प्रतीकत्व के नाना कलेवरो मे धर्म एव दर्शन की ज्योति ने प्राण सचार किया है। तीर्थङ्करो की प्रतिमोद्भावना मे वराहमिहिर की—वृहत्सहिता के निम्न प्रवचन मे जैन-प्रतिमाओ की विशेषताओं का सुन्दर आभास मिलता है :—

आजानुलम्बाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

अर्थात् तीर्थङ्कर-विशेष की प्रतिमा प्रकल्पन मे लम्बे लटकते हुए हाथ (आजानुलम्बाहु), श्रीवत्स-लाञ्छन प्रशान्त-मूर्ति, नग्न-शरीर, तरुणावस्था—ये पाँच सामान्य विशेषताए हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं वाम पार्श्व में

क्रमशः एक यक्ष और एक यक्षिणी का भी प्रदर्शन आवश्यक है। तीसरे अशोक (आम्र वृक्ष जिसके नीचे बैठकर जिन-विशेष ने ज्ञान प्राप्त किया) वृक्ष के साथ अष्ट-प्रातिहार्यों (दिव्यतरु, आसन, सिहासन तथा आतपत्र' चामर, भामण्डल, दिव्य-दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि एव दिव्य-ध्वनि) मे से किसी एक का प्रदर्शन भी विहित है। तीर्थङ्कर-विशेष की प्रतिमा मे इन सभी प्रतीकों का प्रकल्पन अनिवार्य है। जिन प्रतिमा मे शासन-देवताओं—यक्षों एव यक्षणियों का प्रदर्शन गौडरूप से ही अभिप्रेत है हाँ उनकी निजी प्रतिमाओं मे जिनमूर्ति गौड हो जाती है और उसको आविर्भूत बौद्धदेव वृन्द मे आविर्भावक-देव की प्रतिमा के सदृश, शीर्ष पर अथवा अन्य किसी ऊर्ध्व पद पर प्रतिष्ठापित किया जाता है।

(ब) जैन-देवों के विभिन्न वर्ग—

'आचार दिनकर के अनुसार जैनो के देव एव देवियो की ३ श्रेणियाँ है। १. प्रासाद देवियाँ, २. कुल देवियाँ (तांत्रिक देवियाँ) तथा ६. साम्प्रदाय देवियां। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि जैनों के दो प्रधान सम्प्रदायो दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-देवो एव देवियों की एक परम्परा नही है। तात्रिक देवियाँ श्वेताम्बरों की विशेषता है। महायानी तथा वज्रयानी बौद्धो के सदृश श्वेताम्बरो ने भी नाना देवो की परिकल्पना की।

जैनो के प्राचीन देववाद मे चार प्रधान वर्ग है—१ ज्योतिषी, २ विमानवासी, ३ भवन पति ४ व्यन्तर। ज्योतिषी मे नवग्रहों का सकीर्तन है। विमानवासी दो उपसर्गों में विभाजित है। उत्तर कल्प तथा अनुत्तर कल्प। प्रथम में सुधर्म, ईशान, सनत्कुमार, ब्रह्मा आदि १२ देव परिगणित है तथा दूसरे मे पाँच स्थानो के अधिष्ठातृकदेव इन्द्र के पाँच रूप—विजय, विजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। भवन-पतियो मे असुर नाग, विद्युत् सपुर्ण आदि १० श्रेणियाँ है। व्यन्तरों मे पिशाच, राक्षस, यक्ष, गधर्व आदि आठ श्रेणियाँ हैं। इन चार देव वर्गों के अतिरिक्त षोडश श्रुत अथवा विद्या देवियाँ और अष्ट मातृकाएँ भी जैनियों में पूज्य है। जैनियों मे वास्तु देवी की भी परिकल्पना है। इस संक्षिप्त समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलने में देर न लगेगी कि तीर्थंकरों के अतिरिक्त जैनियों का देव वृन्द ब्राह्मण देव वृन्द ही है।

(स) तीर्थंकर—

जैनधर्म में सभी तीर्थकरो की समान महिमा है। बौद्ध गौतमबुद्ध की ही जिस प्रकार से सर्वतिशायी प्रतिष्ठित करते हैं, वैसा जैनियों मे नहीं। तीर्थकर प्रतिमा निदर्शनों मे इस तथ्य का पोषण पाया जाता है। जैन प्रतिमाओ की दूसरी विशेषता यह है कि जिनों के चित्रण में तीर्थकरो का सर्वश्रेष्ठ पद प्रकल्पित होता है। ब्रह्मादि देव भी गौड-पद के ही अधिकारी है। इसी दृष्टि से हेमचंद्र के 'अभिधान-चिन्तामणि' मे जैन देवो का 'देवादि देव' और देव इन दो श्रेणियो मे जो विभाजन है, वह समझ मे आ सकता। देवादिदेव तीर्थकर तथा देव अन्य सहायक देव, श्री वृन्दावन भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है। In inconography also this idea of the relative superiority of the Jains has manipasted itself In the earliest of Jainism, the Tirthankaras prominently occupy about the what realy of the stone

जैन-मदिरो की मूर्ति-प्रतिष्ठा मे मूलनायक अर्थात् प्रमुख जिन प्रधान पद का अधिकारी होता है। और अन्य तीर्थकरो का अपेक्षाकृत गौड पद होता है। इस परम्परा में स्थान विशेष का महत्व अन्तर्दित है। तीर्थकर-विशेष से सम्बन्धित स्थान के मन्दिर मे उसी की प्रधानता देखी गयी है। उदाहरणार्थ सारनाथ के जैन-मन्दिर मे जो तीर्थकर मूलनालकके पद पर प्रतिष्ठित है वह (अर्थात् श्रेयांशनाथ) सारनाथ में उत्पन्न हुआ था।—ऐसा माना जाता है।

तीर्थकर राग द्वेष से रहित है। साथ तपस्विता के अनुसार जिनो की मूर्तिया योगी रूप मे चित्रित की जाती है। प्रतिमा निदर्शनो मे प्राप्त इस तथ्य का निदर्शन है। पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा मे नग्न जिन मूर्तियां सर्वत्र प्रसिद्ध है। तीर्थकरो की प्रतिमाये एव जिन मूर्तियो मे इतना अधिक सादृश्य है कि साधारण जैनों के लिए कभी-२ उनकी पारस्परिक अभिज्ञा दुष्कर हो जाती है। कतिपय लाछनो—श्री वत्स आदि से दोनो का पारस्परिक पार्थक्य प्रकट होता है। कुशान-काल की मूर्तियों मे प्रतीक संयोजना के अतिरिक्त यक्ष दक्षिणी अनुगामित्व नहीं प्राप्त

होता है। यह विशिष्टता गुप्त काल से प्रारम्भ होती है, जब से तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणियों का अनिवार्य साहचर्य बन गया।

जैन-प्रतिमा की तीसरी विशेषता गन्धर्व साहचर्य है। यद्यपि प्राचीनतम प्रतिमाओं (मथुरा, गांधार) में यक्षों का निवेश नहीं; परन्तु गन्धर्वों के उन में दर्शन अवश्य होते हैं। मथुरा की जैन मूर्तियों में एक प्रमुख विशिष्टता उनकी नग्नता है। गुप्त कालीन जैन प्रतिमायें एक नवीन-परम्परा की उन्नायिका है। यक्षों के अतिरिक्त शासन देवताओं का भी उनमें समावेश किया गया, धर्म-चक्र-मुद्रा का भी यहीं से श्री गणेश हुआ

जैन प्रतिमाओं के विकास में सर्वप्रथम प्रतीक परम्परा का मूलाधार है। आयाग पटों पर चित्रित जिन प्रतिमा इसका प्रबल निदर्शन है। आयाग पट्ट एक प्रकार के प्रशस्ति पत्र अथवा गुणानुकीर्तन पत्र (Tables of hamage) है। इनमें जिन प्रतिमायें लाँछन शून्य है। कुशान कालीन जैन प्रतिमायें प्राचीनतम निदर्शन है। इनके तीन वर्ग है—स्तूपादि मध्य प्रतिमा, पूज्य प्रतिमा, तथा आयाग पट्टीय प्रतिमा। हिन्दू त्रिमूर्ति के सदृश। चौमुखी या सर्वतो भद्र प्रतिमा में चारों कोणो पर चार 'जिन' चित्रित किए जाते है। प्रत्येक तीर्थंकर का प्रथक्-प्रथक् चिन्ह है। जिससे तीर्थंकर विशेष की अभिज्ञा (पहिचान) सम्पन्न होती है। आपाततः जिन प्रतिमा भी बौद्ध प्रतिमा के सदृश ही प्रतीत होती है परन्तु जिन प्रतिमा की पहचान आभरण लकरण के वैशिष्ट्य से बुद्ध प्रतिमा से पृथक् की जा सकती है। इन आभरण लकरणों के प्रतीकों में स्वस्तिक स्तूप, दर्पण वेतशासन, दो मत्स्य, पुष्पमाला और पुस्तक विशेष उल्लेख्य हैं। सभी तीर्थंकरों की समान मुद्रा नहीं। ऋषभ, नेमिनाथ और महावीर—इन तीनों की आसन मुद्रा में कैवल्य प्राप्ति की सूचक है अतः इन तीनों की प्रतिमा अभिज्ञ में यह तथ्य सदैव स्मरणीय है। अन्य शेष तीर्थंकरों की प्रतिमा का कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि उन्हें इसी मुद्रा में निर्वाण प्राप्त हुआ था।

अस्तु संक्षेप में निम्न तालिका तीर्थङ्करों के लछन एवं शासन-देव तथा शासन देवियों का क्रम प्रस्तुत करती है—

२४ तीर्थंकर		शासन-देवियां	(यक्षिणियां)
१ आदिनाथ (ऋषभ)	वृषभ	चक्रेश्वरी	च०
२ अजितनाथ	गज	रोहिणी	अजितबला
३ सम्भवनाथ	अश्व	प्रज्ञावती	दुरितारि
४ अभिनन्दननाथ	बानर	वज्रशृंखला	काली
५ सुमतिनाथ	क्रोंच	नरदत्ता	म०काली
६ पद्मप्रभु	पद्म	मनोवेगा	श्यामा
७ सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	कालिका	शान्ता
८ चन्द्रप्रभु	चन्द्र	ज्वालामालिनी	ज्वाला
९ सुविधिनाथ	मकर	महाकाली	सतारा
१० शीतलनाथ	श्रीवत्स	मानवी	अशोका
११ श्रेयांसनाथ	गण्डक	गौरी	मानवी
१२ वासुपूज्य	महीष	गंधारी	प्रचण्डा
१३ विमलनाथ	वराह	विराट	विदिता
१४ अनन्तनाथ	श्येन	अनन्तमती	अंकुश
१५ धर्मनाथ	वज्र	मानसी	कदर्पा
१६ शान्तिनाथ	मृग	महामानसी	निर्वाणी
१७ कुंथु	छाग	धया	बला
१८ अरनाथ	नन्द्यावर्त	विजया	धारिणी
१९ मल्लिनाथ	कलश	अपराजिता	वैराट्या
२० मुनिसुव्रत	कूर्म	बहुरूपा	नरदत्ता
२१ नमिनाथ	नीलोत्पल	चामुण्डा	गांधारी
२२ नेमिनाथ	शंख	आम्बिका	अम्बिका
२३ पार्श्वनाथ	सर्प	पद्मावती	पद्मावती
२४ महावीर	सिंह	सिद्धायिका	सिद्धायिका

शासन देव :—

१ वृषवक्त्र	११ यक्षेश
२ महायक्ष	१२ कुमार
३ त्रिमुख	१३ षण्मुख
४ चतुरानन	१४ पाताल
५ तुम्बुरू	१५ किन्नर
६ कुसुम	१६ गरुड
७ मातंग	१७ गंधर्व]
८ विजय	१८ यक्षेश
९ जय	१९ कुबेर
१० ब्रह्मा	२० वरुण

२१ भृकुटि	२३ पार्श्व
२२ गोमेघ	२४ मातग

टि० १ 'अपराजिता-पृच्छा' के अनुसार, चद्रप्रभ, पुष्पदन्त (१) श्वेत-वर्ण पद्मप्रभ, धर्मनाथ रक्त वर्ण; सुपार्श्व, पार्श्वनाथ हरिद्वर्ण और शेष सब काञ्चनवर्ण चित्र्य है।

टि० २ तीर्थङ्करों के अन्य लाञ्छनो के विवरण परिशिष्ट स मे उद्धृत अपराजित पृच्छा के अवतरणो मे द्रष्टव्य है।

प्रतिमा-स्थापत्य मे २४ तीर्थङ्करो के अतिरिक्त २४ यक्षों एव यक्षिणियोके रूप, १६ श्रुतदेवियो (विद्या-देवियो) १० दिग्पालों, ६ ग्रहो तथा क्षेत्रपाल, सरस्वति, गणेश, श्री (लक्ष्मी) तथा शान्ती देवी के भी रूप प्राप्त है। अत. सक्षेप मे इनके लक्षणो की अवतारणा की जाती है।

यक्ष-यक्षणियां— तीर्थङ्कर-तालिका मे इनकी संज्ञा एवं संख्या सूचित है। अत. यहा पर इस तालिका मे सख्यानुरूप इनके विशेष लाछन दिए गए है। आधार-वस्तुसार तथा अपराजित पृच्छा; विशेष विवरण परिशिष्ट मे उद्धृत अपराजित के अवतरणो मे द्रष्टव्य है।

२४ यक्षों के वाहन-लाञ्छन		२४ यक्षणियो के वाहन लाञ्छन	
अपराजित	वास्तुसार	अपराजिता	वस्तुसार
१ वृष	गज	१ गरुण	गरुण
२ गज	गज	२ रथ	लाहासन गोवाहन
३ मयूर	मयूर	३ १	मेष
४ हस	गज	४ हस	पद्म
५ गरुण	गरुण	५ श्वेतहस्ति	,,
६ मृग	मृग	६ अश्व	नर
७ मेष	गज	७ महिष	गज
८ कपोत	हस	८ वृष	हस
९ कूर्म	कूर्म	९ कूर्म	वृष
१० हस	कमलासन	१० शूकर	पद्म
११ वृष	वृषभ	११ कृष्ण हरिण	सिंह
१२ शिखि	हस	१२ नक्र	अश्व
१३ १	शिखि	१३ विमान	पद्म
१४ १	मकर	१४ हस	,,
१५ १	कूर्म	१५ व्याघ्र	मत्स्य
१६ शुक	वराह	१६ पक्षिराज	पद्म
१७ ,,	हंस	१७ कृष्ण शूकर	शिखि
१८ खर	शख	१८ सिंह	पद्म
१९ सिह	गज	१९ अष्टापद	,,
२० १	वृष	२० सर्प	भद्रासन
२१ १	वृष	२१ मर्कट	हस
२२ १	पुरुष	२२ सिंह	सिंह
२३ १	कूर्म	२३ कुक्कुट	सर्प
२४ हस्ति	गज	२४ भद्रासन	सिह

दश-दिग्पाल—दिग्पालो की संख्या आठ ही है परन्तु जैनो ने दश दिग्पाल माने है—

१. इन्द्र—तप्तकाञ्चनवर्ण, पीताम्बर, एरावण-वाहन, वज्रहस्त, पूर्वदिगधीश।
२ अग्नि—कापलवर्ण, वागवाहन, नीलाम्बर, धनुर्बाणहस्त, आग्नेय, दिग्धीश।
३. यम—कृष्णवर्ण, चर्मावर्ण, महिषवाहन, दण्डहस्त, दक्षिण दिगधीश।
४ निर्ऋति—धूम्रवर्ण, व्याघ्रचर्मावृत, मुद्गरहस्त, प्रेत-वाहन, नैऋत्यदिगधीश।
५. वरुण—मेघवर्ण, पीताम्बर, पाशहस्त, मत्स्य वाहन, पश्चिम दिगधीश।
६ वायु—धसरवर्ण, रक्ताम्बर, हरिणवाहन, ध्वजप्रहरण, वायव्य दिगधीश।
७. कुबेर—शक्र कोशाध्यक्ष, कनकवर्ण, श्वेताम्बर, नर-वाहन, रत्नहस्त, उत्तरादगधीश।
८. ईशान—श्वेतवर्ण, गाजाजिनावृत, वृषभ वाहन, पिनाक शूलधर, ईशानादगधीश।
९ नागदेव—कृष्णवर्ण, पद्मवाहन, उरगहस्त, पाताला-धीश्वर।
१० ब्रह्मदेव—कञ्चनवर्ण, चतुर्मुख, श्वेताम्बर, हसवाहन, कमलासन, पुस्तक कमलहस्त, उर्ध्वलाकाधीश।

नवग्रह—

१ सूर्य— रक्तवस्त्र, कमलहस्त, सप्ताश्वरथवाहन।
२ चन्द्र—श्वेत-वस्त्र, श्वेतदशवाजिवाहन, सुधाकुम्भहस्त।
३ मगल—विद्रुमवर्ण, रक्ताम्बर, भूमिस्थिति, कुदालहस्त।
४. बुद्ध—हरितवस्त्र, कलहंसवाहन, पुस्तकहस्त।

५. बृहस्पति—काञ्चनवर्ण, पीताम्बर, पुस्तकहस्त, हंसवाहन।

६. शुक्र—स्फटिकोज्ज्वल, श्वेताम्बर, कुम्भहस्त, तुरगवहन।

७ शनैश्चर—नीलदेह, नीलाम्बर, परशुहस्त, कमठवाहन।

८. राहु—कज्जलश्यामल, श्यामवस्त्र, परशुहस्त, सिंहवाहन।

९ केतु—श्यामाङ्ग, श्यामवस्त्र, पन्नगवाहन, पन्नगहस्त।

क्षेत्रपाल—एक प्रकार का भैरव है जो योगिनियों का अधिपति है। आचार दिनकर में क्षेत्रपाल का लक्षण है—कृष्णगौर काञ्चनधूसर—कापलवर्ण, विशाल भुजदंड, वर्बरकेश, जटाजूट-मण्डित, वासुकी कृतनिजोपवीत, तक्षककृतमेखल, शेषकृतहार, नानायुधहस्त, सिंहाचर्मावृत, प्रेतासन, कुक्कुर-वाहन, त्रिलोचन।

श्रुतदेवियां विद्यादेवियां—

१. रोहिणी, २. प्रज्ञप्ति, ३ वज्रशृंखला, ४. वज्राकुशी, ५ अप्रतिचक्रा, ६. पुरुषदत्ता, ७. कालीदेवी, ८ महाकाली, ९. गौरी, १० गान्धारी, ११ महाज्वाला, १२. मानवी, १३. बैरोटया, १४. अच्छुता, १५ मानसी, १६. महामानसी।

टि० १ इनके लक्षण यक्षणियों से मिलते-जुलते है।

टि० २ श्री (लक्ष्मी), सरस्वती और गणेश का भी जैनियों में प्रचार है। आचार-दिनकर मे इनके लक्षण ब्राह्मण-प्रतिमा लक्षण से मिलते-जुलते है। शान्ति-देवी के नाम से भी श्वेताम्बरों के ग्रथों मे एक देवी है जो जैनियों की एक नवीन उद्भावना कही जा सकती है।

टि० ३ योगिनिया—जैनो की ६४ योगिनियों मे ब्राह्मणों से वैलक्षण्य है। अहिंसक एव परम वैष्णव जैनियो मे योगिनियो का आविर्भाव उन पर तान्त्रिक आचार एव तान्त्रिकी पूजा का प्रभाव है। जैनो की शाक्तचर्या पर हम पीछे संकेत कर चुके हैं।

स्थापत्य-निदर्शनो में—महेत (गोंडा) की ऋषभनाथ मूर्ति; देवगढ की अजितनाथ-मूर्ति और चद्र-प्रभा-प्रतिमा; फैजाबाद सग्रहालय की शान्तिनाथ-मूर्ति; ग्वालियर-राज्य की नेमिनाथ मूर्ति, जोगिन का मठ, (रोहतक) मे प्राप्त पार्श्वनाथीय मूर्ति—जिन-मूर्तियो मे उल्लेख्य है। महावीर की मूर्ति भारतीय सग्रहालय में प्राय सर्वत्र दृष्टव्य है। ग्वालियर राज्य मे प्राप्त कुबेर, चक्रेश्वरी और गोमुख की प्रतिमाए दर्शनीय है। देवगढ की चक्रेश्वरी मूर्ति बडी सुन्दर है। उसी राज्य (गंडवल) मे प्राप्त क्षेत्रपाल, देवगढ की महामानसी अम्बिका और श्रुत-देवी; झांसी की रोहिणी, लखनऊ सग्रहालय की सरस्वती, बीकानेर की श्रुत-देवी आदि प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय है।

जैन मन्दिर—

आबू पर्वत पर जैन-मन्दिर बने हे जिन्हे मन्दिर-नगर के रूप मे अकित किया जा सकता है। इन मन्दिरों के निर्माण मे संगमरमर पत्थर का प्रयोग हुआ है। एक मन्दिर विमलशाह का बनवाया हुआ है और दूसरा तेजपाल तथा वस्तुपाल बन्धुओं का। इन मन्दिरो मे चित्रकारी एव स्थापत्य-भूषा-विन्यास बडा ही दर्शनीय है।

काठियावाड प्रान्त मे पालीताणा राज्य मे शत्रुंजय नामक पहाडी जैन मन्दिरों से भरी पड़ी है। जैनी लोगों का आबू के समान यह भी परम पावन तीर्थ-स्थान है। काठियावाड के गिरनार पर्वत पर भी जैन-मन्दिरों की भरमार है। जैनो के इन मन्दिर-नगरों के अतिरिक्त अन्य बहुत से मन्दिर भी लब्धप्रतिष्ठ हैं जिनमे आदिनाथ का चौमुख-मन्दिर (मारवाड) तथा मैसूर का जैन-मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। अन्य जैन-मन्दिर पीठो मे मथुरा, काठियावाड (जूनागढ) मे गिरनार, इलौरा के गुहा-मन्दिरो मे इन्द्र-सभा और जगन्नाथ सभा, खजुराहो, देवगढ आदि विशेष विश्रुत है।

—.०.—

स्वावलम्बन—जिन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण कर लिया है, वे मानव इस संसार में स्वतन्त्र हैं। जो इन्द्रियों के दास हैं, वे परतन्त्र हैं। स्वतन्त्रता मुक्ति है। परतन्त्रता बन्धन है। स्वतन्त्रता विकास का मार्ग है, परतन्त्रता ह्रास का मार्ग है। अपने जीवन-निर्माण में वे ही सफल होते हैं, जो प्रत्येक क्रिया में स्वावलम्बी होते हैं, परमुखापेक्षी नहीं होते।

भगवान महावीर और बुद्ध का परिनिर्वाण

अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराज

बुद्ध

अन्तिम वर्षावास

बुद्ध राजगृह से वैशाली आये। वहाँ कुछ दिन रहे। वर्षावास के लिए समीपस्थ वेलुव-ग्राम (वेणु-ग्राम) मे आये। अन्य भिक्षुओ को कहा—"तुम वैशाली के चारो ओर मित्र, परिचित आदि देखकर वर्षावास करो।" यह बुद्ध का अन्तिम वर्षावास था।

वर्षावास मे मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ। बुद्ध ने सोचा, मेरे लिए यह उचित नही कि मै उपस्थाको और भिक्षु-सघ को बिना जतलाये ही परिनिर्वाण प्राप्त करूँ। यह सोच उन्होने जीवन-सस्कार को दृढतापूर्वक धारण किया। रोग शान्त हो गया। शास्ता को निरोग देखकर आनन्द ने प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—"भन्ते! आपकी अस्वस्थता से मेरा शरीर शून्य हो गया था। मुझे दिशाए भी नही दीख रही थी। मुझे धर्म का भी भान नही होता था।" बुद्ध ने कहा—"आनन्द! मै जीर्ण, वृद्ध, महल्लक, अध्वगत, वय प्राप्त हूं। अस्सी वर्ष की मेरी अवस्था है। जैसे पुराने शकट को बाँध-बूध कर चलाना पडता है, वैसे ही मैं अपने आप को चला रहा हूं। मैं अब अधिक दिन कैसे चलूगा? इसलिए आनन्द आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण अनन्यशरण होकर विहार करो[1]।"

आनन्द की भूल

एक दिन भगवान् चापाल-चैत्य मे विश्राम कर रहे थे। आयुष्मान् उनके पास बैठे थे। आनन्द से भगवान् ने कहा—"आनन्द! मैने चार ऋद्धिपाद साधे है। यदि चाहूँ तो मै कल्प भर ठहर सकता हूं।" इतने स्थूल सकेत पर भी आनन्द न समझ सके। उन्होने प्रार्थना नही की—"भगवन्! बहुत लोगो के हित के लिए, बहुत लोगो के सुख के लिए आप कल्प भर ठहरे।" दूसरी बार और तीसरी बार भी भगवान् ने ऐसा कहा, पर आनन्द नही समझे। मार ने उनके मन को प्रभावित कर रखा था। अन्त मे भगवान् ने बात को तोड़ते हुए कहा—"जाओ आनन्द! जिसका तुम काल समझते हो।"

मार द्वारा निवेदन

आनन्द के पृथक् होते ही पापी मार भगवान के पास आया और बोला—"भन्ते! आप यह बात कह चुके है—'मै तब तक परिनिर्वाण को प्राप्त नही करूँगा, जब तक मेरे भिक्षु-भिक्षुणिया, उपासक-उपासिकाएँ आदि सम्यक् प्रकार से धर्मारूढ, धर्मपथिक और आक्षेप-निवारक नही हो जाएगे तथा यह ब्रह्मचर्य (बुद्ध-धर्म) सम्यक् प्रकार से ऋद्ध, स्फीत व बहुजन-गृहीत नही हो जायेगा।' भन्ते! अब यह सब हो चुका है। आप शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करे।" भगवान् ने उत्तर दिया—"पापी! निश्चिन्त हो आज से तीन मास पश्चात् मै निर्वाण करूगा।"

भूकम्प

तब बुद्ध ने चापाल चैत्य मे स्मृति-सप्रजन्य के साथ आयु सस्कार को छोड दिया। उस समय भयकर भूकम्प हुआ। देव दुन्दुभियाँ बजी। आनन्द भगवान के पास आये और बोले "आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते!! इस महान् भूकम्प का क्या हेतु है? क्या प्रत्यय है? भगवान् ने कहा—भूकम्प के आठ हेतु होते है। उनमे से एक हेतु तथागत के द्वारा जीवन-शक्ति का छोड़ा जाना है। उसी जीवन-शक्ति का विसर्जन मैने अभी-अभी चापाल-चैत्य मे किया है। यही कारण है, भूकम्प आया, देव-दुन्दुभिया बजी।"

यह सब सुनते ही आनन्द को समझ आई, कहा—"भन्ते! बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय आप कल्प-भर ठहरे।" बुद्ध ने कहा—"अब मत तथागत से प्रार्थना

---

१. अत्तदीपा विहरथ, अत्तसरणा, अनञ्ञसरणा, धम्मदीपा, धम्मसरणा, अनञ्ञसरणा।

करो। अब प्रार्थना करने का समय नही रहा।" आनन्द ने क्रमशः तीन बार अपनी प्रार्थना को दुहराया। बुद्ध ने कहा—"क्यों तथागत को विवश करते हो? रहने दो इस बात को। आनन्द मैं कल्प भर नही ठहरता, इसमे तुम्हारा ही दोष है। मैंने अनेक बार तथागत की क्षमता का उल्लेख तुम्हारे सामने किया। पर तुम मूक ही बने रहे।"

वहा से उठकर भगवान् महावन,कूटागार शाला मे आये। वहा आकर आनन्द को आदेश दिया—"वैशाली के पास जितने भिक्षु विहार करते है, उन्हे उपस्थान-शाला में एकत्रित करो।" भिक्षु एकत्रित हुए। बुद्ध ने कहा—"हन्त भिक्षुओ! तुम्हे कहता हूं, सस्कार (कृत-वस्तु) नाशमान् है। प्रमाद-रहित हो, आदेय का सम्पादन करो। अचिरकाल मे ही तथागत का परिनिर्वाण होगा, आज से तीन मास पश्चात्।"

अन्तिम यात्रा

तब भगवान् वैशाली मे कुसिनारा की ओर चले। योगनगर के आनन्द चैत्य मे बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ कोई भिक्षु यह कहे—'आवुसो! मैंने इसे भगवान के मुख से सुना; यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का उपदेश है।' भिक्षुओ! उस कथन का पहले न अभिनन्दन करना न निन्दा करना। उस कथन की सूत्र और विनय मे गवेषणा करना। वहाँ वह न हो तो समझना यह इस भिक्षु का ही दुर्गृहीत है। सूत्र और विनय मे यह कथन मिले, तो समझना, अवश्य यह तथागत का वचन है।"

भगवान् विहार करते क्रमशः पावा पहुँचे। चुन्द कर्मार-पुत्र के आम्र वन मे ठहरे। चुन्द कर्मार पुत्र ने भिक्षु-सघ-सहित बुद्ध को अपने यहा भोजन के लिए आमन्त्रित किया पहली रात को भोजन की विशेष तैयारियां की। बहुत सारा 'सूकर-मद्दव'[1] तैयार किया। यथासमय भगवान् पात्र-चीवर ले चुन्द कर्मार-पुत्र के घर आये और भोजन किया। भोजन करते भगवान् ने चुन्द को कहा—"अन्य भिक्षुओं को मत दो यह सूकर-मद्दव। ये इसे नही पचा सकेंगे।" भोजन के उपरान्त भगवान् को असीम वेदना हुई। विरेचन पर विरेचन होने लगा और वह भी रक्तमय।

इतना होने पर भी भगवान् पावा से कुसिनारा की ओर चल पडे। क्लान्त हो रास्ते मे बैठे। आनन्द से कहा—"निकट की नदी से पानी लाओ। मुझे बहुत प्यास लगी है।" आनन्द ने कहा—"भगवन् अभी-अभी १०० गाडे इस निकट की नदी से निकले है। यह छोटी नदी है। सारा पानी मटमैला हो रहा है। कुछ ही आगे ककुत्था नदी है, वह स्वच्छ और रमणीय है। वहां पहुँच कर भगवान् पानी पीएं।" भगवान् ने दूसरी बार और तीसरी बार वैसे ही कहा, तो आनन्द उठकर गये। देखा, पानी अत्यन्त स्वच्छ और शान्त है। आनन्द भगवान् के इस ऋद्धि-बल से आनन्द-विभोर हुए। पात्र में पानी ला भगवान को पिलाया।

आलार-कालाम के शिष्य से भेंट

भगवान् के वहाँ बैठे आलार-कालाम का शिष्य पुक्कुस मल्ल-पुत्र मार्ग चलते आया। एक ओर बैठकर बोला—"भन्ते! प्रव्रजित लोग शान्ततर विहार से विहरते है। एक बार आलार-कालाम मार्ग के समीपस्थ वृक्ष की छाया मे विहार करते थे। ५०० गाड़ियाँ उनके पीछे से गई। कुछ देर पश्चात् उसी सार्थ का एक आदमी आया। उसने आलार-कालाम से पूछा—

'भन्ते! गाड़ियों को जाते देखा?'

'नही आवुस!'

'भन्ते! शब्द सुना?'

'नही आवुस!'

'भन्ते! सो गये थे?'

'नही आवुस!'

---

१. बुद्धघोष ने (उदान-अट्ठकथा, ८।५) 'सूकर-मद्दव' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—"नातितरुणस्स नातिजिण्णस्स एक जेट्ठकसूकरस्स पवत्तमंस" अर्थात् न अति तरुण, न अति वृद्ध एक (वर्ष) ज्येष्ठ सूअर का मास'। 'सूकर-मद्दव' के अनन्य अमासपरक अर्थ भी किये जाते है, पर मांसपरक मे अर्थ भी कोई विरोधाभास नही लगता। अन्य किसी प्रसंग पर उग्ग गृहपति के अनुरोध पर बुद्ध ने सूकर का मांस ग्रहण किया, ऐसा अगुत्तरनिकाय (पञ्चक निपात) में उल्लेख है।

'भन्ते ! आपकी संघाटी पर गर्द पड़ी है ?'

'हाँ आवुस !'

तब उस पुरुष को हुआ—'आश्चर्य है ! अद्भुत है ! प्रव्रजित लोग आत्मस्थ होकर कितने शान्त विहार से विहरते है !'

भगवान् ने कहा—"पुक्कुस ! एक बार मैं आतुमा के भुसागार मे विहार करता था। उस समय जोरों से पानी बरसा। बिजली कडकी। उसके गिरने से दो किसान चार बैल मरे। उस समम एक आदमी मेरे पास आया और बोला—'भन्ते ! मेघ बरसा, बिजली कड़की, किसान और बैल मरे। आपको मालूम पडा भन्ते ?'

'नही आवुस !'

'आप कहाँ थे ?'

'यही था।'

'बिजली कडकने का शब्द सुना, भन्ते ?'

'नहीं आवुस !'

'क्या आप सोये थे ?'

'आप सचेतन थे ?'

'हाँ आवुस !'

पुक्कुस ! तब उस आदमी को हुआ—'आश्चर्य है, अद्भुत है, यह शान्त विहार।"

पुक्कुस मल्ल-पुत्र यह बात सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और बोला—"भन्ते ! यह बात तो पाँच सौ गाडियो हजार गाडियो और पाँच हजार गाडियो के निकल जाने से भी वडी है। आलार-कालाम मे मेरी जो श्रद्धा थी, उसे आज मैं हवा मे उडा देता हूँ, शीघ्र धारवाली नदी मे बहा देता हूँ। आज से मुझे शरणागत उपासक धारण करे।" तब पुक्कुस ने चाकचिक्यपूर्ण दो सुनहरे शाल भगवान को भेट किये, एक भगवान् के लिए और एक आनन्द के लिए।

पुक्कुस मल्ल-पुत्र चला गया। आनन्द ने अपना शाल भी भगवान् को ओढ़ा दिया। भगवान् के शरीर से ज्योति उद्भूत हुई। शालों का चाकचिक्य मन्द हो गया। आनन्द के पूछने पर भगवान् ने कहा—"तथागत की ऐसी वर्ण-शुद्धि बोधि-लाभ और निर्वाण; इन दो अवसरो पर होती है। आज के अन्तिम प्रहर कुसिनारा के मल्लों के शाल-वन मे शाल-वृक्षों के बीच तथागत का परिनिर्वाण होगा।"

ककुत्था नदी पर

भगवान् भिक्षु-सघ-सहित ककुत्था नदी पर आये। स्नान किया। नदी को पार कर तटवर्ती आम्रवन मे पहुँचे। विश्राम करते भगवान् ने कहा—"आनन्द ! चुन्द कर्मार-पुत्र को कोई कहे—'आवुस चुन्द ! अलाभ है तुझे दुर्लभ है तुझे, तथागत तेरे पिण्डपात को खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए'; तो तू चुन्द के इस अपवाद को दूर करना उसे कहना—आवुस चुन्द ! लाभ है तुझे, सुलाभ है तुझे, तथागत तेरे पिण्डपात को खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं' और उसे बताना—'दो पिण्डपात समान फल वाले होते है : जिस पिण्डपात को खाकर तथागत अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते है तथा जिस पिण्डपात को खाकर तथागत निर्वाण-धर्म को प्राप्त करते हैं'।"

कुसिनारा में

ककुत्था के आम्रवन में विहार कर भगवान् कुसिनारा की ओर चले। हिरण्यवती नदी को पार कर कुसिनारा मे जहाँ मल्लो का "उपवत्तन" शालवन है, वहा आये। जुडवे शाल-वृक्षो के बीच भगवान् मचक (चारपाई) पर लेटे। उनका सिरहाना उत्तर की ओर था।

उस समय आयुष्मान् उपवान भगवान् पर पखा हिलाते भगवान् के सामने खडे थे। भगवान् ने अकस्मात् कहा—"हट जाओ भिक्षु ! मेरे सामने से हट जाओ।" आनन्द ने तत्काल पूछा—"ऐसा क्यो भगवन् ?" भगवान् ने कहा—"आनन्द ! दशो लोको के देवता तथागत के दर्शन के लिए एकत्रित हुए है। इस शालवन के चारो ओर बारह योजन तक बाल की नोक गडाने-भर के लिए भी स्थान खाली नही है। देवता खिन्न हो रहे है कि यह पखा झलने वाले भिक्षु हमारे अन्तरायभूत हो रहा है। आनन्द ने कहा—"देवता आपको किस स्थिति मे दिख-लाई दे रहे है ?"

"आनन्द ! कुछ बाल खोलकर रो रहे है, कुछ हाथ पकड कर चिल्ला रहे है, कुछ कटे वृक्ष की भाँति भूमि पर गिर रहे है। वे विलापात कर रहे है—'बहुत शीघ्र सुगत निर्वाण को प्राप्त हो रहे है, बहुत शीघ्र चक्षुष्मान् लोक से अन्तर्धान हो रहे है'।"

आनन्द के प्रश्न

आनन्द ने पूछा—"भगवन् ! अब तक अनेक दिशाओं में वर्षावास कर भिक्षु आपके दर्शनार्थ आते थे। उनका सत्सग हमे मिलता था। भगवन् ! भविष्य मे किसका सत्संग करेंगे, किसके दर्शन करेंगे ?"

"आनन्द ! भविष्य में चार स्थान सवेजनीय (वैराग्यप्रद) होंगे—

१. जहाँ तथागत उत्पन्न हुए (लुम्बिनी)।
२. जहाँ तथागत ने सम्वोधि-लाभ किया (बोधि-गया)
३. जहाँ तथागत ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया (सारनाथ)।
४. जहा तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया (कुसिनारा)

"भन्ते ! स्त्रियो के साथ कैसा व्यवहार हो ?"

"अदर्शन।"

"दर्शन होने पर भगवन् !"

"अनालाप।"

"आलाप आवश्यक हो, वहाँ भन्ते !"

"स्मृति को सँभाल कर अर्थात् सजग होकर आलाप करे।"

"भन्ते ! तथागत के शरीरकी अन्त्येष्टि कैसे होगी ?"

"जैसे चक्रवर्ती के शरीर की अन्त्येष्टि होनी है।"

"वह कैसे होती है भगवन् !"

"आनन्द ! चक्रवर्ती के शरीर को नये वस्त्र से लपेटते है। फिर रुई मे लपेटते है। फिर नये वस्त्र से लपेटते है। फिर तेल की लोह-द्रोणी मे रखते है। फिर सुगन्धित काष्ठ की चिता बना कर चक्रवर्ती के शरीर को प्रज्वलित करते है। तदनन्तर चौराहे पर चक्रवर्ती का स्तूप बनाते है।"

आनन्द का रुदन

तब आयुष्मान् आनन्द विहार मे जाकर कपिशीर्ष (खूटी) को पकड कर रोने लगे—"हाय ! मैं शैक्ष्य हूँ। मेरे शास्ता का परिनिर्वाण हो रहा है।" भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा—"आनन्द कहाँ है ?"

भगवन् ! वे विहार के कक्ष में रो रहे है।"

"उसे यहाँ लाओ ?"

तब आयुष्मान् आनन्द वहाँ आये। भगवान् ने कहा—"मत आनन्द ! शोक करो, मत आनन्द ! रोओ। मैंने कल ही कहा था, सभी प्रियो का वियोग अवश्यम्भावी है। आनन्द ! तूने चिरकाल तक तथागत की सेवा की है। तू कृतपुण्य है। निर्वाण-साधन मे लग। शीघ्र अनाश्रव हो।"

कुसिनारा ही क्यों ?

आनन्द ने कहा—"भन्ते ! मत इस क्षुद्र-नगरक में शाखा नगरक मे, जगली नगरक मे आप परिनिर्वाण को प्राप्त हों। अनेक महानगर है—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी, वहाँ आप परिनिर्वाण को प्राप्त करे।" वहाँ बहुत से धनिक क्षत्रिय, धनिक ब्राह्मण तथा अन्य बहुत से धनिक गृहपति भगवान् के भक्त हैं। वे तथागत के शरीर की पूजा करेंगे।

आनन्द ! मत ऐसा कहो। कुसिनारा का इतिहास बहुत बडा है। किसी समय यह नगर महासुदर्शन चक्रवर्ती की कुशावती नामक राजधानी था। आनन्द ! कुसिनारा मे जाकर मल्लों को कह—'वाशिष्टो ! आज रात के अन्तिम प्रहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वाशिष्टो ! चलो वाशिष्टो ! नही तो फिर अनुताप करोगे कि हम तथागत के बिना दर्शन के रह गये'।"

आनन्द ने ऐसा ही किया। मल्ल वह सवाद पा चिन्तित व दु:खित हुए। सब के सब भगवान् के वन्दन के लिए आये। आनन्द ने समय की स्वल्पता को समझ कर एक-एक परिवार को क्रमशः भगवान् के दर्शन कराये।

इस प्रकार प्रथम याम मे मल्लो का अभिवादन सम्पन्न हुआ। द्वितीय याम मे सुभद्रा की प्रव्रज्या[1] सम्पन्न हुई।

अन्तिम आदेश

१. तब भगवान् ने कहा—"आनन्द ! सम्भव है, तुम्हे लगे कि शास्ता चले गये, अब उनका उपदेश है, शास्ता नही हैं। आन्द ! ऐसे समझना, "मैंने जो धर्म कहा है, मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है। मैंने जो विनय कहा है मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है।

२. "आनन्द ! अब तक भिक्षु एक-दूसरे को 'आवुस' कहकर पुकारते रहे हैं। मेरे पश्चात् अनुदीक्षित को

१. पूरे विवरण के लिये देखें,

'आवुस कहा जाये और पूर्व-दीक्षित को 'भन्ते' या 'आयुष्मान्' कहा जाये।

३. "आनन्द ! मेरे पश्चात् चाहे तो संघ छोटे और साधारण भिक्षु-नियमो को छोड़ दे।

४. "आनन्द ! मेरे पश्चात् छन्न-भिक्षु को ब्रह्म-दण्ड करना चाहिए।"

तब भगवान् ने उपस्थित भिक्षुओ से कहा—"बुद्ध, धर्म और सघ मे किसी को आशका हो, तो पूछ ले। नही तो फिर अनुताप होगा कि मै पूछ न सका।" भगवान् के एक बार, दो बार और तीन बार कहने पर भी सब भिक्षु चुप रहे।

तब आनन्द ने कहा—"भगवन् ! इन पाँच सौ भिक्षुओ मे कोई सन्देहशील नही है। सब बुद्ध, धर्म और सघ मे आश्वस्त है।"

तब आनन्द ने कहा—"हन्त ! भिक्षुओ। अब तुम्हे कहता हूं। सस्कार (कृत-वस्तु) व्ययधर्मा है। अप्रमाद से जीवन के लक्ष्य का सपादन करो। यह तथागत का अंतिम वचन है[1]।"

निर्वाण-गमन

तब भगवान् प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। इसी प्रकार क्रमश तृतीय व चतुर्थ ध्यान को। तब भगवान् आकाशान्त्यायतन को प्राप्त हुए, तदनन्तर विज्ञानानन्त्यायतन को, सज्ञावेदयित-निरोध को प्राप्त हुए। आयुष्मान् आनन्द ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—"क्या भगवान् परिनिर्वृत्त हो गये ?" अनुरुद्ध ने कहा—"नही आनन्द ! भगवान् सज्ञावेदयित-निरोध को प्राप्त हुए है।" तब भगवान् सज्ञावेदयित-निरोध-समापत्ति (चारो ध्यानो के ऊपर की समाधि) से उठकर नैवसज्ञानासज्ञायतन को प्राप्त हुए। तब क्रमश· प्रतिलोम से पुन सब श्रेणियो को पार कर प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। तदनन्तर क्रमश चतुर्थ ध्यान मे आये और उसे पार कर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उस समय भयकर भूचाल आया, देव-दुन्दुभियाँ बजी।

निर्वाण के अनंतर सहम्पति ब्रह्मा ने, देवेन्द्र शक्र ने, आयुष्मान् अनुरुद्ध ने तथा आयुष्मान् आनन्द ने स्तुति-गाथाए कही।

उस समय अवीतराग भिक्षु क्रन्दन करने लगे, रोने लगे, कटे वृक्ष की तरह भूमि पर गिरने लगे। अनुरुद्ध ने उनका मोह-निवारण किया।

तब आयुष्मान् आनन्द कुसिनारा मे गये, सस्थागार मे एकत्रित मल्लो को उन्होने कहा—"भगवान् परिनिर्वृत्ति हो गये है. अब जिसका तुम काल समझो।" इस दु:खद सवाद से सारा कुसिनारा शोक-सतप्त हुआ।

तब कुसिनारा के मल्लो ने ६ दिन तक निर्वाणोत्सव मनाया। अन्त्येष्टि की तैयारियाँ की। सातवे दिन आठ मल्ल-प्रमुखो ने भगवान् के शरीर को उठाया। देवता और मनुष्य नृत्य करते साथ चले। जहाँ मुकुट-बधन नामक मल्लो का चैत्य था, वहाँ सब आये। आनन्द के मार्ग-दर्शन पाकर चक्रवर्ती की तरह भगवान् का अन्त्येष्टि कार्य सम्पन्न करने लगे। उसी क्रम से भगवान् के शरीर को चिता पर रखा।

महाकाश्यप का आगमन

उस समय मल्लो ने चिता को प्रज्वलित करना चाहा। पर वे वैसा न कर सके। आयुष्मान् अनुरुद्ध ने इसका कारण बताया—"वाशिष्टो ! तुम्हारा अभिप्राय कुछ और है और देवताओ का अभिप्राय कुछ और। देवता चाहते है, भगवान् की चिता तब जले, जब आयुष्मान् महाकाश्यप भगवान का चरण-स्पर्श कर ले।"

"कहाँ है भन्ते ! आयुष्मान् महाकाश्यप ?"

अनुरुद्ध ने उत्तर दिया—"पाँचसौ भिक्षुओ के साथ वे पावा और कुसिनारा के बीच रास्ते मे आ रहे है।" मल्लो ने कहा—"भन्ते ! जैसा देवताओ का अभिप्राय हो वैसा ही हो।"

आयुष्मान् महाकाश्यप मुकुट-बधन चैत्य मे पहुँचे। तब उन्होने चीवर को एक कधे पर कर, अजलि जोड़, तीन बार चिता की परिक्रमा की। वस्त्र हटा कर अपने शिर से चरण-स्पर्श किया। सार्धवर्ती पाचसौ भिक्षुओ ने भी वैसा किया। यह सब होते ही चिता स्वय जल उठी।

---

१. "हद दानि, भिक्खवे, आमतयामि वो—वयधम्मा, सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथा" त्ति।

जैसे घी और तेल के जलने पर कुछ शेष नही रहता, वैसे भगवान् के शरीर मे जो चर्म, मास आदि थे, उनकी न राख बनी, न कोयला बना। केवल अस्थिया ही शेष रही। भगवान् के शरीर के दग्ध हो जाने पर आकाश मे मेघ प्रादुर्भूत हुआ और उसने चिता को शात किया।

उस समय मल्लो ने भगवान् की अस्थिया अपने सस्थागार मे स्थापित की। सुरक्षा के लिए शक्ति-पजर[1] बनवाया। धनुष-प्राकार[2] बनवाया। अस्थियों के सम्मान मे नृत्य, गीत आदि प्रारम्भ किये।

धातु-विभाजन

उस समय मगधराज अजातशत्रु ने दूत भेज कर मल्लो को कहलाया—"भगवान् क्षत्रिय थे, मै भी क्षत्रिय हूँ। भगवान् की अस्थियो का एक भाग मुझे मिले। मै स्तूप बनवाऊँगा और पूजा करूगा। इसी प्रकार वैशाली के लिच्छवियो ने, कपिलवस्तु के शाक्यो ने, मल्लकाय के वुलियो ने, राम-गाम के कोलियो ने, वेठ-द्वीप के ब्राह्मणो ने, तथा पावा के मल्लो ने भी अपने पृथक्-पृथक् अधिकार बतलाकर अस्थियो की माग की। कुसिनारा के मल्लो ने निर्णय किया—"भगवान् हमारे यहाँ परिनिर्वृत्त हुए है, अत हम किसी को अस्थियो का भाग नही देगे।"

द्रोण ब्राह्मण ने मल्लो से कहा—"यह निर्णय ठीक नही। भगवान् क्षमावादी थे, हमे भी क्षमा से काम लेना चाहिए। अस्थियों के लिए झगडा हो, यह ठीक नही। आठ स्थानों पर भगवान् की अस्थियाँ होगी, तो आठ स्तूप होगे और अधिक लोग बुद्ध के प्रति आस्थाशील बनेगे।"

मल्लो ने इस प्रस्ताव को पास किया। तदनन्तर द्रोण ब्राह्मण ने अस्थियो के आठ विभाग कर सबको एक-एक भाग दिया। जिस कुम्भ मे अस्थियाँ रखी थी, वह अपने पास रखा। पिप्पलीवन के मौर्य आये। अस्थियाँ बट चुकी थी, वे चिता से अगार (कोयला) ले गये। सभी ने अपने-अपने प्राप्त अवशेषो पर स्तूप बनवाये।

भगवान् की एक दाढ स्वर्गलोक मे पूजित है और एक गधारपुर मे। एक कलिंग राजा के देश मे और एक को नागराज पूजते है। चालीस केश, रोम आदि को एक-एक करके नाना चक्रवालो मे देवता ले गये[1]।

---

१ हाथ मे भाला लिए पुरुषो का घेरा।

२ हाथ मे धनुष लिए पुरुषो का घेरा।

१ एका हि दाठा तिदिवेहि पूजिता,
एका पन गधारपुरे महीयति।
कालिङ्गरञ्ञो विजिते पुनेक,
एक पन नागराजा महेति ॥·········
चत्तालीस समा दन्ता, केसा लोमा च सब्बसो।
देवा हरिंसु एकेक, चक्कवालपरम्परा ति ॥

अखिल भारतीय जैन शिक्षा-परिषद के सप्तम अधिवेशन में

यशपाल जैन का अध्यक्षीय भाषण

प्रिय बहनो और भाइयो,

अखिल भारतीय जैन शिक्षा परिषद के इस अधिवेशन के सभापति-पद पर आपने मुझे बिठाने का अनुग्रह किया, इसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं, लेकिन इस चुनाव पर मैं आपको बधाई नही दे सकता। वस्तुत इस स्थान पर आपको किसी शिक्षा-शास्त्री को आसीन करना चाहिए था, अथवा किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसे शिक्षा के क्षेत्र का व्यावहारिक अनुभव होता। ऐसे महानुभावो की हमारे समाज में और देश मे कमी नही थी। पर मै तो अपने को इन योग्यताओ से शून्य पाता हू। फिर भी आपने मुझे सम्मान प्रदान किया, इसे मैं आपका स्नेह तथा सौजन्य मानता हूं और आप सबके प्रति बडे विनम्र भाव से अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूं।

जिस संस्था के विशाल प्रागण मे आज हम सब इकट्ठे हुए है, वह मुझे पूज्य गणेशप्रशादजी वर्णी का स्मरण दिलाती है। वर्णीजी का समूचा जीवन त्याग-तपस्या का जीवन था। वह मानव-जाति के एक अमूल्य रत्न थे। मै उनकी स्मृतिको अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हू।

मुझे इस बात का बहुत ही हर्ष है कि आप यहा विभिन्न जैन शिक्षा-सस्थाओं के गण्यमान्य प्रतिनिधि तथा समाज-सेवी इतनी बडी सख्या मे इकट्ठे हुए है। मै आशा करता हूं कि आप सब मिलकर शिक्षा-सम्न्धी वर्तमान समस्याओ पर विचार करेगे और ऐसा मार्ग निकालेगे, जिससे जैन-धर्म तथा जैनदर्शन का अध्ययन अधिक-से-अधिक फलदायक हो और जैन शिक्षा-संस्थाए पूरी उपयोगिता से काम कर सके।

आज तो देखने मे आता है कि जैन समाज द्वारा लाखो रुपये व्यय करके जिन संस्थाओ का सचालन किया जा रहा है, उनमें से अधिकाश नाममात्र को जैन है। उनका पाठ्य-क्रम वही है, जो जैनेतर संस्थाओ का है। कुछ मे जैन-धर्म तथा जैन-दर्शनकी शिक्षा की व्यवस्था है। पर उसकी सख्या नगण्य है। शिक्षा-सस्थाए सम्भवत जैन इसलिए कही जाती है, क्योकि उनका प्रबन्ध जैन करते है। इन सस्थाओ द्वारा जैन-धर्म, सस्कृति अथवा तत्वज्ञान को कितना बल मिलता है, यह एक विचारणीय बात है। जहा तक मेरी जानकारी है, इन जैन शिक्षा-सस्थाओं मे अध्यापक और छात्र अधिकतर जैनेतर है। फिर एक कठिनाई यह भी है कि शिक्षा-सस्थाओं पर संवैधानिक प्रतिबन्ध है। वर्तमान धर्म-निरपेक्ष राज्य मे आप किसी भी संस्था को धर्म की शिक्षा देने के लिए विवश नही कर सकते। यदि इन स्कूलो और कालेजो में बहुसंख्या जैनो की हो, तो कुछ बाते विशेष रूप से चालू की जा सकती है, लेकिन मौजूदा परिस्थितियो मे यह कहा सम्भव है!

मेरी निश्चित धारणा है कि धार्मिक शिक्षा को जब तक अनिवार्य विषय के रूप मे स्थान नही दिया जाता तब तक वह पूरी तरह फलदायक नही हो सकती।

बन्धुओ, जबसे हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है, बहुत-सी बडी-बडी योजनाए बनी है। उनमे से कुछ कार्यान्वित भी हुई है, लेकिन सबसे अधिक उपेक्षा शिक्षा की हुई है। विदेशी सत्ता ने शासनकाल मे एक ऐसी शिक्षा-पद्धति चालू की थी, जो देश की मौलिक प्रतिभा पर कुठाराघात करे और उसके शासन-तन्त्र मे काम करने के लिए बाबू लोगो की जमात खडी कर दे। स्वराज्य के बाद बहुत-सी कमेटिया बैठी, कमीशन बने, लेकिन दुर्भाग्य से थोडे-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी हम उसी पुरानी, देश-हित-विरोधी, शिक्षा पद्धति से चिपके हुए है।

इसका दुष्परिणाम आज आप स्वय अपनी आखो मे देख रहे है। देश का नैतिक स्तर बराबर गिरता जा रहा है और चरित्र एवं नैतिक आस्थाओं के अभाव मे आज सरस्वती के मन्दिर सत्तात्मक राजनीति के अखाड़े बन रहे हैं। छात्र-छात्राएं उनमें निष्ठापूर्वक अध्ययन न करके बात-

बात पर आन्दोलन करते है और उनके हिंसात्मक उपद्रवो को दबाने के लिए सरकार को गोली का सहारा लेना पडता है।

शिक्षा-संस्थाओं की इस दुरवस्था के लिए शिक्षा-पद्धति तो दोषी है ही, अध्यापको की अयोग्यता भी कम जिम्मेदार नही है। ठीक ही कहा जाता है कि जिन्हे और किसी क्षेत्र मे काम नही मिलता, वे अध्यापक बनते है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नही है कि सब-के-सब अध्यापक अयोग्य है, लेकिन मेरी पक्की धारणा है कि बहुसख्यक वा अध्यापक ऐसे है, जिनका शिक्षा मे न रस है, न गति। वे वेतन-भोगी के रूप मे काम करते है।

तीसरी एक बात और भी है और वह यह कि आज शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित रह गई है, आचरण से उसका सम्बन्ध नही रहा। किसी महापुरुष ने कहा है कि विचारों के अनुकूल आचरण न हो तो वह गर्भपात के समान है।

हमारे देश का अतीत गौरवशाली रहा तो इसीलिए, क्योकि ज्ञान के अनुरूप आचरण होता था और शिक्षा का मुख्य ध्येय जीवन का सुन्दर, निर्दोष, निष्काम तथा निरुपाधि बनाना था। जो विद्या इसमे सहायक होती थी वही सर्वोत्तम मानी जाती थी और इसे सिखानेवाला सद्गुरु अर्थात् आचार्यकी संज्ञा से विभूषित किया जाता था। आचार्य का अर्थ ही है आचारवान। स्वय आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला ही आचार्य कहलाता था।

शिक्षा और जीवन समन्वय के सम्बन्ध मे यहा मुझे महाभारत का एक प्रसग याद आता है। पाण्डव अपने गुरु दोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त करते थे। एक दिन द्रोण ने उन्हे पढाया, सत्य बोलो। पढ़ाकर उन्होंने बारी-बारी से पाचो भाइयो से पूछा कि पाठ याद हो गया ? सबने उत्तर दिया कि हा, हो गया अगले दिन उन्होंने पढाया, क्रोध को जीतो पढाकर उन्होंने सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर से पूछा कि पाठ याद हुआ तो उन्होने कहा, नही। द्रोण ने और भाइयो से पूछा तो सबने कह दिया कि हो गया। द्रोण को युधिष्ठिर पर झुझलाहट हुई। उन्होंने कहा कि तुम्हारी बुद्धि कैसी है, जो यह मामूली सा पाठ तुम्हे याद नही हुआ अच्छा कल याद करके आना। नही तो खैर नहीं है अगले दिन युधिष्ठिर आये तो गुरुके पूछने पर उन्होंने कहा कि पाठ याद नही हुआ। इस पर द्रोण ने बहुत खरी-खोटी सुनाई। कहा कि तुम्हारे मस्तिष्क मे भूसा भरा है और तुम अपने जीवन मे कुछ नही कर सकते बुरा-भला कहने के बाद उन्हें एक दिन का अवसर और दिया तीसरे दिन पाठशाला के आरम्भ होते ही गुरुजी ने युधिष्ठिर से पाठ की बात पूछी और जब युधिष्ठिर ने इन्कार किया तो द्रोण को ताव आ गया। उन्होने युधिष्ठिर को पास बुलाया और बडे जोर से एक चाटा उसके गाल पर मारा। चाटा लगते ही युधिष्ठिर ने कहा, पाठ याद हो गया। द्रोण बोले, "मुझे मालूम नही था कि चाटा खाकर तुम्हे पाठ याद होगा, अन्यथा दो दिन का समय मै क्यो खराब करता," युधिष्ठिर ने कहा, "गुरुजी ऐसी बात नहीं है। पहले दिन जब आपने पूछा था कि पाठ याद हुआ तो मुझे अपने पर विश्वास नहीं कि मैने क्रोध को जीत लिया है। सम्भव है, कोई बुरा-भला कहे तो मुझे गुस्सा आ जाय। दूसरे दिन जब आपने मुझ से कठोर बाते कही तब भी मुझे गुस्सा नही आया। फिर भी मैने सोचा कि हो सकता है कि कोई मारे तो मुझे क्रोध आ जाय। लेकिन आज जब आपने मारा और मेरे मनमे जरा भी गुस्सा नही आया, तब मै समझा कि मुझे पाठ याद हो गया।"

बधुओ, यह दृष्टान्त मैंने यह बताने के लिए दिया है कि सच्चा ज्ञान वही है, जो जीवन मे उतरे। आज विज्ञान की प्रगति से ज्ञान का क्षेत्र तो बहुत व्यापक हो गया है लेकिन उसका सम्बन्ध जीवन से टूट गया है। इसलिए आज बार-बार कहा जा रहा है कि विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होना चाहिए। आज यही समन्वय हमे नही दिखाई दे रहा।

पूज्य मुनि श्री विद्यानन्दजी ने अपने हाल ही के एक पत्र मे मुझे लिखा है, "आज धर्म और सस्कृति पर निष्ठा रखने की सर्वाधिक आवश्यकता है यह एक महान प्रयत्न है जिसके लिए विशाल तथा उच्चकोटि का बहुमुखी प्रयत्न अपेक्षित है। सोमदेव सूरि ने कहा है—'लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञ.। अन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञागत एव'—इसलिए लोक-व्यवहार को जानना अत्यावश्यक है और उसमें अपनी

मूल निधि को भुलाना नही चाहिए।'

मुनिश्री ने कुछ उपयोगी सुझाव भी दिये है, जो हम सबके लिए शिक्षा-दर्शक हो सकते हैं। उनके सुझावो को यहा देने का लोभ मै संवरण नही कर सकता। वह लिखते हैं:

"युग के साथ चलना चाहिए, परन्तु क्षमतावान तो वही है जो युग को अपने साथ ले चलने की योग्यता उपार्जित करे। अपने सांस्कृतिक मूल्यों का यदि हम स्वयं अवमूल्यन नही करे तो दूसरा कौन उन्हें गिरा सकता है? समाज और देश के साथ समझौता करना उत्तम बात है, परन्तु अपनी आत्मिक और धार्मिक सम्पत्ति का क्षय करके कोई समझौता नही किया जा सकता। आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है-- "जैनो के लिए उन सब लौकिक विधियो का पालन करना सुगम है, जिनमे सम्यक्त्व की हानि न हो तथा व्रतो मे दोष नही आये।" मद्य, मधु, मास तथा अण्डा सर्वथा त्याज्य है—इस धार्मिक सत्य को जैन बालको को अच्छी प्रकार समझा देना चाहिए।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि।
न यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र व्रत दूषणम्॥

२ यह युग सहचारिता का है। भावात्मक एकता की गहरी आवश्यकता है। एक राष्ट्रीयता तथा मानवीय पक्ष के लिए यथाशक्ति वात्सल्य निर्माण करते जाने से आत्मबल बढता है।, आत्मीयों की अधिकता होती है। ऐसा न करने से द्वेष-बुद्धि को प्रश्रय मिलता है। कबीर का दोहा आज भी इस दृष्टि से अनुपेक्षणीय है

पड़ोसी सूँ रूसणा तिल-तिल सुख की हानि।
पंडित भये सरावगी पानी पीवें छानि॥

३ शिक्षा-संस्थाए पृथक् पाठ्य-क्रम बनाकर नही चल सकती, परन्तु ऐसा वातावरण अवश्य उत्पन्न कर सकती है जिससे छात्र-वर्ग सत्प्रेरणा ले सके। अपने सास्कृतिक आयोजन, श्रुति-प्रार्थना, नाटक-रूपक, उपदेश-वाक्य इत्यादि द्वारा वहा अनुकूलता निर्माण की जा सकती है। प्रदर्शन न करते हुए प्रयोगात्मकता अपनाना श्रेयस्कर है। सस्थाओ का अन्तरंग किसी प्रौढ, धार्मिक व्यक्तित्व से परिचालित होना चाहिए।

लोक में जैनों का आदर्श जीवन पुन: लोक साहित्य मे प्रतिष्ठित हो तथा उनकी पवित्रता के गीत सभाघोषो में सुनाई दे, यही जैनो का लौकिक पुरुषार्थ होना चाहिए। अकाल-स्तुति मे (जपुजी १५० वाणी गुटका मे) लिखा है—'स्रावग सुद्ध समूह सिद्धान के देखि'—ऐसे नवीन गीतो की रचना जैनआचार पर निर्मित हो।"

मुनिश्री की यह सत्प्रेरणा वर्तमान जैन-शिक्षा-सस्थाओ के विचार तथा दिशा-निश्चय के लिए बडी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है।

सज्जनो, मै मानता हु कि जैन-समाज भारतीय जीवन का अभिन्न अग है। इसलिए आज जो सकट देश के सामने उपस्थित है। वह उसका भी है और उसे दूर करने में जैन-समाज को अपना योगदान देना चाहिए। सकट से मेरा आशय भौतिक वस्तुओ के सकट से नही है, हालाकि दैनिक जीवन मे उसका भी अपना महत्व है। मेरा आशय तो मूल्यो के सकट से है, उस आस्था के अभाव से, जिसके कारण आज चारो ओर अनैतिकता का साम्राज्य फैला हुआ दिखाई देता है।

जैन धर्म मे अहिसा को परमधर्म माना है। उसके अनुयायियो का कर्त्तव्य है कि वे अहिसा की तेजस्विता को विश्व के सामने प्रगट करे। आज सारा ससार अणु-शक्ति के विकाश मे लगा है। उसके विनाशकारी प्रयोग को हम हीरोशिमा तथा नागासाकी मे देख चुके है। अन्य अनेको देशो मे आज देख रहे है। सच बात यह है कि आज बडे-से-बडे राष्ट्र भयभीत हो रहे हैं कि यदि दूसरे राष्ट्र के पास आणविक शक्ति अधिक हो गई तो उसका अस्तित्व खतरे मे पड जायगा दो महायुद्ध हम देख चुके है। तीसरे महायुद्ध की घटाए जब-तब आकाश मे घिर आती है जब ससार इतना त्रस्त हो रहा है तो अहिसा के प्रचार के लिए इससे बढकर और कौन-सा उपयुक्त समय हो सकता है? लेकिन किस अहिसा का? उस अहिसा का नही, जिसे कायर अपनाता है, बल्कि उस अहिसा का, जो वीर का भूषण है और जिसकी तेजस्विता के आगे शक्तिशाली पाशविक बल स्वत ही पराभूत हो जाता है।

अहिसा के पुजारी होने के नाते जैन-समाज पर इस दिशा में भारी जिम्मेदारी आती है। वर्तमान परिस्थितियो मे इस जिम्मेदारी का निर्वाह किस प्रकार किया जा सकता

है इस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है।

एक बन्धु ने सुझाव दिया है कि शिक्षा का स्थान अब यूनिवर्सिटी या कालेज ही हो सकते है। छोटी-छोटी पाठशालाओं या गुरुकुलो का अब शिक्षा के क्षेत्र मे कोई स्थान रहनेवाला नही है उसकी धारणा है कि अपने स्वतन्त्र गुरुकुल अथवा पाठशाला चलाने की अपेक्षा शिक्षा केन्द्रों मे जैन-छात्रवासो की सुविधा कर देने से जो परिणाम निकल सकते हैं, वे स्वतन्त्र सस्थाएं चलाकर नहीं।

मेरी मान्यता है कि धार्मिक संस्कार देना और धार्मिक विषयों का ज्ञान देना, ये दो भिन्न बाते है। जहा तक संस्कार का सम्बन्ध है, वे घरों मे और छोटी-छोटी पाठ-शालाओं के द्वारा ही दिये जा सकते है। लेकिन जहां तक ज्ञान का सम्बन्ध है, उसके लिए महाविद्यालय तथा विश्व-विद्यालय स्तर पर शिक्षा तथा अन्वेषण की व्यवस्था करनी होगी।

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की रीढ होती है। बिना शिक्षा के कोई भी देश आगे नही बढ सकता। ससार का इति-हास साक्षी है कि जिन देशों मे देश-कालके अनुसार शिक्षा द्वारा देशवासियो का चरित्र ऊचा किया गया है, उन देशों ने कुछ समय मे ही बडी भारी उन्नति की है। वे कही-के-कही पहुंच गये है।

लेकिन स्मरण रहे कि सही ढग की शिक्षा जितना लाभ पहुचाती है, गलत शिक्षा उससे कहीं अधिक हानि पहुचाती है। हमारे देश की जो हानि हुई है और हो रही है वह इसलिए कि हमने अभी तक अपनी शिक्षा को पुरानी लकीर से हटाकर नये सांचे मे नही ढाला।

अखिल भारतीय जैन शिक्षा-परिषद का मुख्य उद्देश्य जैन शिक्षा तथा शिक्षा-संस्थाओ को अधिकाधिक व्यापक एवं उपयोगी बनाना है। इस सबन्ध मे मै कुछ सुझाव आपके विचारार्थ प्रस्तुत करता हूँ।

१. आज जैन-समाज द्वारा जितनी शिक्षा-सस्थाओं का संचालन हो रहा है, उनके साथ एक-एक छात्रवास की व्यवस्था हो, विशेषकर बडे-बडे नगरों में तो शीघ्रातिशीघ्र हो जानी चाहिए, जहां युवको में चरित्र का ह्रास बड़ी तेजी से हो रहा है। इन छात्रावासो के संचालन का दायित्व उन व्यक्तियों पर हो, जो धर्म में गहरी आस्था रखते हों और जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली हो। इन छात्रावासो में आचार-विचार की शुद्धता पर सबसे अधिक बल दिया जाय। प्रार्थना, स्वाध्याय आदि उनके दैनिक जीवन के अनिवार्य अग हों। ऐसा प्रयत्न भी किया जाय, जिससे छात्रों की दृष्टि व्यापक बने और उनमे मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो।

२ देश की वर्तमान स्थिति में यह तो संभव नहीं है कि किसी धर्म विशेष की शिक्षा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कराया जा सके, लेकिन भारतीय धर्मों के सामान्य आचार-विचार की शिक्षा की व्यवस्था तो हो ही सकती है और उनके लिए प्रयत्न होने चाहिए। बिना पारिभाषिक शब्दा-वली का प्रयोग किये, जन सामान्य की भाषा शैली में, ऐसे पाठ तैयार करने चाहिए, जो जैन तथा जैनेतर सभी छात्रों को नैतिक जीवन की शिक्षा दे सकें।

३ जैन शिक्षा-सस्थाओं मे ऐसे केन्द्र बनने चाहिए, जिनमें जैन-धर्म तथा दर्शक का अध्ययन एव शोध की जा सके। सुयोग्य एव क्षमतावान छात्रो को छात्र-वृत्तिया देकर उस दिशा मे विशेष प्रेरणा देनी चाहिए।

४. महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय मे जहा सस्कृत पढाई जाती है, वहां विकल्प रूप मे प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के अध्ययन का भी प्रबन्ध होना चाहिए। आज भी बहुत-से विद्यानुरागी युवक है, जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओ के ग्रथो के अध्ययन मे विशेष रुचि रखते हैं उन्हे इन भाषाओ के सीखने तथा ग्रन्थो के अध्ययन की सुविधा मिलनी चाहिए।

५. जैन शिक्षा-सस्थाओं मे जैन संस्कृति तथा दर्शन के सम्बन्ध मे समय-समय पर विद्वानो के भाषणो का आयोजन होना चाहिए। इन भाषणो मे यह दृष्टि रहनी आवश्यक है कि हम अपने धर्म तथा सस्कृति को तो जाने, लेकिन हमारी वृत्ति सर्व-धर्म-समभाव की हो, यानी हमारे अन्दर सब धर्मों के लिए समान आदर-भाव जाग्रत हो।

६. भारत की राजधानी मे एक ऐसे सग्रहालय की स्थापना होनी चाहिए, जिनमे जैन-धर्म के प्रमुख मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह हो। ऐसे संग्रहालय कुछ स्थानो पर है, लेकिन दिल्ली एशिया का महत्वपूर्ण केन्द्र है अत. एक बड़ा सग्रहालय वहां होना चाहिए। संग्रहालय की

शाखाएं विभिन्न स्थानों पर खोली जा सकती है।

७. जैनधर्म के हस्तलिखित ग्रथ जगह-जगह जैन-भण्डारों में भरे पडे हैं। उनकी एक सूची सक्षिप्त परिचय के साथ शीघ्र ही तैयार हो जानी चाहिए।

८. मुझे संसार के अनेक देशो मे घूमने का अवसर मिला है। यूरोप, दक्षिण-पूर्वी एशिया, अफ्रीका प्रशान्त महासागर के देश, सब जगह मुझे ऐसे व्यक्ति मिले है, जिन्होंने जैन-धर्म के प्रति बडी जिज्ञासा व्यक्त की है और ऐसे साहित्य की माँग की है, जो उन्हे सरल भाषा मे जैन-धर्म के बुनियादी सिद्धातोंकी जानकारी दे सके। विदेशियो के लिए हमारे कुछ विद्वानों ने साहित्य तैयार किया था, लेकिन तब से अब तो संसार बहुत आगे बढ गया है। वे लोग धर्म का इसलिए अध्ययन करना चाहते है कि उन्हे अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने मे सहायता मिले। उनका धरातल बौद्धिक है और वे उसी साहित्य को अगीकार कर सकते सकते है, जो बुद्धि की कसौटी पर कसा जा सके।

९. इसके लिए ऐसे प्रकाशन-गृह की आवश्यकता है, जो विद्वान लेखको स ग्रथ तैयार कराकर उसका प्रकाशन करे। यह प्रकाशन-गृह उन हस्तलिखित ग्रथो का भी प्रकाशन कर सकता है, जो अत्यन्त उपयोगी है और जो भण्डारो मे बन्द पडे है।

१०. जैन साधु तथा साध्वियाँ देश मे घूम-घूमकर धर्म-प्रभावना प्रसारित करती है, लेकिन उनके दायरे सीमित है, अत. उनकी उपयोगिता भी सीमित है। जैन समाज के चुने हुए विद्वानो के, जो अच्छे वक्ता भी हो, छोटे-छोटे शिष्टमण्डल देश के विभिन्न भागो मे जा सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। कुछ शिष्टमण्डल विदेशो मे भी जाने आवश्यक हैं। वहाँ के निवासी हिसा से तग आकर अहिंसा की ओर आकर्षित हो रहे है और वे मानते है कि उस दिशा में जैन-धर्म की विशेष देन है।

११. दिल्ली तथा अन्य केन्द्रीय स्थानो पर समय-समय पर गोष्ठियो का आयोजन भी उपयोगी होगा। ये गोष्ठियाँ जैनेतर व्यक्तियों को जैन-धर्म की ओर आकर्षित करने मे सहायक हो सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

१२. आचार्य विनोबा के आह्वान पर बहुत-से भाई-बहनों ने उनकी अहिंसक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है। वे 'जीवनदानी' कहलाते हैं। ऐसे ही कुछ सेवा-भावी व्यक्ति जैन-समाज में भी आने चाहिए। वे समाज-सेवा के लिए अपने जीवनको अर्पित कर दें और अपने-अपने क्षेत्र में समाज-सेवा का कार्य करे। वे अपना पूरा समय समाज-सेवा को दे और समाज का दायित्व हो कि वह उनकी जीविका की व्यवस्था करे।

१३. ऐसे पारितोपिको की भी सुविधा होनी चाहिए, जो सदाचार, निर्भीकता, भ्रातृभाव आदि की दृष्टि से उच्च कोटि के छात्रों को दिये जा सकें। ऐसे पारितोपिको से छात्र-छात्राओ मे स्वास्थ प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न होगी।

१४. हमारी शिक्षा बहुत-कुछ एकागी है। वह पुस्तकीय ज्ञान कराने का तो प्रयत्न करती है, लेकिन वह युवको मे स्वावलम्बन की भावना और आत्मविश्वास पैदा नही कर सकता है जबकि हमारी शिक्षा-सस्थाओ मे उद्योग के शिक्षण की भी व्यवस्था हो। गाधीजी ने बुनियादी शिक्षा का प्रचलन इसीलिए किया था। श्रम के बिना ज्ञान अधूरा है और बिना शिक्षा खरी मेहनत के धर्म भी अपंगु है। इसलिए हमारी शिक्षा-सस्थाओ मे उद्योग का शिक्षण अनिवार्य होना चाहिए।

ऐसे और भी बहुत-से कार्य हो सकते है मैं उन सब को यहा गिनाना नही चाहता। मैंने तो केवल सकेत किया है। आप सब विज्ञ है। गम्भीरता से विचार करके व्यावहारिक योजनाए बनाये और उन्हे क्रियान्वित करे।

जैन धर्म की बडी व्यापकता है और जैन-समाज की बड़ी उपयोगिता भी हो सकती है, लेकिन यह तभी संभव है, जबकि सारा समाज सगठित हो और उन आदर्शो को अपने आचरण से ससार के सामने रक्खे, जो सबके लिए कल्याणकारी है।

जैन-दर्शन का सम्यक् ज्ञान वास्तव मे अद्भुत है मन का ज्ञान सदा अह की एकागी अहता से निर्धारित तथा विकृत होता है। वह कभी सम्यक् भी नही होता। उसकी उपयोगिता सामाजिक व्यवहार की है। उसमे यथार्थता नही होती और तभी 'शिव' और 'सुन्दर' के साथ एकत्व भी उसमे नही होता। हमारा वर्तमान ज्ञान एकागी, आशिक है। उसमे 'शिव' और 'सुन्दर' का समन्वय नही है।

जैनधर्म में सम्यक् ज्ञान की कितनी महिमा है, यह बताने की आवश्यकता नही। यह ज्ञान तटस्थ आत्मा का समग्रभाव युक्त ज्ञान है। वही ज्ञान हमारे ज्ञान और कर्म को एकत्व भाव प्रदान करता है। आज इसी की आवश्यकता है और हमारी शिक्षा-सस्थाओ को अब आगे इसी दिशा में निष्ठापूर्वक प्रयास करना चाहिए।

आचार्य विनोबा के शब्दो में, "अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गई है। एक 'स्वाहा', दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तिया जहा है, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मायने है। आत्माहुति देने की, आत्म-त्याग की शक्ति और 'स्वधा' के मायने है 'आत्मधारण करने की शक्ति।" ये दोनो शक्तिया हमारे शिक्षण मे जाग्रत होनी चाहिए।

जो संस्थाएं इस दिशा में प्रयत्नशील हैं, उन्हें मैं बधाई देता हूँ। पर वे मेरी इस बात से सहमत होगी कि अब समय तेजी से आगे बढने को आ गया है। अब जबकि चन्द्रलोक मे जाने और वहां बसने की चेष्टाए हो रही हैं, हमे अपने वर्तमान प्रयत्नों से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। 'चरैवेति' के मूलमत्र को सामने रखकर गतिपूर्वक आगे बढना चाहिए।

बहनो और भाइयो, मैंने आपका बहुत समय ले लिया क्षमा करे। मैं नही जानता कि ये विचार आपके लिए कितने उपयोगी होगे। मै मानता हूँ कि अब समय कहने से अधिक करने का है। मैं एक बार पुनः आपका आभार मानता हूँ और आपने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी, उसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

शिरपुरका जैनमन्दिर दिगम्बर जैनियों का ही है

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० देशपांडे का अभिमत

नागपुर बुधवार। "उपलब्ध सभी ऐतिहासिक प्रमाणों से शिरपुर का अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी का मन्दिर और अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा, ये दोनों पूर्ण निर्ग्रन्थ व दिगम्बर जैनों के है। इसमे किंचित् मात्र भी शका नही" ऐसा वक्तव्य भारत के मान्यवर ८६ वर्षीय इतिहासकार डा० य. खु. देशपाडे ने दिया है।

डा० देशपाडे ने इतवारी स्थित श्री दि. जैन सेनगण मन्दिर के प्रांगण में, नागपुर दि. जैन बघेरवाल मडल के तत्वावधान में आयोजित परिचय समारोह की जाहिर सभा में भाषण देते हुए उक्त रहस्योद्घाटन किया। अध्यक्षता नागपुर दि. जैन बघेरवाल मडल के अध्यक्ष श्री व. क. गरीबे ने की।

डा० देशपाडे ने कहा की सभी ऐतिहासिक प्रमाणों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि करीब २००० साल पहले भारत में केवल दिगम्बर जैन धर्म और उसके मन्दिर (प्रतिमायें) अस्तित्व में थे, और भगवान महावीर के महानिर्वाण के बाद ५००—६०० साल तक भारतवर्ष में केवल दिगम्बर जैन ही थे। उस समय श्वेतांबरी पथ अस्तित्व मे नही था, गत २०० साल से श्वेतांबरियों ने व्यापार के बहाने विदर्भ मे प्रवेश किया।

करीब २०० साल पहले तक विदर्भ मे एक भी श्वेतांबरी मन्दिर अथवा प्रतिमायें नही थीं, तदुपरात श्वेताबरियों ने योजनायें बनाकर दिगम्बर जैन मन्दिरो और मूर्तियों पर पूजा का हक स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रयास द्वारा ही उन्होंने श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी मन्दिर पर कुछ अंशों मे हक स्थापित किया। डा० देशपाडेने अपील की कि दोनों सम्प्रदायो के लोगों को धर्म का प्रचार कर हिंसा को तिलाजली देना चाहिये। मन्दिर और प्रतिमाये किसकी है, यह निश्चित करने का कार्य ऐतिहासिक प्रमाणों पर छोड देना चाहिए।

प्रारभ मे प्रो. मधुकर जी वाबगांवकर ने डा० देशपांडे का परिचय कराया। इस अवसर पर प्रो. ब्रम्हानंद जी देशपाडे, नेमचद डोणगावकर, मनोहर आग्रेकर के समयोचित भाषण हुए। अत में सचिव अरविंद जोहरापुरकर ने आभार प्रदर्शन किया।

केशि-गौतम-संवाद

श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उत्तराध्ययन प्रसिद्ध है। उसकी गणना मूल-सूत्र आगमो मे प्रथम मूलसूत्र के रूप मे की जाती है। इसमे विनय व परीषह आदि ३६ अध्ययन है। उनमें तेईसवा अध्ययन 'केशि-गौतमीय' है जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान् पार्श्व जिनके एक शिष्य केशिकुमार श्रमण और वर्धमान स्वामी के प्रमुख गणधर का मधुर मिलन होने पर जो दोनो के मध्य मे प्रश्नोत्तर हुए उनका रोचक वर्णन है, जो बहुत उपयोगी है। अपने को स्याद्वादी ख्यापित करने वाले जैन महानुभाव यदि इस अध्ययन को पढ़े, मनन करे, और जीवन मे उतारे तो वर्तमान कलुषित वातावरण सर्वथा समाप्त हो जाय। इसमे पारस्परिक द्वैविध्य के विषय मे जो एक दूसरे को सम्मान देते हुए[1] सौजन्यपूर्ण समन्वयात्मक दृष्टिकोण से विचार किया गया है वह बहुत ही आकर्षक है।

इस अध्ययन में ८९ सूत्र है जो अनुष्टुप् वृत्त में है। प्रथम सूत्र द्वारा भगवान् पार्श्व जिनेन्द्र का स्मरण करते हुए उन्हे अर्हत्, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ और धर्म-तीर्थकर कहा गया है।

इस प्रसग को लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ के एक वृत्तिकार श्री नेमिचन्द्र ने अपनी सुखबोधा वृत्ति मे[1] इस प्रथम सूत्र की टीका मे भ. पार्श्व जिन के चरित्र का चित्रण किया है (पृ. २८५-९५) जो किसी अन्य ग्रन्थ से जैसे का तैसा लिया गया प्रतीत होता है।

आगे (सू २-४) कहा गया है कि भ पार्श्व जिनेन्द्र के एक महायशस्वी शिष्य केशिकुमार श्रमण—जो ज्ञान और चारित्र के पारगामी होते हुए अवधिज्ञान और श्रुतज्ञान से बुद्ध (तत्त्ववेत्ता) थे—ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपने शिष्यसमुदाय के साथ श्रावस्ती पुरी मे आये और नगरी के समीप तिन्दुक उद्यान मे प्रासुक शय्या-सस्तारक (वसतिगत शिलापट्ट आदि) पर ठहर गये।

इसी समय लोकविश्रुत भगवान् वर्धमान धर्म-तीर्थकर के महायशस्वी शिष्य गौतम भी—जो ज्ञान व चारित्र के पारगामी, बारह अगों के वेत्ता व बुद्ध थे—ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपने शिष्यवर्ग से वेष्टित होकर उपर्युक्त पुरी मे आये और नगर के समीप कोष्ठक उद्यान मे

---

१ पारस्परिक सम्मान का पता इससे सहज मे लगता है कि गौतम प्रमुख गणधर होकर भी ज्येष्ठ कुल का विचार करके केशिकुमार श्रमण से मिलने के लिए स्वय उनके स्थान पर जाते है। यथा—

गोतमे पडिरूवण्णू सीससघसमाउले।
जेट्ठं कुलमवेक्खतो तेदुय वणमागग्रो ॥१५॥

उधर उनको आता हुआ देखकर केशिकुमार भी शीघ्रतापूर्वक स्वागत करते हुए उन्हे समुचित आसन आदि देते है। यथा—

केसीकुमारसमणो गोयम दिस्समागय।
पडिरूव पडिवत्ति सम्म सपडिवज्जती ॥१६॥
पलाल फासुय तत्थ पचम कुसतणाणि य।
गोयमस्स णिसिज्जाए खिप्प सपणामए ॥१७॥

इसी प्रकार केशिकुमार के द्वारा पूछे गये प्रत्येक प्रश्न का गौतम के द्वारा समाधान करने पर बार बार केशिकुमार के श्रीमुख से गौतम की बुद्धिचातुर्य की प्रशसा मे निम्न सूत्र कहलाया जाता है—

साहु गोयम पन्ना ते छिन्नो मे ससग्रो इमो।
अन्नोऽवि संसग्रो मज्झं त मे कहसु गोयमा ॥
(२८ व ३४ आदि)

१ प्रकृत ग्रन्थ के कितने ही सस्करण विविध टीका-टिप्पणो के साथ निकल चुके है। किन्तु हमारे सामने वह श्री नेमिचन्द्र की इस सक्षिप्त सुखबोधा वृत्ति सहित है।

प्रासुक शय्या-सस्तारक पर स्थित हो गये। (५-८)

इस प्रकार जब वे दोनों महर्षि अपने-अपने शिष्य-सघ के साथ आकर एक ही पुरी मे प्रतिष्ठित हुए तब दोनों के शिष्यसमुदाय मे यह चिन्ता प्रादुर्भूत हुई—यह हमारा धर्म कैसा और गौतम गणधर के शिष्यो का धर्म कैसा है ? भ. पार्श्व जिन ने जहा चातुर्याम—ब्रह्मचर्य-विहीन चार ही महाव्रत रूप—धर्म का उपदेश दिया वहां वर्धमान तीर्थंकर ने पचशिक्षित—अहिसादि पाच महाव्रत स्वरूप—उसी धर्म का उपदेश दिया। इसी प्रकार आचारधर्मप्रणिधि—लिगादिरूप बाह्य क्रियाकलाप—के विषय मे जहा वर्धमान तीर्थंकर ने अचेलक (दिगम्बरत्व—वस्त्रविहीनता) धर्म का उपदेश दिया वहा पार्श्व जिन ने सान्तरोत्तर—प्रमाण आदि मे सविशेष व महामूल्यवान् होने से प्रधान ऐसे वस्त्र से युक्त—उस धर्म का उपदेश दिया। जब उक्त दोनो ही तीर्थंकर मुक्तिरूप एक ही कार्य मे सलग्न रहे है तब उनके द्वारा उपदिष्ट इस धर्म-भेद का क्या कारण है ? (९-१३)

शिष्यसघो की इस चिन्ता को जानकर दोनो महर्षियो ने आपस मे मिलने का विचार किया। तदनुसार यथा-योग्य विनय के वेत्ता गौतम गणधर ज्येष्ठ कुलका विचार करते हुए तिन्दुक वन मे केशिकुमार श्रमण के पास आये। उन्हे आता हुआ देखकर केशिकुमार ने समुचित आतिथ्य मे प्रवृत्त होते हुए उनके बैठने के लिए शीघ्रता से प्रासुक पलाल मे पचम[1] कुश तृणो को—डाभ के आसन को—दिया। (१४-१७)

इस प्रकार एक साथ बैठे हुए वे दोनो महर्षि चन्द्र-सूर्य के समान सुशोभित हुए। (१८)

उनके इस मधुर मिलन के समय कौतुकवश मृगो के समान बहुत-से पाखण्डी—इतर व्रती जन—और हजारो गृहस्थ आये। इनके अतिरिक्त वहां देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये दृश्य तथा अदृश्य भूत व्यन्तर भी आये। (१९-२०)

तत्पश्चात् केशिकुमार गौतम से बोले कि हे महा-भाग ! मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ। इस पर गौतम बोले कि भते ! जो कुछ भी पूछना हो, अवश्य पूछिये। तब अनुज्ञा पाकर केशिकुमार बोले। (२१-२२)

१ केशि—चातुर्याम जो धर्म है उसका उपदेश तो पार्श्व जिनने दिया, और जो पचशिक्षित धर्म है उसका उपदेश वर्धमान जिनने दिया है। एक ही कार्य (मुक्ति) मे प्रवृत्त उक्त दोनो तीर्थङ्करो के इस दो प्रकार धर्म की प्ररूपणा का क्या कारण है तथा इसमें आपको सन्देह क्यो नही होता ?

गौतम—तत्त्वनिश्चय से संयुक्त इस धर्मतत्त्व का रहस्य बुद्धि के बल से जाना जाता है। वाक्य के श्रवण मात्र से कभी वाक्यार्थ का निर्णय नही होता—वह तो बुद्धि के बल पर ही हुआ करता है। प्रथम तीर्थंकर के समय मे साधु जन ऋजु-जड—सरल होते हुए भी दुःप्रति-पाद्य थे, अन्तिम तीर्थंकर के समय के साधु वक्र-जड—कुटिल होकर जड थे, और मध्य के बाईस तीर्थंकरो के समय के साधु ऋजुप्रज्ञ—सरल होते हुए बुद्धिमान् थे, उनको समझाना कठिन न था। इससे धर्म की प्ररूपणा दो प्रकार से की गई है। प्रथम तीर्थंकर के समय के साधुओ को कल्प—साधु के आचार—का समझाना कठिन था तो अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को उसका पालन करना कठिन था। किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरो के समय के साधु उस कल्प को सुखपूर्वक समझ भी सकते थे और पालन भी कर सकते थे[1]। (२३-२७)

२ केशि—भगवान् वर्धमान ने तो अचेलक धर्मका

---

१ तणपणगं पुण भणिय जिणेहिं कम्मट्ठ-गठिमहणेहिं।
साली वीही कोद्दव रालग रन्ने तणाइ च ॥

शालि, व्रीहि, कोद्रव, रालक और अरण्यतृण, ये पाच पलाल के भेद है। इनमे पाचवा चूकि अरण्य-तृण (कुश) है, अत. उसका उल्लेख 'पचम' के रूप किया गया है।

१ पुरिमा उज्जु-जडा उ वक्क-जड्डा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जु-पन्ना उ तेण धम्मो दुहा कए ॥२६
पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ चरिमाण दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसुज्झो सुपालओ ॥२७

उपदेश दिया, पर पार्श्व जिनेन्द्र ने सान्तरोत्तर[1]—सान्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी के समयकी अपेक्षा प्रमाण में विशेष और उत्तर अर्थात् महामूल्यवान् होने से प्रधान वस्त्रयुक्त—धर्म का उपदेश दिया। मुक्तिरूप एक कार्य मे संलग्न दोनों तीर्थकरो के मध्य में इस बाह्य आचार विषयक उपदेश की विशेषता का कारण क्या है?

गौतम—उक्त दोनो तीर्थकरों ने विज्ञान से—विशिष्ट ज्ञान स्वरूप केवलज्ञान से—जानकर धर्मसाधन को अभीष्ट माना है। फिर भी लोगो को संयत होने का बोध कराने के लिए उस धर्मसाधनविषयक अनेक प्रकार का विकल्प किया गया है। लिंग का प्रयोजन यात्रा—सयम का निर्वाह—और ग्रहण (ज्ञान) रहा है। वस्तुतः मोक्ष के सद्भूत (यथार्थ) साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र है; यह दोनो ही तीर्थकरो की प्रतिज्ञा रही है—इस विषय मे दोनों के मध्य में कुछ भी मतभेद नही रहा। (२८–३३)

३ केशि—हे गौतम! तुम उन कई हजार शत्रुओ के मध्य मे स्थित हो जो तुम्हे प्राप्त करना चाहते है। उन सबको तुमने कैसे जीता है?

गौतम—एक शत्रु के जीत लेने से पाँच, पाँच के जीत लेने से दस, और दसके जीत लेने से सभी शत्रु विजित होते है। इस प्रकार से मैंने उन सबको जीत लिया है।

केशि—वे शत्रु कौन-से कहे गये है?

गौतम—एक आत्मा – आत्मा से अभिन्न प्रतीत होने वाला मन—अजित (दुर्जेय) शत्रु है, क्योकि, समस्त अनर्थों का कारण वही है। फिर कषाय (४) अजित शत्रु है, ये उस आत्मा के साथ पाँच (४+१) हो जाते हैं। फिर इन्द्रिया अजित शत्रु है, पूर्वोक्त पाँच के साथ इन्द्रियाँ (५) मिलकर दस हो जाते है। इनको जीतकर मै न्याय्य मार्ग से विहार कर रहा हूँ—यथायोग्य संयम के साधने में उद्यत हूँ। (३४–३८)

४ केशि—लोक मे बहुत-से प्राणी पाशबद्ध देखे जाते है। फिर हे मुने! तुम उस पाश से मुक्त होकर लघुभूत होते हुए कैसे विहार करते हो?

गौतम—उन सब पाशो को छेदकर व फिर से वह बन्धन प्राप्त न हो, इस प्रकार के सद्भूत भावना के अभ्यासरूप उपाय से उन्हें नष्ट करके लघुभूत होता हुआ मै हे मुने! विहार कर रहा हूँ—साधना में प्रवृत्त हूँ।

केशि—वे पाश कौन-से है?

गौतम—राग-द्वेष आदि तीव्र व स्नेहपाश—स्त्री-पुत्रादि सम्बन्ध—भयंकर है। उनको छेदकर मै यथान्याय—सूत्रोक्त विधि के अनुसार—क्रमपूर्वक विहार कर रहा हूं। (३६–४३)

५ केशि—हे गौतम! हृदय के भीतर प्रादुर्भूत होकर वह लता स्थित है जो विषफलो को उत्पन्न करती है। तुमने उसे कैसे उखाड़ा?

गौतम—मैने उस पूरी लता को काटकर समूल—राग-द्वेषरूप जड के साथ—नष्ट कर दिया है। इसलिए मै विषभक्षण से—विष जैसे दुखद दुष्ट कर्म से—मुक्त होकर न्यायानुसार विहार कर रहा हूँ॥

केशि—वह लता कौन-सी कही गई है?

गौतम—वह लता भवतृष्णा—लोभ—कहा गया है। वह स्वभावत भयानक होकर भयकर फलो को—क्लिष्ट कर्मों को—उत्पन्न करने वाली है। उसको उखाड़ कर मै यथान्याय विहार कर रह हूँ। (४४–४८)

६ केशि—भीषण ज्वालाओं वाली वे भयानक अग्निया स्थित है जो प्राणियों को जलाती है। तुमने उन्हें कैसे बुझाया है?

गौतम—जिनेन्द्ररूप महामेघ से प्रादुर्भूत आगमान्तर्गत सब प्रकार के जल मे श्रेष्ठ सदुपदेशरूप जल को लेकर मैं उससे उन्हे निरन्तर सीचा करता हूँ। इस प्रकार से सिक्त होकर—शान्त होती हुई—वे अग्नियां मुझे नहीं जलाती है।

---

१ यश्चायं सान्तराणि—वर्द्धमानस्वामियत्यपेक्षया मान-वर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्तराणि—महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते।

(नेमिचन्द्र वृत्ति २३, ६-१३)

समीक्षात्मक विचार के लिए देखिये श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का 'जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका' पृ. ३६४–६६।

केशि—वे अग्नियां कौन-सी कही गई है ?

गौतम—कषाये अग्नि कही गई है और श्रुत—तद्गत सदुपदेश, शील (महाव्रत) एव तप—को जल कहा गया है। इस प्रकार श्रुतधारा से अभिहत होकर विनाश को प्राप्त होती हुई वे अग्नियां मुझे नही जलाती है। (४९-५३)

७ केशि—सहसा प्रवर्तमान यह भयानक दुष्ट घोडा तुम्हारे अभिमुख दौड रहा है। उसके ऊपर सवार होकर तुम उसके द्वारा कैसे अपहृत नही किये जाते हो ?

गौतम—उस दौडते हुए दुष्ट घोडे का मै श्रुतरूप रश्मि (लगाम) को लगाकर निग्रह करता हूँ। इससे वह उन्मार्ग में न जाकर समीचीन मार्ग को प्राप्त होता है।

केशि—वह घोडा कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—सहसा प्रवृत्त होने वाला वह दुष्ट भयानक घोडा मन है जो मेरे अभिमुख दौडता है—राग-द्वेष मे प्रवृत्त करना चाहता है। मै जात्य अश्व के समान उस घोडे का धर्मशिक्षा के द्वारा निग्रह किया करता हूँ। (५४-५८)।

८ केशि—लोक मे कुमार्ग बहुत-से है, जिनके आश्रय से प्राणी नष्ट होते है। हे गौतम ! ऐसे मार्ग मे स्थित रहकर भी तुम क्यो नही विनष्ट होते हो ?

गौतम—जो मार्ग से जाते है, और जो कुमार्ग के पथिक (यात्री) हैं वे सब मुझे ज्ञात है; इसी से हे मुने ! मै नष्ट नही होता हूँ।

केशि—मार्ग कौन-से कहे गये है और कुमार्ग कौन-से कहे गये है ?

गौतम—कुप्रवचन और पाखण्डी ये सब कुमार्ग मे स्थित है और जो जिनोपदिष्ट सन्मार्ग है वही उत्तम मार्ग है। (५९-६३)

९ केशि—हे गौतम ! जल के प्रबल वेग से डूबते हुए प्राणियों की रक्षा करने वाला व उसकी गति को रोकने वाला द्वीप तुम किसे समझते हो ?

गौतम—जल के मध्य मे विशाल भवनो से वेष्टित एक द्वीप है जहां उस प्रबल जल के वेग की गति (प्रवेश) नही है।

केशि—वह द्वीप कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—जरा और मरण ही वह जल का वेग है। उससे डूबने वाले प्राणियों को धर्म ही द्वीप है, जो स्थिर अवस्थान का कारण होता हुआ उस वेग को रोककर प्राणियो की रक्षा करता है। वही द्वीप उत्तम है। (६४-६८)।

१० केशि—विशाल जलप्रवाह से परिपूर्ण समुद्र मे नाव, जिस पर तुम आरूढ हो, वेग से भाग रही है। उससे भला तुम कैसे पार पहुँचोगे ?

गौतम—जो नाव आस्रवयुक्त है—जल का सग्रह करने वाली है—वह पार जाने वाली नही है, परन्तु जो उस आस्रव से रहित है वह तो पार जाने वाली है।

केशि—वह नाव कौन-सी कही गई है ?

गौतम—शरीर नाव और जीव नाविक—उस नाव पर आरूढ—कहा जाता है; तथा ससार समुद्र है, जिसे महर्षि जन पार किया करते है।

अभिप्राय यह कि जो शरीर कर्मास्रव से सयुक्त होता है वह मुक्ति का साधक नही हो सकता है; मुक्ति का साधक तो वही शरीर होता है जो उस कर्मास्रव से रहित हो जाता है। (६९-७३)

११ केशि—बहुत-से प्राणी अन्धा कर देने वाले भयानक अन्धकार में स्थित है। उन प्राणियो को समस्त लोक मे कौन प्रकाश करेगा ?

गौतम—जो निर्मल सूर्य उदित होकर सब लोक को प्रकाशयुक्त करने वाला है वह समस्त लोक मे प्राणियों को प्रकाश करेगा।

केशि—वह भानु (सूर्य) कौन कहा गया है ?

गौतम—समस्त पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) जो जिन देवरूप सूर्य उदित होकर ससार का विनाश करने वाला है वह सभी लोक मे प्राणियो को प्रकाश करेगा—उन्हे अपने सदुपदेश के द्वारा सन्मार्ग दिखलावेगा, जिसके आश्रय से वे ससार का विनाश कर सकेंगे। (७४-७८)

१२ केशि—हे मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखों के द्वारा बांधे जाने वाले—उनसे पीड़ित—प्राणियों के लिए तुम क्षेम—व्याधिविहीन, शिव—समस्त उपद्रवों से

रहित होनेके कारण कल्याणरूप—और अनाबाध—निर्बाध—स्थान कौन-सा मानते हो ?

गौतम—लोक के अग्र भाग में दुरारोह—कठिनता से प्राप्त होने वाला—एक शाश्वत स्थान (मोक्ष) है जहा न जरा है, न मृत्यु है, न व्याधियां है, और न वेदना भी है।

केशि—वह स्थान कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—वह स्थान निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है; जिसे महर्षि जन प्राप्त करते हैं। वह शाश्वत निवासभूत स्थान लोकशिखर पर दुरारोह है, जिसे पाकर हे मुने! ससार को विनष्ट करने वाले सिद्ध परमात्मा कभी शोकाकुल नही होते। (७९-८४)

इस प्रकार गौतम के द्वारा किये गये अपने प्रश्नो के समाधान से सन्तुष्ट हो अन्त मे केशिकुमार उनकी प्रशसा मे कहते है कि हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्कृष्ट है, हे सशयातीत व सर्वसूत्र-महोदधे! तुम्हारे लिए नमस्कार है[1]।

१ साहु गोयम पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो।
नमो ते संसयाईय सव्वसुत्त-महोयही ॥८५

इस प्रकार संशय के विलीन हो जाने पर केशिकुमार ने महायशस्वी गौतम को शिर झुकाकर नमस्कार किया और पूर्व तीर्थंकर को अभीष्ट व अन्तिम तीर्थंकर प्ररूपित शुभावह—शुभोत्पादक—अथवा सुखावह—सुखप्रद—मार्ग मे भावतः पांच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार किया[2]।

केशिकुमार और गौतम के इस संमिलन में श्रुत व शील का—ज्ञान-चारित्र का—उत्कर्ष और अतिशय प्रयोजनीभूत पदार्थों का निर्णय हुआ। समस्त परिषद—श्रोतृवर्ग—सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुआ—मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुआ। अन्त मे ग्रन्थकार कहते है कि इस प्रकार से संस्तुत—वर्णित—वे भगवान् केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर प्रसन्नता को प्राप्त हो। (८८-८९)

२ एव तु ससए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे।
अभिवदित्ता सिरसा गोयम तु महायस ॥८६
पचमहव्वय धम्म पडिवज्जति भावओ।
पुरिमिम्स पच्छिमम्मी मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७

आत्म-निरीक्षण

मुमुक्षु को आत्म-निरीक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है, जैसे व्यापारी को हिसाब द्वारा लाभ अलाभ का जानना आवश्यक होता है। उसी तरह आत्म-निरीक्षण के बिना आत्मशोधन मे सफलता नही मिल सकती। जब ज्ञानी अपने जीवन मे आत्म-निरीक्षण का सकल्प कर लेता है, तब वह जीवन को समुन्नत बनाने मे असाधारण सहायक बनता है। आत्म-निरीक्षण आत्मोन्नयन का अमोघ उपाय है। सम्यग्दृष्टि अपना आत्म-निरीक्षण करता है, और गर्हा निन्दा द्वारा आत्म परिणति को निर्मल बनाने का उपक्रम करता रहता है। तभी वह आत्म-शोधन मे सफलता प्राप्त करता है। क्योकि स्वय का दोष ध्यान में आये बिना उसका परिमार्जन करना अशक्य है। आत्मनिरीक्षण से अपराध सामने आ जाता है। और तब ज्ञानी आसानी से उसका शमन या परिमार्जन कर लेता है।

जब तक व्यक्ति आत्मनिरीक्षक नही बनता, तब तक दोषो का परिमार्जन नही कर पाता और इसी लिए वह साध्य की सफलता के लिए सदिग्धावस्था मे ही भूलता रहता है। ऊँचे नही उठ पाता। जिस प्रकार उत्साही कृषक अनेक श्रेष्ठ, श्रेष्ठतम बीजो को उपलब्ध करके सफलता नही प्राप्त कर सकता, उसी प्रकार जीवात्मा आत्म-भूमि मे आत्मान्वेषण और परिमार्जन के बिना समता एव आनन्द का पादप पल्लवित पुष्पित और फलित नही कर सकता। उसकी अपरिमित अभिलाषाएँ स्वप्निल मात्र रह जाती है।

दूसरों का दोष देखना सुगम है, पर अपने दोष पर दृष्टिपात करना दुःसाध्य है। जो मानव ठोकरें खाकर संभल जाता है और आत्मान्वेषण मे निष्णात या परिपक्व हो जाता है वह साध्य की सफलता प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। आत्मनिरीक्षण से योग्यता, अयोग्यता, पात्रता, अपात्रता, पवित्रता और अपवित्रता का सहज ही आभास हो जाता है। अतएव मुमुक्षु को चाहिए कि वह आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने को निर्दोष साधक बनाता हुआ स्वरस में मग्न होने का प्रयत्न करे।

—परमानन्द शास्त्री

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द जैन शास्त्री

छव्वीसवें कवि वासीलाल है। यह दिल्ली निवासी थे, इनके माता-पिता के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञात नही हो सका सेठ सुगुनचन्द के पुत्र पं० गिरधारीलाल ने, जो प्राकृत संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, और धर्मपुरा के नये मन्दिर मे शास्त्र प्रवचन किया करते थे।

वैराग्यशतक १०१ पद्योका प्राकृत ग्रथ है जिसमें ससार की दशा का चित्रण करते हुए वैराग्य का स्वरूप और उसकी महत्ता का वर्णन किया गया है। उक्त प० गिरधारी लालजी ने प्राकृत वैराग्यशतक का हिन्दी मे अर्थ बतलाया और कवि वासीलाल ने जीवसुखराय के पढ़ने के लिये उन्ही की प्रेरणा से स० १७८४ मे पौष शुक्ला द्वितिया के दिन पद्यानुवाद बनाकर समाप्त किया था[1]। पद्यानुवाद दोहों मे किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिये दो तीन दोहे नीचे दिये जाते है। :—

सुख नाहीं संसार में, कैसा है संसार।
सार रहित बाधा सहित, और वेदना लार॥
आज काल परसूं करू, और अतरसों जेय।
ऐसे पुरुष विचार है, सो भटकें जग लेय॥८
अरथ सम्पदा चितवें, आऊ ज्यौं नहि जोय।
अंजलि में जल क्षीण है, तैसें देह समोय॥९
रे जिय जो कल कौ करै, सो ही आज करेय।
ढील न करि यामें कछू, निश्चै उर धर लेय॥१०

---

१ मूल ग्रन्थ को मर्म खोलिकै,
अर्थ कियो गिरधारीलाल।
ता अनुसार करी सुभ भाषा,
लखि मन पुनि कवि वासीलाल॥
... ...
पौष सुकल दोयज थिति संवत विक्रम जान।
ठारासै चौरासिया, वारगुरु शुभमान॥१४७
पढने कारण प्रेरणा करी जीयसुखराय।
यातै यह भाषा करी, मनवचकाय लगाय॥१४१

सत्ताईसवे कवि सतलाल है, **जो तहसील नकुड़ जिला** सहारनपुरके निवासी थे। **इनका जन्म सन् १८३४ में अग्र**-वाल कुल में हुआ था। **इनके पिता का नाम शीलचन्द था** सतलाल अग्रेजी के अच्छे विद्वान थे, उसकी शिक्षा रुडकी कालेज मे हुई थी, और बी. ए की डिगरी प्राप्त की थी आपकी बुद्धि तीक्ष्ण थी, और तर्क-वितर्क में आप दक्ष थे। जैन दर्शन का परीक्षामुख और प्रमाण परीक्षा आदि दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन किया था। धार्मिक रुचि मे दृढ़ता होने के कारण आपने नौकरी नही की आर्य समाजियों से भी आपका शास्त्रार्थ हुआ था परन्तु वे आप की युक्तिपूर्ण बातों का उत्तर नही दे सके। आप समाज और कुरीतियों के निवारण मे अग्रसर थे। आपके बनाये हुए अनेक पद और पूजन मौजूद है आपकी कविता सरल और भावपूर्ण है आपकी सूझ-बूझ निराली थी। आप प० ऋषभदास जी चिलकाना के नजदीकी रिश्तेदार थे। आपके सहयोग से ऋषभदासजी को दार्शनिक ग्रन्थों के अभ्यास करने का शौक हुआ था। कवि सतलाल जी ने सिद्ध चक्र का पाठ बनाने के बाद अपनी शक्ति धर्मध्यान की ओर लगाई थी। आपके स्वभाव मे सरलता थी। आपने सन् १८८६ के जून महीने मे ५२ वर्ष की वय मे इस नश्वर शरीर का परित्याग किया था।

कवि ने सिद्ध चक्र पाठ की रचना ४० वर्ष की अवस्था के बाद की है। इसमे दोहा, चौपाई, पद्धडिया, घत्ता, सोरठा, अडिल्ल, छप्पय, माला, गीता, चकोर, मोदक, गेला और लावनी आदि छन्द दिये गए हैं। कविता भावपूर्ण और सरस है। एक पूजा का पद देखिये, कितना सरल है।

है परिणाम अभिन्न परिणामी, सो तुम साधु भए शिवगामी।
साधु भए शिव साधन हारे, सो सब साधु हरो अघ म्हारे॥
सिद्ध च० पृ० १०६

पद्धड़ी छन्द में लिखी जयमाला, स्तुति पढ़िए कितनी सुन्दर है :—

जय मदन-कदन-मन करणनाश,
जय शांतिरूप निजसुख विलास
जय कपट सुभट पट करन चूर,
जय लोभ क्षोभमद-दम्भसूर ।
पर परिणतिसों अत्यन्त भिन्न,
निजपरिणति है अति ही अभिन्न ।
अत्यन्त विमल सब ही विशेष,
मल्लेश शोध राखो न लेश ।।"

अट्ठाईसवे कवि पडित ऋषभदासजी है। जो चिलकाना जिला सहारनपुर के निवासी थे। चिलकाना सहारनपुर से ६ मील की दूरी पर बसा हुआ है। यह भी अग्रवाल जैन थे। इनके पिता का नाम कवि मगलसैनजी और बाबा का नाम सुखदेवजी था। पिता सम्पन्न थे जमीदारी और साहूकारी का कार्य करते थे। ऋषभदासजी ने चिलकाना मे किसी मुसलमान मियां से ३-४ वर्ष तक उर्दू का अभ्यास किया था। हिन्दीका लिखना पढना उन्होंने अपने पिताजी से सीखा था। और उन्हीं के साथ स्वाध्याय द्वारा जैन सिद्धान्त का ज्ञानप्राप्त किया था। ऋषभदासजी सतलालजी नकुड़ के नजदीकी रिश्तेदार थे। इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी और वह स्वभावत. तर्क की ओर अग्रसर होती थी। उनके सहयोग से जैन दार्शनिक ग्रथो के अध्ययन करने की जिज्ञासा हुई और परिणाम स्वरूप, परीक्षामुख, प्रमाण परीक्षा। और आप्तपरीक्षादि ग्रथों का अध्ययन किया। जिसमे बुद्धि के विकास मे और भी विशदता आई।

मंगलसैनजी ने अपने दोनो बेटो को अलग-अलग साहूकारी की दुकान करादी थी। ऋषभदासजी उर्दू फारसी और हिन्दी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और हिन्दी मे अच्छी कविता भी करते थे। उनके अन्तर्मानस मे ज्ञानकी पिपासा और धार्मिक लगन थी, और हृदय मे जैन ग्रन्थो के अभ्यास की उमग थी। वे अच्छे सभाचतुर थे और प्रवचन करने मे दक्ष थे। ऋषभदासजी ने प० भीमसेनजी आर्य समाजी के नवीन प्रश्नो का ऐसा तर्क सगत उत्तर दिया था जिसे बाबू सूरजभानजी ने अन्य विद्वानो को दिखलाया तब वे चकित रह गये और आर्य समाजी सदा के लिये चुप हो गए। उनकी बुद्धि विलक्षण थी और लेखनी सरस एव गंभीर थी।। ऋषभदासजी प्रकृतितः भद्रपरिणामी और परीक्षा प्रधानी थे। जब वे किसी वस्तु का विवेचन करते थे, तब उसे तर्क की कसौटी पर कसकर परखते थे। आप का लिखा हुआ मिथ्यात्वनाशक नाटक उर्दू भाषा मे लिखा गया था 'जो मनो रंजक ज्ञान वर्धक मूल्यवान कृति है। उससे कवि के क्षयोपशम और प्रतिभा का पता चलता है उसके एक दो भाग ही छपे है। परन्तु खेद है कि वह नाटक पूरा नही छप सका। उसकी एक मात्र प्रति कर्ता के हाथ की लिखी हुई है। इनकी दूसरी कृति पच 'बालयति पूजापाठ' है जिसे कवि ने विबुध सतलाल के अनुरोध से वि० स० १९४३ मे माघशुक्ला अष्टमी के दिन समाप्त किया था[1]। "पूजा राग समाज, तातै जैनिन योग किम्" प्रश्नो के समाधान को लिये हुए है। यह बीसवी सदी के एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे। आपका २९ वर्ष की लघुवय मे ही स्वर्गवास हो गया था। यदि वे अधिक दिन जीवित रहते तो किसी अनमोल साहित्य की सौरभ से समाज को सुवासित करते।

उनतीसवे कवि मेहरचन्द है। जो 'श्वनिपद' वर्तमान सोनिपत नगर के निवासी थे और प० मथुरादास के लघु भ्राता थे। यह सस्कृत और फारसी के अच्छे विद्वान थे। आपने शेख सादी के सुप्रसिद्ध काव्यद्वय 'गुलिस्ता और वोस्ता' का हिन्दी मे अनुवाद किया था, जो छप चुका है। कवि ने आचार्य मिल्लिषेण के 'सज्जिनचित्तवल्लभ' का हिन्दी अनुवाद और पद्यानुवाद किया था, यह पद्यानुवाद छप चुका है। पाठकों की जानकारी के लिए दो पद्य नीचे दिये जाते है। पद्यानुवाद भावपूर्ण और सुन्दर है :—

"औरन का मरना अविचारत, तू अपना अमरत्व विचारै ।
इंद्रिय रूप महागज के, वशिभूत भया भव-भ्रांति निवारै ।
आजहि आवत वाकल के दिन, काल न तू यह रंच विचारै ।।
तौ गह धर्म जिनेश्वरभाषित, जो भवसंतति वेग निवारै ।।१४

चाहत है सुख क्या पिछले भव, दान दिया अरु संयम लीना ।
नातर या भव मैं सुख प्रापति हो न, भई सो पुराकृत कीना ।
जो नहि डारत बीज मही पर, ध्यान लहै न कृषी मतिहीना ।
कीटक भक्षित ईख समान, शरीर [illegible] तज मोह प्रवीना ।१५

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १३, किरण ६ पृ. १६५

कविने अन्त में अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

भारत वर्ष मंझार, देश पंजाब सुविस्तृत ।
ता मध दिल्ली जिला, सकल जनको आनंदकृत ।।
ताके उत्तर मध्य नगर सुनपत भयभंजन ।
ता मध चार जिनेश भवन भविजन मन रंजन ।।
तिस नगर वास मम वास है मिहरचंद मम नाम वर
हूं पंडित मथुरादास को, लघुभ्राता लघुज्ञान धर ।

इससे कवि मेहरचन्द की काव्य-कला का सहज ही पता चला जाता है ।

तीसवें विद्वान कवि हरगुलाल जी है । जो खतौली जिला मुजफ्फरनगर के निवासी थे । आपके पिता का नाम प्रीतमदास था । उस समय खतौली मे ब्राह्मण विद्वान बालमुकन्द जी थे, जो सस्कृत के अच्छे विद्वान समझे जाते थे । इनसे ही हरगुलाल जी ने शिक्षा पाई थी । और फारसी का अध्ययन करने के लिए खतौली से मसूरपुर प्रति दिन जाया करते थे । गर्मी, जाडा और वर्षात की उन्होने कभी परवाह नही की । वहाँ अरबी फारसी के आला विद्वान एक शय्यद साहब थे, जो विद्वान्, सहृदय और सम्पन्न थे । वे हरगुलाल की ज्ञानाराधन लगन को देखकर बहुत खुश होते थे । एक दिन उन्होने वर्षा से सराबोर भीगते हुए हरगुलाल को आते हुए देखा, तब उन्होने उनसे कह दिया कि अब आप यहाँ न आया करे, आपको बहुत तकलीफ होती है, मै स्वय खतौली आकर आपको अध्ययन कराया करूँगा । चुनाचे वे खतौली आकर उन्हें पढाते थे । कुछ समय बाद वे उस भाषा के निष्णात विद्वान बन गये । जैन शास्त्रो के अध्ययन मे उन्होने विशेष परिश्रम किया था, और अच्छी जानकारी हासिल कर ली थी । इस तरह से पं० हरगुलाल अरबी, फारसी और सँस्कृत के अच्छे विद्वान हो गए थे । आपकी प्रवचन करने की अच्छी शक्ति थी, साथ में सभा-चतुर भी थे । आप खतौली से सहारनपुर चले गए । उस समय सहारनपुर में राजा हरसुखराय दिल्ली की शैली चलती थी । और वहाँ नन्दलाल, जमुनादास, संतलाल, जो वहाँ के वैश्यो मे प्रधान और प्रतिष्ठित थे, इनके भाई वारुमल जी थे । वहाँ के मन्दिरों में आपका प्रवचन होता था और श्रोताजन मन्त्रमुग्ध हो सुनते थे ।

एक दिन हरगुलाल जी ने वहाँ की सभा में ईश्वर-सृष्टिकर्ता पर पूर्वपक्ष के रूप मे ऐसा सम्बद्ध भाषण दिया कि जनसमूह आपकी निर्भीक वक्तृत्व कला और युक्तिबल को सुन कर अत्यन्त प्रभावित हुआ । अन्त में आपने कहा कि कल इस भाषण का उत्तरपक्ष होगा । तब जनता में चर्चा होने लगी कि इस विद्वान ने ईश्वर सृष्टिकर्ता पर इतना महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, अब इसके उत्तर पक्ष में कहा ही क्या जा सकता है । इससे हरगुलाल जी के पाण्डित्य का पता चलता है ।

आपके बनाए हुए अनेक भावपूर्ण पद है । उनमें से एक पद पाठको की जानकारी के लिए नीचे दिया जाता है जिसमे शैली की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है—

सैली के परसाद हमारे जिनमत की प्रतीति उर आई ।।
करणलब्धि बलगह समरसता ले अनंतानंत बहीं छिटकाई ।
मिथ्याभाव विभाव नश्यो प्रगट्यो मम शान्त भाव सुखदाई ।१

हेय ज्ञेय अरु उपादेय लखि,
चखि निज रस भ्रम-भूलि मिटाई ।
आतमीक अनुभूति विभूति,
मिल तत्त्वारथ की रुचि लाई ।।२
वीतराग विज्ञान भाव मम,
निज परिणति अबही झलकाई ।
भ्रमत अनादि कबहू न तिरियो,
तैसे निजनिधि सहज प्रगटाई ।।३
सैली से हितकर बहुते नर,
सम्यक्ज्ञान कला उपजाई ।
पर परिणति हर आप आप में,
पाय लई अपनी ठकुराई ।।४
यासे हित न कियो बहुते नर,
जनम अमोलक रतन गुमाई ।
भ्रम हरणी सुख की धरणी,
यह 'हरगुलाल' घट मांहि समाई ।।५

आपके सभी पद प्रकाशन के योग्य है ।

कवि ने मल्लिषेणाचार्य के सज्जनचित्त वल्लभ ग्रन्थ की एक टीका स० १६०३ मे बनाई है, जो ज्ञानभण्डारो मे उपलब्ध होती है । आपका अवसान कब और कहां हुआ, यह अभी ज्ञात नही हुआ ।

इकतीसवें कवि हीरालाल हैं, जो बड़ौत जिला मेरठ के निवासी थे। आपकी जाति अग्रवाल और गोत्र गोयल था। इस वंश में जिनदास और मुहकमसिंह या महोकम सिंह हुए। उनके चार पुत्र हुए। जयकुमार, धनसिंह, रामसहाय और रामजस। इनमें पंडित हीरालाल धनसिंह के पुत्र थे। इनके गुरु पं० ठंडीराम थे, जो प्राकृत और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। और गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन करते थे। उनसे कवि ने अक्षराभ्यास किया था और स्वाध्याय द्वारा जैनधर्म का परिज्ञान किया था। कवि ने जैनियों के आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का पुराण पद्य मे बनाकर वि० स० १९१३ मे समाप्त किया था। कविता साधारण है। ग्रथमे विविध छन्दो का उपयोग किया है। ग्रथ सूरत से प्रकाशित हो चुका है।

बत्तीसवे कबि प० तुलसीराम है, जो दिल्ली-निवासी थे। आपका जन्म सबत् १९१६ मे अग्रवाल वश और गोयल गोत्र मे हुआ था। आपके पिता का नाम बाँकेलाल था। आपके दो छोटे भाई और थे जिनका नाम छोटेलाल और शीतलदास था, वे भी यथाशक्ति धर्मसाधन करते थे। बाल्य काल से ही आपकी रुचि जैन ग्रन्थो के पढने-सुनने की थी। आपको प० ज्ञानचन्द जी का सम्पर्क मिला, उन्ही के पास आपने व्याकरण और जैन सिद्धान्त के ग्रथो का अध्ययन किया और थोडे ही समय म सारस्वत व्याकरण, श्रुतबोध रत्नकरण्डश्रावकाचार, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, चर्चाशतक और सागारधर्मामृत आदि ग्रन्थो का अध्ययन किया। पश्चात् शास्त्र, सभा एव सत्सगति से अपने ज्ञान को बढाने का प्रयत्न किया। आपका व्यवसाय सर्राफे का था। आपकी फर्म तुलसीराम सागरचन्द के नाम से पहले चादनी चौक मे चलती थी। बाद मे दरीबा कला मे थी।

आपने भ० सकलकीर्ति के आदिपुराण का पद्यानुवाद किया है। जिसे कवि ने स० १९३४ मे कार्तिक कृष्णा दोयज के दिन मेरु मन्दिर मे पूरा किया है। ग्रन्थ मे दोहा, चौपाई, पद्धडिया, भजगप्रतात, मोतियदाम, नाराच, गीता, सबैया २३ सा, सोरठा, जोगीरासा, त्रोटक छद, अडिल्ल गाहा, इन्द्रवज्रा, त्रिभगी, सुंदरी मरहटी सबैया ३१ सा गाहा, आदि छन्द निहित है। रचना साधारण है तो भी कविता भावपूर्ण है, और कहीं कहीं पर कोई कोई पद चुभता हुआ सा है। चूंकि कवि का ४० वर्ष की लघु वय मे ही स० १९५३ में स्वर्गवास हो गया। ग्रथ सूरत से प्रकाशित हो गया है। ग्रंथ के अत में कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार से दिया है —

प्रथम लाला ग्यानचन्द सुधी सु मोहि पढ़ाइयो,
मम पिता बांकेराय गुण निधि तिन मुझे सिखलाइयो।
लखि अग्रवाल जु वंश मेरो गोत गोयल जानियों,
रिषभेष गुण वर्णनि कियो अभिमान चित नहि ठानियो।१४०
गिन वेद इन्द्री अंक आतम, यही संवत् सुन्दरी।
कातिक सुकृष्ण दूज भौम सुवार को पूरन करी,
नक्षत्र अश्वनि ज्ञानचन्द्र सुमेरुको मन भावनौ।
ता दिन विषं पूरण कियो यह शास्त्र जो अति पावनौ।१४१

—आदिपुराण प्रशस्ति

तेतीसवे और चोतीसवे कवि बख्तावर मल और रतन लाल है। दोनो अग्रवाल वश मे उत्पन्न हुए थे। ये काष्ठासघी लोहाचार्य की अम्नाय के विद्वान थे। इनमे बखतावरमल मित्तलगोत्री और रतनलाल का गोत्र सिहल (सिगल) था। इन दोनो का निवास दिल्ली के कूचा सुखानन्द मे था। दोनो मित्र परस्पर 'तत्त्वचर्चा' किया करते थे। और दोनो ने ही स्वाध्याय द्वारा अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। इन दोनो की मित्रता अन्त समय तक अटूट बनी रही, उसमे कभी कोई विकृति नही आई। दोनो की धार्मिक लगन और उत्साह देखते ही बनता था। रतनलाल ने अपने लघु भ्राता रामप्रसाद से अक्षर विद्या और छन्दो का ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होने आराधना कथाकोष की प्रशस्ति मे अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

अग्रवाल वर अंश है काष्ठासंघी जान।
श्री लोहाचारज तनी आम्नाय परमान ॥४६
पुस्तक गण गछ शारदा मित्तल सिंहल गोत।
मित्र जुगल मिलके कियो ग्रन्थ यही जगपोत ॥४७
प्रथम नाम बखतावरमल जानिये,
रतनलाल दूजे का परमानिये।
भ्राता रामप्रसाद तनौ लघु है सही,
तुच्छ बुद्धि तें करी ग्रन्थ रचना यही।४८ (क्रमशः)

स्वर्गीय नरेन्द्रसिंह सिंघी का संक्षिप्त परिचय

स्वर्गीय नरेन्द्र सिह सिघी आत्मज स्वर्गीय बहादूर सिह सिघी का जन्म ४ जुलाई सन १९१० मे हुआ था। उन्हों ने अपने जीवन काल मे जैन सस्कृति एव साहित्य की जो निष्काम सेवा की उसे भूलना कठिन है। वे ईर्ष्या-द्वेष से रहित अत्यन्त सौम्य एव धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। पिता ने अपने दूरदर्शी एव अनुभवी पुत्र को परखा था और अपना समस्त कार्यभार उन्हे ही सौप गए थे। जिसे उन्होने जीवन भर सुयोग्यता मे निभाया। प्रगति एव एकता के प्रबल समर्थक थे। उन्होने दूसरो को उपदेश नही दिया वरन स्वय प्रगति के पथपर चलकर दिखाया। वे सरस्वती के वरद पुत्र तो थे ही लक्ष्मी की भी उन पर असीम अनुकम्पा थी। लक्ष्मी एव सरस्वती का ऐसा सुयोग विरल ही देखने को मिलता है।

सिंघी जी एक होनहार विद्यार्थी थे। प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता से बी० एस० सी० तथा एम० एस० सी० की परीक्षाओ मे सर्वप्रथम रहे और स्वर्णपदक भी प्राप्त किया। सन १९३४ ई० मे उन्होने वकालत की डिग्री भी प्राप्त की।

नरेन्द्र सिह जी सन् १९३६ से १९४५ तक जियागज एडवर्ड कारोनेशन (जिसका नाम आजकल राजा विजय सिह विद्यामन्दिर है) अवैतनिक मन्त्री रहे। सन् १९४९ से १९५५ तक श्रीपति सिह कालेज मुर्शिदाबाद के भी अवैतनिक सचिव रहे तथा लालबाग मे उन्होने अवैतनिक मजिस्ट्रेट के रूप मे कार्य किया। सन् १९४९ मे वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट के सदस्य रहे। सिघी हाई स्कूल लालबाग, केशरकुमारी बालिका विद्यालय अजीमगज तथा अन्य शिक्षा सस्थाओ, जिनमे भारतीय विद्या भवन भी शामिल है आपने पूर्ण रूप से आर्थिक सहायता की। आपने लन्दन मिशनरी अस्पताल मे एक वार्ड भी बनवाया।

सिंघी जी अपने प्रेम के कारण सर्वविदित थे। सन् १९४२ के बंगाल दुर्भिक्ष में आपने लाखो रुपये व्यय करके अकाल पीडितों की सहायता की। आपने लागत से कम मूल्य पर दिल खोल कर चावल का वितरण किया।

इन लोकहितकर प्रवृत्तियो के अलावा राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एव शिक्षा सम्बन्धी कार्यों मे भी आप भाग लेते थे। अपनी उदार दृष्टि के कारण सन् १९४५ मे आप बगाल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य चुने गए। आप अखिल भारतीय ओसवाल महासम्मेलन के मत्री, सुप्रसिद्ध सिंघी पार्क मेला के कोषाध्यक्ष तथा जियागंज सिविल इवाक्युएशन रिलीफ कमेटी के मत्री रहे।

श्री सिघी जी जैन समाज के एक अग्रणी नेता थे। आपने "श्री जैन भवन" कलकत्ता को १० हजार रुपये की सहायता दी थी। आप उसके स्थायी ट्रस्टी थे। अनेक वर्षो तक मत्री तथा कोषाध्यक्ष के पद पर भी रहे। आप कुछ दिनो तक इसके सभापति भी रहे। सम्मेलन शिखर तीर्थधाम के मन्दिरो के जीर्णोद्धार का कार्य एवं प्रतिष्ठा महोत्सव की सुव्यवस्था आपके अत्यन्त प्रशसनीय कार्य है। आपकी इस सेवा के लिए समस्त जैन समाज आपका आभारी है। जीर्णोद्धार समिति को आपने ११००१ रुपये की धनराशि भेट की थी। आप भारत के जैन महामडल के उपाध्यक्ष भी थे।

स्व० बाबू बहादुरसिहजी सिघी ने जिस सिघी ग्रथमाला की स्थापना "भारतीय विद्या भवन" बम्बई मे की थी उस कार्य को भी नरेन्द्रसिह जी सिघी ने आगे बढ़ाया। इसका व्यय अपने ज्येष्ठ भ्राता के सहयोग से पूरा किया। बाबू बहादुरसिह जी की मृत्यु के बाद भी ग्रंथमाला का कार्य (प्रकाशन) आगे की ही भाँति हो रहा है। इस ग्रथमाला के तत्वावधान मे अब तक ४५ ग्रथ प्रकाशित हो चुके है जिनमे कई सामयिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक एव कथात्मक इत्यादि विषयों से सबधित है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का नूतन संशोधनात्मक साहित्यिक प्रकाशन भी हुआ है।

आपने इसके अतिरिक्त अनेक लोकहितकारी, धार्मिक

एव शिक्षा संबंधी संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान दिया है। अपने निवास स्थान "सिंघी पार्क" में श्री बहादुर-सिंह जी सिंघी भारतीय स्थापत्य शिल्प-निकेतन की स्थापना की है। पूर्वी बगाल से आए हुए उद्वासितो के लिए अन्न, वस्त्र तथा जल के लिए भी आपने खर्च किया।

सन् १९६० मे लुधियाना में सम्पन्न अखिल भारतीय श्वे० जैन सम्मेलन के आप सभापति थे। इसके अतिरिक्त अनेक जैन संस्थाओं से, अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष तथा सदस्य होने के नाते आपका घनिष्ट सम्बन्ध रहा। आप मुर्शिदा-बाद सघ के प्रथम सभापति थे।

नरेन्द्रसिह जी एक प्रमुख उद्योगपति थे। आप फाबडाखण्ड कोलरीज प्रा० लि०, मेसर्स मिदनापुर मिन-रल प्रा० लि० के डाइरेक्टर तथा दालचन्द बहादुरसिंह के मालिक और न्यू इण्डिया टूल्स लि० के बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के चेयरमैन थे।

सन् १९५६ मे आप "इण्डिया माइनिंग फेडरेशन" के चेयरमैन, सन् १९६२ मे "जियोलाजिकल माइनिंग एण्ड मैटिलर्जिकल सोसाइटी आफ इण्डिया" के सभापति तथा कोल कौन्सिल आफ इण्डिया के सदस्य थे। स्व० सिंघी जी "मैनेजमेण्ट कमेटी आफ इण्डियन चैम्बर आफ कामर्स कलकत्ता के और मध्यप्रदेश गवर्नमेण्ट इलैक्ट्रिसिटी बोर्ड के भी सदस्य थे।

सिंघी जी कलकत्ता ही नही भारत भर मे अपनी कला विद्वत्ता एव सुरुचिपूर्ण कला सग्रह के लिए विख्यात थे। इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता के बोर्ड आफ ट्रस्टीज के तो वे अपने जीवन काल तक आनरेरी सचिव थे।

आपका निवासस्थान "सिंघी पार्क" पुरातन हस्त-लिखित पुस्तकों, विरल चित्रों, उत्कृष्ट मूर्तियो, हाथीदांत की बनी हुई वस्तुओं, भारतीय टिकटो (खासतौर से भारतीय सिक्कों जो कि भारत के व्यक्तिगत सग्रहो मे सर्वोत्तम माने जाते है) के ही कारण नही वरन शानदार बगीचों, मुगलकालीन रीति से निर्मित भव्य फव्वारो के कारण भी भारतीय तथा विदेशी पर्यटकों के लिए आकर्षक केन्द्र बना रहा है।

अनमोल हाथीदात की पुरानी मूर्त्तियाँ भी इस सग्रहमे हैं। अन्यत्र अप्राप्य पर्शियन, मुगल, राजपूत, कांगड़ा तथा पहाड़ी आदि शैली के प्राचीन चित्रों का सग्रह भी इस सग्रहालय में है। प्राचीन चित्रित ग्रंथो में कई पर्शियन ग्रथ ऐसे है जिनमे शाहजहाँ, औरंगजेब आदि बादशाहो के हस्ताक्षर तथा मुहर है। बादशाह औरंगजेब जिस कुरान को पढते थे वह भी इस सग्रह में है। जैन चित्रित ग्रथों में एक श्री शालिग्राम चरित्र है जिसमे सम्राट् अकबर व जहाँगीर की सभा के प्रसिद्ध चित्रकार शालिवान द्वारा अंकित ३२ चित्र हैं। इस ग्रथ का लेखन व चित्रण विक्रमी सं० १६८१ द्वितीया चैत्र सुदि शुक्रवार तदनुसार अप्रैल १ सन् १६२६ ई० को सम्राट् जहाँगीर के राज्य मे समाप्त किया था। संग्रह मे कई ताम्रपत्र भी है।

यह संग्रह विश्व के नामी सग्रहो में से एक है। दूर देशान्तर विद्वान तथा सुप्रसिद्ध लोग इस सग्रह का अव-लोकन करने आते है और सभी इसकी हार्दिक प्रशसा करते है। श्री सिंघी जी की तरफ से भी विद्वानो एव विदेशियों को इस सग्रह की वस्तुओं का अध्ययन करने के लिए पूर्ण सहयोग एवं सुविधाएं दी जाती थी।

अपने स्व० पिता के निकट मित्र प्रसिद्ध जैन विद्वानों को अपनी विद्वत्ता एव विद्याप्रेम से श्री नरेन्द्रसिह जी ने आकृष्ट किया। पिता जी के बहुमूल्य सिक्के, चित्र, मूर्त्ति तथा हस्तलिखित ग्रथ आदि का सारा संग्रह आपको मिला था। उस संग्रह को आपने बढाया। इस सग्रह को प्रकाश मे लाने तथा इन विषयो को विद्वानो को उसे अध्ययन करने के लिए अवसर देने का भी प्रबन्ध किया।

विज्ञान के विद्यार्थी होने पर भी श्री सिंघी जी की कला मे अपार रुचि थी। जल मन्दिर के श्रेष्ठ शिल्प, सौन्दर्य से परिपूर्ण तोरण, चारो ओर बाहरी दिवाल बुर्ज, काटन स्ट्रीट कलकत्ता का सगमरमर निर्मित अनुभाग और श्री सम्मेद शिखर जी तथा अजीमगज के मन्दिरों के पुनर्निर्माण आपके सूक्ष्म सौन्दर्य बोध के कतिपय उदा-हरण है।

कला तथा स्थापत्य शिल्प सबंधी ज्ञान के क्षेत्र में आप अपने स्व० पिता से अनुप्रेरित हुए थे। श्री पावापुरी जल मन्दिर की चाहारदिवारी एव श्री सम्मेद शिखर जी के मन्दिरों का जीर्णोद्धार और पुनर्निर्माण आपके इस तीव्र

कलात्मक ज्ञान का परिचायक है। काटन स्ट्रीट कलकत्ता के जैन मन्दिर का मकराने एवं कारीगरी के कार्य से सुन्दर रूप देने का भार आपको ही सौपा गया था।

नरेन्द्र सिह जी सिघी अपनी सौजन्यता, सहृदयता, कोमल स्वभाव, आकर्षक व्यक्तित्व के कारण सबके प्रिय थे। समाज सेवा मे अदम्य उत्साह तथा लगन के कारण सबके आदर के पात्र थे।

मध्यप्रदेश स्थित सरगुजा नामक स्थान पर अपनी कोलरीज से लौटते समय खडगपुर के निकट २३ दिसम्बर १९६७ को ट्रेन मे उनका स्वर्गवास हो गया। काल के निर्मम हाथो ने अचानक ही जैन समाज से ही नही, भारत माता से भी उनका एक लाल रत्न छीन लिया।

साहित्य-समीक्षा

१. पुरदेव भक्तिगंगा—सम्पादक-मुनि श्रीविद्यानन्दजी, प्रकाशक-धूमीमल विशालचन्द, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६, पृष्ठ सख्या-८६, डिमाई आकार, मूल्य-अमूल्य।

उस दिन मेरठ मे मुनिश्री ने 'पुरदेव भक्तिगगा' पढने के लिए दे दी, इसे मै उनका आशीर्वाद मानता हू। न-जाने क्यों, भक्त न होते हुए भी भक्ति साहित्य मे मन रमता है, फिर वह चाहे जैन परक हो या किसी अन्य सम्प्रदाय का। कालिज मे आज वर्षो से बी० ए० और एम० ए० कक्षाओ को भक्ति काव्य पढाते रहने से एक दृष्टि बन गई है, जिसे तुलनात्मक भी कहा जा सकता हूँ। मैं सोच पाता हू कि भक्ति ही एक ऐसा तीर्थ है जहाँ सब धाराएं समान रूप से आसमाती हैं। जैन साधु का सर्वसमत्त्वकारी मन भी 'पुरदेव-भक्तिगगा' मे लग सका तो आश्चर्य नही है।

यह लघुकाय सकलन ठोस और सक्षिप्त है। इसमे "कविवर दौलतराम, भूधरदास, जिनहर्ष, भट्टारक रत्नकीर्ति, आनन्दघन, द्यानत राय,बुधजन, बनारसी दास, भागचन्द, कुज तथा एक-दो गुर्जर कवियो की रचनाओ को सगृहित किया गया है।" रचनाएँ भाव-भीनी है, भक्ति रस की तो निदर्शन ही है। किसी सूर और तुलसी से कम नही। कला पक्ष भी सहज स्वाभाविक है, न कम, न बढ़। सधा-नपा-तुला-सा। कुल मिलाकर सकलन किसी साधक की साधना-सा सतुलित है।

विशेषता है—उसका अनुवाद। हिन्दी तर भाषा-भाषी का यह हिन्दी अनुवाद मजा हुआ तो है ही, हिन्दी विरोध के खोखलेपन का स्पष्टीकरण भी है। जैन साधुओ ने प्रत्येक युग मे जन भाषा को अपनाया है। मुनिश्री का यह प्रयास उसी परम्परा की एक कडी है। दूसरी बात, मध्ययुगीन जैन हिन्दी काव्य का जब तक आज की भाषा मे गद्यात्मक अनुवाद न होगा वह तद्युगीन अन्य काव्य के समान न आँका जा सकेगा। विश्वविद्यालयों और दूरभाषीयत्रो पर भी अग्राह्य ही होगा, यदि उसका तदनुरूप सम्पादन और प्रकाशन न हुआ। इस दृष्टि से मुनिश्री का यह प्रयास समादर-योग्य है। काश वे सस्थाए निष्पक्षता से इसको नापे और परखे।

सकलन का आकर्षक भाग है—'भगवान पुरदेव ऋषभदेव', मुनिश्री का लिखा हुआ 'प्राक्कथन'। इस छोटे-से निबन्ध का एक-एक वाक्य शोध की शिलाओ पर घिस-घिस कर रचा गया है। मुनिश्री को मैने सदैव जैन शोध मे निमग्न देखा। यह उसी का परिणाम है। भगवान ऋषभ-देव ही पुरदेव थे, यह तथ्य ऋग्वेद आदि प्राचीन ग्रथो और भारतीय पुरतत्त्व के आधार पर प्रमाणित किया गया। उद्धरण प्रामाणिक और अकाटय है। अनुसन्धान मे लगे साधकों के लिए मुनिश्री ने एक समग्री प्रस्तुत की है, मेरी दृष्टि मे वह प्रामाणिक है, निष्पक्ष है।

प्रकाशन ऐसा मनोमुग्धकारी है कि देखते ही बनता है। यदि किसी भौतिक अनुपूर्ति का लेशमात्र भी भाव सन्निहित नही है तो प्रकाशक की यह श्रद्धा अनुशसा-योग्य है। अन्य जैन प्रकाशन भी इसी स्तर को अपनाये ऐसा मैं चाहूँगा।

डा० प्रेमसागर जैन

२. देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा—मूलकर्ता आचार्य समन्तभद्र, अनुवादक प० जुगल किशोर मुख्तार, प्रस्तावना

लेखक पं० दरबारी लाल जी न्यायाचार्य प्रकाशक दरबारी लाल जैन कोठिया मंत्री, वीरसेवा मदिर-ट्रस्ट, २१ दरिया गंज, दिल्ली ६। मूल्य १—२५ पैसा।

प्रस्तुत ग्रंथ विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के तार्किकशिरोमणी अचार्य समन्तभद्र की महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। इसमे अनेकांत मत की स्थापना करते हुए द्वैतैकान्त अद्वैतैकान्त, क्षणिकैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त' नित्यैकान्त, पौरूषैकान्त और देवैकान्त आदि एकान्तों की समीक्षा की है। स्याद्वाद और सप्तभगी को समझाने की यह एक कुंजी है। ११४ कारिकाओं में वस्तुतत्त्व की गहन चर्चा को गागर में सागर के समान समाविष्ट किया गया है। इसके अनुवादक जैन समाज के ख्यात नाम ऐतिहासिक विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार है। जिन्होंने ग्रंथ की गम्भीर कारिकाओं का आ० विद्यानन्द की अष्ट सहस्री का सहारा लेकर हिन्दी मे सुन्दर और सरल अनुवाद किया है। अनुवाद मूलानुगामी है। मुख्तार सा० की लेखन शैली परिष्कृत है कि जब वे किसी ग्रथ का अनुवाद करने का विचार करते है, तब उस ग्रथ का केवल वाचन ही नही करते प्रत्युत उसका गहरा अभ्यास भी करते है। जब उसके रस का ठीक अनुभव हो जाता है तब उस पर लिखने का प्रयत्न करते है। मुख्तार साहब की इस कृति में प० दरबारी लाल जी की महत्वपूर्ण प्रस्तावना ने चार चांद लगा दिये है। परिच्छेदी कारिकाओं के परिचय मे ग्रंथकार की दृष्टि को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। इस तरह ग्रथ एक महत्व पूर्ण कृति बन गया है। स्वाध्याय प्रेमियो और विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी हो गया है। यदि साथ मे वसुनन्दी की सस्कृत वृत्ति भी दे दी जाती तो यह संस्करण विद्यार्थियों के लिए और भी महत्त्व का बन जाता। कारण कि वसुनन्दि वृत्ति भी अब मिलती नही है। ९१ वर्ष की इस वृद्धावस्था में इतने लगन से साहित्य-सेवा करना मुख्तार साहब की समाज को खास देन है। पुस्तक का मूल्य लागत से भी कम रक्खा गया है। अतः इसे मगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व—लेखक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक गैंदी लाल साह एडवोकेट, मत्री श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी जयपुर। पृ. संख्या ३००, सजिल्द प्रति का मूल्य ३) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान मे ५४ जैन सन्तों और उनकी कृतियो का परिचय कराया गया है। जैन सन्तो के परिचय मे जैनियो का कोई ग्रथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था। डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल ने इस कमी को महसूस किया और उसकी पूर्ति निमित्त इस पुस्तक का निर्माण किया है। आशा ही नही किन्तु विश्वास है कि इससे उसकी आशिक पूर्ति हो जाती है। परिशिष्टो मे मूल रचनाए देकर पुस्तक की महत्ता को बढा दिया है।

प्रस्तुत कृति मे भारतीय जैन सन्तो मे से राजस्थान के १४५० से १७५० तक के ५४ सन्तों का उनकी रचनाओ महित परिचय दिया गया है। उसमे कुछ ऐसे विद्वानो का भी परिचय निहित है जो स्वय सन्त तो नही कहलाते थे परन्तु उन सन्तो के शिष्य-प्रशिष्यादि रूप मे ख्यात थे और उनके सहवास से ज्ञानार्जन कर साहित्य-सेवा का श्री गणेश किया है। और जो ब्रह्मचारी के रूप मे प्रसिद्ध रहे है। उदाहरण के लिए ब्रह्म जिनदास को ही लीजिए, यह भट्टारक मकलकीर्ति के कनिष्ठ भ्राता और शिष्य थे, वे स्वय भट्टारक नही थे। उन्होंने अपने जीवन मे जैन साहित्य की महती मेवा की है। उसने अकेले ४५ रासा ग्रन्थ बनाये और अन्य सस्कृत के पुराण चरित एव पूजा ग्रन्थ, स्तुति स्तोत्रादि, जिनकी संख्या साठ से अधिक है। उनका परिचय भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। प्रस्तावना में सन्तों के स्वरूप के साथ उनकी महत्ता पर भी प्रकाश डाला है। पुस्तक की भूमिका राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० सत्येन्द्र ने लिखा है। पुस्तक की आवश्यकता और महत्ता पर भी प्रकाश डाला है, जो सुन्दर हैं। इस सुन्दर और समयोपयोगी प्रकाशन के लिए महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी और डा० कस्तूरचन्द जी धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है डा० साहब अन्य पुस्तकों द्वारा साहित्य की श्री वृद्धि करते रहेंगे।

—परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त की महत्त्वपूर्ण फाइलें

जैन समाज के प्रतिष्ठित पत्र अनेकान्त की कुछ महत्त्व की पुरानी फाइलें अवशिष्ट है। वर्ष आठ और दश की ४-५ फाइले शेष रही है। और ११ से २०वे वर्ष की फाइले, जिनमें साहित्यिक ऐतिहासिक और पुरातत्त्व विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री का सकलन है। फाइले लागत मूल्य पर मिलेगी। पोस्टेज खर्च अलग होगा: फाइले थोड़ी ही है। अतः मंगाने में जल्दी करे।

व्यवस्थापक
'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेपणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... ·७५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (६) महावीर पूजा ·२५

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत (समाप्त) ·२५

(१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक फरवरी १९६८

अनेकान्त
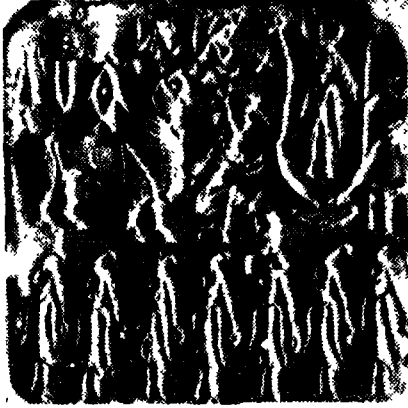
मोहनजोदड़ों से प्राप्त ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियां

देवगढ़ के प्राचीन मन्दिर के ऊपरी भाग का एक दृश्य

✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱✱

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

प्राकृत भाषा एवं साहित्य पर परिसंवाद

शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर के तत्वावधान मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से इसी ग्रीष्मावकाश मे बुधवार दिनाक २२ मई से २५ मई तक प्राकृत भाषा एवं साहित्य, पर एक परिसवाद आयोजित किया गया है, देश के प्रसिद्ध विद्वान विशेष कर प्राकृत भाषा और साहित्य के पडित इस परिसवाद मे सम्मिलित हो रहे है,

प्राकृत भाषाओ के अध्ययन का महत्व सर्वविदित है, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओ की उत्पत्ति और विकास भिन्न-भिन्न प्राकृतो से हुआ है, इतना ही नही द्रविड कुल की कन्नड आदि भाषाओ का शब्द भडार भी प्राकृतो की सहायता से ही समृद्ध हुआ है भारत के प्राचीन शिलालेख, नाटक, अलकार ग्रंथ और मुक्तक साहित्य मे प्राकृत भाषाओ का महत्व पूर्ण स्थान है पाली मे लिखित त्रिपिटक के समान अर्धमागधी मे रचित आगम साहित्य भी महत्वपूर्ण है, भारतीय विचारधारा तथा सस्कृति की समृद्धि मे प्राकृतिक साहित्य का विशेष योगदान है, भारतीय विद्या विभिन्न क्षेत्रो मे प्रसृत है। एतद्सबधी शोध-कार्य प्राकृत भाषा एव साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा ही रहेगा, प्राकृत भाषा और साहित्य मे पाश्चिमात्य एव पौर्वात्य पडितो ने व्यक्तिगत रूप से अनुसधान किया है और कर भी रहे है, जितना कार्य हुआ है उससे अधिक शोध कार्य शेष है, अपने देश मे इसके लिए विपुल साहित्य और साधन उपलब्ध है, इस क्षेत्र मे आज तक किए गये अनुसधान के परिदेश मे, भारतीय विद्याओ की समृद्धि के लिए भविष्य मे जो कुछ कार्य करना है उसका दिशा-दर्शन इस परिसवाद मे किया जायगा।

प्राकृत के प्रसिद्ध पडित डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य जी के नेतृत्व मे इस परिसवाद की तैयारी का प्रारम्भ हो चुका है। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष, डा० आ. ने. उपाध्ये, डीन कला-सकाय शिवाजी विश्वविद्यालय, इस परिसवाद के निर्देशक है।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पं०

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २० किरण ६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | फर्वरी
वीर निर्वाण संवत् २४९४, वि० सं० २०२४ | सन् १९६८

श्रेयो-जिन-स्तुतिः

अपराग समाश्रेयन्ननाम यमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुतसन्नज वाजितः ॥४६
अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम् ।
विदार्यसहितावार्य समुत्सन्नजवाजितः ॥४७

—समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! आप सुर, असुर, किन्नर आदि सभी के लिए आश्रयणीय हैं—सेव्य है—सभी आपका ध्यान करते है, आप सबका हित करने वाले है अतः हिताभिलाषी जन सदा आपको घेरे रहते है—आपकी भक्ति वन्दना आदि किया करते है । आपकी शरण को प्राप्त हुए भक्त पुरुष भय को नष्ट कर—निर्भय हो, हर्ष से रोमाञ्चित हो जाते है । आप पराग से—कषाय रज से—रहित है । ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुषों से सहित है, पूज्य है, तथा राग-द्वेष रूप संग्राम से आपका वेग नष्ट हो गया है—आप राग-द्वेष से रहित है । मैं आपके दर्शनमात्र से ही आरोग्यता और निर्भयता को प्राप्त हो गया हूं । हे श्रेयान्स देव ! मेरी रक्षा कीजिए ।।४६।।४७।।

कारी तलाई की जैनमूर्तियाँ

श्री पं० गोपीलाल 'अमर' एम. ए.

स्थान-परिचय

कारी तलाई[1] का प्राचीन नाम कर्णपुर या कर्णपुरा है[2]। यह कैमूर पर्वत श्रेणियों के पूर्व मे, जबलपुर जिले की कटनी मुड़वारा तहसील मे महियार से दक्षिण पूर्व में २२ मील और उचहरा से दक्षिण मे ३१ मील पर स्थित है। पर्वत के किनारे यहाँ अनेक हिन्दू और जैन मन्दिरों के अवशेष विद्यमान है। इन अवशेषो के पूर्व मे लगभग आधा मील लम्बा एक सागर नामक तालाब है—जिसके किनारे देशी पाषाण की अनेक अर्धनिर्मित जैन मूर्तियाँ बिखरी हैं। कारी तलाई के मन्दिरो की सामग्री और मूर्तियाँ बहुत बडी मात्रा मे इसी स्थान पर बिखरी पड़ी है और कुछ जबलपुर तथा रायपुर के सग्रहालयो मे सुरक्षित कर दी गई है। कहा जाता है कि विजयराघोगढ के किले का निर्माण कारी तलाई के प्राचीन पत्थरो से हुआ था[3]। १८७४–७५ मे श्री कनिंघमने यहाँ का अत्यन्त सक्षिप्त सर्वेक्षण किया था[4]। फिर श्री बालचन्द्र जैन ने १९५८ ई० के लगभग यहाँ का विस्तृत सर्वेक्षण किया और कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले[5]।

स्थान की प्राचीनता

कारी तलाई की उन्नति कलचुरि-काल मे सर्वाधिक हुई पर उसका इतिहास काफी प्राचीन है। यहाँ की कुछ गुफाओंमें २००० वर्ष प्राचीन ब्राह्मी अभिलेख प्राप्त हुए है[6] लगभग १८५० ई० मे यहाँ के वाराह मन्दिर मे सं० १७४ का एक शिलालेख[7] प्राप्त हुआ था[8]। कलचुरि-काल के तीन शिलालेख और प्राप्त हुए। इनमे से तीसरा रायपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है जिससे ज्ञात होता है कि कलचुरि काल मे कारी तलाई को सोमस्वामिपुर भी कहा जाता था। इनके अतिरिक्त दो अन्य शिलालेख भी यहाँ प्राप्त हुए है[9] जिनमे से प्रथम शङ्कु लिपि मे उत्कीर्ण है और दूसरे में महाराज वीर राजदेव का नाम तथा स० १४१२ वि० उत्कीर्ण है। उत्तर-कलचुरि काल मे भी कारी तलाई का महत्त्व रहा, इसके प्रमाण है। स्थानीय पं० रामप्रपन्न जी के सग्रह मे एक ताम्रपत्र है—जिसके अनुसार १८वी शती मे उनके पूर्वजो को मैहर राजा के भाई ने नौ ग्रामो के उपाध्याय (पुरोहित) का पद दिया था।

ध्वंसावशेष

यह स्थान कलिचुरि कालीन अवशेषों के लिए विशेष प्रसिद्ध है पर सूक्ष्म निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि यहाँ ७वी–८वी शती के अवशेष भी विद्यमान है। विभिन्न स्थानों पर ग्रामवासियों ने ईंटे और पत्थर प्राप्त करने के लिए खुदाई की है जिसमे कम से कम ८ फुट नीचे तक ईंटो की दीवाले प्राप्त हुई है। यदि इस स्थान का सिल-सिलेवार उत्खनन किया जाए तो आश्चर्य नही जो यहाँ मौर्यकालीन अवशेष भी प्राप्त हो।

मूर्तियाँ

कलचुरि काल मे कारी तलाई जैनो का महत्त्वपूर्ण केन्द्र तथा तीर्थ स्थान था। यहाँ कम से कम छह जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ था। यहाँ तीर्थंकरों और शासन

---

१. श्री कनिंघम ने इसका उच्चारण 'कारि-तालइ' माना है। ए आर, ए. एस. आई, जिल्द ९, पृ० ७।

२. वही।

३. जैन बालचन्द्र : कारी तलाई का कला वैभव : जैन सन्देश १९।११।१९५९।

४. श्री कनिंघम की उपर्युक्त जिल्द।

५. रायपुर संग्रहालय के पुरातत्त्व उपविभागकी प्रदर्शिका भाग १–२।

६. जैन बालचन्द्र : उपर्युक्त लेख।

७. श्री कनिंघम ने इसे गुप्त संवत् माना है। दे० वही।

८. १८७४–७५ ई० में यह शिलालेख भी कनिंघम के अधिकार मे था।

९. जैन बालचन्द्र : उपर्युक्त लेख।

देवियों की प्रतिमाएँ अधिकांश में है। तीर्थंकरों में भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमाएँ सर्वाधिक हैं। विशेष प्रतिमाओं मे द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ, सर्वतोभद्रिकाएँ और सहस्रकूट जिन चैत्यालय की प्रतिकृति की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय है। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ स्थानीय लाल पत्थर की और कुछ सफेद बलुवा पत्थर की है। जैसा कि कहा जा चुका है, यहाँ की अधिकांश प्रतिमाएँ यही, अत्यन्त अस्त-व्यस्त एव खण्डित स्थिति मे बिखरी पडी है। कुछ प्रतिमाएँ आसपास के लोग उठा ले गये है[10]। यही की एक, बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी अम्बिका की प्रतिमा, कारी तलाई के समीपवर्ती ग्राम करनपुरा मे एक वृक्ष के नीचे रख दी गई है जिसे स्थानीय गोड़ लोग खेरमाई के नाम से पूजते है। यहाँ की कुछ प्रतिमाएँ महन्त घासीदास स्मारक संग्रहालय, रायपुर मे प्रदर्शित है जिनमे से कुछ का संक्षिप्त विवरण यह है---

१. ऋषभनाथ, (२५२७)[11], १३५ से. मी.

तीर्थंकर ऊँची चौकी पर पद्मासन मे ध्यानस्थ बैठे है। उनका मस्तक और दोनो हाथ खण्डित है। श्री वृक्ष, प्रभामण्डल, तीन छत्र, महावतयुक्त हाथी, दुन्दुभिक और पुष्प वृष्टि करता हुआ विद्याधर युगल तथा उनके नीचे चमरधारी इन्द्र अंकित है। चौकी अलंकृत है। उस पर पडी झूल पर ऋषभनाथ का चिह्न वृषभ है। वृषभ के नीचे चौकी के ठीक मध्य मे धर्मचक्र बना है जिसके दोनो ओर एक-एक सिह है। सिहासन के दाहिने छोर पर ऋषभनाथ का शासन देव गोमुख और बाएं छोर पर उनकी शासन देवी चक्रेश्वरी की ललितासन में बैठी प्रतिमाएँ है।

२. ऋषभनाथ, (३५७६), १३२ से. मी.

यह उपर्युक्त प्रतिमा के समान है किन्तु इसका मस्तक अखण्डित है केश घुघराले है। चक्रेश्वरी अपने वाहन गरुड़ पर आसीन है।

३. ऋषभनाथ, (००३३), ७४ से. मी.

इस पद्मासन प्रतिमा का मस्तक और दोनों घुटने खण्डित है। इन्द्रो के ऊपरी भाग भी खण्डित हैं। चौकी के ऊपरी भाग पर दाएं यक्ष गोमुख और बाएँ यक्षी अम्बिका की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ है। सिहों की पीठ आपस मे सटी हुई है और उनके पास एक-एक पुजारी खडा है। शेष पूर्ववत्।

४. ऋषभनाथ (२५६४), ६८.५ से. मी.

इस सफेद बलुआ पत्थर की पद्मासन प्रतिमा का गले के ऊपर का भाग खण्डित है। कन्धों पर जटाएं लटक रही है। इसे मूलनायक मानकर इसके दाएँ पद्मासन और बाए कायोत्सर्गासन तीर्थंकर उत्कीर्ण किए गये है। यक्षी चक्रेश्वरी है, अम्बिका नही। शेष पूर्ववत्।

५. ऋषभनाथ, (२५४८) ११२ से. मी.

यह प्रतिमा पद्मासन है और उसका मुख खण्डित है। सिहो के जोडे के साथ हाथियों का जोड़ा भी बनाया गया है। शेष पूर्ववत्।

६. ऋषभनाथ, (२५२५), १०२ से. मी.

सफेद बलुआ पत्थर की बनी यह प्रतिमा खण्डित होने के साथ ही प्रकृति के दुष्प्रभाव से गलकर भद्दी हो गयी है। श्री वृक्ष जटाएँ और वृषभ चिह्न अंकित है।

७ ऋषभनाथ और अजितनाथ, (२५८६), १०७ से. मी.

सफेद बलुआ पत्थरकी इस द्विमूर्तिका मे दोनो तीर्थंकर कायोत्सर्गासन मे है। दोनो के प्रातिहार्य और परिकर पृथक् पृथक् हैं। चौकी के नीचे एक छोटा लेख उत्कीर्ण है पर वह अत्यन्त खण्डित हो गया है दोनो मूर्तियों के मुख तथा हाथ खण्डित है।

८. अजितनाथ और संभवनाथ, (२५५७), १३८ से. मी.

लाल बलुआ पत्थर की इस विशाल द्विमूर्तिका में द्वितीय और तृतीय तीर्थंकरों की कायोत्सर्गासन मे स्थित प्रतिमाएँ है। दोनो के मस्तक और हाथ खण्डित हैं। प्रातिहार्य और परिकर है। तीर्थंकरो के चरणों के पास बैठे भक्तजन उनकी पूजा कर रहे है। कला अत्यन्त उच्चकोटि की है।

६. पुष्पदन्त और शीतलनाथ, (२५५६), १०७ से. मी.

यह द्विमूर्तिका प्रतिमा सफेद बलुआ पत्थर की है। इसमे नौवें और दसवें तीर्थंकर खडे हैं। नौवें का दायाँ और दसवें का बायाँ हाथ खण्डित है। शेष पूर्ववत्।

---

१०. कटनी के पं० कुंजीलाल जी ने कारी तलाई से एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा लाकर अपने बगीचे मे रखी है। जैन सन्देश, १२।११।१६५६, पृ० ६, कालम १।

११. कोष्ठकके अन्दर के अंक रायपुर संग्रहालयके क्रमांक हैं

उसके पैरों के नीचे बैठा है। आम्रवृक्ष पर बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की छोटी-सी पद्मासन प्रतिमा है। वृक्ष के दोनों ओर खड़ी एक-एक विद्याधरी पुष्पवृष्टि करती हुई दिखाई गयी है। अम्बिका की पूजा करने वाली एक स्त्री उसके दाये ओर है। पूजा करने वाला पुरुष उसके बाये ओर हाथ जोडे खड़ा है। स्त्री बहुत से आभूषण पहिने है और पुरुष की हल्की सी दाडी है।

३३. **अम्बिका और पद्मावती**, (२५८१). ४८ से मी.

यह किसी जैन मन्दिर की चौखट का खण्ड है। इसके दाहिने ओर के आधे भाग मे कोई तीर्थंकर पद्मासन मे आसीन है जिनके दोनो ओर एक-एक तीर्थंकर कायोत्सर्गासन मे ध्यानस्थ खड़े है। धुर-छोर पर मकर और पुरुष हैं। बायी ओर के आधे भाग मे ऊपर एक विद्याधर है। और नीचे प्रतिमास्थान मे अम्बिका और पद्मावती एक साथ ललितासन में बैठी है। अम्बिका की गोद मे बालक और पद्मावती के मस्तक पर सर्प दिखाया गया है।

३४. **सरस्वती**, (२५२४), ७९ से.मी.

इस अत्यन्त खण्डित प्रतिमा मे चतुर्भुजी सरस्वती देवी ललितासन मे बैठी है। उसके मस्तक और हाथ भी खण्डित है पर प्रभामण्डल पूर्णतः स्पष्ट है। उसके ऊपर के दाये और नीचे के बाये हाथ में वीणा ले रखी है। वाहन अस्पष्ट है। नीचे एक भक्त उसकी पूजा कर रहा है और प्रतिमा के ऊपरी छोरों पर विद्याधर पुष्पमालाएँ लिए उड़ रहे हैं।

३५. **महावतयुक्त हाथी**, (००९९), २० से.मी.

यह किसी तीर्थंकर—प्रतिमा का खण्डित ऊपरी भाग है। एक हाथी दाये बैठा हुआ है, उसकी पीठ पर घण्टा लटक रहा है। दो दिव्य पुरुष हाथी पर सवार है। हाथी के सामने भी एक पुरुष खडा है।

शैव और वैष्णव के अतिरिक्त अन्य हिन्दू देव-देवियो की मूर्तियां भी कारी तलाई मे विपुल मात्रा मे प्राप्त होती है। इनके कुछ अत्यन्त मनोरम नमूने रायपुर सग्रहालय मे देखे जा सकते है। खजुराहो की भांति यहाँ भी अप्सराओं, नायिकाओ और शाल-भजिकाओ आदि की अधिकता है। यहा अश्लील प्रतिमाएं भी प्राप्त होती है, यद्यपि उनकी सख्या अधिक नही है। मकर, नरशार्दूल, गजशार्दूल और कीर्तिमुख आदि अलकरण, लोकजीवन के विभिन्न दृश्य तथा दैनिक उपयोग की विविध वस्तुएँ भी कारी तलाई मे मन्दिरो की दीवालो पर उत्कीर्ण की गय थी।

समर्पण और निष्ठुरता

मुनि श्री कन्हैयालाल

लक्ष्मी! तेरे जैसी सौभाग्यशालिनी ससार मे कोई नही है। तेरी चरण रज पाने के लिए बडे-बडे राजा चक्रवर्ती आदि सभी प्रतिष्ठित लालायित रहते है। भला, इस वसुधा मे तेरा स्वागत कौन नही करता। तेरी शुश्रूषा के लिए अमीर-गरीब सभी अपना सम्पूर्ण जीवन तेरे चरणो में समर्पित किए चलते है। तेरे लिए ठिठुरती हुई सर्दी, कड-कड़ाती हुई बिजली व चिलचिलाती गर्मी मे भी मनुष्य भटकते रहते है। भूख और प्यास को भी भूल जाते है। खाते, पीते, सोते, जागते तेरा ही ध्यान करते है। तेरी रक्षा के लिए नगी तलवारो का पहरा लगता है। दो-दो तालों वाली तिजोरियाँ तेरे विश्रामार्थ शय्या बनती है। अपनी प्राण-रक्षा की अपेक्षा तेरी रक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। रहने के लिए अच्छे-से-अच्छा स्थान तुझे मिलता है। मौका आने पर तेरा स्वामी तेरे पर प्राण न्योछावर करने को भी तैयार रहता है और तुझे किसी भी प्रकार का कष्ट नही होने देता।

चपले! इतना होते हुए भी तू अपनी चचलता का परित्याग नही करती। आज कही, तो कल कही? लक्ष्मी! तू क्यो भूल रही है? क्या तुझे यह ज्ञात नही है कि अस्थिर मनुष्यों की ससार मे क्या गति होती है और उनका सम्मान कैसे होता है?

हन्त! समय पर तू किसी की भी सहयोगिनी नही बन सकती है और न किसी के कष्टों को भी दूर करने का प्रयत्न करती है। क्या यह तेरी कृतघ्नता और निष्ठुरता नहीं है?

बादामी चालुक्य अभिलेखों में
वर्णित जैन सम्प्रदाय तथा आचार्य

प्रो० दुर्गाप्रसाद दीक्षित, एम. ए.

दक्षिण के उन राजवशो ने जिन्होने सभी धर्मों को पुष्पित, पल्लवित और फलित होने के लिए समान अवसर दिया, बादामी के चालुक्य राजवश का नाम विशेषोल्लेखनीय है। इस राजवश के उपलब्ध अभिलेखो मे करीब १२ अभिलेखो का सम्बन्ध, येन केन प्रकारेण जैन धर्म मे है। इन अभिलेखों में राजपरिवार के सदस्यो तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा जैन मुनियो तथा संस्थानो को दान देने का उल्लेख है। इसी प्रसग मे अनेक जैन सम्प्रदायो, आचार्यो तथा विद्वानों का उल्लेख है। इस लघु लेख का उद्देश्य बादामी के चालुक्य नरेशों के अभिलेखों मे वर्णित विभिन्न जैन सघ, गण आचार्यो तथा मुनियो के विषय मे चर्चा करना है। इन अभिलेखो के सूक्ष्म विश्लेषण से यह ध्वनित होता है कि इस राजवश के दरबार मे जैन आचार्यो और प्रसारको की अच्छी प्रतिष्ठा थी। इतिहास प्रसिद्ध ऐहोल प्रशस्ति[1] का लेखक रविकीर्त्ति, जो जैन धर्मावलम्बी था, सम्भवतः चालुक्यो के राजनैतिक अधिकारियो मे से था। ऐहोल प्रशस्ति मे उसके द्वारा राजनैतिक घटनाओ का क्रमबद्ध एवम् चित्रात्मक वर्णन इस सम्भावना की पुष्टि करता है। जिन जैन सूचनाओ का इन अभिलेखों मे वर्णन है उन्ही का क्रमबद्ध विवेचन निम्न पक्तियो मे प्रस्तुत है।

मूलसंघ :—प्रायः बादामी चालुक्य राजवश के सभी अभिलेखों मे (जैन धर्म से सम्बन्धित) मूलसघ से सम्बन्धित जैन मुनियो का उल्लेख है। केवल कुरतार्कोटि[2] से प्राप्त एक अभिलेख में एक अन्य संघ का उल्लेख है। सभी चालुक्य जैन अभिलेखो में केवल मूलसंघ के अनुयायियों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि बादामी चालुक्य साम्राज्य की सीमाओ मे इस सघ के अनुयायियों का बाहुल्य था। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते है कि इस सघ विशेष के ही अनुयायियो ने विशेष रूप से इस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रचार किया था। जैन समुदाय के जो मुनि नग्नता के समर्थक थे और उसे ही महावीर का मूल आचार मानते थे वे दिगम्बर कहलाए[3]। इनका श्वेताम्बरों से वैमन्य था। दिगम्बर सम्प्रदाय अपने को जैनो का मूल समुदाय मानता है फलतः उन्हें ही मूलसघ नाम से जाना जाता है। विद्वानो के अनुसार मूल सघ नामकरण अधिक पुराना नही है[4]। परन्तु नोणमगल के दानपत्र मे इस नाम का उल्लेख इसकी प्राचीनता की प्रतिष्ठापना ४थी-पाँचवी शताब्दी मे कर देता है।[5] बादामी चालुक्य अभिलेखो मे इसका उल्लेख इस नामकरण की प्राचीनता का सकेत देते हुए इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि यह नामकरण उतना अर्वाचीन नही है जैसी कि कुछ विद्वानो की धारणा है। "अपने से अतिरिक्त दूसरो को अमूल—जिनका कोई मूल आधार नही—बतलाने के लिए ही यह नामकरण किया गया होगा।" इस सदर्भ मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आज हम मूल सघ का जो अर्थ बताकर उसके उद्देश्य को स्पष्ट करते है वह अवश्य अर्वाचीन लगता है परन्तु स्वय मूलसघ नामकरण से किसी प्रकार की अप्राचीनता का आभास नही मिलता है। उसे प्राचीन मानने से किसी प्रकार से साक्ष्य सम्बन्धी भी कोई कठिनाई दृष्टिगोचर नही होती है।

---

१. एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द ६ पृष्ठ १-१२।

२. इण्डियन एन्टिक्वेरी जिल्द ७ पृ० २१७-२०।

३. कैलाशचन्द्र शास्त्री "जैनधर्म" पृ० २८६-३०३। एवम् जैन साहित्य तथा इतिहास पृ० ४८५।

४. कैलाशचन्द्र शास्त्री "जैनधर्म" पृ० २८६–३०३ एवम् जैन साहित्य तथा इतिहास पृ० ४८५।

५. जैन शिलालेख सग्रह भाग २ पृ० ६०–६१।

अल्तेम से प्राप्त चालुक्य ताम्रपत्र मे मूलगण का उल्लेख है।[६] इस अभिलेख मे मूलगण परम्परा रूपी वृक्ष को कनकोपल पर्वत पर उत्पन्न बताया गया है।

"कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगुणान्वये।
भूतस्समग्रश्रद्धान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः॥"

श्री राईस ने इस पर्वत की पहिचान मैसूर के चामराज नगर तालुका मे स्थित मलेयूरू पर्वत मे की है।[७] कुछ अन्य अभिलेखो मे इसे कनकगिरि कहा गया है[८]। एक अन्य अभिलेख मे इसे कनकाचल भी कहा गया है[९]। अल्तेम अभिलेख की सत्यता के विषय मे विद्वानों मे मतभेद है।[१०] परन्तु इस अभिलेख मे वर्णित मूलगण का तात्पर्य मूल-संघ से है अथवा किसी अन्य प्राचीन जैन सम्प्रदाय मे यह कहना कठिन है। सम्भव है कि गण शब्द संघ के लिए त्रुटि हो।

बसुरिसंघ :—कुरताकोटि से प्राप्त अभिलेख मे इस संघ का उल्लेख है। इस संघ के एक व्यक्ति रविशर्मा का अभिलेख मे उल्लेख है, जो सामवेद पारगत माधवशर्मा का पौत्र तथा जयशर्मा का पुत्र था। उसे अगस्थि (त्स्य) गोत्र (गात्र) का बताया गया है[११]। उपलब्ध जैन साहित्य सामग्री मे इस प्रकार के किसी संघ का उल्लेख नही मिलता है। गोत्र तथा सामवेद का नाम के साथ उल्लेख इस संघ के जैन न होने का संकेत करता है परन्तु सामवेद और गोत्र का उल्लेख पितामह के विशेषणो के रूप मे है। सम्भवत कि रविशर्मा के पितामह एवम पूर्वज वैदिक धर्मावलम्बी रहे हों परन्तु स्वयम् उनकी आस्था जैन मत में ही रही हो। इस विषय मे निश्चित रूप मे कुछ कहना तो कठिन है परन्तु यह सम्भवत. कोई जैन संघ ही था जो अनुयायियो के अभाव मे विशेष प्रसिद्ध न हो सका।

मूल संघ के कई गणो का भी उल्लेख चालुक्य जैन अभिलेखो मे आया है। इस सन्दर्भ मे देवगण को प्रधानता मिली है। यद्यपि इस सन्दर्भ मे एकाध स्थानीय गणों का भी उल्लेख है। विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अभिलेखो मे गच्छों का उल्लेख नहीं मिलता है।

देवगण :—लक्ष्मेश्वर से प्राप्त बादामी चालुक्य जैन अभिलेखों मे मूलसंघ की शाखा के रूप मे इस गण का उल्लेख है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अधिकाश चालुक्य अभिलेखों को फ्लीट तथा अन्य कुछ विद्वानो ने जाली करार दिया है[१२] परन्तु इस तथ्य से मुख मोड़ा नही जा सकता है कि इसमे उल्लिखित संघ सम्प्रदाय तथा अन्य जैनधर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रामाणिकता अन्य आधारो पर निश्चित है। हाल ही मे कुछ विद्वानो ने यह मत व्यक्त किया है[१३] कि लक्ष्मेश्वर के अभिलेख केवल प्राचीन ताम्रपत्रो की पाषाणो पर प्रति लिपियां है तथा उनकी सत्यता को सशंकित दृष्टि से नही देखा है। अतः इन अभिलेखों मे प्राप्त सामग्री प्रामाणिक प्रतीत होती है। आचार्य इन्द्रनन्दि ने अपने 'श्रुतावतार' मे आचार्य **अर्हद-बलि** का उल्लेख किया है और उन्ही के द्वारा अशोक वाटिका से आये जैन मुनियो मे कुछ को 'अपराजित' तथा कुछ को "देव" नाम से अभिहित किया है। इन्ही मुनियो के शिष्य प्रशिष्य तथा अनुयायी देवगण से सम्बन्धित हुए[१४]। इस प्रकार "देवगण" मूलसंघ की शाखा मात्र है। अन्य कुछ विद्वानो का मत है कि अशोक वन से आने वाले मुनियों को "देवगण" के अन्तर्गत रखा गया था[१५]। चालुक्य साम्राज्य के धारवाड क्षेत्र मे इस गण के अनुयायियो का विशेष बाहुल्य था। जिन जैन आचार्यों अथवा विद्वानो का उल्लेख चालुक्य अभिलेखों मे मिलता है उनमे से अधिकाश देवगण शाखा के थे अतएव यह अनुमान स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि देवगण शाखा के अनुयायिओ का चालुक्य साम्राज्य मे विशेष बोलबाला था।

परलूर गण :—अड्डूर से प्राप्त दो अभिलेखो मे इस

६. इ० ए० जि० ७ पृ० २०६–२१७।
७ इपीग्राफिका कर्नाटिका जिल्द ४ पृ० १४०।
८ ए० कर्ना० जिल्द ४ Ch. No. १४४, १५०, १५३ इत्यादि।
९. ए. पी. कर्ना. जिल्द ४ Ch No. १५८।
१० इ० ए० जिल्द ७ पृ० २०६–२१७ एवम जिल्द ३० पृ. २१८ नं० ३५।
११. इ० ए० जिल्द ७ पृ० २१७–२०।
१२. इ० ए० जिल्द ३० पृ० २१८–२१९ नं० ३७, ३८।
१३ साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्सन्स जिल्द २०, (बाम्बे कर्नाटक इन्स्क्रिप्सन्स जिल्द ४) भूमिका पृ० ७, ८।
१४. कैलाशचन्द्र शास्त्री "जैनधर्म" पृ० ३००।
१५. कैलाशचन्द्र शास्त्री "जैनधर्म" पृ. ३०१।

गण का उल्लेख मिलता है[16]। अभिलेखो मे इस प्रकार का अन्य कोई सूत्र उपलब्ध नही है जिसके आधार पर यह पता लग सके कि यह गण किस सघ मे सम्बन्धित था।

(अ) "आसीव विनय नन्दीति परलूरगणाग्रणीरिन्द्रभूतिरिव"

(ब) "किडिप्पोरवर्तेपापम परलूराचेदि यदबकि प्रभाचन्द्र गुरार्वपडेदार।"

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हो गये है अतएव इस आधार पर गण के विषय मे अनुमान लगाना कठिन है। अभिलेख की लिपि तथा ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर वह छठी शताब्दी ई० का है। फलत उसमे उल्लिखित प्रभाचन्द्र की पहिचान चन्द्रगिरि पर्वत पर उपलब्ध लगभग शक ५२२ मे उल्लिखित प्रभाचन्द्र से की जा सकती है[17]। परलूरगण सम्भवत एक स्थानीय गण था तथा परलूर चेडिय मे रहने वाले जैन मुनि सम्भवत परलूर गण के ही रहे होगे। इस सन्दर्भ मे विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। परलूरगण के जैन अनुयायिओ का कार्य-स्थल भी सम्भवत धारवाड जिले के अन्तर्गत ही था।

बादामी-चालुक्य अभिलेखोंमें उल्लिखित जैन आचार्य

बादामी चालुक्य जैन अभिलेखो मे अनेक जैन आचार्यों गुरुओ और पण्डितो का उल्लेख मिलता है। अल्तेम से प्राप्त अभिलेख मे चार जैन आचार्यों का उल्लेख है जो मूलसघ परम्परा के थे।

१ सिद्धनन्दि—त्रिभुवन तिलक जिनालय के जिननन्दि के पूर्व आचार्यों के वर्णन मे सर्वप्रथम इन मुनि का उल्लेख है।

"भूतस्समधराद्धान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः"

श्री नाथूराम प्रेमी ने इनके यापनीय होने का अनुमान लगाया है। "एरडुकट्टे (चन्द्रगिरि पर्वत पर) वस्ति मे आदीश्वर की मूर्ति के सिहपीठ पर उपलब्ध अभिलेख मे शुभचन्द्र मुनीन्द्र की सिद्धान्त परम्पराओ मे एक सिद्धनन्दि का उल्लेख है जो सम्भवतः मूलसघ के देसिग गण और पुस्तकान्वय उपशाखा के थे। यह अभिलेख लगभग शक १०४० ई० है[18]।

२ चितकाचार्यः—इन आचार्य का उल्लेख भी अल्तेम ताम्रपत्र में है। वह आचार्य सिद्धनन्दि के शिष्य थे।

तस्यासीत प्रथमश्शिष्यो देवताविनुतक्रमः।
शिष्यैः पञ्चशतैयुक्तश्चितकाचार्य संज्ञितः॥

अल्तेम दानपत्र में उनके ५०० शिष्य सख्या का उल्लेख है। उनके विषय मे अधिक जानकारी प्रकाशित सामग्री मे उपलब्ध नही है।

३ नागदेव—यह चितकाचार्य के शिष्यों में से थे। अल्तेम दानपत्र मे उल्लिखित दान के ग्रहणकर्ता जिननन्दि आपके ही शिष्य थे। नागदेव नामक एक व्यक्ति का उल्लेख महानवमी मण्डप (चन्द्रगिरि पर्वत) स्तम्भलेख (शक १०९९) मे है जो किसी राजा का मन्त्री था और जैनगुरु नयकीर्ति का शिष्य था।[19] परन्तु यह उपरोक्त नागदेव आचार्य नही हो सकते। क्योंकि वह चितकाचार्य के शिष्य थे तथा उनका समय इतने बाद का नही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस सन्दर्भ मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही है।

४ जिननन्दि—आचार्य जिननन्दि अलक्तक नगर मे स्थित त्रिभुवन तिलक जिनालय के अधिष्ठाता थे। आप नागदेव आचार्य के शिष्य तथा सेन्द्रक सामन्त सामिया के विशेष कृपापात्र थे। आचार्य जिननन्दि का उल्लेख शिवार्य के गुरुओ में आता है। इन्ही के चरणो में अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर शिवार्य ने "भगवती आराधना" की रचना की थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिननन्दि सम्भवत. यापनीय सप्रदाय के थे और शिवार्य उनके प्रमुख शिष्यो मे रहे होंगे।

५ रामदेवाचार्य—लक्ष्मेश्वर से उपलब्ध शक ६५६ के विक्रमादित्य द्वितीय के पाषाण अभिलेख[22] मे इन आचार्य का उल्लेख मिलता है। यह मूलसंघ की देवगण शाखा के आचार्य थे। इनके शिष्य का नाम **जयदेव** पण्डित था।

---

१६. इ० ए० जिल्द ११ पृ ६८–७१ एवम कर्नाटक अभिलेख भाग १ पृ. ४–८।

१७ जैन शिलालेख भाग १ पृ. १–२॥

१८ श्री प्रेमी जी, जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १६७।

१९ जै० शि० स० भाग १ पृष्ठ १४७-१४८।

२० जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ ३३।

२१ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ६८।

२२ इ० ए० जि० ७ पृ० १०६-७।

अल्तेम से प्राप्त चालुक्य ताम्रपत्र मे मूलगण का उल्लेख है।[6] इस अभिलेख मे मूलगण परम्परा रूपी वृक्ष को कनकोपल पर्वत पर उत्पन्न बताया गया है।

"कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगुणान्वये।
भूतस्समग्रशद्धान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः॥"

श्री राईस ने इस पर्वत की पहिचान मैसूर के चामराज नगर तालुका मे स्थित मलेयूरु पर्वत मे की है।[7] कुछ अन्य अभिलेखों मे इसे कनकगिरि कहा गया है[8]। एक अन्य अभिलेख मे इसे कनकाचल भी कहा गया है[9]। अल्तेम अभिलेख की सत्यता के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है।[10] परन्तु इस अभिलेख मे वर्णित मूलगण का तात्पर्य मूल-सघ से है अथवा किसी अन्य प्राचीन जैन सम्प्रदाय मे यह कहना कठिन है। सम्भव है कि गण शब्द सघ के लिए त्रुटि हो।

वसुरिसंघ :—कुरताकोटि से प्राप्त अभिलेख मे इस संघ का उल्लेख है। इस सघ के एक व्यक्ति रविशर्मा का अभिलेख में उल्लेख है, जो सामवेद पारगत माधवशर्मा का पौत्र तथा जयशर्मा का पुत्र था। उसे अगस्थि (स्त्य) गोत्र (गात्र) का बताया गया है[11]। उपलब्ध जैन साहित्य सामग्री मे इस प्रकार के किसी सघ का उल्लेख नही मिलता है। गोत्र तथा सामवेद का नाम के साथ उल्लेख इस सघ के जैन न होने का सकेत करता है परन्तु सामवेद और गोत्र का उल्लेख पितामह के विशेषणो के रूप मे है। सम्भवत कि रविशर्मा के पितामह एवम पूर्वज वैदिक धर्मावलम्बी रहे हों परन्तु स्वयम उनकी आस्था जैन मत में ही रही हो। इस विषय मे निश्चित रूप मे कुछ कहना तो कठिन है परन्तु यह सम्भवत कोई जैन सघ ही था जो अनुयायियो के अभाव मे विशेष प्रसिद्ध न हो सका।

मूल सघ के कई गणो का भी उल्लेख चालुक्य जैन अभिलेखो मे आया है। इस सन्दर्भ में देवगण को प्रधानता मिली है। यद्यपि इस सन्दर्भ मे एकाध स्थानीय गणों का भी उल्लेख है। विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अभिलेखों मे गच्छों का उल्लेख नही मिलता है।

देवगण :—लक्ष्मेश्वर से प्राप्त बादामी चालुक्य जैन अभिलेखो मे मूलसघ की शाखा के रूप मे इस गण का उल्लेख है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अधिकाश चालुक्य अभिलेखों को फ्लीट तथा अन्य कुछ विद्वानो ने जाली करार दिया है[12] परन्तु इस तथ्य से मुख मोडा नहीं जा सकता है कि इसमे उल्लिखित संघ सम्प्रदाय तथा अन्य जैनधर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रामाणिकता अन्य आधारो पर निश्चित है। हाल ही मे कुछ विद्वानो ने यह मत व्यक्त किया है[13] कि लक्ष्मेश्वर के अभिलेख केवल प्राचीन ताम्रपत्रो की पाषाणो पर प्रति लिपियाँ है तथा उनकी सत्यता को सशकित दृष्टि से नही देखा है। अत. इन अभिलेखो मे प्राप्त सामग्री प्रामाणिक प्रतीत होती है। आचार्य इन्द्रनन्दि ने अपने 'श्रुतावतार' मे आचार्य **अर्हद-बलि** का उल्लेख किया है और उन्ही के द्वारा अशोक वाटिका से आये जैन मुनियो मे कुछ को 'अपराजित' तथा कुछ को "देव" नाम से अभिहित किया है। इन्ही मुनियो के शिष्य प्रशिष्य तथा अनुयायी देवगण से सम्बन्धित हुए[14]। इस प्रकार "देवगण" मूलसघ की शाखा मात्र है। अन्य कुछ विद्वानो का मत है कि अशोक वन से आने वाले मुनियो को "देवगण" के अन्तर्गत रखा गया था[15]। चालुक्य साम्राज्य के धारवाड क्षेत्र मे इस गण के अनुयायियो का विशेष बाहुल्य था। जिन जैन आचार्यो अथवा विद्वानो का उल्लेख चालुक्य अभिलेखो मे मिलता है उनमे से अधिकाश देवगण शाखा के थे अतएव यह अनुमान स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि देवगण शाखा के अनुयायिओ का चालुक्य साम्राज्य मे विशेष बोलबाला था।

पर लूर गण :—अडूर से प्राप्त दो अभिलेखो मे इस

---

६. इ० ए० जि० ७ पृ० २०६–२१७।
७ इपीग्राफिका कर्नाटिका जिल्द ४ पृ० १४०।
८ ए० कर्ना० जिल्द ४ Ch. No १४४, १५०, १५३ इत्यादि।
९. ए. पी. कर्ना. जिल्द ४ Ch. No. १५८।
१० इ० ए० जिल्द ७ पृ० २०६–२१७ एवम जिल्द ३० पृ. २१८ नं० ३५।
११. इ० ए० जिल्द ७ पृ० २१७–२०।
१२. इ० ए० जिल्द ३० पृ० २१८–२१९ नं० ३३, ३८।
१३. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्सन्स जिल्द २०, (बाम्बे कर्नाटक इन्स्क्रिप्सन्स जिल्द ४) भूमिका पृ० ७, ८।
१४. कैलाशचन्द्र शास्त्री "जैनधर्म" पृ० ३००।
१५. कैलाशचन्द्र शास्त्री "जैनधर्म" पृ. ३०१।

गण का उल्लेख मिलता है[16]। अभिलेखो मे इस प्रकार का अन्य कोई सूत्र उपलब्ध नही है जिसके आधार पर यह पता लग सके कि यह गण किस संघ से सम्बन्धित था।

(अ) "आसीद विनय नन्दीति परलूरगणाग्रणीरिन्द्रभूतिरिव"

(ब) "किडिप्पोरवतंपापम परलूराचेदि यदवकि प्रभाचन्द्र गुरार्वपडेदार।"

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हो गये है अतएव इस आधार पर गण के विषय मे अनुमान लगाना कठिन है। अभिलेख की लिपि तथा ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर वह छठी शताब्दी ई० का है। फलत उसमे उल्लिखित प्रभाचन्द्र की पहिचान चन्द्रगिरि पर्वत पर उपलब्ध लगभग शक ५२२ मे उल्लिखित प्रभाचन्द्र से की जा सकती है[17]। परलूरगण सम्भवत एक स्थानीय गण था तथा परलूर चेडिय में रहने वाले जैन मुनि सम्भवत परलूर गण के ही रहे होगे। इस सन्दर्भ मे विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। परलूरगण के जैन अनुयायिओ का कार्य-स्थल भी सम्भवत धारवाड जिले के अन्तर्गत ही था।

बादामी-चालुक्य अभिलेखोंमें उल्लिखित जैन आचार्य

बादामी चालुक्य जैन अभिलेखो मे अनेक जैन आचार्यो गुरुओं और पण्डितो का उल्लेख मिलता है। अल्तेम से प्राप्त अभिलेख मे चार जैन आचार्यो का उल्लेख है जो मूलसघ परम्परा के थे।

१ सिद्धनन्दि—त्रिभुवन तिलक जिनालय के जिननन्दि के पूर्व आचार्यों के वर्णन मे सर्वप्रथम इन मुनि का उल्लेख है।

"भूतस्समग्रराद्धान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः"

श्री नाथूराम प्रेमी ने इनके यापनीय होने का अनुमान लगाया है। [18]एरडुकट्टे (चन्द्रगिरि पर्वत पर) वस्ति मे ...वर की मूर्ति के सिहपीठ पर उपलब्ध अभिलेख मे शुभचन्द्र मुनीन्द्र की सिद्धान्त परम्पराओ मे एक सिद्धनन्दि का उल्लेख है जो सम्भवतः मूलसघ के देसिग गण और पुस्तकान्वय उपशाखा के थे। यह अभिलेख लगभग शक १०४० ई० है[19]।

२ चितकाचार्यः—इन आचार्य का उल्लेख भी अल्तेम ताम्रपत्र में है। वह आचार्य सिद्धनन्दि के शिष्य थे।

तस्यासीत प्रथमश्शिष्यो देवताविनुतक्रमः।
शिष्यैः पञ्चशतैयुक्तश्चितकाचार्य संज्ञितः॥

अल्तेम दानपत्र मे उनके ५०० शिष्य सख्या का उल्लेख है। उनके विषय में अधिक जानकारी प्रकाशित सामग्री मे उपलब्ध नही है।

३ नागदेव—यह चितकाचार्य के शिष्यों में से थे। अल्तेम दानपत्र मे उल्लिखित दान के ग्रहणकर्ता जिननन्दि आपके ही शिष्य थे। नागदेव नामक एक व्यक्ति का उल्लेख महानवमी मण्डप (चन्द्रगिरि पर्वत) स्तम्भलेख (शक १०९९) मे है जो किसी राजा का मन्त्री था और जैनगुरु नयकीर्ति का शिष्य था। [20]परन्तु यह उपरोक्त नागदेव आचार्य नही हो सकते। क्योंकि वह चितकाचार्य के शिष्य थे तथा उनका समय इतने बाद का नही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस सन्दर्भ मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही है।

४ **जिननन्दि**—आचार्य जिननन्दि अलक्तक नगर मे स्थित त्रिभुवन तिलक जिनालय के अधिष्ठाता थे। आप नागदेव आचार्य के शिष्य तथा सेन्द्रक सामन्त सामिया के विशेष कृपापात्र थे। आचार्य जिननन्दि का उल्लेख शिवार्य के गुरुओ में आता है। इन्ही के चरणो मे अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर शिवार्य ने "भगवती आराधना" की रचना की थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिननन्दि सम्भवत यापनीय सप्रदाय के थे और शिवार्य उनके प्रमुख शिष्यो मे रहे होगे।

५ रामदेवाचार्य—लक्ष्मेश्वर से उपलब्ध शक ६५६ के विक्रमादित्य द्वितीय के पाषाण अभिलेख[22] मे इन आचार्य का उल्लेख मिलता है। यह मूलसंघ की देवगण शाखा के आचार्य थे। इनके शिष्य का नाम **जयदेव** पण्डित था।

---

१६ इ० ए० जिल्द ११ पृ ६८–७१ एवम कर्नाटक अभिलेख भाग १ पृ. ४–८।

१७. जैन शिलालेख भाग १ पृ. १–२।

१८ श्री प्रेमी जी, जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १६७।

१९ जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ १४७-१४८।

२० जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ ३३।

२१ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ६८।

२२ इ० ए० जि० ७ पृ० १०६-७।

अधिक सामग्री इस सन्दर्भ मे उपलब्ध नही है।

६ जयदेव पण्डित—शक ६५६ के लक्ष्मेश्वर अभिलेख मे विजयदेव पण्डित के गुरू के रूप मे इस जैन पण्डित का उल्लेख है। वे मूल संघ की देवगण शाखा की गुरू परम्परा के थे। हेमचन्द्र ने अपने "छन्दोनुशासन" (१३वी शताब्दी) मे अनेक छन्द प्रणेताओ तथा पूर्वाचार्यो का उल्लेख किया है।[२३] उसमे जयदेव का भी नाम आता है बहुत सम्भव है कि यह जयदेव वही हो। उनकी पण्डित उपाधि से उनके व्याकर्णाचार्य होने की सम्भावना का पता लगता है।

७ विजयदेव पण्डित :—यह जयदेव पण्डित के शिष्य तथा रामदेवाचार्य के प्रशिष्य थे। वे मूलसघ की देवगण शाखा के आचार्य थे। विक्रमादित्य ने शख तीर्थ वमति के धवल जिनालय के जीर्णोद्धार के निमित्त तथा जिन पूजा की वृद्धि के लिए कुछ भूमिदान बाहुबलि श्रेष्ठी के आग्रह पर विजयदेव पण्डित को प्रदान किया था।

८ पूज्यपाद :—चालुक्य राजा विक्रमादित्य के शक ६५१ के लक्ष्मेश्वर अभिलेख मे [२४] इनका उल्लेख है आप चालुक्य सम्राट् विनयादित्य के पुरोहित श्री उदयदेव पण्डित के गुरू थे। मूलसघ की देवगण शाखा के आचार्यो मे उनका अपना विशिष्ट स्थान है सम्भवत. आप वही पूज्यपाद है जिनका वास्तविक नाम देवनन्दि था तथा अपनी बुद्धिमत्ता के कारण जो जिनेन्द्र बुद्धिकहलाये। तथा देवो ने उनके चरणो की पूजा की इस कारण उनका नाम पूज्यपाद पडा।

यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्र बुद्धि·।

श्री पूज्यपादो ऽजनिदेवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम्॥[२५]

इनके जीवन काल के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। बहुसख्यक विद्वान इनका समय ५वी-६ठी शताब्दी मानते है,[२६] और वह यथार्थ ही प्रतीत होता है। इनके द्वारा लिखा गया जैनेन्द्र व्याकरण जैनो का सर्वप्रथम व्याकरण है। इसके अतिरिक्त सवार्थसिद्धि, समाधितत्र इष्टोपदेश तथा दशभक्ति आदि ग्रन्थो के भी वह कर्त्ता माने जाते है।

९ उदयदेव पण्डित—यह पूज्यपाद के शिष्य तथा मूलसघ की देवगण शाखा से सम्बन्धित थे। वह चालुक्य सम्राट् विनयादित्य के पुरोहित थे जैसा कि शक ६५१ के लक्ष्मेश्वर अभिलेख से स्पष्ट है। वे निरवद्य पण्डित, इस उपाधि से भी जाने जाते थे। सम्भवत इनका जीवनकाल ६७५ ई० से ७३० ई० के बीच मे रहा होगा।

१० प्रभाचन्द्र :—अडूर से प्राप्त दोनो बादामी चालुक्य अभिलेखो मे आप का उल्लेख है। वह सम्भवत गुरुर्गुरू वासुदेव आचार्य के शिष्य थे। धर्म ग. गुण्ड पुत्रज श्रीपाल जिसने अडूरमे पच्छिलापट्ट स्थापित किया था, इनका शिष्य था। प्रभाचन्द्र नाम के अनेक जैन आचार्यो और गुरुओ का उल्लेख, प्राचीन जैन साहित्य और अभिलेखो मे मिलता है। सम्भवत यह वही आचार्य है जिनका उल्लेख श्री प्रेमी जी ने भी किया है।[२७] साक्ष्यो के अभाव मे अधिक विस्तार मे न जाकर इतना निसन्देहात्मक रूप से कहा जा सकता है कि इन प्रभाचन्द्र की पहचान ६ठी-७वी शताब्दी मे हुए आचार्य प्रभाचन्द्र से ही की जानी चाहिए, क्योकि अडूर से प्राप्त अभिलेख पूर्णत प्रामाणिक है तथा ऊपर बताए गए समय के है।

११ वासुदेव :—अडूर से प्राप्त अभिलेखो मे प्रभाचन्द्र के गुरु के रूप मे गुरुर्गुरु वासुदेव आचार्य का भी उल्लेख है। इनके गुरु का नाम विनयनन्दि था जो परलूरगण के थे। सम्भवत. यह वही आचार्य है जिनका उल्लेख 'वसुदेव-हिडि' के दूसरे खण्ड मे गणितानुयोग के कर्त्ता के रूप मे धर्मसेन गणी ने किया है।

"अरहंत-चक्कि-वासुदेव-गणितानुयोग-क्रमणि द्दिट्ठ वसुदेव चरित ति।" इस सन्दर्भ मे अभिलेख मे अन्य सूत्रो के अभाव में विशेष दृढता के साथ यह मत प्रस्तावित नही

२३ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ।
२४ इ० ए० जि० ७ पृ० ११२।
२५ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ २५ और आगे।
२६ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ २५ और आगे।
२७ जैन साहित्य तथा इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ९५।

किया जा सकता है।

१२ **विनयनन्दि :**—आचार्य विनयनन्दि का उल्लेख अड़ूर अभिलेख मे मिलता है। इन्हे परलूरगण का अग्रणी बताया गया है। परलूरगण सम्भवत एक अप्रचलित गण था। अत. इन आचार्य के विषय मे अधिक सामग्री और परम्पराओं का अभाव है। अभिलेख के आधार पर इनका समय ६ठी-७वी शताब्दी के बीच मे रखा जा सकता है।

उपर्युक्त आचार्यों के अलावा कुछ अन्य नामो का उल्लेख इन अभिलेखों मे मिलता है, उदाहरणार्थ—इन्द्रभूति तथा रविशर्मा इत्यादि। उपलब्ध साक्ष्यो मे इनके विषय मे समग्री का अभाव है अत इस सन्दर्भ की कोई निश्चित धारणा बनाना कठिन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चालुक्य साम्राज्य में जैनधर्म का पर्याप्त प्रचार था। राजाओं की ओर से भी उन्हे उत्साह तथा सहयोग मिलता था। इसी धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण जैन धर्म के परिश्रमी प्रचारक इस क्षेत्र मे जैनधर्म का अनेक शताब्दियों पूर्व प्रचार कर सके थे। इस विषय के मनीषियो को चिन्तन तथा अध्ययन की पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त थीं फलतः वे अपने विश्वास का पूर्ण निष्ठा के साथ प्रचार कर सके। राजवश के अनेक सदस्य उनके सात्विक विचारों से पर्याप्त प्रभावित थे। चालुक्य सम्राट् विनयादित्य का पुरोहित स्वयम् एक जैन आचार्य था। इससे राज दरबार मे जैन सिद्धान्तो के सम्मान और प्रतिष्ठा का आभास मिलता है।

●

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशन का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेभचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतील
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर
	डा० प्रेमसागर, बड़ौत
	यशपाल जैन, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज दिल्ली
स्वामिनी सस्था	वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली

मैं प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-६४

ह० प्रेमचन्द

(प्रेमचन्द)

एलिचपुर के राजा श्रीपाल उर्फ ईल

नमचन्द धन्नुसा जैन

(१) अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ के बस्ती मन्दिर मे जो सफेद पाषाण की पद्मावती माता की दिगम्बरी प्रतिमा है, उनके सामने वहा की सुवासिनी स्त्रियां यह मगल आरती नित्य गाती है ।

'जाउ चला ग सखे, गाउ चला ग सखे, जाउ लवकरी ।।
घेउनी हाती दीपक ज्योती, रत्नखचित हिरे माणिक मोती
दैवाची पद्मावती, काय सांगू साजणी ग जाउ लवकरी ।।१।।
भूपाल राजाची कन्या सगोनी, श्रीपाल राजाची ऐका कपाना
गधोद घे ग सखे, मत्रप्रभावना । ग जाउ लवकरी ।।२।।
(जसी) सूर्या सुन्दर सती, (तसी) श्रीपाल राजामती ।
प्रसन्न हो ग सखे, मत्रप्रभावना । ग जाउ लवकरी ।।३।।

इसमे दूसरा तथा तीसरा भाग ऐतिहासिक महत्व रखता है । जब श्रीपाल राजा को कुष्ट राग हुआ और विश्राम के लिये उसने श्रीपुर का आश्रय लिया था । तब उसके साथ भूपाल राजा की कन्या थी । जिसने राजा को मत्र साधना मे साथ देकर तथा कूपजल याने मूर्ति ससग से हुआ गधोदक उससे स्नान कराकर व्याधि से राजा को मुक्त किया था । वह कैसी थी ? तो जैसी सूर्य को सती, वैसी वह श्रीपाल राजा की रानी थी । उसका नाम राजामती था । मत्र प्रभाव से माता पद्मावती ने राजा को साक्षात्कार देकर मूर्ति की प्राप्ति कराई थी ।

श्रीपाल राजाकी रानीके उल्लेख तो अनेक साहित्य मे है । उनके उतारे यहा देनेकी आवश्यकता नही है । तथा जब दूसरा प्रबल विरोधी प्रमाण हमारे सामने नही आता तब तक इसको ग्राह्य मानने मे कोई आपत्ति नही आएगी ।

तथापि इसके प्रामाण्य के लिए मुनि कनकामर रचित 'करकडु चरित्र' की प्रशस्ति मे उल्लेखित 'राजा भूपाल' के काल और स्थल पर यदि उचित प्रकाश पडे तो अच्छा होगा । उससे श्रीपाल राजा के समदी राजाओ की परम्परा का पता चल जाएगा । इसके लिए श्री प० परमानदजी शास्त्री 'जैन-ग्रथ-प्रशस्ति-सग्रह' द्वितीय भाग पृष्ठ १३६ पर लिखते है—"करकडु चरित जिनके अनुराग वश बनाया गया था, ग्रन्थकार ने उनका नाम कही भी उल्लिखित नही किया । कवि ने उन्हे धर्मनिष्ठ और व्यवहार कुशल बतलाया है । वे विजयपाल नरेश के स्नेह पात्र थे । उन्होने भूपाल नरेश के मन को मोहित कर लिया था । वे कर्णदेव के चित्त का मनोरजन किया करते थे ।···

उक्त राजा गण कब और कहा हुए इसी पर यहा विचार किया जाता है—एक लेख मे लिखा है कि विजयपाल नरेश विश्वामित्र गोत्र के क्षत्रिय वश मे उत्पन्न हुए थे । उनके पुत्र भुवनपाल थे, उन्होने कलचूरी, गुर्जर और दक्षिण को विजित किया था । यह लेख दमोह जिले के हटा तहसील मे मिला था । जो आजकल नागपुर के अजायब घर मे सुरक्षित है ।

दूसरा लेख—बादा जिले के अतर्गत चदेले की पुरानी राजधानी कालिजर मे मिला है । उसमे विजयपाल के पुत्र भूमिपाल का दक्षिण दिशा और राजा कर्ण से जीतने का उल्लेख है ।

तीसरा लेख—जबलपुर जिले के अतर्गत 'तीवर' मे मिला है, इसमें भूमिपाल के प्रसन्न होने का स्पष्ट उल्लेख है ।···

स० १०९७ के लगभग कालिजर मे विजयपाल नाम का राजा हुआ । यह प्रतापी कलचुरि नरेश कर्णदेव के समकालीन था । आदि ।

मुनि कनकामर इन सबके समकालीन होने से अगर ये भूपाल और भूमिपाल एक ही व्यक्ति हो तो भूपाल नरेश का संबध दक्षिण मे आता है । अतः उसकी लडकी जिसका घरेलू नाम शायद 'संगोनी' हो और ब्याह समय या व्यवहार मे जिसे 'राजा मती' कहते थे, उसकी शादी हमारे राजा श्रीपाल से हुई हो तो कोई बाधा नही आती ।

सिर्फ अभी उनके निश्चित समय तथा स्थान और कार्यक्षेत्र पर अधिक प्रकाश पड़ना चाहिए।

(२) अब राजा श्रीपाल के गजब का धर्मप्रेम तथा वीर और अभिमानी मृत्यु प्रसग का ज्ञान पाठक गण को कराते है। यह वार्ता अमरावती जिला गजेटियर मे उल्लेखित मुसलमानी कथा के अनुसार इस तरह है।

"किसी एक समय एक मुसलमानी फकीर एलिचपुर के राजा ईल के दरबार मे पहुँचा, और उसने राजा को इस्लाम धर्म स्वीकारने को कहा तथा धर्म प्रचार की अनुमति मागी। राजा ने उसको परत जाने को कहा। लेकिन उसके हठ के कारण उसके हाथ कटवा दिए।

फकीर ने भारत छोडा और अपनी दैन्यावस्था शाह अब्दुल रहमान के सामने रखी। रहमान उस समय गजनी मे था, और वह वहा के राजा महमद का भाजा था। उस समय उसकी शादी का उत्सव मनाया जा रहा था। फकीर की वह करुण दशा देखकर उसका धर्मप्रेम जाग उठा और उसने वह समारभ बाजू रखकर एकदम कित्येक हजार सैनिकों के साथ बेरार (विदर्भ) की ओर चल पड़ा। उसके साथ उसकी माता बीबी मलिका-ई जहान भी थी।

उस समय उत्तर भारत मे वकद (Vakad) (खेरला शिलालेख के अनुसार जिसका नाम उछद बकल था। राजा राज्य करता था। इसको एक समय ईल राजा ने पराभूत किया था वह अब्दुल रहमान को मिल गया याने उसकी इस युद्ध मे सहायता की। यह आक्रमण का हाल सुनते ही ईल राजा ने सेनापति को उसका प्रतिकार करने को ससैन्य भेजा। दोनो सेनाओ की भेट खेरला मे हुई जो बैतूल जिले मे है। प्रारम्भ मे मुसलमानो की हार होने लगी। इतने मे आकाशवाणी हुई, उसमे अब्दुल रहमान ने उत्तेजित होकर शिर कटा लिया और लडने लगा। इससे उसके सैनिक भी उत्तेजित होकर लडने लगे। उन्होने हिन्दुओ को लूटा और एलिचपुर तक पीछे नही देखा।

वहा फिर खुद राजा ईल से सग्राम हुआ, वहा भी ईल पराभूत हुआ और उसने शहर का आश्रय लिया। उसको पकडकर अब्दुल रहमान के सामने लाया गया। अब्दुल रहमान ने उसको इस्लाम धर्म स्वीकारने को कहा, इसको राजा ने एकदम नकार दिया। बाद में राजा को पूछा गया कि आप अगर विजयी होते तो क्या करते ?

राजा ने उत्तर दिया कि "मै अब्दुल रहमान को उडा देता। तीक्ष्ण शस्त्रों से उसकी चमडी (खाल) निकालकर उसको जला देता। किसी भी तरह का समय न लगाते हुए इसी तरह की शिक्षा राजा को देने की अब्दुल रहमान ने आज्ञा दी और उसको एक प्रमुख नरक मे भेज दिया। घटना का समय हिजरी सन् ३९२ याने १००१—२ सन् ईस्वी है। अब्दुल रहमान गाजी के अनुयायी, जिन्होने राजा ईल को पकडा था, साधारणत पचपीर या पचपीर के नाम मे प्रसिद्ध थे।" आदि।

गजेटीयर के अन्त मे लिखा है कि, जनश्रुति के अनुसार इस गाजी का सिर उडा दिया गया है।

यह है एक शहीद की पुण्य गाथा, जो खुद मुसलमान लेखक ने उसको अमर बनाने के लिए लिखी, कहा ? गजनी मे। कहते है कि उस पर से 'तवारीख-ई-अमजदिया' नाम की एक छोटी पुस्तिका पारसी मे एलिचपुर के खतीफ ने प्रकाशित की थी।

यहा ऊपर की कथा मे एक असम्भव बात बताई गई है कि अब्दुल रहमान ने अपना सिर कटा लेने पर भी वह जीवित रहा, तथा उसने ईल राजा को भी हराया।

इसके सत्यासत्य के लिए श्री यादव माधव काल के— 'कहाडचा इतिहास' के लेख का उल्लेख देखना उचित है पृष्ठ ७१ पर- गाजी रहमान दुल की और ईल राजा की लडाई हुई। उसमे राजा ईल और शाह रहमान दोनो ही पडे। इस लडाई मे मुसलमानो के ग्यारह हजार सैनिक खर्ची पडे। उन सबको एक जगह गाड दिया गया है। उस पर एक बडा इमाला बधाया है। उनको 'गजशहीदा' कहते है। दुल रहमान की बडी कबर हाल मे ही एलिचपुर मे मौजूद है। उसके खर्चा के लिए 'काडली' यह गाव अभी तक जहागीर है। यह जहागीर एलिचपुर के नवाब ने दी है। दुल रहमान गाजी की कबर प्रथम अलाउद्दीन खिलजी ने बधायी थी। हाल की इमारत बाद मे की है। नजदीक ही ईल राजा का गाड दिया है।' आदि।

ऊपर के उल्लेख से यह तो स्पष्ट हुआ कि रहमान गाजी इस लडाई मे मारा गया था। तथा खेरला के पास

रहमान गाजी के मुड की कबर बनाई जाती है, इससे और मुसलमानी कथा से रहमान दुल का सिर खेरला मे ही काटा गया था और उससे उनकी हार हो रही थी। लेकिन ऐसा लगता है कि उसकी मा बीबी मलिका-ई-जहान ने उस समय धैर्य रख कर अपनी सैन्य को उत्तेजित करते हुए कहा होगा कि "अल्ला की आवाज आने से और अपने को विजय मिलने के लिए दुला रहमान ने अपना सिर कटा लिया है और वे दाद मॉगने के लिए अल्ला के दरबार मे पहुँच गये है। तब क्या आप भाग जाओगे ? क्या काले मुह वहाँ बतायेंगे ? क्या आपकी प्रतिज्ञा—जियेंगे तो इस्लाम के लिए, और मरेंगे तो इस्लाम के लिए—आप भूल गये ? जय जिहाद की पुकार करो और लडो। अल्ला आपकी मदद करेगा।"

इस तरह आवाज सुन कर मुस्लिम सैन्य उत्तेजित हुई, और रहमान गाजी के गिरने से उनके सैन्य की घबडाहट देख कर राजा ईल के सैनिक गाफिल रहे होगे। अचानक बीबी मलिका ने उनपर कडाके से हमला किया।

अबकी बार ईल राजा के सैनिक पीछे हटे। पीछे हटने से शायद राजा का सेनापति मारा गया होगा। इसलिए राजा के सैनिक नेतृत्व के अभाव के कारण एलिचपुर भाग आये। और इनका पीछा करते हुए मुसलमानो ने रास्ते मे जो मिला उनको लूटा और नष्ट भ्रष्ट किया।

एलिचपुर मे मुसलमानो के ग्यारह हजार सैनिक मारे गए, इसपर से ऐसा लगता है कि वहाँ ईलराजा का नेतृत्व उचित रहा। शायद इस युद्ध मे ईल राजा ही विजयी हुआ होगा। क्योकि लड़ाई मे पराजित होनेवाला और आश्रय के लिए शहर मे भागनेवाला राजा पकड़े जाने पर वीरश्री पूर्ण तथा स्वाभिमानी उत्तर नही दे सकता था। वीर युद्ध मे ही मरण स्वीकार करते है। अतः युद्ध मे सरलता से विजय न मिलती देख बीबी मलिका ने युद्ध को समाप्त होने की घोषणा कर कूटनीति अपनाई होगी।

एलिचपुर के कमानपुरे मे एक देवडी में बाण की निशानी बताई है। यह स्थान मुसलमान पूज्य मानते है। बाण की निशानी गाँव मे से बाहर की ओर बताई है। जनश्रुति तो यह है कि यहाँ ईल राजा को बाण लग कर मृत्यु हुई। अगर बाण से राजा की मृत्यु होती, तो पंच पीरो से उसका पकडे जाना और स्वाभिमानी मरण यह घटना झूठी ठहरती। लेकिन राजा के वैसे मरण का स्पष्ट उल्लेख होने से बाण से मृत्यु की कल्पना ठीक नही बैठती। जँचता तो ऐसा है कि जब पचपीरो से राजा पकड़ा जा रहा था, तब एक पीर राजा से आए हुए तीर से घायल हो पडा हो, इसीलिए वह स्थान मुस्लिम लोग पूज्य मानते है[1]।

इस बात पर विश्वास तो जरूर रखना पडता है कि उन पीरो के द्वारा राजा किसी भी तरह पकडा गया और इस गंधवार्ता को सुनते ही बीबी मलिका ने बचे हुए सैनिको से फिर एकदम हमला कर नगर को कब्जे मे कर लिया हो और विजय की पताका फहराई हो।

ऐसी असहाय स्थिति मे ईल राजा को इस्लाम का उपदेश दिया गया। मगर उससे ऐसी स्थिति मे भी स्पष्ट नकार आने से राजा को पूछा गया कि अगर आप विजयी होते और अब्दुल रहमान आपके हाथ पड़ता, तो आप क्या करते ?

जबाब वही मिला, जो कि ऊपर दिया गया है। धन्य है वह राजा, जिसने शरीरपर की खाल उतारनेकी अनन्त वेदना सहन की मगर सच्चे धर्म का परित्याग नही किया। जिसने इस एक जीवन का नाश मान्य किया मगर अनन्त भवो मे दुःखदाई ऐसा भयावह परधर्म नही अपनाया। इसी का नाम धर्मप्रेम है और इसी का नाम सम्यक्त्व है। उस धर्मनिष्ठ और वीर राजा श्रीपाल उर्फ ईल को हमारा प्रणाम। उसके जीवन से हमें यही सदेश मिलता है कि, आत्महितेच्छु जीव किसी भी परिस्थिति में धर्म का त्याग नही करते। उलटा प्रसंग बीतने पर प्राण की बाजी लगा कर धर्म की रक्षा करते है। तो क्या अभी हम उसी ईल राजा के निर्माण किये हुए इस श्रीअंतरीक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ की रक्षा नही कर सकेंगे ? करेंगे, करेंगे, अवश्य ही करेंगे।

---

१ दुला रहमान की कबर एलिचपुर में है, इसका अर्थ यही कि उसके शव को वहाँ गंज शहीदा के पास दफना दिया है।

'वैधता और उपादेयता'

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन

स्याद्वाद सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कतिपय समीक्षको ने कुछ भौडे आरोप भी लगाए, जिनमे से एक तो यही कि 'जैन स्याद्वाद के अन्तर्गत 'यह भी सत्य है' कि रट लगा कर यह प्रदर्शित करते है कि उन्हे किसी सत्य पर निश्चय नही। वे महा अनिश्चय के शिकार है। एव जब उन्हे किसी कथन पर निश्चय ही नही, तो फिर वे कैसे निर्णय कर सकते है कि जीवन-विकास के लिए क्या उपादेय है। जब उपादेयता की उनके समक्ष कोई सम्बोधना नही, तो फिर सम्यक् जीवन-प्रणाली की सम्भावना कैसे, और कैसे सद्धर्म की स्थापना भी। उनके मतानुसार जिस कथन मे अनिश्चय है वह वैध नही हो सकता। जो वैध नही है वह उपादेय नही हो सकता अस्तु, स्याद्वाद उपादेय तत्त्व से रहित है।

अब, पूर्व पक्ष मे जो तर्क प्रक्रिया प्रस्तुत की गई उसे यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो उसमे दो भिन्न सम्बोधनाओ को एकार्थक समझने की भूल स्पष्ट दिखाई पडेगी। वे दो सम्बोधनाएँ है—वैधता और उपादेयता। क्या वैध है? क्या उपादेय है?—वे दोनो दो भिन्न-भिन्न प्रत्यय क्षेत्रो के प्रतिनिधि वाक्य है। वैधता का क्षेत्र है न्याय (Logic), और उपादेयता का क्षेत्र है नीति (Ethics)। दोनो सम्बोधनाएँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे रहती हुई भिन्न-रूप से अस्तित्वगत भी होती है। वैधता उस तार्किक स्थिति का दूसरा नाम है जो एक न्याय-प्रक्रिया मे आधार (Premises) और निष्कर्ष (Conclusion) की पारस्परिक सगति मे उपलब्ध होती है; यथा—

(१) सब मनुष्य मरणशील है,
और गाँधी मनुष्य है;
अतः, गाँधी मरणशील है।

यहाँ 'गाँधी मरणशील है' वाक्य वैध है, क्योकि वह ऊपर के दोनो आधार-वाक्यो से सगत है। इस प्रकार निष्कर्ष की वैधता आधार की सापेक्षता का विषय है। वैधता आधार-निष्कर्ष सापेक्ष होती है। यहाँ 'गाँधी भारतीय है' वाक्य एक वैध निष्कर्ष के रूप मे नही बिठाला जा सकता, जबकि वही निम्नलिखित तर्क मे वैधरूप मे कहा जा सकता है —

(२) सब गुजराती भारतीय है,
और गाँधी गुजराती है,
अत गाँधी भारतीय है।

इस प्रकार वैधता की एक निश्चित सीमा है। वह एक तार्किक इकाई मे आबद्ध है। वह अपनी तार्किक इकाई से तदाकार है और उसकी आत्मा है। तार्किक इकाइया अनन्त है, अत वैधता, साम्बोधनिक अस्तित्व मे एक होते हुए भी अस्तित्वगतता के क्षेत्र मे अनन्त है। इस प्रकार प्रत्येक अस्तित्वगत वैध इकाई अपने मे मौलिक और यथार्थ है। उस मौलिक और यथार्थ का ही यह परिणाम है कि उपर्युक्त तर्क स० १ का निष्कर्ष केवल उसी तर्क मे वैध है, दूसरे तर्क मे नही। उसी प्रकार तर्क स० २ का निष्कर्ष उसी मे वैध है, स० १ मे नही। अस्तित्वगत इकाइयो की इसी मौलिक और यथार्थ वैधता की अभिव्यक्ति स्याद्वाद का सिद्धान्त करता है।

स्याद्वाद के अनुसार गाँधी मरणशील है' कथन कथचित वैध या सत्य है, क्योकि उसकी अपनी अस्तित्व गत सीमा है। उस सीमा के परे वह सत्य नही हो सकता। अब इसी वाक्य का विरोधी वाक्य भी निम्नलिखित तार्किक इकाई मे कथचित सत्य की कोटि मे आता है.—

(३) सब यशस्वी आत्माएँ अमर है,
और, गाँधी एक यशस्वी आत्मा है,
अत, गाँधी अमर है।

इस प्रकार स्याद्वाद के अनुसार 'गाँधी मरणशील है' और 'गाँधी अमर है' दोनो कथन, यद्यपि निरपेक्ष दृष्टि से विरोधी है किन्तु अपनी-अपनी सापेक्ष इकाइयो मे कथ-

चित वैध हैं। इन कथनों को कथचित वैध कहना अनिश्चय का द्योतक कहाँ हुआ ? इस कथचितता मे तो यह दृढ निश्चय निहित है कि अपने-अपने आधार की दृष्टया प्रत्येक निष्कर्ष निश्चयपूर्वक सत्य है। इस प्रकार वैधता सापेक्षता का उपसिद्धान्त (Corollary) है। कोई वैध वाक्य निरपेक्ष रीति से प्रकट किया ही नही जा सकता। साथ ही साथ कोई भी निरपेक्ष रीति से कथित वाक्य किसी दूसरे वाक्यकी वैधता, चाहे वह कितना ही विरोधी क्यो न लगे, बाधित नही कर सकता, क्योंकि निरपेक्ष रीति के वाक्य तर्कबुद्धि से अनुगत नही होते, बल्कि किसी आस्था के विषय होते है, जो वैध और अवैध की कोटि मे नही आते। सार रूप में, वध कथन वह है जो अपने आधार से सगत हो और अवैध वह, जो अपने आधार से सगत न हो। 'गाँधी मरणशील है' वाक्य अपने आधार की दृष्टया वैध है तथा अन्य आधारों की अपेक्षा अवैध। ऐसे ही अन्य निष्कर्ष-वाक्यो के बारे मे भी। इस प्रकार एक ही कथन कथचित असत्य भी। यही स्याद्वाद सिद्धान्त का आशय है।

इस प्रकार वैधता शुद्ध रूपेण वैचारिक सगति का अभिज्ञान है। एक निर्णय से दूसरे निर्णय का रीतिबद्ध निगमन वैधता का प्रकाशन है। वैधता का क्षेत्र प्रत्यय जगत है। उपादेयता वैधता के क्षेत्र से कुछ विलग पडती है। उपादेयता का क्षेत्र मूल्य-जगत मे है। मूल्य जीवन—व्यष्टि और समष्टि दोनों, की वह सापेक्ष वस्तुस्थिति है जो काम्य है। इसी काम्य वस्तुस्थिति की सापेक्षता मे उपादेयता का निर्णय होता है। जैसे निर्वाण एक मूल्य, शायद चरम मूल्य है। निर्वाण की वस्तुस्थिति कामना का चरम अधिकरण है। उस निर्वाण की दिशा मे प्रवर्तित यदि कोई कार्य-व्यापार है, तो उसे उपादेय कहा जाएगा। धार्मिक चारित्र उक्त मूल्य का सवाहक है। अत वह उपादेय है। इसी प्रकार उपादेयता की अनेक कोटियाँ बन जाती हैं, क्योंकि मूल्यों की अनेकानेक कोटियाँ है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपादेयता मूल्य-सापेक्ष है।

उपादेयता इस प्रकार एक निष्कर्ष है जो मूल्यों के आधार से निगमित होता है। कौनसा कार्य-व्यापार उपादेय है—यह निरपेक्ष रीति से तय नहीं हो सकता। हमे तुरन्त उसके आधारभूत मूल्य मे जाना पडेगा और देखना होगा, कि उक्त निष्कर्ष अपने आधार से वैध रूपेण निगमित हुआ है। वैधता इस प्रकार उपादेयता की निर्णायिक है। दोनो तत्त्व सहजात है। अहिंसादि धर्म उपादेय है; क्योंकि वे निर्वाण नामक मूल्य मे वैध रूपेण निगमित है किन्तु अहिंसादि को उपादेय उस हालत मे नही कहेगे जब उसे रण-विजय के सदर्भ मे रखा जायगा। रण-विजय के आधारसे वैधरूपेण हिंसा को ही निगमित किया जा सकता है। अतः उपादेयता के लिए दो पूर्वापेक्षाएँ आवश्यक है। पहली—मूल्यगत सदर्भ, और दूसरी, सदर्भ से निगमित निष्कर्ष की सगति। अस्तु, उपादेयता स्याद्वाद का विषय है और उसमे कोई अनिश्चितता नही। स्याद्वाद प्रत्येक आचारिक कृत्य का तार्किक आधार है। वह प्रत्येक कृत्य का, चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो, विवेक या 'क्यो' प्रस्तुत करता है। व्यक्ति उपवास करता है; भक्ति करता है, उपासना करता है, आदि आदि—स्याद्वाद उन सभी पर पहले प्रश्न चिह्न खींचता है कि यह क्यो ? उत्तर मे धार्मिक अन्तःकरण कहता है, कि यह सब मोक्ष के लिए। तो फिर स्याद्वाद विवेक का रचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है, कि क्या यह सारे क्रियाकलाप मोक्ष से वैधरूपेण सगत है ? तब प्रत्येक कार्य की वैधता निर्णीत कर वह उसे मूल्य सापेक्ष और उपादेय घोषित कर देता है। इस घोषणा मे कहाँ अनिश्चितता है और कहाँ अनुपादेयता—यह समझ मे नही आता।

कुछ का विचार है कि धर्म और आचार के लिए एक निश्चित और अपरिवर्तनीय दर्शन की आवश्यकता होती है। उसे चाहे तार्किक दृष्टि से निरपेक्ष कहा जाए या एकान्त, धर्म प्रवर्तन मे है उसीकी आवश्यकता। जैन दार्शनिको का यहाँ कुछ मतभेद है। उनकी निगाह मे कोई निरपेक्ष (Absolute) कथन बुद्धि सम्मत नही हो सकता। वह केवल किसी अनुभूति की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। जैसे कि यदि हम 'गाँधी मरणशील है' वाक्य बिना किसी आधार का सदर्भ लिए व्यक्त करे, तो यह किसी व्यक्ति या समूह की अनुभूति का ही विषय होगा। इसे वैध या अवैध नही कहा जा सकता। वैध यह तभी होगा, जब इसे 'सब मनुष्य मरणशील हैं, आदि' वाक्यो

के संदर्भ मे परखा जाए । और जब तक कोई कथन वैध नहीं होगा, वह उपादेय नहीं हो सकता; क्योंकि वैधता का तात्पर्य है निष्कर्षगत सत्य की आधारगत सत्य के साथ संगति; और जब तक ऐसी संगति उपलब्ध नही होगी, आधारगत सत्य की पृष्ठभूमि में निष्कर्षगत सत्य वस्तुतः काम नही कर सकता है । जब वह काम नही कर सकता, तो वह उपादेय भी नहीं कहा जा सकता । यह बात दूसरी है, कि कोई किसी कथन को सदर्भगत आधार की पृष्ठ-भूमि मे परखे ही नही और उसे सही मानकर आचरण का मानदण्ड बना ले; लेकिन यह निश्चित है, कि वह कथन आचरण मे उपादेय तभी होगा जब वह वस्तुतः वैध होगा । उदाहरण स्वरूप अहिंसा को ही ले । अहिंसा नामक सत्य तभी उपादेय है जबकि वह चित्तशुद्धि और निर्वाण-प्राप्ति की भूमिका मे आचरित होता है । चित्त-शुद्धि की भूमिका मे अहिंसा एक वैध निष्कर्ष है । अब यही पर कोई निर्वाण-प्राप्ति के सदर्भ मे हिंसा का उपदेश करे, तो इस निर्णय को कोई कितना ही एकान्त या निर-पेक्ष क्यो न माने, वह उपादेय निर्णय की कोटि मे नही आ सकता । आगे चलकर फिर ऐसे ही वास्तविक रूपमें हो गये अवैध निर्णय जब आचार के मन स्तम्भ बन जाते है तो वे अधविश्वास का रूप धारण कर लेते है । स्याद्वाद रूपी विवेक इसीलिए उपादेयता का अनन्य सहचर है । उसे धर्म से अलग नहीं किया जा सकता । धर्म अध-विश्वासो की नुमायश नही है । वह ज्ञान और विवेक का उन्नायक है । वह जीवन मूल्यों का सर्जक है । मोक्ष उन मूल्यो की शृखला मे सर्वोच्च मूल्य है । जैनधर्म और आचार का लक्ष्य-विन्दु वही सर्वोच्च मूल्य है जो स्याद्वादी विवेक के बिना सम्भव नही । अस्तु, स्याद्वाद सर्वोच्च उपादेयता का अधिकरण है ।

सार रूप में :—

वैधता निष्कर्ष-आधार-सापेक्षता मे अनुव्याप्त तार्किक सगति का दूसरा नाम है ।

उपादेयता मूल्य-सापेक्षतामे किया गया वैध निर्णय है।

उपादेयता वैधता के विना सम्भव नही ।

स्याद्वाद वैधता की एजेंसी है ।

अस्तु, स्याद्वाद उपादेयता का अधिकरण है ।

●

'बुधजन के काव्य में नीति'

गंगाराम 'गर्ग' एम. ए.

कवि एक सामाजिक प्राणी है । वह केवल अपनी काल्पनिक दुनियाँ मे ही उडान नही भर सकता; उसे लोकोन्नति की दृष्टि से भी अपनी कृति को उपादेय बनाना होता है । जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण जीव-नोपयोगी बातें बतलाना उसकी कविता का प्रमुख लक्ष्य बन जाता है । कोरा उपदेश बुद्धि-ग्राह्य होने के कारण मनुष्य को सुधारने मे सफल नही होता; क्योकि काव्यगत नीति तत्त्व हृदय को स्पर्श करने के कारण व्यक्ति के कटु स्वभाव-परिवर्तन अथवा लोकोन्नति मे अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है । काव्य-सागर मे निमग्न व्यक्ति शनै. शनै कवि की विचारधाराओ से प्रेरित होकर स्वतः जीवनोः पयोगी पथ की ओर उन्मुख होता है । यही कारण है कि पारस्परिक कलह, वैमनस्य, विद्रोह, शोषण व परतत्रता के काल मे तुलसी और मैथिलीशरण जैसे भारती के अमर गायक ही मन मे शान्ति व एकता तथा प्राणो मे वीरता का मत्र फूक देने मे समर्थ हुए है । उनका युग-युगीन साहित्य चिरकाल तक भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करता रहेगा ।

जैन-रचनाए भारतीय नीति-काव्य की अक्षय राशि है । जैन-धर्म की आचार-प्रधानता के कारण जैन साहित्य में भी नीति उक्तियाँ प्रधान लक्ष्य बन कर आई है । मध्य-कालीन हिन्दी काव्याकाश मे तुलसी, विहारी, रहीम व वृन्द के समान बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास व बुध-जन आदि जैन कवि भी उन नक्षत्रो मे से है जो अपने

विवेक-आलोक से अज्ञानान्धकार में भूले बटोहियों का पथ प्रशस्त करते रहे है तथा आगे भी करते रहेगे।

बुधजन जैन-काव्य मे सर्वाधिक सम्मानप्राप्त नीतिकार है। इन्होंने यद्यपि तत्त्वार्थबोध, योगसार भाषा, दर्शन पच्चीसी आदि कई ग्रन्थो की रचना की किन्तु नैतिक उद्भावना की दृष्टि से इनके 'पद-सग्रह' और 'बुधजन-सतसई' दो ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'पद-सग्रह' मे विभिन्न राग-रागिनियो मे २४३ पद है। 'बुधजन-सतसई' मे 'देवानुराग शतक' सुभाषित नीति, उपदेशान्धकार तथा विराग-भावना चार विभागो मे ६६५ दोहे है। बुधजन ने दया, मित्र, विद्या, सतोष, धैर्य, कर्म-फल, मद, समता, लोभ, धन व्यय वचन, द्यूत, मास, मद्य, पर-नारी-गमन, वेश्या गमन, स्त्री आदि विषयो पर नीतिपरक उक्तिया कही है।

'दया'—नीतिकार नारद ने क्षुद्रतम जीवो की भी पुत्रवत् रक्षा अनिवार्य एव सर्वोत्तम बतला कर दया का बडा महत्त्व दिया है।[1] बुधजन भी दया को षट्दर्शनो का सार तथा समस्त जप, तप की सार्थकता के लिए अनिवार्य मानते है।[2] उन्होने दयालु व्यक्ति को अपना निकटतम व परम हितैषी तथा मन-वचन-काया से वन्दनीय समझा है।[3]

मित्र—जैमिनि ने सुख-दुःख मे समान स्नेह करनेवाले साथी को मित्र कहा है।[4] बुधजन मित्र के सम स्नेह से ही सतुष्ट नही हो जाते अपितु सुख-दुःख मे उसका सम्यक् परामर्श भी चाहते है। उनकी दृष्टि मे मित्र का परामर्श बिगडे कामो को सुधारनेवाला, अनीति और व्यसनो से बचानेवाला तथा सशयो को दूर करनेवाला होता है।[5] बुधजन सर्व बाधाओ से अच्छे मित्र की सहायता तथा कुमित्र के परित्याग का उपदेश देते है :—

बिपत मेंटिये मित्र की तन धन खरच मिजाज।
कबहूं वांके बखत में करहै तेरो काज ॥४५०॥
मुख तें बोले मिष्ट जो उर में राखै घात।
मित्र नहीं वह दुष्ट है तुरत त्यागिये भ्रात ॥४५१॥

बुधजन ने यति, लखपति, बालक, जुआरी, चुगलखोर, चोर तथा नशेबाज व्यक्ति को मित्र बनाना बुरा बतलाया है।[6]

विद्या—परम्परागत नीतिकारो की तरह बुधजन भी विद्या को खर्च करने से बढनेवाला एवं अमूल्य धन तथा सम्मानदात्री वस्तु मानते है।[7] उन्होने विद्यार्थी के अल्प भोजन व वस्त्र; कम निद्रा; आलस्य का परित्याग कर विद्या-चिन्तन करते रहना तथा खेल-तमाशे से दूर रहना चार लक्षण बतलाए है—

अलप वसन निद्रा अलप ख्याल न देखं कोइ।
आलस तजि घोखत रहै विद्यारथी सोइ ॥४३३॥

राजपुत्र के अनुसार विद्या की सार्थकता के लिए तदनुकूल आचरण करना व्यक्ति का धर्म है।[8] यही बुधजन कहते है—

जो पढ़ि करं न आचरण नहिं करै सरधान।
ताको भणिवो बोलिवो काग वचन परमान ।४३१॥

संतोष—अपनी विविध अभिलषित वस्तुओ को अप्राप्य देख कर दुःखी न होना तथा अपनी वर्तमान स्थिति मे ही प्रसन्न रहना सतोष कहलाता है।[9] सतोष न होने देने का मूल कारण तृष्णा है। सुन्दर कवि ने तृष्णा को दुःख व सतोष को सुख का कारण कहा है।[10] यही बुधजन की भी धारणा है।[11]

शोक कोई विपत्ति आ जाने पर दुःखी रहना शोक है। शोक को भारद्वाज ने शरीर-शोषक तथा कौशिक ने

१ पं० सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा अनूदित नीति वाक्यामृत पृ० १७।
२ बुधजन पद-सग्रह, पद १७४।
३ बुधजन सतसई, दो० १६४ तथा बुधजन पद-सग्रह, पद १७४।
४ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीति वाक्यामृत, पृ० ३०३।
५ बुधजन सतसई, दो० ४३६, ४४१, ४४२।
६ वही, दो० ४४७।
७ वही, दो० ४२७, ४२४।
८ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीतिवाक्यामृतम् पृ० ३०।
९ गगाराम गर्ग : 'तुलसी का नीति-दर्शन' की पाण्डुलिपि, पृ० ४१।
१० अनु० सु० लाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृतं, पृ० ३४५।
११ बुधजन पद-संग्रह, पृ० ५२।

धर्म आदि को त्रिवर्ग का नाशक बतलाया है ।[12] शोक के विषय मे लगभग यही विचार बुधजन के है—

सोक हरत है बुद्धि को सोक हरत है धीर ।
सोक हरत है धर्म को सोक न कीजै वीर ।२७१।।

विपत्ति को दूर करने का सबसे बडा उपाय है निर्विकल्प मन से उसके लिए यत्न करना । मन पर पडी दुःख की छाया मनुष्यको इस ओर प्रेरित नही होने देती इस तरह विपत्ति सर्वदा बनी रहती है । अत: कवि का कहना है कि—

विपति परं सोच न करो कीजं जतन विचार ।३०८।।

धन—संस्कृत नीतिकारो ने स्थान-स्थान पर धन को सर्वगुणसम्पन्न कहलाने वाला बतलाते हुए उसकी महिमा गाई है । सोमदेव सूरि के अनुसार धनवान् व्यक्ति ही महान् और कुलीन है ।[13] बुधजन भी धन के आधिक्य को सौन्दर्य, बल, बुद्धि, धैर्य तथा हितैषियो को समाज मे बढाने वाला बतला कर उसका महत्त्व स्वीकार करते है ।[14] किन्तु वह अधर्म, क्लेश व दीनता के साथ लिए धन-सग्रह को बहुत अनुचित भी मानते है—

धर्म हानि संक्लेश अति शत्रु विनय करि होय ।
ऐसा धन नहिं लीजिए भूखे रहिए सोय ।१७२ ।।

परम्परागत नीतिकारो की तरह बुधजन ने जहाँ धन के बहुत से लाभ गिनाये वहाँ दो बडी हानियो की ओर भी संकेत किया है । एक तो उसकी अस्थिरता, दूसरी सर्वदा उसके अपहरण की चिन्ता का बने रहना ।[15]

वचन—भारतीय नीति-साहित्य मे कटु वचन की बडी निन्दा की गई है । दशवैकालिक मे कठोर, पर-पीड़क, सत्य-वचन कहना भी पाप के आश्रव का कारण बतला कर उसे वर्जित समझा गया है ।[16] बुधजन समस्त मनुष्यो को अपना परिजन मानने व उनसे कर्कश वचन कहने का परित्याग करने पर बड़ा बल देते है—

राम बिना हैं मानुष जेते भ्रात तात सम जान ।
कर्कश वचन वकं मति भाई फूटत मेरे कान ।[17]

बुधजन की दृष्टि मे अधिक बोलना भी उचित नहीं । वह तो कहते है कि जितने परिमित तथा हितकारी वचन कहे जाए उतना अच्छा ।[18] बुधजन अवसर बिना बोलने को मान का विनाशक बतला कर अवसर पर ही बोलना उचित समझते है ।[19]

द्यूत—भारतीय नीतिकारो ने द्यूत को भी वर्ज्य कहा है । शुक्र जुआरी के तिरस्कार की चर्चा करते हुए कहते है कि प्रेमपूर्वक नीवी खीचने पर पत्नी भी जुआरी पति से इसलिए दूर भागती है कि वह कहीं मेरे वस्त्रो को भी न छीन ले[20] व सुनन्दि के अनुसार जुआ में आसक्त मनुष्य खाने की परवाह नही करता, रात-दिन सोता भी नही, किसी भी काम मे उसका मन भी नही लगता तथा सर्वदा चिन्ताकुल रहता है ।[21] उक्त नीतिकार-द्वय के समान बुधजन भी जुआरी के परिजनो द्वारा तिरस्कार तथा शारीरिक दुर्व्यवस्था की चर्चा इन पक्तियो मे करके जुआ को हेय ठहराते है—

ज्वारी कौं जोरू तजै तजं मातु पितु भ्रात ।
द्रव्य हरं बरजं लरं बोले बात कुबात ।४५५।।
असुचि असन की ग्लानि नहीं रहै हाल-बेहाल ।
तात मरत हूं रत रहै तजै न जुआ ख्याल ।४५८।।

बुधजन के अनुसार जुआ से केवल परिजनो द्वारा तिरस्कार तथा खान, पान एव परिधान की अशुचिता ही नही मिलती अपितु धन, धर्म यश व सुवृत्तियां का विनाश भी देखा जाता है ।[22]

शिकार एवं मांस-भक्षण—प्राचीन नीति-ग्रन्थों मे शिकार-विरोधिनी अनेक उक्तिया मिलती है । व्यास के अनुसार निरपराध प्राणियों के बधिक की समस्त पुण्य-क्रियाये क्षीण हो जाती है एव उनकी आपत्तिया बढ जाती हैं ।[23] उत्तरायण मे भय और बैर से उपरत हुए मनुष्य के जीवन के प्रति ममता रखनेवाले सभी प्राणियों को अपने

१२ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृतं, पृ०३४१ ।
१३ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री . नीतिवाक्यामृतं, पृ०२६५ ।
१४ बुधजन सतसई, दो० १७० ।
१५ वही. दो० ५१६ व १०७ ।
१६ दशवैकालिक, पृ० ७-११ ।
१७ बुधजन पद-सग्रह, पद ५७ ।
१८ बुधजन सतसई, दो० २१७ ।
१६ वही, दो० २२१ ।
२० अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीतिवाक्यामृतं, पृ० १८ ।
२१ उत्तरायण, ६-७ ।
२२ वही, दो० ४५४ ।
२३ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीतिवाक्यामृत, पृ० १८ ।

समान जान कर उनकी हत्या के लिए मना किया है।[२४] बुधजन भी निर्जन वन मे घूमते हुए भूखे-प्यासे तथा मूक पशुओं के पेट में छुरी भोंक देने को बुरा कहते है—

निरजन वन धन में फिरें मरें भूख भय हान।
देखत ही घूंसत छुरी निरदइ अधम अजान।४८०॥

उनका कहना है—

प्रान पोषना धर्म है, प्रान नासना पाप।४८४॥

दूध, घी, फल आदि मिष्ट तथा पौष्टिक पदार्थों को त्याग कर अपने मांस की पुष्टि के लिए अन्य पशुओ का मास खानेवाले मनुष्यो को बुधजन 'अधम' की सज्ञा देते है।[२५]

मद्य—मद्य एक नशीली वस्तु है। वसुनदि के विचार से नशे मे बेसुधि कारण शरावी अपने अपहृत धन के लिए भटकता रहता है, उसे निन्दनीय काम करने मे भी कोई चूक नही होती।[२६] शुक्र के मतानुसार तो नशे मे उन्मत्त कुलीन पुरुष भी अपनी मा के सेवन को भी अनुचित नही मानता।[२७] मद्यप के शरीर की वेसुधि व उचित-अनुचित के ज्ञान की न्यूनता के विषय मे बुधजन के भी उक्त नीतिकारो जैसे ही विचार है—

दारू की मतवात में गोप बात कह देय।
पीछे बाका दुःख सहै नृप सरबस हर लेय।४७०॥
मतवाला ह्वं बावला चालै चाल कुचाल।
जा तें जावै कुगति मै सदा फिरै बेहाल।४७१॥

पर-नारी-गमन—भारतीय नीतिकारो मे ऋषि पुत्रक ने पर-नारी-गमन का दुष्परिणाम दरिद्रता व अपयश[२८] तथा गौतम ऋषि ने दुःख, बन्धन और मरण[२९] कर कर उसको वर्जित समझा है। कवि बुधजन भी उसे गुण, सम्मान तथा यश का विनाशक बतलाकर सदोष ठहराते है :—

निपट कठिन पर तिय मिलन मिलै न पूरै हौस।
लोक लरै नृप दंड करै परे महत पुनि दोस।४६३॥
ऊंचा पद लोक न गिनै करै श्रावक दूर।
औगुन एक कुसीलतें नास होत गुन भूर।४६४॥

वेश्या-गमन—शुक्र गुरु[३०], हारीत आदि अभी प्राचीन नीतिकारो ने वेश्या-प्रेम की बड़ी भर्त्सना की है। गुरू के अनुसार शील और परिजनो से परित्यक्त होकर ही वेश्या की अभिलाषा सतुष्ट की जा सकती है।[३१] हारीत ने वेश्या-गमन को सुख और धन के क्षय का कारण कहा है।[३२] बुधजन ने भी वेश्या को सर्वस्वहीनता और दुःख का मूल बतलाया है।

हीन दीन तें लीन ह्वं सेती अंग मिलाय।
लेती सरबस संपदा, देती रोग लगाय।४७४॥
जे गनिका संग लीन हैं सर्व तरह ते कौन।
तिनके कर तें खावना धर्म कर्म सब छीन।४७५॥

उक्त नीति-विषयो के अतिरिक्त बुधजन ने काम-क्रोध को निर्लज्जता व अज्ञान का कारण[३३], ममता को दुःख की नीव[३४], कुसग को प्राणो का नाशक[३५] बतलाकर अग्राह्य कहा है। युवापन, जीवन व धन की क्षण-भगुरता दिखला कर मद की अ-यथार्थता भी प्रमाणित की है।[३६]

साराश मे कहा जा सकता है कि बुधजन ने जीवनके विविध विषयो पर जहाँ वसुनदि, हारीत, शुक्र, गुरू, पुत्रक आदि प्राचीन नीतिकारो के समान विचार प्रकट किए है वहाँ उन विषयो को अपनी मौलिक दृष्टि भी प्रदान की है। 'पद-सग्रह' व 'बुधजन सतसई' मे विवेचित उनकी नीति-परक उक्तियाँ जीवन-पथ पर डगमगाते मनुष्यो को सर्वदा सम्बल का काम करती रहेगी, अत कवि बुधजन सर्वथा प्रशंसा व कीर्ति के पात्र है।

२४ उत्तरायण, ६-७।
२५ वही, दो० ४६२।
२६ बसुनदि श्रावकाचार, ७३।
२७ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृत पृ० २४४।
२८ 'नीतिवाक्यामृत', पृ० ५६।
२९ वही, पृ० ५६।
३० अनु० सुन्दरलाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृत, पृ० ३६५।
३१ वही, पृ० ३५३।
३२ वही, पृ० ४६।
३३ बुधजन सतसई, दो० ६७२, ६७३।
३४ वही, दो० ५४४।
३५ बुधजन सतसई, दो० ३८३।
३६ बुधजन पद-सग्रह, पद १२७।

मोक्षमार्गप्रकाशकका प्रारूप

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री—परमानन्द शास्त्री

श्री प० टोडरमल जी के द्वारा विरचित मोक्षमार्ग-प्रकाशक यह एक बहुत उपयोगी ग्रन्थ है। ऐसा कोई विरला ही स्वाध्यायप्रेमी होगा जिसने इस ग्रन्थ का स्वाध्याय न किया हो। ग्रन्थ के नामानुसार ही इसमे मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित करनेवाले तत्त्वो की चर्चा निश्चय और व्यवहार के आश्रय से बहुत ऊहापोह के साथ की गई है। इसकी रचना पण्डितजीने पचासो जैन-अजैन ग्रन्थोके गभीर अध्ययन के पश्चात् मौलिक रूपमे की है। दुर्भाग्य यह रहा है कि वे उसे पूरा नही कर सके और बीच मे ही काल-कवलित हो गये। इससे उन्होने यत्र तत्र जिन अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो के आगे विवेचन करने की जो सूचना की है तदनुसार उनका विवेचन हो नही सका।

इस ग्रन्थ के कितने ही सस्करण प्रकाशित हो चुके है। वर्तमान मे (वी० नि० स० २४६३) इसका एक नवीन सस्करण शुद्ध हिन्दी मे अनूदित होकर जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट सोनगढ की ओर से प्रकाशित हुआ है। उसकी अप्रामाणिकता और प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे इधर समाचारपत्रो मे परस्पर विरोधी कुछ लेख प्रगट हुए है। इसके पूर्व सस्ती ग्रन्थमाला कार्यालय दिल्ली से भी उसके चार सस्करण प्रगट हो चुके है। इसका सम्पादन[1] हम दोनोमे से एक (परमानन्द शास्त्री) के द्वारा हुआ है। उसका आधार प० टोडरमलजी के द्वारा स्वय लिखी गई प्रति को बनाया गया है। इसीलिए सम्पादनवश समाचारपत्रों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत पत्र भी सम्पादक को प्राप्त हुए है, जिनमे उसके स्पष्टीकरण की माँग की गई है।

उधर सोनगढ से जो प्रस्तुत सस्करण प्रकट हुआ है उसका आधार भी पूर्वोक्त प० टोडरमलजी द्वारा लिखित प्रति बतलाई गई है। (प्रकाशकीय पृ० ३)

---

१ नाम केवल प्रथम सस्करण मे ही दिया गया है।

श्री प० टोडरमलजी द्वारा लिखित इस प्रति में काटा कूटी करके जहाँ-तहाँ पर्याप्त संशोधन किया गया है (इसके लिए सोनगढ सस्करण व दिल्ली सस्करण के प्रारभ मे दिए गए उक्त प्रति के प्रारम्भिक व अन्तिम पत्रों को देखा जा सकता है)। साथ ही वह अपूर्ण भी है—जहाँ तहाँ उसमे अन्य लेखकों के द्वारा लिखित पत्र भी सम्मि-लित किये गये है[1]। प्रति की जो परिस्थिति है उसे देखते हुए यदि यह कहा जाय कि यह उस मोक्षमार्गप्रकाशक का अन्तिम रूप नही है, किन्तु प्रारूप या कच्ची कापी जैसा है, तो यह अनुचित न होगा। बहुधा ऐसा हुआ भी करता है कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण निबन्ध आदि लिखना है तो पहिले उसकी कच्ची कापी (Rough) करके उसे तैयार कर लिया जाता है और तत्पश्चात् उसे अन्तिम रूप (Fair) मे लिख लिया जाता है। तदनुसार ही यह पडित जी के द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक का पूर्व रूप तैयार किया गया है। इसपर से वे उसे अन्तिम रूप मे लिखना चाहते थे। पर दुर्भाग्यवश या तो आकस्मिक निधन के कारण वे उसे लिख ही नही सके या फिर यदि लिखा गया है तो कदाचित् जयपुर मे उसकी वह प्रति उपलब्ध

---

१ मूल प्रति के प्रारम्भ के ५५ पत्र (फोटो प्रिंट पृ० १०६) दूसरे लेखक के द्वारा लिखे गये है। इनमे प्राय: प्रत्येक पत्र मे अक्षर-मात्राओं की अशुद्धिया है, शब्द भी यत्र तत्र कुछ स्खलित हुए है। साथ ही वैसे सशोधन यहा नही है जैसे कि आगे के पत्रो मे पण्डितजी के द्वारा किये गये है। पत्र ५५ पर केवल ६॥ पक्तिया है, आगे वहाँ कोष्ठक मे 'इससे आगे पत्र सख्या ५६ पर देखें' यह किसी दूसरे के द्वारा पतले अक्षरो मे लिखा गया है। पृ० १८७ को सर्वथा रद्द किया गया है। पृ० ३३६-३७ और ४०८-६ भी किसी अन्य लेखक के द्वारा लिखे गये है।

भी हो सकती है'।

जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट ने इस प्रति को जयपुरस्थ वधीचन्द्रजी दीवानजी-मदिर के ग्रन्थभण्डार से प्राप्त करके उसके सब पत्रों की दो फोटो प्रिट प्रतियाँ तैयार करा ली है। उनमे से एक प्रति को ट्रस्ट ने स्वय अपने अधिकार मे रख कर दूसरी प्रति को मूल प्रति के साथ जयपुर वापिस भेज दिया। इसी के आधार से ट्रस्ट द्वारा प्रस्तुत सस्करण तैयार कराया गया है[२]।

जैसी कि उसके स्पष्टीकरणकी माँग की गई है तदनुसार उसकी पूर्ति के लिए यह आवश्यक समझा गया कि उपर्युक्त फोटो प्रिंट प्रति से दिल्ली व सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित दोनों सस्करणों का मिलान कर लिया जाय। इसके लिए श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ जयपुर की सत्कृपा से उस फोटो प्रिट प्रति को प्राप्त करके हम दोनों ने उस पर से पूर्वोक्त दोनों संस्करणोंका सावधानी मे क्रमश मिलान कर लिया है[१]। उससे ज्ञात हुआ है कि सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली द्वारा प्रकाशिन सस्करणमे जहाँ यत्र तत्र कुछ वाक्यों व शब्दों की हीनाधिकता या कुछ उनमे परिवर्तन भी रहा है वहाँ जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित सस्करण मे भी उसी प्रकार कुछ वाक्यो व शब्दो की हीनाधिकता और परिवर्तन भी दृष्टिगोचर हुआ है। इसको स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ उदाहरण के रूप मे दोनो ही सस्करणो के ऐसे कुछ पाठभेद ५ देते है :—

सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित संस्करण के पाठभेद

प्रति	पृष्ठ	पंक्ति	पाठभेद
सोन.	३४	१२	पर्यायो को अत्यन्त स्पष्टरूप से जानता है।
फो.	३६	१४	'स्पष्टरूप से' के स्थान मे 'अस्पष्टपनै' है।
सो	४६-४७	२८,१	तथा मैने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूघे (पदार्थ का स्वाद लिया, पदार्थका स्पर्श किया), शास्त्र जाना।
फो.	५४	२	कोष्ठगत पाठ वहाँ नही है।
सो.	४७	२६-२७	इन्द्रियजनित
फो.	५५	४	इन्द्रियादिजनित
सो.	५०	१८	उस वस्त्रको अपना अग जान कर अपने को और वस्त्र को एक मानता है।
फो.	५८	११	तिस वस्त्र को अपना अग जानि आपकों अर शरीर कों वस्त्रको एक मानैं।
सो.	५४	१२-१३	कोई मारे तो भी नही छोडती, सो यहाँ कठिनता से प्राप्त होने के कारण तथा वियोग

१ कहा जाता है कि पण्डितजी के आकस्मिक निधन के समय उनका सामान जयपुर सरकार द्वारा जब्त किया गया था। उसकी लिस्ट भी रही सुनते है। सम्भव है उसमे ऐसी कोई मोक्षमार्गप्रकाशक की प्रति भी रही हो।

२ दोनो सस्करणो मे जो फोटो प्रिट प्रति की अपेक्षा कुछ अधिक वाक्य देखे जाते है (देखिये सो० संस्करण पृ० ६३ व १०६ के पाठभेद और दिल्ली सस्करण के पृ० ८, २३, ३७, ६१, १५६ व ४३६ के पाठभेद) उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही सस्करणो के तैयार करने मे प्रस्तुत प्रतिके अतिरिक्त अन्य हस्तलिखित व मुद्रित प्रतियो का भी आश्रय लिया गया है। कारण कि वे वाक्य अन्य हस्तलिखित प्रतियोंमे पाये जाते है। दिल्ली सस्करण पृ० ८ का वह अधिक पाठ नया मन्दिर दिल्लीकी ३ हस्तलिखित प्रतियो मे भी है। जैन ग्रन्थ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित प्रति में भी परिशिष्ट पृ० ४६० मे किसी प्रति के आश्रय से ऐसे वाक्य ले लिये गये है। दि० सं० पृ० २३ का कोष्ठकस्थ सन्दर्भ नया मदिर दिल्ली की प्रति (पत्र ११ प० १०) मे भी नही है। इत्यादि। साथ ही कुछ दुरूह ढूढारी भाषा के शब्दो के स्पष्टीकरण के लिए भी अन्य प्रतियो का आश्रय लेना पडा है। जैसे—थानक (यह शब्द मूल प्रति मे ही अशुद्ध रहा दिखता है, उसके स्थान में 'घातक' रहनासम्भव है—सो. स. पृ० ८६ = थानक (बाधक ?), स० प्र० पृ० १२४ = कारण), गदा (= 'डला' सो०पृ०६८, दि० पृ० १४१), औहटे (= 'लज्जित' सो० पृ० ११६, दि०पृ० १७२), झोल दिये बिना (= 'सच को मिलाये सो० विना' पृ० १२४, दि० पृ० १८१)।

फो.	६२	१४-१५	कोउ मारै तौ भी न छोरै सो यहाँ नीठि पावना बहुरि वियोग (नीठि शब्द की दुरूहता के कारण पाठपरिवर्तन हुआ है, एक अन्य ह. लि प्रतिमें 'सो यहाँ भी रोग पावना' ऐसा पाठ है; दूसरी एक प्रति मे हांशिये पर 'नीठि' का अर्थ रोग लिखा गया है)।
सो.	६३	२५	तथा ऐसा जानना कि जहा कषाय बहुत हो और शक्ति हीन (हो वहाँ बहुत दुख होता है और ज्यो-ज्यो कषाय कम होती जाए तथा शक्ति बढती जाए त्यो-त्यो दुख कम होता है। परन्तु एकेन्द्रियो के कषाय बहुत और शक्तिहीन) इसलिए एकेन्द्रिय जीव महा-दुखी है।
फो.	७३	१२	सो प्रति का कोष्टकगत पाठ यहाँ नही है।
सो.	६४	६	महादुखी होते है। वनस्पति है सो पवनसे टूटती है, शीत-उष्णता से
फो.	७४	२	महादुखी हो है पवनतै टूटै है बहुरि वनस्पति है सो शीत उष्णकरि
सो.	७३	१३	निन्दक स्वयमेव अनिष्ट को प्राप्त होता ही है, स्वय क्रोध किस पर करे ?
फो.	८४	१४	निन्दक स्वयमेव अनिष्ट पावै नाहीं है क्रोध कौनसो करै। (फोटो प्रिंट प्रति मे 'पावै ही है' ऐसा पूर्व मे लिखा गया, तत्पश्चात् 'पावै नाही है' ऐसा उसके स्थान में संशोधन किया गया है)।
सो.	८५	१२,१७-१८	'सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान'
फो.	९८	४-५,८-९	'मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान'
सो.	९६	६-७,९	इन्द्र, लोकपाल इत्यादि, तथा अद्वैत ब्रह्म, राम, कृष्ण, महा-देव, बुद्ध, खुदा, पीर, पैगम्बर इत्यादि, तथा हनुमान, भैरो, ...तथा गाय सर्प इत्यादि
फो	१११	९	इन्द्र लोकपाल इत्यादि खुदा पीर पैगम्बर इत्यादि बहुरि भैरु......बहुरि सर्प इत्यादि
सो	९६	१७	एक कैसे माना जाये ? इन-का मानना तो
फो	१११	१७	एक कैसे मानिये है एक मानना तौ
सो	९६	१९	वह ब्रह्म कोई भिन्न वस्तु तो सिद्ध नही हुई, कल्पना मात्र ही ठहरी। तथा एक प्रकार
फो	११२	४-५	तौ ब्रह्म कोई जुदा वस्तु तौ न ठहरया बहुरि एक प्रकार
सो.	९८	२६	परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तो एक अंश अपेक्षा से ब्रह्मके
फो	११५	६	परन्तु सूक्ष्म विचार किए तौ एक अंश घटया एक अंश अपेक्षा ब्रह्म कै
सो.	९९	१६	जहां न्याय नही होता
फो	११६	७	सो न्याय होय है तहाँ
सो.	१००	१०-११	जो समवाय सम्बन्ध है तो
फो.	११७	६	जो सयोग सम्बन्ध है तौ
सो.	१००	२७	पीडा उत्पन्न करे तो उसे बावला कहते है,
फो.	११८	६	पीडा उपजावै तौ ताको बाउला कहिये है ('तौ ताकों बाउला कहियें है' इस अंशको लिखने के पश्चात् काट दिया गया है,

सो.	१०९	२२	यह महेश लोकका संहार कैसे करता है ? (अपने अंगो से ही संहार करता है कि इच्छा होने पर स्वयमेव ही संहार होता है ?) यदि अपने अगो से संहार करता है
फो.	१३०	२	सो प्रति का कोष्ठकगत पाठ यहाँ उपलब्ध नही होता
सो.	११०	१३	अचेतन हो जाते है
फो.	१३०	१६	'अचेतन' के स्थानमे वहाँ 'चेतन' है
सो.	११५	१५-१६	तथा वे मोक्षमार्ग भक्तियोग और ज्ञानयोग द्वारा दो प्रकार से प्ररूपित करते है । अब, भक्तियोग द्वारा मोक्षमार्ग कहते है
फो.	१३७	६	यहाँ 'बहुरि मोक्षमार्ग भक्ति-योग'ज्ञानयोग' दोय प्रकार प्ररूपै है ।। तहाँ' यह लिखकर 'पहिले आगे ज्ञानयोग का निरूपण करै है सो लिपि पीछै याको लिषना' ऐसी सूचना ऊपर की गई है । तदनुसार पहिले ज्ञानयोग का प्रकरण होना चाहिए था, तत्पश्चात् भक्ति-योग का । परन्तु सोनगढ़ संस्करणमें इसके विपरीत पहिले भक्तियोगका (पृ. ११५-१८) और तत्पश्चात् (पृ. ११८-२०) ज्ञानयोगका प्रकरण दिया गया है ।
सो.	१२७	२७	फिर कहोगे—इनको जाने बिना प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय नही कर सकते, इसलिए यह तत्त्व कहे है;
फो.	१५५	१	बहुरि कहोगे उनको जानै प्रयोजनभूत तत्त्वनिका निर्णय करि सकै तातै ए तत्त्व कहे है (पूर्वमे 'जानै' के स्थान मे 'निर्णय भएं' लिखा गया था तत्पश्चात् उसे काटकर 'जानै' संशोधन किया गया है, आगे भी ।)
सो	१३४	३	सो अपने अभावको ज्ञानी हित कैसे मानेगा ?
फो.	१६२	९	सो आपका अभावको ज्ञान हित कैसे मानै
सो.	१४४	४	तथा ऋषीश्वर भारत में
फो.	१७२	६	बहुरि भारत विषै
सो.	१४५	३	गणधर ने आचारांगादिक बनाये है सो
फो.	१७३	८	'बनाये है' के स्थान मे यहाँ कोई क्रियापद नही है
सो.	१४८	८	अनुमानादिकमे नही आता
फो.	१७७	४	उन्मानादिकमैं आवै नाही
सो.	१५८	१७	यदि पाप न होता तो इन्द्रा-दिक क्यों नही मारते ?
फो.	१८३	३	सो पाप न होता तौ क्यो न मारे
सो	१६६	२७	तो प्रतिज्ञा भंगका पाप हुआ
फो.	२०३	२	तौ प्रतिज्ञा भगका पाप न हुआ
सो.	१६८	६	अर्थ :—
फो.	२०४	८-९	अथ
सो.	१७५	६	तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते है
फो.	२१३	१५	बहुरि जो इष्ट अनिष्ट बुद्धि पाइये है
सो.	१८१	१५	कुगुरु के श्रद्धान सहित
फो.	२२२	९	कुगुरुका श्रद्धान रहित
सो.	१८२	२४	अधःकर्म दोषों में रत है
फो.	२२३	९	अधःकर्म आदि दोषनिविषै रत है

सो.	१८५	१७	तथापि अन्तरंग लोभी होता है इसलिए सर्वथा महतता नही हुई
फो	२२८	७	तथापि अन्तरंग लोभी होइ सो दातारको ऊचा मानै अर दातार लोभीको नीचा मानै तातै वाके सर्वथा महतता न भई
सो.	१८५	२२	इसलिए गुरुओं की अपेक्षा
फो.	२२८	१२	तातै गुणनिकी अपेक्षा
सो	१९०	४	जीवित मरण लेते है
फो	२३४	५	जीवित माटी ले है
सो	२२२	१०	इसलिए उसका कार्य सिद्ध नही हुआ
फो	२७७	१४	बहुरि तिनिका कार्य सिद्धि भया
सो	२३६	१२	ऐसी दशा होती है। जैनधर्म मे प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नही
फो	३०२	१३	ऐसी इच्छा होय सो जैनधर्म विषै प्रतिज्ञा लेनेका दण्ड तौ है नही
सो.	२६५	८	वैसे अनेक प्रकार से उस यथार्थ श्रद्धानका अभाव होता है
फो	३३७	९-१०	तैसै अनेक प्रकार करि तिस पर्यायार्थी(?)श्रद्धानका अभाव हो है
सो.	२९०	१६	और करणानुयोगका अभ्यास करने पर
फो	३७०	१७	अर चरणानुयोगका अभ्यास किए
सो.	२९३	११	वह सम्यक्त्व स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है
फो.	३७४	१	सो सम्यक्त्व स्वपरादिक का श्रद्धान भए होय
सो.	२९४	३	आज भी त्रिरत्नसे शुद्ध जीव
फो.	३७५	९	अबहू त्रिकरण करि शुद्ध जीव
सो.	२९५	१२	इसी प्रकार अन्यत्र जानना
फो.	३७७	७	ऐसे ही अन्य जानना

दिल्ली संस्करण के पाठभेद

दि.	८	११	जिनके दर्शनादिकतै (स्वपर-भेदविज्ञान होय है कषाय मंद होय शान्तभाव हो है वा) एक धर्मोपदेश बिना
फो.	७	३-५	यहाँ दिल्ली संस्करणका कोष्ठकगत पाठ नहीं है।
दि.	२३	१०-१७	समाधान करै (जो आपकै उत्तर देने की सामर्थ्य न होय तो या कहै याका मोकों ज्ञान नाही किसी विशेष ज्ञानीसे पूछकर तिहारे ताई उत्तर दूगा अथवा कोई समय पाय विशेष ज्ञानी तुमसौ मिलै तौ पूछकर अपना सन्देह दूर करना और मोकू हू बताय देना। जातै ऐसा न होय तौ अभिमानके वशतै अपनी पंडिताई जनावनेकौ प्रकरणविरुद्ध अर्थ उपदेशै, तातै श्रोतानका विरुद्ध\श्रद्धान करनेतै बुरा होय जैनधर्मकी निंदा होय।) जातै जो ऐसा न होय
फो	२०	७	यहा दि. मस्करणका कोष्ठकगत पाठ नही उपलब्ध होता।
दि	३७	१७	आप ही मिलै है (अर सूर्यास्त का निमित्त पाय आप ही विछुरै है।) ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बनि रह्या है।
फो	३१	१०	दि. सं. का कोष्ठकगत पाठ यहाँ नही है।

दि.	७२	१६-२०	वह बाउला तिस वस्त्रकौं अपना अंग जानि आपकूं अर शरीरकौं एक मानैं
फो.	५८	११	...अपना अंग जानि आपका अर शरीरकूं वस्त्रकूं एक मानै
दि.	७८	१-२	जैसैं बिल्ली मूसाकौ पकरि आसक्त हो है। कोऊ मारैं तौ भी न छोरै। सो इहाँ इष्ट-पना है। बहुरि
फो.	६२	१५	यहां 'सो इहाँ इष्टपना है' के स्थानमे 'सो इहाँ नीठि पावना' पाठ है।
दि.	६१	१७-२०	बहुरि ऐसा जानना, तहा कषाय बहुत होय अर शक्ति-हीन (होय तहाँ घना दुख हो है बहुरि जैसैं कषाय घटता जाय शक्ति बधती जाय तैसैं दुख घटता हो है। सो एके-न्द्रियनिकैं कषाय बहुत अर शक्तिहीन) तातैं एकेन्द्रिय महादुखी है।
फो.	७३	१२	दि. स. का कोष्ठकगत पाठ यहाँ नही है।
दि.	१२४	१६	जेवरी सर्पादिकके अयथार्थ ज्ञान का
फो.	६६	११	जेवरी सर्पादिकके यथार्थ अय-थार्थ ज्ञान का
दि.	१३८	१५	लोकपाल इत्यादि। अद्वैतब्रह्म खुदा
फो.	१११	६	लोकपाल इत्यादि खुदा
दि.	१३८	१६	बहुरि गउ सर्प इत्यादि
फो.	१११	६	बहुरि सर्प इत्यादि
दि.	१३८	२०	बहुरि शास्त्र दवात
फो.	१११	१२	वहुरि शस्त्र दवात
दि.	१४२	१३	परन्तु सूक्ष्म विचार किए तौ एक अंश अपेक्षा ब्रह्मकै अन्य-थापना भया
फो.	११५	६	परन्तु सूक्ष्म विचार किए तौ एक अश घटया एक अंश अपेक्षा ब्रह्मकै अन्यथापना भया
दि.	१४३	१४	सो जहाँ न्याय न होय है तहां
फो.	११६	७	सो न्याय होय है तहाँ
दि.	१५६	२-३	कैसैं सहार करैं है (अपने अंगनि ही करि सहार करैं है कि इच्छा होतैं स्वयमेव ही संहार होय है?) जो अपने अगनि करि संहार करैं है
फो	१३०	२	दि. स. का कोष्ठकगत पाठ यहाँ नही है।
दि.	१६७	१५	फो. प्रि. प्रति (पृ. १३७ प. ६) मे की गई सूचना के अनुसार ही यहाँ प्रथमत. ज्ञान-योग का (पृ. १६७-७१) और तत्पश्चात् भक्तियोगका (पृ. १७१-७५) प्रकरण अप-नाया गया है।
दि	१८६	१७	बहुरि कहोगे इनकौ जानैं बिना प्रयोजनभूत तत्त्वनिका निर्णय न करि सकै,
फो.	२५५	१	बहुरि कहोगे इनकौ जानैं प्रयोजनभूत तत्त्वनिका निर्णय करि सकै (देखो सो स. का मिलान)
दि.	१६८	८	बहुरि एक शरीरविषै पृथ्वी आदि तौ भिन्न भिन्न भासै है चेतना होय तौ लोहू उश्वा-सादिककै (बीचमे पाठ छूटा है)
फो.	१६४	५	बहुरि एक शरीरविषै पृथ्वी आदि तौ भिन्न भिन्न भासै है चेतना एक भासै है जो पृथ्वी आदिकै आधार चेतना होय तौ होउ (सो. सं. हाड़) लोही उश्वासादिक कै

दि.	२१०	१८	बहुरि ऋषीश्वर भारतविषै
फो.	१७२	५	बहुरि भारतविषैं
दि.	२१२	३-४	सो उनको पूछिए है गणधरनै आचारांगादिक बनाए हैं सो तुम्हारै अबार पाइए है
फो.	१७३	८	सो उनको पूछिए है गणधरनैं आचारांगादिक तुम्हारै अबार पाइए है
दि.	४३६	१६-१८	वस्त्रादिकका कथनविषै महीनका नाम सूक्ष्म, मोटाका नाम बादर, ऐसा अर्थ है। (करणानुयोग के कथनविषै पुद्गल स्कन्धके निमित्तते रुकै नाही ताका नाम सूक्ष्म है अर रुक जाय ताका नाम बादर है)
फो.	३८०	२	दि. म. का कोष्ठकगत पाठ यहा नही है।
दि.	४३६	२०	प्रमाणभेदनिविषै स्पष्ट व्यवहार प्रतिभासका नाम प्रत्यक्ष है
फो.	३८०	३-४	प्रमाणभेदनिविषै स्पष्ट प्रतिभास का नाम प्रत्यक्ष है
दि	४५६	६-१०	उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमणादि होतें तिनकी शक्तिहीन अधिक होय है कर्मउदयके निमित्त करि तिनका उदयभी मद तीव्र हो है। तिनके निमित्ततैं नवीन बधभी मद तीव्र हो है। तातैं ससारी जीवनिकै कवहूँ ज्ञानादिक घनै प्रगट हो है, कबहूँ थोरे प्रगट हो हैं।
फो	४०२	१५-१७	उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमणादि होतैं तिनकी शक्ति हीन अधिक होइ है तातैं तिनका उदय भी मद तीव्र हो है तिनके निमित्ततैं नवीन बंध भी मद तीव्र हो है तातैं संसारी जीवनिके कर्म उदयके निमित्तकरि कबहूँ ज्ञानादिक घनैं प्रगट हो हैं कबहूँ थोरै प्रगट हो हैं
दि.	४५६	१६-१६	तहाँ रागादिक का तीव्र उदय होतें तौ विषयकषायादिकके कार्यनिविषै ही प्रवृत्ति बनै अर आप पुरुषार्थ करि तिन उपदेशादिकविषैं उपयोगकौं लगावै, तौ धर्मकार्यनिविषै प्रवृत्ति होय। अर निमित्त बनै, वा आप पुरुषार्थ न करै
फो.	४०३	३-६	तहाँ रागादिक का तीव्र उदय होतें तौ विषय कषायादिक के कार्यनिविषै भी प्रवृत्ति होइ॥ बहुरि रागादिक मंद उदय होतैं बाह्य उपदेशादिक का निमित्त बनै अर आप पुरुषार्थ करि (यहाँ पाठ अव्यवस्थित अधिक है)

कुछ अनिष्ट भी प्रसंग

प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व उभय पक्षों द्वारा ही स्वीकार किया जाता है। पर जहां तक हम समझते है उसके अन्तर्गत सब ही विषयों से वे शायद ही सहमत हो। उदाहरणार्थ यहां हम ऐसे दो चार स्थलों को उद्धृत करते है जिनकी प्रतिकूलता का अनुभव यथासम्भव दोनों ही पक्ष कर सकते है —

१ अनेक उपाय करने पर भी **कर्म के निमित्त बिना** सामग्री नहीं मिलती। (सोन संस्करण पृ. ४८)

२ अथवा बाह्य सामग्री से सुख-दुख मानने सो ही भ्रम है। सुख-दुख तो साता-असाता का उदय होने पर मोह के निमित्त से होते है, ऐसा प्रत्यक्ष देखने मे आता है। (मो० पृ० ५६)

३ इसलिए सामग्री के अधीन सुख-दुख नहीं है। साता-असाता का उदय होने पर मोहपरिणमन के निमित्त से ही सुख-दुख मानते हैं। (सो० पृ० ६०)

४ तथा वह कहता है कि—जिन शास्त्रों में अध्यात्म उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रो के अभ्यास से कोई सिद्धि नही है ?

उससे कहते हैं—**यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैन शास्त्र कार्यकारी हैं।** वहां भी मुख्यतः अध्यात्म शास्त्रों मे तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है, सो सम्यग्-दृष्टि होनेपर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, **तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मंद कषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिये।** तथा आत्मस्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म शास्त्रों का भी अभ्यास चाहिये; **परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होना चाहिये।** (सो० पृ० २००-२०१)

५ तथा वह पूजनादि कार्य को शुभास्रव जान कर हेय मानता है, यह सत्य ही है; परन्तु यदि इन कार्यों को छोड़ कर शुद्धोपयोग रूप हो तो भला ही है, और विषय-कषाय रूप—अशुभ रूप—प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया। **शुभोपयोग से स्वर्गादि हों अथवा भली वासना से या भले निमित्तसे कर्म के स्थिति-अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाये।** (सो० पृ० २०५) आगे पृ. २०८ के दूसरे पैराग्राफ को (अब उनसे पूछते है······) और पृ. २०६ के अन्तिम पैराग्राफ को भी देखिए।

६ फिर वह कहता है—जैसे, जो स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक के घर जाती है तो जाये, विना प्रयोजन जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नही है। उसी प्रकार परिणति को प्रयोजन जान कर सात तत्त्वो का विचार करना, विना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नही है ?

समाधान:—जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक या मित्रादिक के भी घर जाये, **उसी प्रकार परिणति तत्त्वों के विशेष जानने के कारण (कारणभूत) गुणस्थानादिक व कर्मादिक को भी जाने।** तथा ऐसा जानना कि—जैसे शीलवती स्त्री उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषो के स्थान पर न जाये, यदि परवश वहाँ जाना बन जाये, और वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री शीलवती ही है। उसी प्रकार वीत-राग परिणति उपायपूर्वक तो रागादिक के कारणभूत पर-द्रव्यों में न लगे, यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो परिणति शुद्ध ही है। (सो० सं० पृ० २१२)

७ यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ—हेय कहते हो, तो हम व्रत, शील, सयमादिक व्यवहारकार्य किसलिए करे ? सबको छोड़ देंगे।

उससे कहते है कि—**कुछ व्रत, शील, संयमादिक का नाम व्यवहार नहीं है, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है,** उसे छोड दे। और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जान कर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित है, तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ —हेय जानना। व्रतादिक के छोडनेसे तो व्यवहार का हेय-पना होता नही है। **फिर हम पूछते हैं कि—व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा ? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी संभव नहीं है**—वहा प्रवर्तने से क्या भला होगा ? (सो० पृ० २५३-५४)

८ तथा यदि बाह्य सयम से कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी है, उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यों के पंचम गुणस्थान होता है सो क्या कारण है ? तथा तीर्थ-करादिक गृहस्थपद छोड कर किसलिए सयम ग्रहण करे ? **इसलिए यह नियम है कि बाह्य संयमसाधन विना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते;** इसलिए बाह्य साधन का विधान जानने के लिये चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। (सो पृ० २६२)

(प्रस्तुत संस्करण में जिस प्रकार अध्यात्म के पोषक कुछ वाक्यो को यत्र-तत्र—जैसे पृ० ५१, ५२, ५७ व १५८ आदि—काले टाइप मे मुद्रित कराया गया है उसी प्रकार बाह्य संयम के पोषक उपर्युक्त सदर्भोंमें से भी कुछ वाक्यों का मुद्रण यदि काले टाइप मे करा दिया जाता तो बहुत अच्छा होता।)

... ...

१ किसी जीवकरि अपना आत्मा ठिग्या। सो कौन ?

जिह जीव जिनेश्वर का लिंग धार्या अर राखकरि माथा का लौंचकरि समस्त परिग्रह छांड्या नाहीं। (सस्ती ग्रंथ माला प्रथम सं. पृ. २६६-७०)

२ बहुरि जहां मुनिके धात्री[1]-दूत आदि छयालीस दोष[2] आहारादिविषै कहे हैं, तहा गृहस्थनिके बालकनिकों प्रसन्न करना, समाचार कहना, मंत्र-औषधि ज्योतिषादि कार्य बतावना इत्यादि, बहुरि किया कराया अनुमोद्या भोजन लेना इत्यादि क्रिया का निषेध किया है, सो अब कालदोषतै इन ही दोषनिकौं लगाय आहारादि ग्रहै है। (स. ग्र. पृ. २७०)

३ यहा कोउ कहै, ऐसे गुरु तो अबार नाही, तातै जैसै अरहत की स्थापना प्रतिमा है, तैसै गुरुनिकी स्थापना ए भेषधारी है[3]—

ताका उत्तर—जैसै राजाकी स्थापना चित्रामादिक करि करै तौ राजा का प्रतिपक्षी नाहीं; अर कोई सामान्य मनुष्य आपकों राजा मनावै, तौ तिसका प्रतिपक्षी होइ। तैसे अरहतादिक की पाषाणादिविषै स्थापना बनावै, तौ तिनका प्रतिपक्षी नाही, अर कोई सामान्य मनुष्य आपको मुनि मनावै, तौ वह मुनिन का प्रतिपक्षी भया। ऐसे भी स्थापना होती होय, तौ अरहंत भी आपकौं मनावो। (स ग्र. पृ. २७३)

४ पद्मपुराणविषै यह कथा है[4]—जो श्रेष्ठी धर्मात्मा चारण मुनिनकौ भ्रमतै भ्रष्ट जानि आहार न दिया, तौ प्रत्यक्ष भ्रष्ट तिनकौ दानादिक देना कैसे सभवै? (स. ग्र. पृ. २७४-७५)

५ बहुरि जिनमदिर तौ धर्म का ठिकाना है। तहां नाना कुकथा करनी, सोवना इत्यादिक प्रमादरूप प्रवर्तै, वा तहा बाग वाडी[5] इत्यादि बनाय विषय-कषाय पोषै, बहुरि लोभी पुरुषनिकों गुरु मानि दानादिक दें वा तिनकी असत्य स्तुति करि महतपनौ मानै, इत्यादि प्रकार करि विषय-कषायनिको तौ बधावै अर धर्म मानै सो जिनधर्म तौ वीतरागभावरूप है, तिस विषै ऐसी प्रवृत्ति कालदोषतै ही देखिए है। (स. ग्र. पृ. २८०)

हमारा अपना अभिप्राय

प्रस्तुत मोक्षमार्गप्रकाशक की यथार्थ परिस्थिति क्या है, यह जानने की चूंकि कुछ सज्जनों ने अपेक्षा की थी,

---

१ मज्जण-मंडणधादी खेल्लावण-खीर-अबधादी य।
पचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोषो दु ॥
मूलाचार ६–२८)

धापयति दधातीति वा धात्री। मार्जनधात्री बाल स्नपयति या सा मार्जनधात्री। मण्डयति विभूषयति तिल-कादिभिर्या सा मण्डनधात्री मण्डननिमित्त माता। बाल क्रीडयति रमयति क्रीडनधात्री क्रीडानिमित्त माता। क्षीर धारयति दधाति या सा क्षीरधात्री स्तनपायिनी। अम्ब-धात्री जननी, स्वपयति या साप्यम्बधात्री। एतासा पञ्च-विधानां धात्रीणां क्रियया कर्मणा य आहारादिरुत्पद्यते स धात्रीनामोत्पादनदोषः। बाल स्नापयानेन प्रकारेण बाल. स्नाप्यते येन सुखी नीरोगी च भवतीत्येवम्, मार्जननिमित्त वा कर्म गृहस्थाय उपदिशति। तेन च कर्मणा गृहस्थो दानाय प्रवर्तते। तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य धात्रीनामोत्पादन-दोषः·········। (मूला. वसु. वृत्ति ६-२८)

२ उग्गम उप्पादण एसण च सजोजणं पमाण च।
इगाल धूम कारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ॥
(मूला. ६-२)

१६ उद्गम दोष (६, ३-२५), १६ उत्पादन दोष (६, २६-४२), १० एषण (अशन) दोष (६, ४३-६२) तथा संयोजन आदि ५ अन्य दोष; इन सब दोषों की यहाँ विस्तार से प्ररूपणा की गई है।

३ यथा पूज्य जिनेन्द्राणा रूपं लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति सयताः ॥
(उपास. ७६७)

विन्यस्यैदयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥
(सा. ध २-६४)

४ देखिये पद्मपुराण पर्व ९२ श्लोक १५-३७।

५ सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया।
चिकित्साशालवद् दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥
(सा. ध. २-४०

अत एव उसीसे प्रेरित होकर हमें जो उसकी स्थिति दिखी है उसे विना किसी पक्षव्यामोह के स्पष्ट करने का प्रयत्न हमने यहां किया है। जहां तक हम समझ सके है उक्त दोनों संस्करणों में से किसी में भी बुद्धिपूर्वक अर्थ-विपर्यास या भावविपर्यास का प्रयत्न नही किया गया। मूल प्रति की अपेक्षा जो उनमें यत्र क्वचित् भेद दिखता है वह असावधानी—विशेष कर प्रूफ संशोधन की असावधानी—या अन्य हस्तलिखित व मुद्रित प्रतियों का आश्रय लेने से हुआ है। जैसे—

सोन. सं. पृ०. ८५ पर मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का क्रमवैपरीत्य, पृ०११५-२० में जो ज्ञानयोग और भक्तियोग प्रकरणों में पौर्वापर्य की विपरीतता हुई है वह मूल प्रतिमें श्री पं. टोडरमल जी द्वारा की गई सूचना (फो० प्रि० पृ० १३७, पं० ६) को सावधानी से न पढ सकने के कारण हुई।

प्रूफ संशोधन की असावधानी मे जैसे—

सो. स. पृ. ९५—'उसी प्रकार' इत्यादि लगभग २ पंक्तियां दुवारा छप गई है, पृ. १००—समवायसम्बन्ध (सयोगसम्बन्ध), पृ. १५५—मान (माया), पृ. १८२—इक्षुफल (इक्षुफूल), पृ. १८५ गुरुओ की (गुणन की), इत्यादि।

दिल्ली संस्करण में ऐसी अशुद्धियों के लिए अन्त मे २१ पृ. का लम्बा शुद्धिपत्र ही दे दिया गया है।

अन्य प्रतियों के आश्रय से जैसे—सो. स. पृ. ५४ पर मूल प्रतिगत (फो. पृ. ६२) 'सो इहां नीठि पावना' का 'सो यहा कठिनता से प्राप्त होने के कारण' यह स्पष्टीकरण या तो किसी अन्य प्रति के आश्रय से किया गया है या फिर अपनी समझ के अनुसार ही किया गया है। (सस्ती ग्रं. मा. संस्करण में पृ. ७८ पर जो उसका 'सो इहां इष्टपना है' ऐसा स्पष्टीकरण किया गया है वह जैन ग्रन्थ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित संस्करण (पृ. ७५) के अनुसार किया गया है, नया मन्दिर दिल्लीकी एक हस्तलिखित प्रति में 'नीठि' को लिखकर तत्पश्चात् उसके स्थान मे 'रोग' लिखा गया है।)

पृ. ६३ पं. २५ में जो फोटो प्रिंट प्रति (पृ. ७३) की अपेक्षा अधिक अंश पाया जाता है वह सम्भवतः सस्ती ग्रंथ माला संस्करण (पृ. ९१) से लिया गया है। जैन ग्रं. र. द्वारा प्रकाशित संस्करण (पृ. ८८) मे भी वह अंश पाया जाता है।

पृ. १३५ पर फो. प्रि. प्रतिगत (पृ. १६४) 'होउ (?) लोही' का अनुवाद 'हाड़, रक्त' किया गया है। न. मं. दिल्ली की एक प्रति (पत्र ९१) में भी 'हाड़' पाया जाता है। स. ग्रं. संस्करण (पृ. १९८) में 'होउ' को छोड दिया गया व 'लोही' के स्थान मे लोहू लिखा गया है। इत्यादि।

अन्त मे ग्रंथ की इस परिस्थिति को लक्ष्य मे रखते हुए हमारा उभय पक्षसे यही नम्र निवेदन है कि इस विवाद मे कुछ तथ्य नही है, उसे समाप्त कर दिया जाय। भूल होना कुछ असम्भव नहीं है। पर भूल को भूल मान उसे परिमार्जित कर लेना कठिन होते हुएभी महत्त्वपूर्ण है। शान्ति व स्व-परहित भी उसी मे है। भूल को पुष्ट करते रहने से वातावरण कभी शान्त नही बन सकता। कवि वादीभसिंह की यह यथार्थ उक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि।।

श्रमण संस्कृति का प्राचीनत्व

मुनि श्री विद्यानन्द

मंगलाचरण—

सिरि णमो उसह समणाणं।

व्याकरण के अनुसार संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्कार सम्पन्नता। संस्कार से वस्तु उत्कृष्ट बन जाती है अथवा कहना चाहिये कि वस्तु संस्कार किये जाने पर अपने में निहित उत्कर्ष को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त करती है। संस्कार किये जाने पर ही खनिज सुवर्ण शुद्ध स्वर्ण बनता है। मनुष्य भी संस्कृति के द्वारा ही अपने उच्चतम ध्येय और पवित्र संकल्पों को प्राप्त करने के लिए दिशा प्राप्त करता है। एक कलाकार अनगढ़ पाषाण में छैनी हथोड़े की सहायता से वीतराग प्रभु की मुद्रा अंकित कर देता है, एक चित्रकार रंगों और तूलिका की सहायता से कैनवास पर सुन्दर चित्र बना देता है, इसी प्रकार संस्कृति भी मनुष्य के अन्तस्थ सौन्दर्य को प्रकट कर देती है। यही मनुष्यके आचार, विचार और व्यवहार को बनाती-संवारती है। ये आचार-विचार और व्यवहार ही संस्कृति के मूलस्रोत के साथ सम्बद्ध होकर उसका परिचय देते है।

अत. जब हम संस्कृति का सम्बन्ध श्रमण शब्द के साथ करते है, तब हमारे सामने श्रमण धर्म और उसके आचार-विचार स्पष्ट हो उठते है। श्रमण का अर्थ है निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि। अतः श्रमण-संस्कृति का अर्थ हुआ वह संस्कृति जिसके प्रवर्तक व प्रस्तोता दिगम्बर जैन मुनि है। इसको और भी स्पष्ट करके कहें तो जिन आचार-विचार और आदर्शो का आचरण और उपदेश दिगम्बर जैन मुनियों द्वारा किया गया है, वह श्रमण संस्कृति है। भगवान ऋषभदेव प्रथम दिगम्बर मुनि है, वे ही प्रथम श्रमण है। अतः उनके द्वारा जिन आचार-विचार-व्यवहार और आदर्शो का आचरण और उपदेश के द्वारा प्रचार-प्रसार और प्रचलन हुआ, वही संस्कृति श्रमण सँस्कृति के नाम से जानी पहचानी जाती है।

अब हम श्रमणत्व और उसकी प्राचीनता के बारे में कुछ प्रमाण प्रस्तुत करेगे।

("नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनुवावतार" ॥ ५।३।२०)

महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके अन्तःपुर मे महारानी मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर श्रमण ऊर्ध्वगामियों का धर्म प्रगट करने के लिए वृषभदेव शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रगट हुए।

भागवतकार ने आद्य मनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ[1] को दिगम्बर श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्टाता माना है, उन्होने ही श्रमण धर्म को प्रगट किया था। उनके सौ पुत्रों मे से नौ पुत्र श्रमण मुनि बने, भागवत मे यह ही उल्लेख मिलता है—

"नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदाः ॥

—भागवत ११।२।२०

ऋषभदेव के सौ पुत्रो में से नौ पुत्र बड़े भाग्यवान थे, आत्मज्ञान मे निपुण थे और परमार्थ के अभिलाषी थे। वे श्रमण-दिगम्बर मुनि हो गये, वे अनशन आदि तप करते थे।

यहां श्रमण से अभिप्राय है (श्राम्यति तपः क्लेश

---

१ प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृत; ॥
११।२।१५ भागवत पुराण।

स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत नाम के पुत्र थे। प्रियव्रत के अग्नीध्र, अग्नीध्र के नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुए। वैदिक परम्परा के अनुसार स्वायम्भुव मनु मानवों के आद्य स्रष्टा और मन्वन्तर परम्परा के आद्य प्रवर्तक थे।

सहते इति श्रमण:) अर्थात् जो स्वयं तपश्चरण करते है, वे श्रमण है।

"वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः।"

—तैत्तिरीयारण्यक २।७

सायण—"वातरशनाख्या ऋषयः श्रमणास्तपस्विनः ऊर्ध्वमन्थिनः ऊर्ध्वरेतसः ॥"

—दिगम्बर श्रमण ऋषि तप से सम्पूर्ण कर्म नष्ट करके ऊर्ध्वगमन करनेवाले हुए।

सम्पूर्ण कर्म नष्ट होने पर जीव ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अन्त तक चला जाता है। जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही है, वह सदा से इसके लिए प्रयत्न करता रहा है। किन्तु कर्मों का भार होने के कारण वह उतना ही ऊर्ध्वगमन करता रहा, जितना कर्मों का भार कम था। किन्तु जब कर्मों का भार बिलकुल हट गया और जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो गया तो अपने स्वभाव के अनुसार वह लोक के अन्त तक ऊर्ध्व गमन करता है। (**"तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यलोकान्तात्॥"** तत्वार्थ सूत्र१०।५)

जैन शास्त्रों में जहा पर भी मोक्ष का वर्णन आया है, वहा पर इसका विस्तार से कथन मिलता है। सम्भवत: श्रमण वातरशना मुनियो के लिये ऊर्ध्वमथी ऊर्ध्वरेता कहने में वैदिक ऋषियों को जैन-शास्त्र सम्मत ऊर्ध्वगमन ही अभीष्ट रहा है।

अब यहा वृहदारण्यकोपनिषद् का एक और स्पष्ट उद्धरण अवतरित करते है—

"श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येना नन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाच्छोकान् हृदयस्य भवति।"

—वृहदा० ४।३।२२

श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते है। उस *समय तक पुरुष पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी असम्बद्ध* होता है और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है।"

(श्रमणः परिव्राट्-यत्कर्म निमित्तो भवति, स तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः।" —शांकर भाष्य

"श्रमण अर्थात् जिस कर्म के कारण पुरुष परिव्राट् होता है उससे मुक्त होने के कारण वह अश्रमण हो जाता है।

जैन शास्त्रों में गुणस्थान चर्चा में जो मुनि क्षपणक श्रेणी आरोहण करता है, उसके सम्बन्ध मे भी लगभग ऐसा ही वर्णन आता है। श्रेणी आरोहण करनेवाला श्रमण मुनि पाप और पुण्य दोनों से रहित हो जाता है और कषाय तथा घातिचतुष्क का नाश करके कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

श्रमण सतयुग में प्राय: होते हैं, ऐसी मान्यता भागवतकार की है।

कृते[1] प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥
सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

—भागवत १२-३-१८-१९

श्री शुकदेव जी कहते है—हे राजन! कृतयुग में धर्म के चार चरण होते है—सत्य, दया, तप और दान। इस धर्म को उस समय के लोग निष्ठापूर्वक धारण करते है। सतयुग मे मनुष्य सन्तुष्ट, करुणाशील, मित्रभाव रखने वाले, शान्त, उदार, सहनशील, आत्मा मे रमण करने वाले और समानदृष्टि आदि प्राय: श्रमणों में ही होती है।

जैनाचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में कृतयुग मे ही ऋषभदेव का जन्म माना है। उस युग का नामकरण ही ऋषभदेव के कारण हुआ और वह कृतयुग कहलाया—

"युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥
आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती।
कृत्वा कृतयुगारम्भं[2] प्रजापत्य मुपेयिवान् ॥"

(शेष पृष्ठ २८१) —आदि पु० १६।१८९-१९०

१ कृतयुग—१७२८०००। सतयुग का प्रारम्भ कार्तिक ९ से हुआ।
त्रेतायुग—१२९६०००।
द्वापर—८६४०००। (वैदिक काल-गणना)
कलियुग—४३२०००।

२ "सुसमदुसमम्मि णामे सेसे चउसीदिलक्खपुव्वाणि।
वासतए अडमासे इगिपक्खे उसह उप्पत्ती ॥ ४।५५३
—तिलोयपण्णत्ती भा० १

"सुषम दुःषमा नामक काल मे चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष शेष रहने पर वृषभदेव का अवतार (जन्म) हुआ"। (यहां कृतयुग काल जैन गणना के अनुसार है)—

यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन

डा० गोकुलचन्द जैन, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलक महाराज यशोधर के जीवनचरित्र को आधार बनाकर गद्य और पद्य मे लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण सस्कृत ग्रथ है। इसमे आठ आश्वास या अध्याय हैं। पूरे ग्रन्थ मे दो हजार तीन सौ ग्यारह पद्य तथा शेष गद्य है। सोमदेव ने गद्य तथा पद्य दोनो को मिलाकर आठ हजार श्लोक प्रमाण बताया है।

यशस्तिलक का रचनाकाल निश्चित है, इसलिए इसके अनुशीलन मे वे अनेक कठिनाइयाँ नही आती, जो समय की अनिश्चितता के कारण भारतीय साहित्य के अनुशीलन में साधारणतया उपस्थित होती है। सोमदेव ने यशस्तिलक के अन्त मे स्वय लिखा है कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) को जिस समय श्रीकृष्णराजदेव पाण्डय, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओं को जीतकर मैलपाटी सेना शिविर मे थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी, चालुक्य वंशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र सामन्त वद्दिग (वद्यग) की राजधानी गगधारा मे यह काव्य रचा गया।

राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय के एक दानपत्र में भी सोमदेव के विवरण के समानही कृष्णराजदेव की दिग्विजय का उल्लेख है। यह दानपत्र सोमदेव के यशस्तिलक की रचना के कुछ ही सप्ताह पूर्व फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी शक संवत् ८८० (९ मार्च सन् ९५९ ई०) को मेलपाटी (वर्तमान मेलाडी जो उत्तर अर्काट की वादिवाश तहशील मे है) लिखा गया था।

राष्ट्रकूट मध्ययुग मे दक्षिण भारत के महाप्रतापी नरेश थे। धारवाड कर्नाटक तथा वर्तमान हैदराबाद प्रदेश पर राष्ट्रकूटों का अखण्ड राज्य था। लगभग आठवी शती के मध्य से लेकर दशम शती के अन्त तक राष्ट्रकूट सम्राट् न केवल भारतवर्ष मे, प्रत्युत पश्चिम के अरब साम्राज्य में भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अरबों के साथ उन्होंने विशेष मैत्री का व्यवहार रखा और उन्हे अपने यहां व्यापार की सुविधाएं दी। इस वंश के राजाओं का विरुद् वल्लभराज प्रसिद्ध था जिसका रूप अरब लेखकों में बल्हरा पाया जाता है।

राष्ट्रकूटों के राज्य मे साहित्य, कला, धर्म और दर्शन की चतुर्मुखी उन्नति हुई। उस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। यशस्तिलक उसी युग की एक विशिष्ट कृति है।

यशस्तिलक की रचना गद्य और पद्य मे हुई है। साहित्य की इस विधा को समीक्षकों ने चम्पू कहा है। स्वय सोमदेव ने इसे महाकाव्य कहा है। प्रत्येक आश्वास के अन्त मे जो पुष्पिका वाक्य पाया जाता है, उसमे 'यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये' पद आया है। वास्तव मे यह अपने प्रकार का एक विशिष्ट ग्रथ है और अपने प्रकार की स्वतन्त्र विधा। एक उत्कृष्ट काव्य के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। कथा और आख्यायिका के श्लिष्ट, रोमाचकारी और रोचक वर्णन, गद्य और पद्य के सम्मिश्रण का रुचि वैचित्र्य, रूपक के प्रभावकारी और हृदयग्राही सरल कथनोपकथन, महाकाव्य का वृत्तविधान रससिद्धि, अलकृत चित्राकन तथा प्रसाद और माधुर्य युक्त सरस शैली, सुरुचिपूर्ण कथावस्तु और साहित्यकार के दायित्व का कलापूर्ण निर्वाह, यह यशस्तिलकका साहित्यिक स्वरूप है। गद्य का पद्यों जैसा सरल विन्यास, प्राकृत छन्दों का सस्कृत मे अभिनव प्रयोग तथा अनेक प्राचीन अप्रसिद्ध शब्दो का सकलन यशस्तिलक के साहित्यिक स्वरूप की अनिर्वचनीय विशेषताएं है। सस्कृत साहित्य सर्जन के लगभग एक सहस्र वर्षों में सुबन्धु बाण और दण्डि के ग्रन्थों मे गद्य का, कालिदास, भवभूति और भारवि के महाकाव्यों मे पद्य का तथा भास और शूद्रक के नाटको मे रूपक रचना का जो विकास हुआ, उसका और अधिक

परिष्कृत रूप यशस्तिलक में उपलब्ध होता है।

यशस्तिलक की यह अन्यतम विशेषता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में संभवतया यह प्रथम और अकेला ग्रंथ है, जिसकी कथावस्तु को दुःखान्त माना जा सकता है।

काव्य के विशेष गुणों के अतिरिक्त यशस्तिलक में ऐसी प्रचुर सामग्री है, जो इसे प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की विभिन्न विधाओं से जोड़ती है। पुरातत्त्व, कला इतिहास और साहित्य की सामग्री के साथ तुलना करने पर इसकी प्रामाणिकता और उपयोगिता और भी परिपुष्ट होती है। एक बड़ी विशेषता यह भी है कि सोमदेव ने जिस विषय का स्पर्श भी किया उस विषय में पर्याप्त जानकारी दी। इतनी जानकारी कि यदि उसका विस्तार से विश्लेषण किया जाये तो प्रत्येक विषय एक लघुकाय स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है। यशस्तिलक पर श्रीदेव कृत यशस्तिलक पंजिका नामक एक संक्षिप्त संस्कृत टीका है। इसे संस्कृत टिप्पण कहना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि इनके समय का ठीक पता नहीं चलता फिर भी ये सोमदेव से अधिक बाद के नहीं लगते। सोलहवीं शती में श्रुतसागर सूरि ने यशस्तिलक चंद्रिका नामक संस्कृत टीका लिखी। यह लगभग साढ़े चार आश्वासों पर है। संभवतया वे इसे पूरा नहीं कर सके। श्रीदेव ने पंजिका में यशस्तिलक के विषयों को इस प्रकार गिनाया है—

१ छन्द, २ शब्द निघटु, ३ अलंकार, ४ कला, ५ सिद्धान्त, ६ सामुद्रिक ज्ञान, ७ ज्योतिष, ८ वैद्यक ९ वेद १० वाद, ११ नाट्य, १२ काम, १३ गज, १४ अश्व, १५ आयुध, १६ तर्क, १७ आख्यान, १८ मंत्र, १९ नीति, २० शकुन, २१ वनस्पति, २२ पुराण, २३ स्मृति, २४ मोक्ष, २५ अध्यात्म, २६ जगत्स्थिति और २७ प्रवचन।

यदि श्रीदेव के अनुसार ही यशस्तिलक के विषयों का वर्गीकरण किया जाये तो इस सूची में कई विषय और जोड़ने होंगे। जैसे—भूगोल, वास्तुशिल्प, यन्त्रशिल्प, चित्रकला, पाक विज्ञान, वस्त्र और वेशभूषा, प्रसाधन सामग्री और आभूषण, कला विनोद, शिक्षा और साहित्य, वाणिज्य और सार्थवाह, सुभाषित आदि।

इस सूची के कई विषयों का समावेश सोमदेव ने यशस्तिलक में प्रयत्नपूर्वक किया है। उनका उद्देश्य था कि दशमी शताब्दि तक की अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन तथा उस युग का सम्पूर्ण चित्र अपने ग्रन्थ में उतार दें। निःसंदेह सोमदेव को अपने इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली। यशस्तिलक जैसे महनीय ग्रन्थ की रचना दशमी शती की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। सामग्री की इस विविधता और प्रचुरता के कारण यशस्तिलक को स्वयं सोमदेव के शब्दों में एक महान् अभिधान कोश कहना चाहिए।

यशस्तिलक में सामग्री की जितनी विविधता और प्रचुरता है, उतनी ही उसकी शब्द सम्पत्ति और विवेचन शैली की दुरूहता भी। इसलिए जिस वैदुष्य और यत्न के साथ सोमदेव ने यशस्तिलक की रचना की शायद ही उससे कम वैदुष्य और प्रयत्न यशस्तिलक के हार्द को समझने में लगे। संभवतया इस दुरूहता के कारण ही यशस्तिलक साधारण पाठकों की पहुँच से दूर बना आया, पर दक्षिण भारत से लेकर उत्तर भारत, राजस्थान और गुजरात के शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध यशस्तिलक की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ इस बात की प्रमाण हैं कि पिछली शताब्दियों में भी यशस्तिलक का सम्पूर्ण भारतवर्ष में मूल्यांकन हुआ।

बीसवीं शती में पीटरसन और कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान यशस्तिलक की महत्ता और उपयोगिता की ओर आकर्षित हुआ है। भारतीय विद्वानों ने भी अपनी इस निधि की ओर अब दृष्टि डाली है।

सम्पूर्ण यशस्तिलक श्रुतसागर सूरि की अपूर्ण संस्कृत टीका के साथ दो जिल्दों में अब तक केवल एक बार लगभग साठ वर्ष पूर्व निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। तीन आश्वासों का पूर्व खण्ड सन् १९०१ में और पांच आश्वासों का उत्तर खण्ड सन् १९०२ में। पूर्व खण्ड सन् १९१६ में पुनर्मुद्रित भी हुआ था। इस संस्करण में पाठ की अशुद्धियाँ हैं। उत्तरखण्ड में तो अत्यधिक हैं। सन् १९४६ में बम्बई से केवल प्रथम आश्वास श्री जे० एन० क्षीरसागर द्वारा अंग्रेजी टिप्पण आदि के साथ सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था। सन् १९४९ में शोलापुर से प्रो० कृष्णकान्त हन्दिकी का 'यशस्तिलक एण्ड

इंडियन कल्चर' प्रकाश मे आया। इसमे प्रो० हन्दिकी ने यशस्तिलक की सास्कृतिक विशेषकर धार्मिक और दार्शनिक सामग्री का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

सन् १९६० मे वाराणसी से प. सुन्दरलाल शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथम तीन आश्वासो का सम्पादन करके प्रकाशन किया है। अन्त मे लगभग उतने ही श्रीदेव के टिप्पण भी दे दिये है। इस संस्करण मे सम्पादक ने मूल पाठ को प्राचीन प्रतियों मे बहुत कुछ शुद्ध किया है।

पिछले ५-६ दशकों मे पत्र-पत्रिकाओं मे भी सोमदेव और यशस्तिलक पर विद्वानों के कई लेख प्रकाशित हुए है, जिनमे स्व० प० नाथूराम प्रेमी, स्व० प० गोविदराम शास्त्री, डॉ० वी० राघवन तथा डॉ० ई० डी० कुलकर्णी के लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है।

यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासो का प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने संपादन और हिन्दी अनुवाद किया है, जो भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी द्वारा सन् १९६४ के अन्त मे उपासकाध्ययन नाम से प्रकाशित हुआ है। सम्पादक ने मूलपाठ को प्राचीन प्रतियो से बहुत कुछ ठीक किया है। प्रारम्भ मे संपादक ने छयानबे पृष्ठों की हिन्दी प्रस्तावना भी दी है। प० जिनदास शास्त्री, सोलापुर ने श्रुतसागर सूरि की टीका की पूर्ति स्वरूप सस्कृत टीका लिखी है, वह भी इसके अन्त मे मुद्रित हुई है।

यशस्तिलक पिछले लगभग दस वर्षो से मेरे विशेष अध्ययन का विषय रहा है। हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच. डी उपाधि के लिए लिखे गये शोध प्रबन्ध मे मैने इसकी सास्कृतिक सामग्री का विवेचन किया है। मैने भरसक उस सामग्री का विवेचन किया है जिसके विषय में इसके पूर्व किसी ने भी प्रकाश नही डाला किन्तु जिसका उपयोग भारतवर्ष की नवीन उपलब्धियो में किया जाना चाहिए।

अपने शोध-निष्कर्षो को मैने सब पाच अध्यायो मे समेटा है—

१. यशस्तिलक के परिशीलन की पृष्ठभूमि।
२. यशस्तिलककालीन सामाजिक जीवन।
३. ललित कलाये और शिल्प विज्ञान।
४. यशस्तिलककालीन भूगोल।
५ यशस्तिलक की शब्द-सम्पत्ति।

प्रथम अध्यायमे वह सामग्री दी गई है जो यशस्तिलक के परिशीलन की पृष्ठभूमि के रूप मे अनिवार्य है। इस अध्याय मे तीन परिच्छेद है। पहले परिच्छेदमे यशस्तिलक का रचनाकाल, यशस्तिलक का साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वरूप, यशस्तिलक पर अब तक हुए कार्य का लेखा-जोखा, सोमदेव का जीवन और साहित्य, सोमदेव और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार तथा देवसघ के विषय मे संक्षेप मे आवश्यक जानकारी दी गई है।

सोमदेव के जीवन और साहित्य का जो परिचय उपलब्ध होता है, उससे उनके उज्ज्वल पक्ष का ही पता चलता है। नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक उनकी उपलब्ध रचनाएं है। षण्णवतिप्रकरण आदि चार अन्य ग्रथ अनुपलब्ध है।

नीतिवाक्यामृत के सस्कृत टीकाकार ने सोमदेव को कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार नरेश महेन्द्रदेव का अनुज बताया है। यशस्तिलक के दो पद्य भी महेन्द्रदेव और सोमदेव के सम्बन्धो की ओर सकेत करते है। उनका अनुपलब्ध ग्रन्थ महेन्द्रमातलिसजल्प और सोमदेव का देवातनाम भी शायद इस ओर इगित है। महेन्द्रपाल देव द्वितीय तथा सोमदेव के सम्बन्धो मे कालिक कठिनाई भी नही आती। यशस्तिलक मे राजनीति और शासन का जो विशद वर्णन है, उससे सोमदेव का विशाल राज्यतन्त्र और शासन से परिचय स्पष्ट है। इतनी सब सामग्री होते हुए भी मेरी समझ मे सोमदेव को प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल देव का अनुज मानने के लिए अभी और अधिक ठोस साक्ष्यो की अपेक्षा बनी रहती है।

यशस्तिलक चालुक्यवशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र वद्यग की राजधानी गगधारा मे रचा गया था। अरिकेसरी तृतीय के एक दानपत्र से सोमदेव और चालुक्यों के सम्बन्धो का और भी दृढ़ निश्चय हो जाता है। चालुक्य वश दक्षिण के महाप्रतापी राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्त पदवी धारी था। यशस्तिलक राष्ट्रकूट संस्कृति को एक

विशाल दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित करता है जिस तरह बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी में गुप्त युग का चित्र उतारने का प्रयत्न किया, उसी तरह सोमदेव ने यशस्तिलक में राष्ट्रकूट युग का।

सोमदेव देवसंघ के साधु थे। अरिकेसरी के दान पत्र में उन्हें गौण सघ का कहा गया है। वास्तव मे ये दोनों एक ही सघ के नाम थे। देवसघ अपने युग का एक विशिष्ट जैनसाधु संघ था। सोमदेव के गुरु, नेमिदेव ने सैकडो महावादियो को वाग्युद्ध मे पराजित किया था। सोमदेव को यह सब विरासत मे मिला। यही कारण है कि उनके लिए भी वादीभपचानन, तार्किक चक्रवर्ती आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये है।

इस सम्पूर्ण सामग्री को प्रमाणक साक्ष्यों के साथ पहले परिच्छेद मे दिया गया है।

दूसरे परिच्छेद मे यशस्तिलक की सक्षिप्त कथा दी गई है तथा उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। महाराज यशोधर के आठ जन्मो की कहानी का मूल यशस्तिलक के प्रासगिक विस्तृत वर्णनो मे कही खो न जाये, इसलिए सक्षिप्त कथा का जान लेना आवश्यक है।

कथा के माध्यम से सिद्धान्त और नीति की शिक्षा की परम्परा प्राचीन है। यशस्तिलक की कथा का उद्देश्य हिंसा के दुष्प्रभाव को दिखाकर जनमानस मे अहिंसा के उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करना था। यशोधर को आटे के मुर्गे की बलि देने के कारण छह जन्मो तक पशुयोनि मे भटकना पडा तो पशु बलि या अन्य प्रकार की हिंसा का तो और भी दुष्परिणाम हो सकता है। सोमदेव ने बड़ी कुशलता के साथ यह भी दिखाया है कि सकल्प पूर्वक हिंसा करने का त्याग गृहस्थ को विशेष रूप से करना चाहिए। कथावस्तु की यही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है।

तीसरे परिच्छेद मे यशोधरचरित्र की लोकप्रियता का सर्वेक्षण है। यशोधर की कथा मध्ययुग से लेकर बहुत बाद तक के साहित्यकारो के लिए एक प्रिय और प्रेरक विषय रहा है। कालिदास ने अवन्ति के उदयन-कथा कोविद ग्रामवृद्धो की बात कही थो, यशोधर कथा के विशेषज्ञ मनीषी आठवी शती के भी बहुत पहले से लेकर लगभग आज तक यशोधर की कथा कहते आये। उद्योतन सूरि (७७७ ई०) ने प्रभजन के यशोधरचरित्र का उल्लेख किया है। हरिभद्र की समराइच्चकहा में यशोधर की कथा आयी है। बाद के साहित्यकारोंने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तमिल और कन्नड़ भाषाओ मे यशोधरचरित्र पर अनेक ग्रन्थो की रचना की। प्रो० प० ल० वैद्य ने जसहरचरिउ की प्रस्तावना में उन्तीस ग्रन्थो की जानकारी दी थी। मेरे सर्वेक्षण से यह सख्या चौवन तक पहुँची है। अनेक शास्त्र भण्डारो की सूचियाँ अभी भी नही बन पायी। इसलिए सभव है अभी और भी कई ग्रन्थ यशोधर कथा पर उपलब्ध हों।

द्वितीय अध्याय मे यशस्तिलककालीन सामाजिक जीवन का विवेचन है। इसमें बारह परिच्छेद है। परिच्छेद एक में समाज गठन और यशस्तिलक मे उल्लिखित सामाजिक व्यक्तियो के विषय में जानकारी दी गई है। सोमदेव कालीन समाज अनेक वर्गो मे विभक्त था। वर्ण-व्यवस्था की प्राचीन श्रौत-स्मार्त मान्यताये प्रचलित थी। समाज और साहित्य दोनों पर इन मान्यताओं का प्रभाव था। ब्राह्मण के लिए यशस्तिलक मे ब्राह्मण, द्विज, विप्र, भूदेव, श्रोत्रिय, वाडव, उपाध्याय, मौहूर्तिक, देवभोगी, पुरोहित और त्रिवेदी शब्द आये है। ये नाम प्राय उनके कार्यों के आधार पर थे।

क्षत्रिय के लिए क्षत्र और क्षत्रिय शब्द आये है। पौरुष सापेक्ष्य और राज्य सचालन आदि कार्य क्षत्रियोचित माने जाते थे।

वैश्य के लिए वैश्य, वणिक, श्रेष्ठि और सार्थवाह शब्द आये है। ये देशी व्यापार के अतिरिक्त टाडा बाधकर विदेशी व्यापार के लिए भी जाते थे। श्रेष्ठ व्यापारी को राज्य की ओर से राजश्रेष्ठी पद दिया जाता था।

शूद्र के लिए यशस्तिलक मे शूद्र, अन्त्यज और पामर शब्द आये है। प्राचीन मान्यताओं की तरह सोमदेव के समय भी अन्त्यजो का स्पर्श वर्जनीय माना जाता था और वे राज्य सचालन आदि के अयोग्य समझे जाते थे।

अन्य सामाजिक व्यक्तियों मे सोमदेव ने हलायुधजीवि, गोप, व्रजपाल, गोपाल, गोध, तक्षक, मालाकार कौलिक

ध्वजिन्, निपाजीव, रजक, दिवाकीर्ति, आस्तरक, संवाहक, धीवर, चर्मकार, नट या शैलूष, चाण्डाल, शबर, किरात, वनेचर और मातंग का उल्लेख किया है। इस परिच्छेद में इन सब पर प्रकाश डाला गया है।

परिच्छेद दो में जैनाभिमत वर्णव्यवस्था और सोमदेव की मान्यताओं पर विचार किया गया है। सिद्धान्त रूप से जैनधर्म में वर्णव्यवस्था की श्रौतस्मार्त मान्यतायें स्वीकृत नहीं हैं। कर्मग्रन्थों में वर्ण, जाति और गोत्र की व्याख्या प्रचलित व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में चतुर्वर्ण की व्याख्या भी कर्मणा की गयी है। सिद्धान्त रूप में मान्यताओं का यह रूप होते हुए भी व्यवहार में जैन समाज में भी श्रौत-स्मार्त मान्यतायें प्रचलित थीं। इसलिए सोमदेव ने चिन्तन दिया कि गृहस्थ के लौकिक और पारलौकिक दो धर्म हैं। लोक धर्म लौकिक मान्यताओंके अनुसार तथा पारलौकिक धर्म आगमोंके अनुसार मानना चाहिए। प्राचीन कर्मग्रन्थों से लेकर सोमदेव तक के जैन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विचार किया गया है।

परिच्छेद तीन में आश्रम व्यवस्था और सन्यस्त व्यक्तियों का विवेचन है। आश्रम व्यवस्था की प्राचीन मान्यताएं प्रचलित थी। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर सोमदेव ने गोदान का उल्लेख किया है। बाल्यावस्था में सन्यस्त होने का निषेध किया जाता रहा है। पर इसके भी पर्याप्त अपवाद रहे हैं। यशस्तिलक के प्रमुख पात्र अभय रुचि और अभयमति भी छोटी अवस्था में प्रव्रजित हो गये थे। सन्यस्त व्यक्तियों के लिए आजीवक, कर्मन्दी, कापालिक, कौल, कुमारश्रमण, चित्रशिखण्डि, ब्रह्मचारी, जटिल, देशयति, देशक, नास्तिक, परिव्राजक, पाराशर, ब्रह्मचारी, भविल, महाव्रती, महासाहसिक, मुनि, मुमुक्षु, यति, योगज, योगी, वैखानस, शमितव्रत, श्रमण, साधक, साधु, और सूरिशब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से अधिकांश नाम अपने-अपने सम्प्रदाय विशेष को व्यक्त करते हैं। इनके विषय में संक्षेप में जानकारी दी गयी है।

परिच्छेद चार में पारिवारिक जीवन और विवाह की प्रचलित मान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। सोमदेव-कालीन भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन था। सोमदेव ने चिरपरिचित पारिवारिक सम्बन्ध पति, पत्नि, पुत्र, आदि का सुन्दर वर्णन किया है। बाल-क्रीडाओं का जैसा हृदयग्राही वर्णन यशस्तिलक में है, वैसा अन्यत्र कम मिलता है। स्त्री के भगिनी, जननी, दूतिका, सहचरी, महानसकी, धात्री भार्या आदि रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

यशस्तिलक में विवाह के दो प्रकारों का उल्लेख है। प्राचीन राजे-महाराजे तथा बहुत बड़े लोगों में स्वयंवर की प्रथा थी। स्वयंवर के आयोजन की एक विशेष विधि थी। माता पिता द्वारा जो विवाह आयोजित होते थे, उनमें भी अनेक बातों का ध्यान रखा जाता था। सोमदेव ने बारह वर्ष की कन्या तथा सोलह वर्ष के युवक को विवाह योग्य बताया है। बाल विवाह की परम्परा स्मृति-काल से चली आयी थी। स्मृति ग्रन्थों में अरजस्वला कन्या के ग्रहण का उल्लेख है। अलबरूनी ने भी लिखा है कि भारतवर्ष में बाल विवाह की प्रथा थी। इस परिच्छेद में इस सम्पूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है।

परिच्छेद पांच में यशस्तिलक में आयी खान-पान विषयक सामग्री का विवेचन है। सोमदेव की इस सामग्री की त्रिविध उपयोगिता है। एक तो इससे खाद्य और पेय वस्तुओं की लम्बी सूची प्राप्त होती है, दूसरे दशमी शती में भारतीय परिवारों—विशेषकर दक्षिण भारत के परिवारों की खान-पान व्यवस्था का पता चलता है। तीसरे ऋतुओं के अनुसार सतुलित और स्वास्थकर भोजन की व्यवस्थित जानकारी प्राप्त होती है। पाकविद्या के [illegible] में भी सोमदेव ने पर्याप्त जानकारी दी है। शुद्ध और ससर्ग भेद से त्रेसठ प्रकार के व्यंजन बनाये जा [illegible]। सूपशास्त्र विशेषज्ञ पारंगव का भी उल्लेख है। [illegible] पकायी गई खाद्य सामग्री में गोधूम, यव, दीर्दधि, [illegible], शालि, कलम, यवनाल, चिपिट, सूल, मुद्ग, [illegible] माष तथा द्विदल का उल्लेख है। भोजन के [illegible] किस अनुपान से पीना चाहिए, जल को अमृत और [illegible] क्यों कहा जाता है, ऋतुओं के अनुसार वापी, कूप, [illegible] कहाँ का जल पीना उपयुक्त है, जल को संसिद्ध [illegible] जाता है, इसकी जानकारी विस्तार से दी गयी है।

मसालों में दरद, क्षपारस, मरिच, पिप्पली, [illegible]

तथा लवण का उल्लेख है। स्निग्ध पदार्थ, गोरस तथा अन्य पेय सामग्री मे घृत, आज्य, तेल, दधि, दुग्ध, नवनीत, तक्र, कलि, या अवन्ति, सोम, नारिकेलफलांभ पानक तथा शर्कराढ्य पेय का उल्लेख है। घृत, दुग्ध, दधि तथा तक्र के गुणों को सोमदेव ने विस्तार से बताया है। मधुर पदार्थों मे शर्करा, शिता, गुड़ तथा मधु का उल्लेख है। साग-सब्जी और फलों की तो एक लम्बी सूची आयी है—पटोल, कोहल, कारवेल, वृन्ताक, बाल, कदल, जीवन्ती, कद, किसलय, विस, वास्तूल, तण्डुलीय, चिल्ली, चिर्भटिका, मूलक, आर्द्रक, धात्रीफल, एर्वारु, अलाबु, कर्कारु, मालूर, चक्रक, अग्निदमन, रिगणीफल, अगस्ति, आम्र, आम्रातक, पिचुमन्द, सोभाजन, वृहतीवार्ताक, एरण्ड, पलाण्डु, वल्लक, राल्लक, करेकुन्द, कोकमाची, नागरग, ताल, मन्दर, नागवल्ली, वाण, आसन, पूग, अक्षोल, खर्जूर, लवली, जम्बीर, अश्वत्थ, कपित्थ नमेरु, पारिजात, पनस, ककुभ, वट, कुरवक, जम्बू, दर्दरीक, पुण्ड्रेक्षु, मृद्वीका, नारिकेल, उदम्बर तथा प्लक्ष।

तैयार की गई सामग्री मे भक्त, सूप शष्कुली, समिध या समिता, यवागू, मोदक, परमान्न, खाण्डव, रसाल अमिक्षा, पक्वान्न, अवदश, उपदंश, सर्पिपिस्नात, अगारपाचित, दध्नापरिप्लुत, पयषा-विशुष्क तथा पर्पट के उल्लेख हैं।

मांसाहार तथा मांसाहार निषेध का भी पर्याप्त वर्णन है। जैन मासाहार के तीव्र विरोधी थे, किन्तु कौल-कापालिक आदि सम्प्रदायो मे मासाहार धार्मिकरूप से अनुमत था। वध्य पशु-पक्षी तथा जलजन्तुओं मे मेष, महिष, मय, मातग, मितद्रु, कुभीर, मकर, मालूर, कुलीर, कमठ, पाठीन, भेरुण्ड, क्रोच, कोक, कुक्कुट, कुरर, कलहम, चमर, चमूरु हरिण, हरि, वृक, वराह, वानर तथा गोखुर के उल्लेख है। मासाहार का ब्राह्मण परिवारों मे भी प्रचलन था। यज्ञ और श्राद्ध के नाम पर मासाहार की धार्मिक स्वीकृति मान ली गई थी। इस परिच्छेद मे इस सपूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है।

परिच्छेद छह मे स्वास्थ्य, रोग और उनकी परिचर्या विषयक सामग्री का विवेचन है। खानपान और स्वास्थ्य का अनन्य संबंध है। जठराग्नि पर भोजन पान निर्भर करता है। मनुष्यों की प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। ऋतु के अनुसार प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए भोजनपान आदि की व्यवस्था ऋतुओं के अनुसार करना चाहिए। भोजन का समय, सहभोजन, भोजन के समय वर्जनीय व्यक्ति, भोज्य और अभोज्य पदार्थ, विषयुक्त भोजन, भोजन करने की विधि, नीहार या मलमूत्र विसर्जन, अभ्यंग उद्वर्तन व्यायाम तथा स्नान इत्यादि के विषय मे यशस्तिलक मे पर्याप्त सामग्री आयी है। उस सबका इस परिच्छेद मे विवेचन किया गया है।

रोगो मे अजीर्ण, अजीर्ण के दो भेद विदाहि और दुर्जर, दृग्मान्य वमन, ज्वर, भगन्दर, गुल्म तथा सितश्वित के उल्लेख हैं। इनके कारणों तथा परिचर्या के विषय मे भी प्रकाश डाला गया है।

औषधियों मे मागधी, अमृता, सोम, विजया, जम्बूक, सुदर्शना, मरुद्भव, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अभीरु, लक्ष्मी, बृती, तपस्विनी, चन्द्रलेखा, कलि, अर्क, अरिभेद, शिवप्रिय, गायत्री, ग्रन्थिपर्ण तथा पारदरस की जानकारी आयी है। सोमदेव ने आयुर्वेद के अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस सब पर इस परिच्छेद मे प्रकाश डाला गया है।

परिच्छेद सात मे या यशस्तिलक में उल्लिखित वस्त्रो तथा वेशभूषा का विवेचन है। सोमदेव ने बिना सिले वस्त्रो मे नेत्र, चीन, चित्रपटी, पटोले, रल्लिका, दुकूल, अशुक तथा कौशेय का उल्लेख किया है। नेत्र के विषय मे सर्वप्रथम डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने विस्तार मे जानकारी दी थी। नेत्र का प्राचीनतम उल्लेख कालिदास के रघुवश का है। बाण ने भी नेत्र का उल्लेख किया है। वर्ण रत्नाकर मे इसके चौदह प्रकार बताये है। चौदहवी शती तक बगाल मे नेत्र का प्रचलन था। नेत्र की पाचूड़ी ओढ़ी और बिछायी जाती थी। जायसी ने पद्मावत मे कई बार नेत्र का उल्लेख किया है। गोरखनाथ के गीतों तथा भोजपुरी लोकगीतो मे नेत्र का उल्लेख मिलता है। चीन देश से आने वाले वस्त्रो को चीन कहा जाता था। भारत मे चीनी वस्त्र आने के प्राचीनतम प्रमाण ईसा पूर्व पहली शताब्दी के मिलते है। डॉ० मोतीचन्द्र ने इस विषय पर

पर्याप्त प्रकाश डाला है। कालिदास ने शाकुन्तल में चीनांशुक का उल्लेख किया है। बृहत्कल्पसूत्र में इसकी व्याख्या आयी है। चीन और बाह्लीक से और भी कई प्रकार के वस्त्र आते थे। चित्रपट संभवतया वे जामदानी वस्त्र थे, जिनकी बिनावट में ही पशु-पक्षियों या फूल-पत्तियों की भाँत डाल दी जाती थी। बाण ने चित्रपट के तकियों का उल्लेख किया है। पटोल गुजरात का एक विशिष्ट वस्त्र था। आज भी वहाँ पटोला साड़ी का प्रचलन है। रल्लिका रल्लक नामक जंगली बकरे के ऊन से बना बेशकीमती वस्त्र था। युवानच्वांग ने भी इसका उल्लेख किया है। वस्त्रों में सबसे अधिक उल्लेख दुकूल के हैं। आचारांग तथा निशीथ-चूर्णि में दुकूल की व्याख्या आयी है। पौण्ड्र तथा सुवर्णकुड्या के दुकूल विशिष्ट होते थे। दुकूल की बिनाई, दुकूल का जोड़ा पहनने का रिवाज, हंस मिथुन लिखित दुकूल के जोड़े, दुकूल के जोड़े पहनने की अन्य साहित्यिक साक्षी, दुकूल की साड़ियां, पलंगपोश, तकियों के गिलाफ, दुकूल और क्षौम वस्त्रों में अन्तर और समानता इत्यादि का इस परिच्छेद में पर्याप्त विवेचन किया गया है। अंशुक एक प्रकार का महीन वस्त्र था। यह कई प्रकार का होता था। सफेद तथा रंगीन सभी प्रकार का अंशुक बनता था। भारतीय और चीनी अंशुक की अपनी-अपनी विशेषताएं थीं। कौशेय कोशकार कीड़ों से उत्पन्न रेशम से बनता था। इन कीड़ोंकी चार योनियां बतायी गयी हैं। उन्हीं के अनुसार कौशेय भी कई प्रकार का होता था।

पहनने के वस्त्रों में सोमदेव ने कञ्चुक, वारबाण, चोलक, चण्डातक, उष्णीष, कौपीन, उत्तरीय, चीवर, आवान, परिधान उपसंव्यान, और गुह्या का उल्लेख किया है। कञ्चुक एक प्रकार के लम्बे कोट को कहा जाता था। और स्त्रियों की चोली को भी। सोमदेव ने चोली के अर्थ में कञ्चुक का उल्लेख किया है। वारबाण घुटनों तक पहुँचनेवाला एक शाही कोट था। भारतीय वेशभूषा में यह सासानी ईरान की वेशभूषा से आया। वारबाण पहलवी भाषा का संस्कृत रूप है। शिल्प तथा मृण्मूर्तियों में वारबाण के अंकन मिलते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों वारबाण पहनते थे। वारबाण जिरहबख्तर को भी कहते थे, किन्तु सोमदेव ने कोट के अर्थ में ही प्रयोग किया है। भारतीय साहित्य में वारबाण के उल्लेख कम ही मिलते हैं। चोलक भी एक प्रकार का कोट था। यह और कोटों की अपेक्षा सबसे अधिक लम्बा और ढीला बनता था। इसे सब वस्त्रों के ऊपर पहनते थे। उत्तर-पश्चिम भारत में जाड़े के समय चोला या चोलक पहनने का रिवाज अब भी है। भारत में चोलक संभवतया मध्य एशिया से शक लोगों के साथ आया और यहाँ की वेशभूषा में समा गया। भारतीय शिल्प में इस प्रकार के कोट पहने मूर्तियाँ मिलती हैं। चण्डातक एक प्रकार का घघरीनुमा वस्त्र था। इसे स्त्री और पुरुष दोनों पहनते थे। उष्णीष पगड़ी को कहते थे। भारत में विभिन्न प्रकार की पगड़ियाँ बाँधने का रिवाज प्राचीनकाल से चला आया है। छोटे चादर या दुपट्टा को कौपीन कहते थे। उत्तरीय ओढ़ने वाला चादर था। चीवर बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र कहलाते थे। आश्रमवासी साधुओं के वस्त्रों के लिए सोमदेव ने आवान कहा है। परिधान पुरुष की धोती को कहते थे। बुन्देलखण्ड की लोकभाषा में इसका परदनिया रूप अब भी सुरक्षित है। उपसंव्यान छोटे अंगोछे को कहते थे। गुह्या कछुटिया लंगोट था। हंसतूलिका रुई भरे गद्दे को कहा जाता था। उपधान तकिया के लिए बहु-प्रचलित शब्द था। कन्था पुराने कपड़ों को एक साथ सिलकर बनाई गई रजाई या गदरी थी। नमत ऊनी नमदे थे। निचोल बिस्तर पर बिछाने का चादर कहलाता था। सिचयोल्लोच चन्द्रातप या चंदोवा को कहते थे। इस परिच्छेद में इन समस्त वस्त्रों के विषय में प्रामाणिक सामग्री के साथ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

परिच्छेद आठ में यशस्तिलक में उल्लिखित आभूषणों का परिचय दिया गया है। भारतीय अलंकारशास्त्र की दृष्टि से यह सामग्री महत्त्वपूर्ण है। सोमदेव ने सिर के आभूषणों में किरीट, मौलि, पट्ट और मुकुट का उल्लेख किया है। किरीट, मौलि और मुकुट भिन्न-भिन्न प्रकार के मुकुट थे। किरीट प्रायः इन्द्र तथा अन्य देवी देवताओं के मुकुट को कहा जाता था। मौलि प्रायः राजे पहनते थे तथा मुकुट महासामन्त पट्ट सिर पर बाँधने का एक विशेष आभूषण था, जो प्रायः सोने का बनता था। बृहत्संहिता में पाँच प्रकार के पट्ट बताये हैं।

कर्णाभूषणों में सोमदेव ने अवतंस, कर्णपूर, कर्णिका, कर्णोत्पल तथा कुंडल का उल्लेख किया है। अवतंस प्रायः पल्लव या पुष्पों के बनते थे। सोमदेव ने पल्लव, चम्पक, कचनार, उत्पल तथा कैरव के बने अवतंसो के उल्लेख किये है। एक स्थान पर रत्नावतंसो का भी उल्लेख है। कर्णपुर पुष्प के आकार का बनता था। देशी भाषा मे अभी इसे कनफूल कहा जाता है। कर्णिका तालपत्र के आकार का कर्णाभूषण था। आजकल इसे तिकोना कहते हैं। उत्पल के आकार का बना कर्ण का आभूषण कर्णोत्पल कहलाता था। कुण्डल, कुड्मल तथा गोल बाली के आकार के बनते थे। इनमें कानों को लपेटने के लिए एक पतली जंजीर भी लगी रहती थी। बुन्देलखण्ड में इस प्रकार के कुण्डलों का देहातो में अब भी रिवाज है।

गले में पहनने के आभूषणों मे एकावली, कण्ठिका, मौक्तिकदाम, हार तथा हारयष्टि का उल्लेख। एकावली मोतियों की इकहरी माला को कहते थे। सोमदेव ने इसे समस्त पृथ्वीमण्डल को वश मे करने के लिए आदेशमाला के समान कहा है। गुप्त युग मे ही विशिष्ट आभूषणो के विषय मे अनेक किंवदंतिया प्रचलित हो गई थी। एकावली के विषय मे बाण ने एक रोचक किंवदन्ती का उल्लेख किया है। कठिका कंठी को कहते थे। हार अनेक प्रकार के बनते थे। सोमदेव ने आठ बार हार का उल्लेख किया है। हारयष्टि संभवतया आगुल्फ लम्बा हार कहलाता था। मौक्तिक दाम मोतियो की माला को कहते थे।

भुजा के आभूषणो में अंगद और केयूर का उल्लेख है। केयूर भुजा के शीर्ष भाग मे पहना जाता था। अंगद बहुत चुस्त होने के कारण ही संभवतया अंगद कहलाता था। स्त्री और पुरुष दोनो अंगद पहनते थे। कलाई के आभूषणो मे कंकण और वलय का उल्लेख है। कंकण प्राय सोने आदि के बनते थे और वलय सीग, हाथी दांत या कांच के। हाथ की अंगुली मे पहना जाने वाला गोल छल्ला उर्मिका कहलाता था। अंगुलियक भी अंगुली मे पहना जाने वाला आभूषण था। कटि के आभूषणो मे कांची, मेखला रसना, सारसना तथा घर्घरमालिका का उल्लेख है ये सब करधनी के ही भिन्न-भिन्न प्रकार थे। मंजीर, हिंजीरक, नूपुर, तुलाकोटि और ससक पैरों मे पहनने के आभूषण थे।

इस परिच्छेद में इन सब आभूषणों के विषय में विस्तार से जानकारी दी गई है।

परिच्छेद नव मे केश विन्यास, प्रसाधन सामग्री तथा पुष्प प्रसाधन की सुकुमार कला का विवेचन है। शिर धोने के बाद स्त्रियां सुगंधित धूप के धुएँ से केशो को धूपायित करती थी। इससे केश भभरे हो जाते थे। भभरे केशों को अपनी रुचि के अनुसार अलकजाल, कुन्तलकलाप, केशपाश, चिकुरभंग, धम्मिल्ल विन्यास, मौली, सीमन्त-सन्तति, वेणीदण्ड, जटाजूट या कबरी की तरह सवार लिया जाता था। केश संवारने के ये विभिन्न प्रकार थे। कला, शिल्प और मृण्मूर्तियो मे इनका अंकन मिलता है। इस परिच्छेद मे इन सबका परिचय दिया गया है।

प्रसाधन सामग्री मे अंजन, अलक्तक, कज्जल, अगुरु, कक्कोल, कुंकुम, कर्पूर, चन्द्रकवल, तमालदलधूलि, ताम्बूल, पटवास, मन:सिल तथा सिन्दूर का उल्लेख है। पुष्प प्रसाधन मे पुष्पों के बने विभिन्न प्रकार के अलंकारो के नाम आये हैं। जैसे—अवतंस कुवलय, कमल केयूर, कदलीप्रवाल मेखला, कर्णोत्पल, कर्णपूर या कर्णफूल, मृणालवलय, पुन्नागमाला, बन्धूक नूपुर, शिरीष जघालंकार, शिरीषकुसुमदाम, विचकिलाहारयष्टि तथा कुरबक-मुकुलस्रक। इन सबके विषय में प्रस्तुत परिच्छेद मे जानकारी दी गयी है।

परिच्छेद दश मे शिक्षा और साहित्य विषयक सामग्री का विवेचन है। बाल्यावस्था शिक्षा का उपयुक्त समय माना जाता था। गुरुकुल प्रणाली शिक्षा का आदर्श थी। शिक्षा समाप्ति के बाद गोदान किया जाता था। शिक्षा के अनेक विषयों का सोमदेव ने उल्लेख किया है। अमृतमति महारानी की द्वारपालिका को समस्त देशो की भाषा और वेश की जानकारी कहा गया है। तर्कशास्त्र, पुराण, काव्य, व्याकरण, गणित, शब्दशास्त्र, धर्माख्यान प्रमाणशास्त्र, राजनीति, गज और अश्व शिक्षा रथ, वाहन और शस्त्र विद्या, रत्नपरीक्षा, संगीत, नाटक, चित्रकला, आयुर्वेद, युद्ध विद्या तथा कामशास्त्र शिक्षा के प्रमुख विषय थे। इन्द्र, जैनेन्द्र, चन्द्र, अपिशल, पाणिनि तथा पतंजलि के व्याकरणों का अध्ययन अध्यापन होता था। (क्रमशः)

(पृष्ठ ७२ का शेपांश)

—चूंकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारम्भ किया था, इसलिये पुराण के जाननेवाले उन्हें कृतयुग के नाम से जानते हैं। कृतकृत्य भगवान् ऋषभदेव आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारम्भ कर प्रजापति कहलाये।

ऋषभदेव ने जैन मान्यतानुसार कर्म की तरह धर्म का भी प्रचलन और उपदेश किया। उस समय कृतयुग था, जिसमें लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। जैन श्रमण मुनियों का सर्वत्र विहार था। यही बात भागवतकार कहते हैं। भागवत के उपर्युक्त श्लोकों मे "प्रायश." शब्द विशेष उल्लेख योग्य है। उसका आशय यही है कि अधिकाश श्रमणों में ये गुण पाये जाते थे। प्राय सभी श्रमणों का जीवन निष्पाप था। इसी प्रकार ऋषभदेव-काल की जनता के आचार-विचारों के सम्बन्ध में दोनों परम्परा एकमत है।

ब्रह्मोपनिषद् में भी पर ब्रह्म का अनुभव करनेवाले की दशा का जो वर्णन आया है, उसमे भी पहले कहे हुए आशय की पुष्टि होती है—

"श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापसः एकमेव तत् पर ब्रह्म विभाति निर्वाणम्।" —ब्रह्मोपनिषद्पृ० १५१ चतुर्थ संस्करण निर्णयसागर प्रेस।

श्रमण शब्द सर्व प्रथम ऋग्वेदके दशम मण्डल में उपलब्ध होता है। इस ऋचा में भी बृहदारण्यकोपनिषद् की तरह ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है—

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपविसो अतृषिता अतृष्णजः।।

—ऋग्वेद १०।८।९४।११

(सायण)—अश्रमणाः श्रमणवर्जिताः अशृथिताः अन्यैरशिथिलीकृता अमृत्यवः अमारिताः अनातुराः अरोगा अजराः जरारहिता. स्थभवथ। किञ्च अभविष्णवः उत्क्षेपणावक्षेपणगत्युपेता. हे आवाण: तृदिलाः अन्येषा भेदका. अतृदिलास स्वयमन्येनाभिन्नाः सुपविस सुबला अतृषिता तृषा रहिता. अतृष्णजः निःस्पृहा भवथ।

हे आदरणीय! अश्रमण आप श्रमण रहित, दूसरो के द्वारा शिथिल न किये जा सकने वाले, मृत्युवर्जित, रोगरहित, जरारहित और उत्क्षेपण-अवक्षेपण गतियुक्त हो। किन्च आप भेदक (भेद विज्ञानी) किन्तु दूसरों से भेदन न किये जा सकने वाले, बलवान, तृष्णारहित और निर्मोह हो।

विशेष—जिस चारित्रसे श्रमण कहलाता है, उससे मुक्त अर्थात् आत्मस्थ होने पर वह अश्रमण कहलाता है। शिथिलाचार रहित एवं मृत्यु, भय, बुढ़ापा, तृष्णा और लोभ से रहित कोई भी श्रमण तपस्वी अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल आत्म—ध्यान के बिना नहीं रह सकता अर्थात् छठा—सातवां गुण स्थान बदला करता है। किच (अभविष्णव. उत्क्षेपणावक्षेपण गत्युपेता) बार बार ऊपर नीचे गुणस्थान में चढ़ता उतरता रहता है। तथा निर्मोही, निस्पृह, दुखों और संशयों से रहित, इन सब में बलवान होने से वह आदर योग्य और सबसे भिन्न होता है।

श्रमण शब्द का अधिक महत्व रहा है। वैयाकरण अत्यन्त अनिवार्य स्थिति मे ही किसी शब्द विशेष के लिए नियम बनाते है, अन्यथा नही। किन्तु श्रमण शब्द के सम्बन्ध मे व्याकरण ग्रन्थों में विशेष नियम उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम शाकटायन ने ऐसा नियम बनाया है—

"कुमारः श्रमणादिना"—शाकटायन २-१-७८

श्रमण शब्द के साथ कुमार और कुमारी शब्द की सिद्धि विषयक यह सूत्र है। उस काल मे "कुमार श्रमणा" जैसे पदलोक प्रचलित थे। यह शब्द सज्ञा उस तापसी के लिए प्रचलित थी। जो कुमारी अवस्था मे श्रमणा (आर्यिका) बन जाती थी। "श्रमणादि गणपाठ" के अन्तर्गत कुमार प्रव्रजिता, कुमार तापसी जैसे निष्पन्न शब्दों मे यह सिद्ध होता है कि उस समय कुमारियां प्रव्रज्या ग्रहण करती थी, यह लोक विश्रुत था। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने कुमारी अवस्था मे ही श्रमणपद ग्रहण किया[1] था। विवाह के लिए समुद्यत राजीमती भी नेमिनाथ द्वारा दीक्षा लेने पर श्रमण (आर्यिका) बन गई थी। तीर्थंकर नेमि-पार्श्व, वीरने भी

१ भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनी पदमार्याणां सा भेजे पूजितामरै.।।
—महापुराण २४-१७५

कुमार अवस्थामें ही श्रमण दीक्षा धारण की थी। अस्तु—

स्वयं शकटायन श्रमण संघ के आचार्य थे—

"महाश्रमण संघाधिपतिर्यः शाकटायनः।"

—शाकटायन व्याकरण चिन्तामणि टीका १

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने कहा है—

"कुमारः श्रमणादिभिः" (अष्टाध्यायी २-१-७०)

येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण-ब्राह्मणम्।" —पातंजल महाभाष्य ३-४-६

पाणिनि के इस सूत्र का यह उदाहरण है। जिनका शाश्वत विरोध है, यह सूत्र का अर्थ है। यहा जो विरोध शाश्वतिक बताया है, वह किसी हेतु विशेष से उत्पन्न नही हुआ। शाश्वतिक विरोध सैद्धान्तिक ही हो सकता है क्योंकि किसी निमित्त से पैदा होने वाला विरोध उस निमित्त के दूर होने पर समाप्त हो जाता है। परन्तु महर्षि के "शाश्वतिक" पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का कोई विरोध है, जो शाश्वतिक है। इस आशय से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते है कि ब्राह्मण वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए एकेश्वरवाद तथा ज्ञान से मुक्ति मानते हैं तथा श्रमण परंपरा अनेकेश्वर तथा अनेकान्त के साथ तप से, श्रम से जिसकी मूल संगति आचार (सम्यक् चारित्र) के साथ है, मोक्ष मानती है। यही इनका शाश्वतिक विरोध है। वास्तव में तो ज्ञान और क्रिया का एकायन ही मोक्षहेतु है। "ज्ञान क्रियाभ्या मोक्षः" इति सर्वज्ञोपदेशः।

—सूत्रार्थ मुक्तावली ८५

ब्राह्मणा भुंजते नित्यं नाथवन्तश्च भुजते।
तापसा भुजते चापि श्रमणाश्चैव भुजते

बाल्मीकि रामायण बा० १८।१२

वहा नित्य प्रति बहुत से ब्राह्मण, नाथवन्त, तपस्वी और 'श्रमण भोजन करते थे।

"मोहनजोदरोसे उपलब्ध ध्यानस्थ योगियोंकी मूर्तियोंकी प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक, युग मे व्रात्यो और श्रमण—ज्ञानियो की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास मे जैन-धर्म का विशेष योग रहा है।"

—श्री वाचस्पति गैरोला, प्रयाग
भारतीय दर्शन पृ० ९३

कविवर देवीदास का पदपंकत

डा० भागचन्द जैन, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

जैसा मैंने पिछले अंक मे लिखा था, कविवर देवीदास के दो ग्रन्थ परमानन्द विलास और पदपंकत लिपिकार श्री प० प्रागदास तिवारी के द्वारा एक ही ग्रन्थ मे संग्रहीत कर दिये गये है। उन्होने ४८वे पृष्ठ पर परमानन्द विलास की समाप्ति की घोषणा कर दी और तुरन्त ही उसी पृष्ठ पर पदपंकत का लेखन प्रारम्भ कर दिया। परमानन्द विलास की तरह यह ग्रन्थ भी कवि की विभिन्न कालो मे की गई रचनाओ का संग्रह मात्र है। परन्तु काल की इस विभिन्नता से काव्य मे किसी भी प्रकार की विरसता अथवा प्रवाहहीनता नही आ पायी।

प्रायः समूचे ग्रन्थ मे टेकों का उपयोग किया गया है। प्रारम्भ भी टेक से ही हुआ है जिसे सापुनयम कीती कहा है।

नाभिनन्दन चरन सेवहु नाभिनन्दन चरन।
तीन लोक मंझार सांचे देव तारन तरन ॥टेक॥
धनुष सै तन पांच सोभित विमल कंचन वरन।
कामदेव सो कोट लाजत कोट रवि छवि हरन ॥ से० १ ॥
भक्तिवंत सोपुर घतिनके सत श्वेताकरन।
ऊच गति कुल गोत उत्तिम लहत उमि वरन ॥ से० २ ॥
मान कर भव भय सुभवन जन आन लेत सो सरन।
देवीदास सो देत पानी युक्त तरवर जन ॥ सेवहु ३ ॥

परमानन्द विलास में जो भाव और भाषा का गांभीर्य

दिखाई देता है वह पदपंकत मे नहीं मिलता। वहाँ जैसा विषयवार विवेचन है वह भी यहाँ नही। इसका मुख्य कारण शायद यह हो सकता है कि कवि की ये फुटकर रचनाएं है। बीच में जहाँ कहीं रचनाकाल भी दिया गया है। जैसे पृ० ५८ पर सं० १८२४ जेठ वदी ५ लिखा है। इसके बाद संवत् ४३ लिखा है जो १८४३ का संक्षिप्त रूप होगा। पृ० ७८ पर एक रचना के बाद सवत् १८७ लिखा है। लिपिकार की भूल से इसका अन्तिम अंक छूट गया जान पड़ता है। परन्तु यह तो निश्चित किया ही जा सकता है कि यह काल संवत् १८७१ से १८७६ तक कोई भी होगा। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कविवर देवीदास सवत् १८८० तक रचनाएं लिखते रहे। इसके बाद की उनकी रचना अभी तक कोई नहीं मिली। परमानन्द विलास के बुद्धि बावनी के अन्तिम पद्य मे रचनाकाल स० १८१२ चैत्रवदी प्रतिपदा गुरुवार लिखा है। इसे यदि तीस वर्ष की अवस्था मे भी लिखा गया माना जाय तो देवीदास का स्थितिकाल लगभग सवत् १७८० से १८८० तक सिद्ध होगा।

श्रद्धेय प० परमानन्द जी शास्त्री प्रारम्भ से ही प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन कवियों के विषय मे बहुत लिखते रहे है उन्होने अनेकान्त के वर्ष ११ किरण ७-८ सितम्बर अक्टूबर, १९५२ के अंक मे "बुन्देलखण्ड के कविवर देवीदास" नामक शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने कवि के विषय मे अनेक प्रचलित किंवदन्तियों का उल्लेख किया है जिनको परमानन्द विलास के कवित्रों के सन्दर्भ मे भी देखा जा सकता है। शास्त्री जी को उस समय कविवर देवीदास के कुल दो ग्रन्थ मिले थे— चतुर्विंशति जिनपूजा और परमानन्द विलास। पिछले अंक मे मैंने अपने लेख "कविवर देवीदास का परमानन्द विलास" मे कवि के वर्तमान चौबीसी विधानपूजा, परमानन्द विलास और पदपंकत इन तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया था। वर्तमान चौबीसी विधानपूजा वही है जिसका उल्लेख शास्त्रीजी ने चतुर्विंशति जिनपूजा के नाम से किया है। शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ के विषय मे अधिक नहीं लिखा और मेरे पास भी इस समय उसकी कोई प्रति नहीं इसलिए दोनों प्रतियो मे तुलना करना सम्भव नही। द्वितीय ग्रन्थ परमानन्दविलास की प्रति मे अवश्य अन्तर दिखाई देता है। शास्त्रीजी ने जिस प्रति का उल्लेख किया है उसमे उन्हे कुल २४ रचनाओं का संग्रह मिला था। और मैंने जिस प्रति का उल्लेख किया है उसमे २८ रचनाओं का संकलन है। सीतलाष्टक, सरधान पच्चीसी, कषायावलोकन पच्चीसी और पचमकाल की विपरीत रीति ये चार विषय अधिक है। इसके अतिरिक्त पद्य संख्या मे भी अन्तर है। कविका तृतीय ग्रन्थ पदपंकत है, जो शायद अभी तक अपरिचित रहा है। इनके अतिरिक्त कवि के और भी ग्रन्थ होंगे जो किन्ही मन्दिरों और भण्डारों मे अभी भी किसी शोधक की राह देखते होंगे।

पदपंकत भी कवि की अन्त.पुकार का परिणाम प्रतीत होता है। उसमे उन्होंने रामकली, ख्याल, ध्रुपद आदिका उपयोग कर १२४ कवित्त लिखे हैं। विषय का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

कवि की आध्यात्मिक रसिकता "भगतिमह चित देन प्रभ तेरी" आदि जैसे पद्यों से स्पष्ट है। निजतत्त्व का श्रद्धान न होना अथवा आत्मिक शक्ति का आभास न होना ही संसार भ्रमण का कारण है। अनन्त काल से विषय वासनाओं मे रमण करते हुए भी जीव को उनसे सन्तोष नही हुआ, उसका कविको बड़ा दुःख और आश्चर्य है—

तु जीय रे निज तत कौन भयौ सरधानी।
काल बहुत भटकत गये तो ये सौंज विरानी॥ टेक॥
मिथ्या मद करकें मतौ गुरु सीख न मानी।
तापै और न दूसरौ जग मांहि अलहानौ॥१॥
जब जब जिय गति मं गयौ अपनी करमानी।
उर अंतर लोचन बिना दरसी न निसानी॥२॥
पर परमति रचि ज्यों तज्यौ पावक जुत पानी।
धाय धाय विषयन लग्यौ असना न बुझानी॥

काल के गाल मे बसता हुआ भी जीव सचेत नही होता। आज और कल करते हुए सारा जीवन बिना धर्म पालन करते हुए व्यतीत कर देता है।

बसत काल के गाल मं जगजीव नसंगौ।
हेय सहज समझं नहीं अथवत दिन अंगो॥टेक॥
छिन-छिन प्रति तन छवि घटं दिन आवत नीरौ।
जनम मरन लख और कौ चेतति न सवेरो॥१॥

धन कारन डोलत फिरौ जोबन मद भूलौ।
छिन संतोष न मन धरं दुध ज्यों चूलौ ॥२॥
विषया रसकौ लोलुपी गुरु आन न झेलें।
कर्म कलंदर वस परौ मरकट सम खेलं ॥३॥
तिन निज गुन साथर गहौ उर अन्तर जागौ।
देवीदास सुकाल के बसतें वच भागौ ॥४॥

आत्मा के स्वरूप का विवेचन निम्न पक्तियों मे देखिए—

आतम तत्त्व विचारौ सुधी, तुम आतम तत्त्व विचारौ।
वीतराग परिनामन कौ करि विकलपता सब डारौ ॥
सुधी तुम आतम तत्त्व विचारौ ॥ टेक ॥

दरसन ज्ञान चरनमय चासुर सो निहचं उर धारौ।
निज अनुभूति समान चिदानंद हीन अधिक न निहारौ ॥१॥
सुर दुरगंध हरित पीपरी दुत सेत असन पुन कारौ।
कोमल कठिन चिकन रूक्ष सु-सब पुद्गल दरव पसारौ ॥२॥
सीत उसन हलकौ पन भारी कटु कामल मधुरारौ।
तिकत कसाय लगुन सु अचेतन सो नहि रूप निहारौ ॥३॥
आप निकट घट माहि विलोकहु सो सब देखन हारौ।
देवीदास होहि इहि विधि सौ जड़ चेतन निरवारौ ॥४॥

इसके बाद वर्तमान चौबीस तीर्थंकरो के नामो को छन्दोबद्ध करके कवि ने विमलनाथ भगवान की विशेष रूप से स्तुति की है और उसमें भक्तिरस का आकलन किया है। उदाहरणतः

तुमं प्रभु जू पुकारत हौं। सुहित अपनौ विचारत हौं।
करम वैरी सो तुम नासं। तुमं जब ज्ञान गुन भासं।
धरों निज भक्ति उर तेरी। हरौ अब आपदा मेरी।

तप का महत्त्व मुक्ति प्राप्त करने तक है। तीर्थकर वगैरह ने तप के ही माहात्म्य से मोक्षपद पाया है। "तप सबकौ हितकारी जगत मैं" यह उसकी मुख्य पक्ति है। धर्मगीता मे "ई भात धर्म सौ लागो जी जात धरी जाहा असही" इस टेक के साथ आठ पद्य है जिनमे कवि ने परम्परानुसार धर्म के स्वरूप का चित्रण किया है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को प्रमाण मानकर चलना, पञ्च पापादिक से दूर रहकर दयादिक पालना, णमोकार मन्त्र का जपन करना, पूजन करना आदि धर्म बताया है। इसके बाद जिन वचन का रसायन मान कर प्रत्येक व्यक्ति से उसके पान करने का आग्रह किया है—

जिन वचन रसायन पीजं जी।
अमृत तुल स्वाद जाकं विषय सुक्ख वम दीजं जी।
परम अतींद्रिय सुख कौ कारन अनुवभव रस उर भीजंजी ॥
जनम जरा मरनो त्रिदोष यह सो स्वयमेव हि छीजं जी।
देवीदास करजकर मनको सूरवीर होइ दीजं जी ॥

कवि ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए परिग्रह की एक सीमा निश्चित की है जिसके पालने वाले को 'बैठे देवीदास भारी धरम जिहाज मे" कहा है।

भूम कोस सं सु एक व्योपार के निमित्त जाय,
पांसं रुपैया रोक पांचसं कौ गहनौ।
तीस मानी नाज चार दुवतौ बनावं ग्रेह,
भाजन सुमन डेढ सं न और चाहनौ ॥
ताही जमा मं ते वीस चौमना रुई कम,
सिगुर गौन नौन चार वारा गौ न लहनौ।
आठ मन घीऊ मन एक तेल के प्रमान,
राखं ना सिवाय आप करकं विसहनौ ॥१॥

\+ + + +

राखं दस पलिंग विछौना वर्साह उडोना
दस ही सुगंडुवे सुपंतो दस जाजमं।
घोरौ एक महिषी सु दोय गौयें चार वैल
चार ही छेरी एक विसावं सु साजमें ॥
बीस चर जूती दोय दूसरी ना करं जोय
अदत्ता ना लैहि थूल आपनी समाजमैं।
इतनी प्रतिज्ञा करिकं सुभवसागरमैं वैठे
'देवीदास' भारी धरम जिहाज मैं ॥२॥

\+ + + +

कुपरा कोरी वीस लौ कर खरीद निदान।
रगवावं ना धुआवही वनज हेत दिक थान ॥
लाख लील सन मैन लोह साबन अरसी सौ।
सोरा विष हथियार नाज बोधे सुन पीसे।
महवा गुली तिली हेत भंड सार ना गखं ॥

क्यौपार वे माफिक लेंह बनज कौ नाहीं नाज।
कंस फोर खटीक चमार धीवर पुन सु हलालिया।
इमसौ उधार करें न कबहूं लेंह देंह लौ हालीया ।२।

+ + + +

तीरथ जन्न विवाहमैं, लगैं वड़ें जो दर्व।
तीरथ जन्न विवाह की नहीं मृजादा सर्व॥
लोभष्टि करिकें जौ ही जा मृजाद तज देह।
ताकौ फल यह जगत मैं नर्कादिक खुब लेह॥१॥
पाग परदनी धोवती खौर पिछौरी आदि।
छोडि वेंहरक सुवौ यही बचें तज मृजाद ॥२॥
वस्त्र पुरानो जानकें धोवत रंग न लेह।
थोरो मोल विसाहकें बड़तो भावौ ना देह ॥३॥
जाको नहीं प्रमान कछू बसा लेंह कर कौल।
टका रुपैया की कलग देत लेत में तौल ॥४॥

इन पद्यों में बुन्देलखण्डी बोली का तात्कालिक रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। नाज, विछौना, वनज, खटीक, हलालिया, परदनी, पिछौरी आदि शब्द तो आज भी उसी रूप मे है जिस रूप मे १८-१९वीं शती मे थे। भाषा की दृष्टि से इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ का और भी महत्त्व समझना चाहिए।

इसके बाद क्रोध, मान, कपट (माया) कृपणता (लोभ) इन चार कषायों पर सुन्दर कवित्त लिखे है और इसी सन्दर्भ में जिनमत को "मारग मुक्त कौ सुगुन थैनी" कहकर मानव जन्म और जैनधर्म दोनों की दुर्लभता का व्याख्यान किया है। आगे दानपूजा को "मुक्तिपुर की गली" कह कर जैनधर्म का पालन करने के लिए सलाह दी गई है।

थूवन क्षेत्र के विषय में कवि ने एक दादरा लिखा है। संभव है, यह उसका प्रिय क्षेत्र रहा हो।

चलत भव क्यों नाही विघन हरन थूवोन।
अति उन्नति जिन प्रतिमा जाको बरन सकें छवि कौन ॥१
जौ अपनी निज चहत सुधारंघो या भव परभव दौन ॥२
इह यही काल विषें तुम काजें मुकत महल कौ सौन ॥३
देखत दूर होत विकलप सब अति परमानंद भौन ॥४
जा परसाद होत सुभ कारज अशुभ करम कर बौन ॥५
देवीदास कहत ललतपुर ये गुन काज निरौन ॥६

कवि कर्मों को अत्यन्त निर्दयी मानता है। कर्मों की विविध स्वांग-रचना के कारण ही व्यक्ति की आत्मनिधि खो जाती है और उसे ससार मे भटकना पड़ता है। इससे मुक्त होने के लिए स्याद्वाद में पगी हुई जिनवाणी के माध्यम से आत्म द्रव्य को पहचानना चाहिए। यह क्रिया अत्यन्त सरस, मधुर, अगोचर और अनुपम है।

आतम रस अति मीठौ साधो भाई आतम रस अति मीठौ।
स्याद्वाद रसना बिन जाकौ मिलत न स्वाद गरीठौ ॥टेक॥
पीवत होत सरस सुख सो पुनि बहुरि न उलट पुलीठौ।
अचरज रूप अनूप अपुरब जा सम और न ईठो॥
साधो भाई ॥१॥
तिन उत्कृष्ट इष्ट रस चाखौ मिथ्यामति वे पीठौ।
तिन्ह कौ इंद्र नरेंद्र आदि सुख सो सब लगत न सीठौ॥
साधो भाई ।२।
आनंद कंद सुछंद होयकरि भुगतन हार पटौठौ।
परम सुधा सुसमें इक पर सत जनम जरादि न चीठौ॥
साधो भाई ।३।
बचन अतीत सुनीत अगोचर स्वादत फिर न उबीठौ।
देवियदास निरक्षर स्वारथ अंतर के द्रग दीठौ॥
साधो भाई ।४।

देवीदास मूलतः भक्ति रस के कवि है। कहीं उन्होंने आत्म-दर्शन करने का प्रयत्न किया है और कहीं भगवद्दर्शन का। आत्मदर्शन का प्रयत्न करते समय उससे विमुख रहने के कारणो पर विचार किया है और भगवद्दर्शन का विवेचन करते समय छवि की सुन्दरता का आख्यान किया है। इसी में कवि सुख और आनन्द की कल्पना करता है—

पुन नटय मूरत देख सुख पायो में प्रभ तेरी।
एक हजार आठ गुन सोभित लछन सरस सुहायौ।
मे प्रभ तेरी सूरत देख सुख पायौ ॥टेक॥
जनम जनम कित अशुभ करम कौ रिन सब तुरत चुकायौ।
परमानन्द भयौ परपूरत ग्यान घटा घट छायौ ॥१॥
अति गंभीर गुन ठान वाद तुम मुख कर जात न गायौ।
जाकें सुनें सरदहत प्रानी करम फंदा सुरझायौ ॥२॥
विकलपता नस गई अब मेरी निज गुन रतन भजायौ।
जात हतौ कौडी के पलटें जब लग परख न आयौ ॥३॥
पर परनाम कुग्राम वास तज आतम नगर बसायौ।

देवीदास अद्वैत भाव धर हाथ जोर सिर नायौ ।।४।।

भगवज्जिनेन्द्र के दर्शन के बिना कवि विह्वलता का अनुभव करता है। आश्रवका मूल उसकी दृष्टिमें भगवद्दर्शन के प्रति अरुचिभाव ही है। यहां कवि की आलोचक दृष्टि प्रखर हो जाती है। और उसे दुख व आश्चर्य होता है कि व्यक्ति अभी तक आत्म वंचक क्यों बना रहा ? उसे अभी तक हेयोपादेय का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? इसे कवि ने भौदूपन की संज्ञा दी है। भौदू जब लगु आई तौ को समझ नहीं इस भौंदूपन को दूर करने के लिए कवि ने श्रद्धा ज्ञान और चारित्र के साथ-साथ सोनगिरि, शिखर सम्मेद, गिरिनार, कुण्डलपुर आदि जैसे पवित्र तीर्थ क्षेत्रों की बन्दना करने को कहा है। इनमें भी सायद कुण्डलपुर, महावीर और सोनगिरि की वन्दना करना उसे अधिक प्रिय था—कुंडिलपुर महावीर चलौ भव वंदिये जू। वंदिये पाप निकंदिये जू। इस प्रकार सोनगिरि के विषय में लिखा है—सिउणागिर बड़ौ क्षेत्र चलौ वदन कौ, वंदन कौ कर्म पाप निकदन कौ ।। इसके बाद पुनः धर्म का महत्त्व दिया है। धर्मपालन करनेके बिना चतुर्गति में भटकना पड़ेगा—धर्म विन तूं बैल हुहै। इसी प्रसंग में दर्शन और पूजन के विषय मे भी कवित्त लिखे है। अन्तिम कवित्त है धर्मगीत—सुन लाला रे जिन मत की वातें कान दे। इसके अन्त मे लिखा है—इती पद पंकत संपूर्ण। संवत् १९३५ माघ वदि १२ लिखतं पं० श्री प्रागदास तिवारी जी। पत्रा ७८.

इस प्रकार बुन्देलखण्ड के कविवर देवीदास का प्रस्तुत ग्रन्थ है पदपंकत भाव और भाषाकी दृष्टि से अत्यन्त महत्व पूर्ण है। कवि संस्कृत भाषा से परिचित है फिर भी उसने बुन्देलखण्डी बोली मे अपने भाव व्यक्त किये हैं। इसलिए उस समय की और आज की बोली जाने वाली बुन्देलखण्डी बोली पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करने के लिए यह ग्रन्थ पर्याप्त सहायक होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

●

साहित्य-समीक्षा

१. श्री मद्राजचन्द्र और भक्तिरत्न—लेखक प्रेमचन्द रवजी भाई कोठारी, अनुवादक डा० जगदीशचन्द्र प्रकाशक, प्रेमचन्द रवजीभाई कोठारी ब्लाक नं० ९ महात्मा गांधी रोड, घटिकोपर, बम्बई ७७। मूल्य ३) रुपया।

प्रस्तुत कृति श्रीमद्राजचन्द्र की जयन्ती के उपलक्ष्य मे निकाली गई है। श्रीमद्राजचन्द्र भी संत परम्परा मे हुए हैं। सन् १९२४ में उनका जन्म काठियावाड में हुआ था। लघुवय में ही उन्होंने तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की थी। उनकी स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक थी। कोई भी बात एक बार देखने सुनने से उनके हृदय पटल पर अंकित हो जाती थी। वे हीरे जवाहरात के कुशल व्यापारी थे। किन्तु लौकिक महत्वकांक्षाओं से अत्यन्त दूर रहते थे। दुनिया की मान प्रतिष्ठा को उन्होंने कभी स्वीकार नही किया, किन्तु उन्होने लोकेषणा से रहित होकर लौकिक कर्त्तव्यों का पालन किया। उनकी आन्तरिक वृत्ति आत्मस्वरूप की ओर थी। वैराग्य और उपशम भाव की ओर उनकी प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी। वे कहा करते थे आज दुनिया मे झूठ, फरेब, अहंकार और छल कपट की प्रवृत्ति बढ़ रही है। उसको देखकर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित होता था, इनसे हटकर आत्मधर्म की ओर प्रवृत्ति करना वे श्रेयस्कर मानते थे। जिसने स्वयं कल्याण मार्ग मे प्रवृत्ति करते हुए दूसरो के सामने कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया, जीवन के लिए उपयोगी चर्चा वार्ताओ का सकलन किया। ऐसे महापुरुष की जयन्ती मनाना अत्यन्त उपयोगी है। उससे मुमुक्षुओं को आत्म गुणों के विकास से सहायता मिलती है। पुस्तक मे रामचन्द्रजी के परिचय के अतिरिक्त उनके बाद मे उस परम ज्योति को उज्जीवित करने वालो का भी परिचय दिया हुआ है। मुमुक्षुओ उसे मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

२. जैन ग्रन्थ भण्डाराज इन राजस्थान—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक श्री गैंदीलाल शाह एडवोकेट

मंत्री श्री दि० अतिशय क्षेत्र महावीर जी, जयपुर। मूल्य १५) रुपया।

यह एक शोध प्रबन्ध है। इस पर कस्तूरचन्द जी कासलीवाल को पी. एच. डी. की डिग्री राजस्थान विश्व-विद्यालय ने प्रदान की है। प्रबन्ध की भाषा अंग्रेजी है, किन्तु उद्धरण सभी संस्कृत हिन्दी मे दिये गए हैं। ग्रन्थ छह अध्यायो मे विभक्त है। प्रार्थमिक कथन मे ग्रन्थ लेखन आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत एवं जानने योग प्रकाश डाला गया है। कागज, स्याही, लेखन, लिखित प्रति की सुरक्षा और वेष्ठन आदि के विषय मे लिखा गया है। दूसरे अधिकार में ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना पर प्रकाश डालते हुए उत्तर और दक्षिण भारत के भण्डारों का परिचय दिया गया है। तीसरे में राजस्थान के (अजमेर जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर और कोटा डिवीजन के) जैन ग्रन्थ भण्डारो का विस्तृत परिचय दिया है। चतुर्थ अधिकार में आमेर आदि जैन ग्रन्थ भण्डारों की ऐतिहासिक महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। पाचवें मे जैन ग्रन्थ भण्डारों मे उपलब्ध शोध-सामग्री, आर्ट और प्रिन्टिग का विवेचन किया है। और छठवे मे अनुसन्धान की सामग्री का मूल्य आकते हुए हिन्दी राजस्थानी भाषाओ के लेखकों की रचनाओं का भी परिचय दिया गया है। अन्त के परिशिष्ट तो बहुत हीं उपयोगी है। डा० हीरालाल जी ने अपने प्राक्कथन मे कासलीवाल के इस शोध प्रबन्ध की बहुत प्रशंसा की है। इस तरह जहां यह शोधप्रबन्ध अन्वेषक विद्वानो के लिए महत्व की सामग्री प्रदान करता है वहा राजस्थानीय ग्रन्थ भण्डारो में प्राप्त दुर्लभ सामग्री का भी परिचय मिल जाता है। महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटी का यह कार्य अत्यन्त प्रशसनीय है। समाज को चाहिए कि वह ऐसे ग्रन्थों को मगा कर अवश्य पढ़ें।

३. **युक्त्यनुशासन पूर्वार्ध**—सम्पादक क्षुल्लक शीतल-सागरजी और अनुवादक प० मूलचन्द्र जी शास्त्री, प्रकाशक दि० जैन पुस्तकालय सांगानेर (राजस्थान) मूल्य ७५ पैसे।

आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन (वीरस्तवन) की ३२ कारिकाओं का विस्तृत हिन्दी विवेचन है। आचार्य विद्यानन्द की संस्कृत टीका के आधार पर उसका विवेचन किया गया है यदि इसमे मूल कारिकाओं के साथ संस्कृत टीका और लगा दी जाती और कारिका में आगे हुए दार्शनिक मन्तव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन किया जाता और ग्रन्थ को एक ही भाग मे रखा जाता तो यह निस्सन्देह विशेष लाभ प्रद होता। साथ में प्रस्तावना भी आजकल के दृष्टिकोण के अनुसार होना चाहिए। उससे साहित्य की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है। छपाई सफाई साधारण है, ग्रंथ मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

अनेकान्त के २०वें वर्ष की विषय-सूची

श्रीमती रूपादेवी का स्वर्गवास

श्रीमान धर्मवीर सेठ भागचन्द जी सोनी अजमेर की मातेश्वरी श्रीमती रूपादेवी का स्वर्गवास दिनाक १८ अप्रेल को हो गया, यह बड़े खेद की बात है। अजमेर का यह घराना अतिशय धार्मिक रहा है। सेठानी रूपा देवी अतिशय धार्मिक वृत्ति की महिला थी। वीर सेवा मन्दिर परिवार उनके वियोग से जो कुटुम्बी जनों को दुख हुआ है उसमे सहभागी होता हुआ यह हार्दिक कामना करता है कि स्वर्गीय आत्मा को शान्तिलाभ के साथ कुटुम्बीजनों को इस महान् दुख के सहन करने का धैर्य प्राप्त हो।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द १५-००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ·७५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युतम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१९ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१९ पैसे, (६) महावीर पूजा २५

(१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत (समाप्त) ·२५

(१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ट सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००

(२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

(२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी मे अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।